महावीर-वाणी

(महावीर-वाणी का दूसरा खंड)

प्रवचन

भगवान् श्री रजनीश

सम्पादन

स्वामी चैतन्य भारती

जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, बम्बई
१९७३

दो शब्द

"महावीर : मेरी दृष्टि में" नामक विशालकाय प्रवचन सकलन में हमे भगवान् महावीर की जीवनी, उनकी साधना और सिद्धि तथा उनके द्वारा धर्म के गुह्य रहस्यों के हस्तान्तरण की प्रक्रिया, उनकी विविधि देशनाओं की आत्यन्तिक विवेचना, आदि विषयो पर भगवान् श्री रजनीश के २६ प्रवचनो का प्रसाद मिला था।

"महावीर-वाणी" (भाग एक) के रूप मे सन् १९७१ के अठारह पर्युषण प्रवचनो का सकलन भी हमे उपलब्ध हो चुका है। इन प्रवचनो मे नमोकार मत्र की गुह्य व्याख्या, धर्म, सयम व तप का अत्यन्त विस्तार से वैज्ञानिक विश्लेषण, भगवान महावीर द्वारा प्रस्तावित साधना-पद्धति का आधुनिक विज्ञान की भाषा मे पुनर्उद्घाटन आदि अनेक विषय हमारे सामने स्पष्ट हुए थे।

अब प्रस्तुत है सन् १९७२ के अठारह पर्युषण प्रवचनो का संकलन— "महावीर-वाणी" (भाग दूसरा)। इसमे 'धर्म, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अरात्रि भोजन, विनय, चतुरगीय, अप्रमाद, प्रमाद-स्थान, कषाय, अशरण, पण्डित और आत्म' नामक तेरह सूत्रों पर भगवान् श्री की अनुभव-सिद्ध-वाणी साधको के लिए अवतरित हुई है।

प्रस्तुत पुस्तक में अनेक विषयो पर प्रज्ञा व आत्मज्ञान के बिलकुल ही नये आयाम उद्घाटित हुए है, जो आश्चर्यचकित कर देते है। साधना के जगत् मे इतनी बारीक सूक्ष्मताओं से साधक को गुजरना होना है, यह जानकर रोमाच-सा हो उठता है।

परम सत्य के खोजी, मुमुक्षु, साधक व श्रेयार्थियो के लिए तो यह पुस्तक प्रायोगिक मार्ग-दर्शक की तरह ही सिद्ध होती प्रतीत होती है।

'युवा सन्यास और ब्रह्मचर्य की प्रक्रिया, गुरु-शिष्य रहस्य, चित्त वृत्तियो की आन्तरिक किमिया, महावीर और तंत्र, आशुप्रज्ञता, सकलन और समर्पण, जीवेषणा और मुक्ति, मीरा और महावीर, सद्गुरु की खोज, सद्गुरु की कृपा और करुणा, केवल-ज्ञान' आदि अनेक विषयो पर तो भगवान् श्री की अभिव्यक्ति ने चरम शिखर ही छू लिया है।

"महावीर-वाणी" (भाग दूसरा) जब तक आपके हाथो में पहुँचती है, तब तक भगवान् श्री के तृतीय पर्युषण प्रवचन पूरे हो रहे होगे। और सैकडों श्रावक एव श्रोता उनकी अमृत-वर्षा मे प्रत्यक्ष भीग रहे होगे। सन् १९७३ के सितम्बर माह मे हुए इन अठारह अमृत-प्रवचनो का सकलन शीघ्र ही "महावीर-वाणी (भाग तीसरा)" नामक ग्रन्थ के रूप मे आपके सामने प्रस्तुत होगा।

कुछ ही माह बाद होने वाले विश्वव्यापी आयोजन "महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी" के अवसर पर भगवान् श्री रजनीश के ये चार प्रवचन संकलन– 'महावीर : मेरी दृष्टि में' तथा 'महावीर-वाणी' भाग १, २ और ३ पूरी मनुष्य जाति के लिए एक वरदान की तरह सिद्ध होगे। इनका पूरा सेट धर्म-जिज्ञासु पाठको तक पहुँचाकर हम तीर्थंकर भगवान् महावीर के अथक् प्रयास व केवल-ज्ञान के यज्ञ मे अपनी सम्यक् आहुति डाल पायेगे—ऐसा भास होता है।

प्रस्तुत पुस्तक साधको मे मुमुक्षा तथा पण्डितो और विद्वानों मे प्यास, जिज्ञासा व साधना की अभीप्सा जगायेगी ऐसी आशा है।

"महावीर वाणी" की शीतल छाया व आलोक मे साधको, सन्यासियों व साधु-साध्वियो के चरण, केवल-ज्ञान की ओर, दृढ़ता से सतत उठते रहेगे, इस प्रेरणा व अभीप्सा के साथ प्रस्तुत है—"महावीर-वाणी" (भाग दूसरा)।

—स्वामी योग चिन्मय
प्रमुख सम्पादक, हिन्दी विभाग

मौलश्री आश्रम,
४२४, वन्देमातरम,
दसवा रास्ता, चेम्बूर
बम्बई-४०००७१
दिनाक ५ सितम्बर, १९७३

महावीर - वाणी

द्वितीय पर्युषण व्याख्यान-माला के अन्तर्गत ४ से २१ सितम्बर, १९७२ तक पाटकर हॉल, बम्बई में 'महावीर-वाणी' पर भगवान् श्री रजनीश द्वारा दिये गये १८ प्रवचनो का संकलन ।

अनुक्रम

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
४ सितम्बर, १९७२

पहला प्रवचन

धर्म-सूत्र : १

•

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई शरणमुत्तमं॥

जरा और मरण के तेज प्रवाह में बहते हुए जीव के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

अरस्तू ने कहा है 'यदि मृत्यु न हो, तो जगत् मे कोई धर्म भी न हो।' ठीक ही है उसकी बात, क्योंकि अगर मृत्यु न हो, तो जगत् मे कोई जीवन भी नही हो सकता। मृत्यु केवल मनुष्य के लिए है।

इसे थोडा समझ ले।

पशु भी मरते हैं, पौधे भी मरते है, लेकिन मृत्यु मानवीय घटना है। पौधे मरते हैं, लेकिन उन्हें अपनी मृत्यु का कोई बोध नही है। पशु भी मरते हैं, लेकिन वे अपनी मृत्यु के सम्बन्ध मे चिन्तन करने मे असमर्थ हैं।

मृत्यु केवल मनुष्य की ही होती है, क्योकि मनुष्य बोधपूर्वक मरता है, जानते हुए मरता है। मृत्यु निश्चित है, ऐसा बोध मनुष्य को है, चाहे मनुष्य कितना ही भुलाने की कोशिश करे, चाहे कितना ही अपने को छिपाये, पलायन करे, चाहे कितने ही आयोजन करे—सुरक्षा के, भुलावे के, लेकिन हृदय की गहराई मे मनुष्य जानता है कि मृत्यु से बचने का कोई उपाय नही है।

मृत्यु के सम्बन्ध मे पहली बात तो यह ख्याल मे ले लेनी चाहिए कि मनुष्य अकेला प्राणी है, जो बोधपूर्वक मरता है। मरते तो पौधे और पशु भी हैं, लेकिन उनके मरने का बोध भी मनुष्य को होता है, उन्हें नही होता। उनके लिए मृत्यु एक अचेतन घटना है। इसलिए पौधे और पशु, धर्म को जन्म देने में असमर्थ हैं।

जैसे ही मृत्यु चेतन बनती है, वैसे ही धर्म का जन्म होता है। जैसे ही यह प्रतीति साफ हो जाती है कि मृत्यु निश्चित है, वैसे ही जीवन का सारा अर्थ बदल जाता है; क्योकि अगर मृत्यु निश्चित है, तो फिर जीवन की जिन क्षुद्रताओं में हम जीते हैं, उनका सारा अर्थ खो जाता है।

मृत्यु के सम्बन्ध मे दूसरी बात ध्यान देनी जरूरी है, कि वह निश्चित है। निश्चित का मतलब यह नही कि आपकी तारीख, घडी निश्चित है। निश्चित का मतलब यह कि मृत्यु की घटना निश्चित है। अगर यह बिल्कुल साफ हो जाये कि मृत्यु निश्चित है, तो आदमी निश्चित हो सकता है। जो भी निश्चित हो जाता है, उसके बाबत हम निश्चित हो जाते हैं। चिन्ता मिट जाती है।

मृत्यु के सम्बन्ध मे तीसरी बात महत्वपूर्ण है और वह यह है कि मृत्यु निश्चित है, लेकिन एक अर्थ मे अनिश्चित भी है। होगी, लेकिन कब होगी? इसका कोई भी पता नही। होना निश्चित है, लेकिन कब होगी, इसका कोई भी पता नही। निश्चित है और अनिश्चित भी। होगी भी, लेकिन तय नही है कि कब होगी। इससे चिन्ता पैदा होती है। जो बात होने वाली है और फिर भी पता न चलता हो कि कब होगी—अगले क्षण भी हो सकती है और वर्षो भी टल सकती है, विज्ञान की चेष्टा जारी रही, तो शायद सदियो भी टल सकती है—तो इससे चिन्ता पैदा होती है।

किर्केगार्ड ने कहा है कि चिन्ता तभी पैदा होती है, जब एक अर्थ मे कोई बात निश्चित भी होती है और दूसरे अथ मे निश्चित नही भी होती—उन दोनो के बीच मे मनुष्य चिन्ता मे पड जाता है।

मृत्यु की चिन्ता से ही धर्म का जन्म हुआ है, लेकिन मृत्यु की चिन्ता हमे बहुत सालती नही है। हमने उपाय कर रखे हैं—जैसे रेलगाडी के दो डिब्बो के बीच मे बफर होते है, उन बफर की वजह से कितना ही धक्का लगे, डिब्बो के भीतर के लोगो को उतना धक्का नही लगता। बफर धक्के को झेल लेता है। कार मे स्प्रिंग होते हैं। रास्ते के गड्ढो को स्प्रिंग झेल लेता है। अन्दर बैठे हुए आदमी को पता नही चलता।

आदमी ने अपने मन मे भी बफर लगा रखे है, जिनकी वजह से वह मृत्यु का धक्का जितना अनुभव होना चाहिये, उतना अनुभव नहीं हो पाता। मृत्यु व आदमी के बीच मे हमने बफर का इन्तजाम कर रखा है। वे बफर बड़े अद्भुत हैं, उन्हे समझ लें, तो फिर मृत्यु मे प्रवेश हो सके। और यह सूत्र मृत्यु के सम्बन्ध मे है।

मृत्यु से ही धर्म की शुरुआत होती है इसलिए यह सूत्र धर्म के सम्बन्ध मे है।

कभी आपने ख्याल न किया होगा, जब भी आप कहते हैं कि मृत्यु निश्चित है, तो आप के मन में लगता है, प्रत्येक को मरना पडेगा। लेकिन उस प्रत्येक

में आप सम्मिलित नही होते—यह बफर (सुरक्षा अस्त्र) है। जब भी हम कहते हैं कि हर-एक को मरना होगा, तब भी हम बाहर होते हैं, सख्या के भीतर नहीं होते। हम गिनने वाले होते हैं, मरनेवाले कोई और होते हैं। हम जानने वाले होते हैं, मरने वाले कोई और होते हैं। जब भी मैं कहता हूँ कि मृत्यु निश्चित है, तब ऐसा नही लगता कि मैं भी मरूँगा। ऐसा लगता है कि हर कोई मरेगा—'अनानीमस्', उसका कोई नाम नही है—हर आदमी को मरना पडेगा, लेकिन मैं उसमे सम्मिलित नही होता हूँ। मैं बाहर खड़ा रहता हूँ, मैं मरते हुए लोगों की कतार देखता हूँ, लोगो को मरते हुए देखता हूँ, जन्मते देखता हूँ, मैं गिनती करता रहता हूँ, मैं बराबर बाहर खडा रहता हूँ, मैं सम्मिलित नही होता—जिस दिन मैं सम्मिलित हो जाता हूँ, उस दिन बफर टूट जाता है।

बुद्ध ने मरे हुए आदमी को देखा और पूछा कि क्या सभी लोग मर जाते हैं। सारथी ने कहा, 'सभी लोग मर जाते हैं।' बुद्ध ने तत्काल पूछा 'क्या मैं भी मरूँगा ?' लेकिन हम नही पूछते! बुद्ध की जगह हम होते, तो इतने से हम तृप्त हो जाते कि सब लोग मर जाते है, बात खत्म हो जाती।

जब तक आप कहते हैं कि सब लोग मर जाते हैं, तब तक आप बफर के साथ जी रहे हैं। जिस दिन आप पूछते हैं कि 'क्या मैं भी मर जाऊँगा? उस दिन बफर टूट जाता है। यह सवाल महत्वपूर्ण नही है कि सब मरेंगे कि नही मरेंगे! सब न भी मरते हो, तो भी मृत्यु मेरे लिए उतनी ही महत्वपूर्ण है।

'क्या मैं भी मर जाऊँगा ?' यह प्रश्न दार्शनिक की तरह भी पूछा जा सकता है और धार्मिक की तरह भी पूछा जा सकता है। जब हम दार्शनिक की तरह पूछते हैं, तब फिर हम बफर की तरह खडे हो जाते हैं। तब हम 'मृत्यु' के सम्बन्ध मे सोचने लगते हैं, 'मैं' के सम्बन्ध मे नही। जब हम धार्मिक की तरह पूछते हैं, तो 'मृत्यु' महत्वपूर्ण नही रह जाती, 'मैं' महत्वपूर्ण हो जाता हूँ।

सारथी ने कहा कि किस मुह से मैं आप से कहूं कि आप भी मरेंगे। क्योंकि यह कहना अशुभ है, लेकिन झूठ भी नही बोल सकता, मरना तो पडेगा ही—आपको भी, तो बुद्ध ने कहा रथ वापस लौटा लो, क्योंकि मैं मर ही गया। जो बात होने ही वाली है, वह हो ही गई। अगर यह निश्चित ही है, तो तीस, चालीस या पचास साल बाद क्या फर्क पड़ता है? मृत्यु जब निश्चित ही है, तो आज ही हो गई। रथ वापस लौटा लो।

वे जाते थे एक युवक-महोत्सव मे, यूथ-फेस्टिवल मे भाग लेने के लिए, लेकिन रथ बीच से वापस लौटा लिया। बुद्ध ने कहा कि मैं बूढ़ा हो ही गया। अब युवक-महोत्सव मे भाग लेने का कोई अर्थ न रहा। युवक-महोत्सव में तो वही लोग भाग ले सकते हैं, जिन्हे मृत्यु का कोई पता नही है।

सारथी ने कहा, अभी तो आप जीवित हैं। मृत्यु तो बहुत दूर है—यह बफर है। बुद्ध को बफर टूट गया, सारथी को नही टूटा। सारथी कहता है कि मृत्यु तो बहुत दूर है।

हम सभी सोचते है कि मृत्यु तो होगी, परन्तु सदा बहुत दूर सोचते है—कभी होगी। ध्यान रहे—आदमी के मन की क्षमता है, जैसे कि हम एक दिये का प्रकाश लेकर चले, तो दो-तीन या चार कदम तक प्रकाश पडता है, ऐसे ही मन की क्षमता है—बहुत दूर रख दे अगर किसी चीज को, तो फिर मन की पकड के बाहर हो जाती है। मृत्यु को हम सदा बहुत दूर रखते हैं। उसे हम पास नही रखते। मन की क्षमता बहुत कम है। इतने दूर की बात व्यर्थ हो जाती है। एक सीमा है हमारे चिन्तन की। दूर जिसे रख देते हैं, वह बफर बन जाता है।

हम सब सोचते है कि मृत्यु तो होगी, लेकिन बूढे से बूढा आदमी भी यह नही सोचता कि 'मृत्यु आसन्न है।' कोई ऐसा नही सोचता कि मृत्यु अभी होगी। सभी सोचते है कि कभी होगी। जो भी कहता है कि कभी होगी, उसने बफर निर्मित कर लिया। वह मरने के क्षण तक भी सोचता रहेगा कि कभी होगी और मृत्यु को और दूर हटाता रहेगा। अगर बफर को तोडना हो, तो सोचना पडेगा कि मृत्यु अभी, इसी क्षण हो सकती है।

यह बडे मजे की बात है कि बच्चा पैदा हुआ और इतना बूढा हो जाता है कि उसी वक्त मर सकता है। हर बच्चा पैदा होते ही काफी बूढ़ा तो हो जाता है कि उसी वक्त चाहे तो मर सकता है। बूढ़े होने के लिए कोई सत्तर-अस्सी साल रुकने की जरूरत नही है। जन्म से ही हम मृत्यु के हकदार हो जाते हैं। जन्म के क्षण के साथ ही हम मृत्यु मे प्रविष्ठ हो जाते हैं।

जन्म के बाद मृत्यु समस्या है और किसी भी क्षण हो सकती है। जो आदमी सोचता है कि कभी होगी, वह अधार्मिक बना रहेगा। जो सोचता है कि अभी हो सकती है, इसी क्षण हो सकती है, उसके बफर टूट जायेंगे;

क्योंकि अगर मृत्यु अभी हो सकती है, तो आपकी जिन्दगी का पूरा पर्सपेक्टिव; देखने का पूरा परिप्रेक्ष्य बदल जायेगा।

किसी को गाली देने जा रहे थे, किसी की हत्या करने जा रहे थे, किसी का नुकसान करने जा रहे थे, किसी से झूठ बोलने जा रहे थे, किसी की चोरी कर रहे थे, किसी की बेईमानी कर रहे थे।

मृत्यु अभी हो सकती है, तो फिर नये ढंग से सोचना पड़ेगा कि झूठ का कितना मूल्य है अब। बेईमानी का कितना मूल्य है अब ! अगर मृत्यु अभी हो सकती है, तो जीवन का पूरा का पूरा ढाचा दूसरा हो जायेगा।

बफर हमने खडे किये हैं। पहला, मृत्यु सदा दूसरे की होती है। इट इज आलवेज द अदर हू डाइज़। कभी भी आप नही मरते, कोई और मरता है। दूसरा, मृत्यु बहुत दूर है, चिन्तनीय नही है। लोग कहते हैं कि अभी तो जवान हो, अभी धर्म के सम्बन्ध मे चिन्तन की क्या जरूरत है। उनका मतलब आप समझते हैं ? वे यह कह रहे है कि अभी तो जवान हो, अभी मृत्यु के सम्बन्ध मे चिन्तन की क्या जरूरत है।

धर्म और मृत्यु पर्यायवाची हैं। ऐसा कोई व्यक्ति धार्मिक नही हो सकता; जो मृत्यु को प्रत्यक्ष अनुभव न कर रहा हो और ऐसा कोई व्यक्ति जो मृत्यु को प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हो, धार्मिक होने से नही बच सकता।

तो दूर रखते हैं हम मृत्यु को और अगर मृत्यु दूर न रखी जा सके, तो बफर टूट जाता है। कभी-कभी मृत्यु बहुत निकट आ जाती है, जब आप का कोई निकटजन मरता है, तो मृत्यु बहुत निकट आ जाती है और करीब-करीब आपको मार ही डालती है। कुछ न कुछ तो आपके भीतर मर ही जाता है ; क्योंकि हमारा जीवन सामूहिक है। मैं जिसे प्रेम करता हूँ, उसकी मृत्यु में मैं भी थोड़ा तो मरूँगा ही। उसके प्रेम ने जितना मुझे जीवन दिया था, वह तो टूट ही जायेगा, उतना हिस्सा तो मेरे भीतर खण्डित हो ही जायेगा, उतना तो भवन गिर ही जायेगा।

आपको ख्याल मे नही है कि अगर सारी दुनिया मर जाये और आप अकेले रह जायें तो आप जिन्दा नही होगे; क्योकि सारी दुनिया ने आपके जीवन को जो दान दिया था, वह तिरोहित हो जायेगा। आप प्रेत हो जायेंगे— जीते-जी, भूत-प्रेत की स्थिति हो जायेगी।

जब मृत्यु बहुत निकट आ जाती है तो ये बफर काम नहीं करते और धक्का भीतर तक पहुँच जाता है। तब फिर हमने सिद्धान्तों के बफर तय किये हैं। तब हम कहते हैं कि 'आत्मा अमर है'। ऐसा हमे पता नही है, पता हो, तो मृत्यु तिरोहित हो जाती है। लेकिन पता उसी को होता है, जो इस तरह के सिद्धान्त बना कर बफर निर्मित नही करता है। यह जटिलता है। वही जान पाता है कि 'आत्मा अमर है' जो मृत्यु का साक्षात्कार करता है, लेकिन हम बडे कुशल हैं, हम—मृत्यु का साक्षात्कार न हो, इसलिए 'आत्मा अमर है' ऐसे सिद्धान्त को बीच मे खडा कर लेते हैं।

यह हमारे मन की समझावन है। यह हम अपने मन को कह रहे हैं कि घबडाओ मत—'शरीर ही मरता है, आत्मा नही मरती' तुम तो रहोगे ही, तुम्हारे मरने का कोई कारण नही है—महावीर ने कहा है, बुद्ध ने कहा है, कृष्ण ने कहा है, सबने कहा है कि 'आत्मा अमर है'।

बुद्ध कहे, महावीर कहे, कृष्ण कहे, सारी दुनिया कहे, जब तक आप मृत्यु का साक्षात्कार नही करते हैं, तब तक आत्मा अमर नही है। तब तक आपको भलीभाँति पता है कि आप मरेगे, लेकिन आप मृत्यु के धक्के को रोकने के लिए बफर खडा कर रहे हैं।

शास्त्र, सिद्धान्त, शब्द, सब बफर बन जाते हैं। ये बफर न टूटे, तो मौत का साक्षात्कार नही होता और जिसने मृत्यु का साक्षात्कार नही किया, वह अभी ठीक अर्थो मे मनुष्य नही हुआ, वह अभी पशु के तल पर जी रहा है।

महावीर का यह सूत्र कहता है, 'जरा और मरण के तेज प्रवाह मे बहते हुए जीव के लिए, धर्म ही एक मात्र द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।'

इसके एक-एक शब्द को हम समझे।

'जरा और मरण के तेज प्रवाह मे।' इस जगत् मे कोई भी चीज ठहरी हुई नही है, परिवर्तित हो रही है प्रतिपल और इस प्रतिपल परिवर्तन मे क्षीण हो रही है, जरा-जीर्ण हो रही है। आप जो महल बनाये हैं, वह कोई हजार साल बाद खण्डहर होगा, ऐसा नही, वह अभी खण्डहर होना शुरू हो गया है, नही तो हजार साल बाद भी खण्डहर हो नहीं पायेगा। वह अभी जीर्ण हो रहा है। अभी जरा को उपलब्ध हो रहा है।

इसे हम ठीक से समझ लें, क्योंकि यह भी हमारी मानसिक तरकीबों का हिस्सा है कि हम प्रक्रियाओ को नहीं देखते, केवल छोरों को देखते हैं।

एक बच्चा पैदा हुआ, तो हम एक छोर देखते हैं कि बच्चा पैदा हुआ। एक बूढा मरा, तो हम एक छोर देखते हैं कि एक बूढ़ा मरा, लेकिन मरना और जन्मना एक ही प्रक्रिया के हिस्से हैं, यह हम कभी नही देखते।

हम छोर देखते हैं—प्रॉसेस नही, प्रक्रिया नही, जब कि वास्तविक चीज प्रक्रिया है। छोर तो प्रक्रिया के अंग मात्र हैं।

हमारी आँख केवल छोर को देखती है। शुरू देखती है, अन्त देखती है, मध्य नही देखती और मध्य ही महत्वपूर्ण है। मध्य से ही दोनो जुडे हैं। बच्चा पैदा हुआ, यह एक प्रक्रिया है। पैदा होना और मरना एक प्रक्रिया है। जीना एक प्रक्रिया है। ये तीनो प्रक्रियायें हैं, एक ही धारा के हिस्से हैं।

इसे हम ऐसा समझें कि बच्चा जिस दिन पैदा हुआ, उसी दिन मरना भी शुरू हो गया। उसी दिन जरा ने उसे पकड लिया। उसी दिन वह जीर्ण होना शुरू हो गया, उसी दिन वह बूढा होना शुरू हो गया। फूल खिला और कुम्हलाना शुरू हो गया। खिलना और कुम्हलाना हमारे लिए दो चीजे हैं। फूल के लिए एक ही प्रक्रिया है।

अगर हम जीवन को देखे, तो वहाँ चीजे टूटी हुई नही हैं, वहाँ सब जुडा हुआ है, सब सयुक्त है। जब आप सुखी हुए, तभी दुख आना शुरू हो गया। जब आप दुखी हुए, तभी सुख आना शुरू हो गया। जब आप बीमार हुए, तभी स्वास्थ्य की शुरुआत हो गयी। जब आप स्वस्थ हुए, तभी बीमारी की शुरुआत हो गयी, लेकिन हम तोडकर देखते हैं। तोडकर देखने मे आसानी होती है। अगर हम स्वास्थ्य और बीमारी को एक ही प्रक्रिया समझें, तो वासना के लिए बडी कठिनाई हो जायेगी।

अगर हम जन्म और मृत्यु को एक ही बात समझें, तो कामना किसकी करेंगे? चाहेंगे किसे? हम तोड लेते है दो मे। जो सुखद है, उसे अलग कर कर देते हैं, जो दुखद है, उसे अलग कर देते हैं—मन मे, जगत् में तो अलग हो नही सकता, अस्तित्व तो एक है। विचार में अलग कर लेते हैं। फिर हमें आसानी हो जाती है।

जीवन को हम चाहते हैं, मृत्यु को हम नहीं चाहते। सुख को हम चाहते हैं, दुख को हम नहीं चाहते और यही मनुष्य की बड़ी से बड़ी भूल है, क्योंकि

जिसे हम चाहते हैं और जिसे हम नही चाहते वे एक ही चीज के दो हिस्से हैं। इसलिए हम जिसे चाहते हैं, उसके कारण ही हम उसे निमन्त्रण देते हैं, जिसे हम नही चाहते हैं। उसे हम हटाते हैं मकान के बाहर और हम उसके साथ उसे भी विदा कर देते हैं, जिसे हम चाहते हैं।

आदमी की वासना टिक पाती है चीजों को खण्ड-खण्ड बाट लेने से।

अगर हम जगत् की समग्र प्रक्रिया को देखें, तो वासना को खडे होने का कोई उपाय नही है। तब अँधेरा और प्रकाश, दुख और सुख, शान्ति और अशान्ति, जीवन और मृत्यु एक ही चीज के हिस्से हो जाते है।

महावीर कहते है, 'जरा और मरण के तेज प्रवाह मे··· ।'

जरा का अर्थ है, प्रत्येक चीज जीर्ण हो रही है। एक क्षण भी कोई चीज बिना जीर्ण हुए नही रह सकती। होने का अर्थ ही जीर्ण होना है। अस्तित्व का अर्थ ही परिवर्तन है। तो बच्चा भी क्षीण हो रहा है, जीर्ण हो रहा है। महल भी जीर्ण हो रहा है। यह पृथ्वी भी जीर्ण हो रही है। यह सौर-परिवार भी जीर्ण हो रहा है। यह हमारा जगत् भी जीर्ण हो रहा है और एक दिन प्रलय मे लीन हो जायेगा—'जो भी है।'

महावीर ने बडी अद्भुत बात कही है। महावीर कहते है—जो भी है, उसे हम अधूरा देखते हैं इसलिए कहते हैं—'है'। अगर हम ठीक से देखे, तब हम कहेगे—'जो भी है,' वह साथ मे 'हो भी रहा है' और साथ मे 'नही भी हो रहा है।' दोनो चीजे एक साथ चल रही है। जैसे कि जन्म और मौत दो पैर हों और जीवन दोनो पैरो पर चल रहा हो।

महावीर की बात थोडी जटिल मालूम पडेगी, क्योकि फिर भाषा मे कठिनाई पडेगी। मैं तो यह कहना आसान होता है कि फलां आदमी बच्चा है, फलाँ आदमी जवान है, फलाँ आदमी बूढ़ा है, लेकिन यह हमारा विभाजन ऐसे ही है, जैसे हम कहे यह गगा है हिमालय की, यह गंगा मैदानो की, यह गंगा सागर की, लेकिन गगा एक है। वह जो पहाड पर बहती है, वही मैदानों में बहती है। वह जो मैदानो मे बहती है वही सागर मे गिरती है।

बच्चा, जवान, बूढ़ा, एक धारा है, एक गगा है। बाँट के हमें आसानी होती है। हमारी आसानी के कारण हम असत्य को पकड लेते हैं। ध्यान रखें, हमारे अधिक असत्य आसानियों के कारण, कन्वीनियेंस के कारण पैदा होते हैं। असत्य सुविधापूर्ण है इसलिए असत्य को हम पकड लेते हैं। सत्य असुविधापूर्ण मालूम

होता है। सत्य तो कई बार इतना इन-कन्वीनियेंस, इतना असुविधापूर्ण मालूम होता है कि उसके साथ जीना मुश्किल हो जाये, हमे अपने को बदलना ही पड़े।

अगर आप बच्चे मे बूढे को देख सकें और जन्म में मृत्यु को देख सके, तो बडा असुविधापूर्ण होगा। कब मनायेंगे खुशी और कब मनायेंगे दुख ? कब बजायेंगे बैंड बाजे और कब करेंगे मातम ? बहुत मुश्किल हो जायेगा ? बहुत कठिन हो जायेगा ! सभी चीजें अगर सयुक्त दिखाई पडें, तो हमारे जीने की पूरी व्यवस्था हमे बदलनी पड़ेगी। जीने की जैसी हमारी व्यवस्था है, बँटी हुई, केटगरीज मे, कोटियो मे है।

तो हम जरा को नही देखते जन्म मे, न देखने का एक कारण यह भी है कि यह तेज है प्रवाह। यह जो प्रक्रिया है, बहुत तेज है। इसको देखने को बड़ी सूक्ष्म आख चाहिए। उसको महावीर 'तत्त्व-दृष्टि' कहते हैं।

अगर गति बहुत तेज हो, तो हमे दिखाई नही पडती। अगर पखा बहुत तेज चले, तो फिर उसकी पंखुडियाँ दिखाई नही पडती। इतना तेज भी चल सकता है पखा कि हमे दिखाई ही न पडे कि वह चल भी रहा है। बहुत तेज चले, तो हमें मालूम पड़े कि ठहरा हुआ है। जितनी चीजे हमे ठहरी हुई मालूम पडती हैं, वैज्ञानिक कहते हैं कि तेज गति के कारण ठहरी हुई मालूम पड़ती हैं। गति इतनी तेज है कि उसे हम अनुभव नही कर पाते। जिस कुर्सी पर आप बैठे हैं उसका एक-एक अणु बडी तेज गति से घूम रहा है। लेकिन हमे पता नही चलता; क्योकि गति इतनी तेज है कि हम उसे पकड़ नही पाते। गति को समझने की हमारी सीमा है। अणु की गति को हम नही पकड पाते, क्योंकि वह बहुत सूक्ष्म है। जरा की गति तो और भी सूक्ष्म, और भी तीव्र है।

जरा का अर्थ है—हमारे भीतर वह जो जीवन धारा है, वह प्रतिपल क्षीण हो रही है। हम जिसे जीवन कहते हैं, वह प्रतिपल बुझ रहा है। हम जिसे जीवन का दिया कहते हैं, उसका तेल प्रतिपल चुक रहा है।

ध्यान की सारी प्रक्रियाएँ जीवन के चुकते हुए तेल को देखने की प्रक्रियाएँ हैं। यह जरा में प्रवेश है।

अभी एक आदमी मुस्करा रहा है—इसे पता भी नही कि उसकी मुस्कराहट जो ओंठो तक आई है—हृदय से ओंठ तक जो उसने यात्रा की है—उसे पता

भी नही है कि हृदय मे शायद दुख और आंसू घने हो गये हैं। इतनी तीव्र है गति कि जब आप मुस्कराते हैं, तब तक शायद मुस्कराहट का कारण भी जा चुका होता है।

इतनी तीव्र है गति कि जब आपको अनुभव होता है कि आप सुख में हैं, तब तक सुख तिरोहित हो चुका होता है। वक्त लगता है आपको अनुभव करने मे। और जीवन की जो धारा है, (जिसको महावीर कह रहे हैं—सब चीज जरा को उपलब्ध हो रही है) वह इतनी त्वरित है कि उसके बीच के गेप, अन्तराल हमे दिखाई नही पडते।

एक दिया जल रहा है। कभी आपने ख्याल किया कि आपके दिये की लौ मे कभी अन्तराल दिखाई पडते हैं? वैज्ञानिक कहते है कि दिये की लौ प्रतिपल धुआँ बन रही है। नया तेल नई लौ पैदा कर रहा है। पुरानी लौ मिट रही है, नई लौ पैदा हो रही है। पुरानी लौ विलीन हो रही है, नई लौ जन्म ले रही है। दोनो के बीच मे अन्तराल हे, खाली जगह है। जरूरी है, नही तो पुरानी मिट नही सकेगी, नई पैदा नही हो सकेगी। जब पुरानी मिटती है और नई पैदा होती है, तो उन दोनो के बीच जो खाली जगह है, वह हमे दिखाई नही पडती। यह इतनी तेजी से चल रहा है कि हमे लगता है कि वही लौ जल रही है। बुद्ध ने कहा है कि साँझ हम दिया जलाते हैं और सुबह हम कहते हैं कि उसी दिये को हम बुझा रहे हैं, जिसे साँझ हमने जलाया था।

उस दिये को हम कभी नही बुझा सकते सुबह, जिसे साझ हमने जलाया था। वह लौ तो लाख दफा बुझ चुकी, जिसे हमने साँझ जलाया था। करोड दफा बुझ चुकी, जिस लौ को हम सुबह बुझाते हैं। उससे तो हमारी कोई पहचान ही न थी, साँझ तो वह थी ही नही।

बुद्ध ने कहा है कि हम उसी लौ को नही बुझाते, उसी लौ की धारा मे आई हुई लौ को बुझाते है, सतति को बुझाते हैं। वह लौ अगर पिता थी, तो हजार-करोड़ पीढियाँ बीत गई रात भर मे। उसकी अब जब जो सतति है—सुबह—इन बारह घटे के बाद, उसको हम बुझाते हैं।

इसे अगर हम फैला कर देखें, तो बडी हैरानी होगी।

मैंने आपको गाली दी। जब आप मुझे गाली लौटाते हैं, तो यह गाली उसी आदमी को नही लौटती जिसने आपको गाली दी थी। लौ को तो समझना आसान है कि साँझ जलाई थी और सुबह जिसे बुझाया था लेकिन

यह जो जरा की धारा है, इसको समझना मुश्किल है। आप उसी को गाली नही लौटा सकते, जिसने आपको गाली दी थी। वहाँ भी जीवन क्षीण हो रहा है। वहाँ भी लौ बदलती जा रही है। जिसने आपको गाली दी थी, अब वह आदमी नही है वहाँ, अब वहाँ उसकी संतति है। उसी धारा मे एक नई लौ है। हम कुछ भी लौटा नही सकते। लौटाने का कोई भी उपाय नही है, क्योंकि जिसको लौटाना है, वह—वही नही है। बदल गया है।

हेरॉक्लीट्स ने कहा है—एक ही नदी मे दुबारा उतरना असम्भव है। निश्चित ही असम्भव है, क्योकि दुबारा जब आप उतरते हैं, तो वह पानी बह चुका होता है, जिसमें आप पहली बार उतरे थे। हो सकता है अब सागर मे हो वह पानी, हो सकता है अब बादलो मे पहुँच गया हो, हो सकता है फिर गगोत्री मे गिर रहा हो, लेकिन अब उस पानी से मुलाकात आसान नही है दुबारा। और अगर हो भी जाये, तो आपके भीतर की भी जीवन-धारा बदल रही है, अगर वह पानी दुबारा मिल भी जाये, तो जो उतरा था नदी में वह आदमी नही मिलेगा दुबारा।

दोनो नदी है। नदी भी एक नदी है और आप भी एक नदी हैं। आप भी एक प्रवाह हैं। सारा जीवन एक प्रवाह है—इसको महावीर कहते हैं—'जरा।' इसका एक छोर जन्म है और दूसरा छोर मृत्यु है। जन्म मे ज्योति पैदा होती है, मृत्यु मे उसकी सतति समाप्त होती है। इस बीच के हिस्से को हम जीवन कहते हैं, जो कि क्षण-क्षण बदल रहा है।

यह प्रवाह इतना तेज है कि इसमे पैर रोक कर खडा होना भी मुश्किल है। हालाँकि हम सब खडे होने की कोशिश करते है। जब हम एक बडा मकान बनाते हैं, तो हम इस ख्याल से नही बनाते कि कोई और इसमे रहेगा। कभी कोई ऐसा आदमी देखा है, जो मकान बनाता हो कि कोई और इसमे रहेगा? नही, आप अपने लिए मकान बनाते हैं, लेकिन सदा आपके बनाये मकानो में कोई और रहता है। आप अपने लिए धन इकट्ठा करते है, लेकिन सदा आपका धन किन्ही और के हाथों मे पडता है। जीवन भर जो आप चेष्टा करते हैं, उस चेष्टा मे कहीं भी पैर थमने का कोई उपाय नही है। जहाँ हम खड़े होने की चेष्टा कर रहे थे, वहाँ कोई और खडा होता है! वह भी खड़ा नही रह पाता! कोई और···कोई और···!

यह बड़ी मजे की बात है कि हम सब दूसरों के लिए जीते हैं।

एक मित्र को मैं जानता हूँ। बूढ़े आदमी हैं अब तो। पन्द्रह वर्ष पहले जब वे मुझे मिले थे, तो उनका लडका एम० ए० करके यूनिवर्सिटी के बाहर आया था, तो उन्होंने मुझसे कहा था कि अब और तो कोई मेरी महत्वाकांक्षा है नही—बस, मेरे लडके को ठीक से नौकरी मिल जाये, उसकी शादी हो जाये, वह व्यवस्थित हो जाये··· ।

फिर उनका लडका व्यवस्थित हो गया, नौकरी मिल गयी, उनके लडके को अब तीन बच्चे हैं। अभी कुछ दिन पहले उनका लडका मेरे पास आया और उसने आकर मुझे कहा "मेरी तो कोई ऐसी आकाक्षा नही है। बस, ये मेरे बच्चे ठीक से पढ-लिख जाये, इनकी ठीक से नौकरी लग जाये, ये व्यवस्थित हो जाये··· ।"

इसको मैं कहता हूँ—'उधार जीना।'

बाप इनके लिए जिये, ये अपने बेटो के लिए जी रहे हैं। इनके बेटे भी अपने बेटो के लिए जियेगे।

जीना कभी हो ही नही पाता। सारी स्थिति बडी असगत, बडी बेतुकी मालूम होती है। अगर मैं इन सज्जन से कुछ कहूँ, तो इनको दुख लगेगा। मैंने सुन लिया, मैंने उनसे कुछ कहा नही, अगर मैं उनसे कहूँ, कि बडी अजीब बात है, तुम्हारे बेटे भी यही करेगे—कि अपने बेटो के जीने के लिए जियेगे।

मगर इन सारे उपद्रवो का अर्थ क्या है?

कोई आदमी जी नही पाता और सब आदमी उनके लिए चेष्टा करते हैं। जो जियेगे वे भी किन्ही और के जीने के लिए चेष्टा करेंगे।

इस सारी कथा का अर्थ क्या है?

कोई अर्थ नही मालूम पडता। अर्थ मालूम पड़ेगा ही नही, क्योकि जिस प्रवाह मे हम खडे होने की कोशिश कर रहे हैं, उस प्रवाह मे न हम खडे हो सकते हैं, न हमारे बेटे खडे हो सकते हैं, न उनके बेटे खड़े हो सकते हैं, न हमारे बाप खडे हुए, न उनके बाप भी कभी खडे हुए।

जिस प्रवाह में हम खडे होने की कोशिश कर रहे हैं, उसमें कोई खडा हो नही सकता। एक ही उपाय है कि हम सिर्फ आशा कर सकते हैं कि वहाँ हमारे बेटे खडे हो जायेगे, जहाँ हम खडे नही हुए।

इतना साफ है कि हम खडे नही हो पा रहे, फिर भी आशा नहीं छूटती।

'चलो ! हमारे खून का हिस्सा—हमारे शरीर का कोई टुकड़ा खड़ा हो जायेगा।'

लेकिन जब आप खड़े नही हो पाये, तो ध्यान रखे—कोई भी खड़ा नही हो पायेगा। असल में जहाँ आप खडे होने की कोशिश कर रहे हैं, वह जगह खडे होने की है ही नही।

महावीर कहते हैं कि जरा और मरण के तेज प्रवाह में बहते हुए जीव के लिए धर्म ही एकमात्र शरण है।

इस प्रवाह मे जो शरण खोजेगा, उसे शरण कभी भी नही मिलेगी। इस प्रवाह मे कोई शरण है ही नही, यह सिर्फ प्रवाह है।

महावीर के दो हिस्से ठीक से समझ लें।

एक। जिसे हम जीवन कहते हैं, उसे महावीर जरा और मरण का प्रवाह कहते है, उसमे अगर आपने खडे होने की कोशिश की, तो आप खडे होने की कोशिश में ही मिट जायेगे, खडे नही हो पायेंगे। उसमे खडे होने का कोई उपाय ही नही है। और ऐसा मत सोचना (जैसा कि कुछ नासमझ सोचे चले जाते हैं।) जैसा कि नैपोलियन कहता है कि मेरे शब्दकोष मे असभव जैसा कोई शब्द नही है।

यह बचकानी बात है। यह बहुत बुद्धिमान आदमी नही कह सकता। और नैपोलियन बहुत बुद्धिमान हो भी नही सकता; क्योंकि वह कहता है, "मेरे शब्दकोष मे असभव जैसी कोई बात नही है।"—और यह कहने के दो साल बाद वह जेलखाने मे पडा हुआ है—हेलना के।

सोचता था कि सारे जगत् को हिला दूंगा। सोचता था कि पहाडो को कह दूं हट जाओ, तो उन्हे हटना पडे।

हेलना के द्वीप में एक दिन सुबह घूमने निकला है और एक घासवाली औरत पगडण्डी से चली आ रही है। नैपोलियन के सहयोगी ने चिल्लाकर कहा—"ओ घसियारिन रास्ता छोड़ दे।" लेकिन घसियारिन ने रास्ता नही छोड़ा।

हारे हुए नैपोलियन को कौन घसियारिन रास्ता छोड़ने को तैयार हो सकती है? और मजा यह है कि अन्त में नैपोलियन को ही रास्ता छोड़कर उतर जाना पड़ा और घसियारिन रास्ते से गुजर गई।

यह वही नैपोलियन है, जो कुछ दिन पहले कहता था कि मेरे शब्दकोश मे असंभव जैसा कोई शब्द ही नही है। अगर मैं आल्प्स पर्वत से कहूँ कि हट, तो उसे हटना पडे। वह एक घसियारिन को भी नही कह सकता कि हट।

महावीर कहते हैं कि कुछ—'असभव है।' बुद्धिमान आदमी वह नही है, जो कहता है कि कुछ भी असम्भव नही। न ही वह आदमी बुद्धिमान है, जो कहता है कि सभी कुछ सम्भव है। बुद्धिमान आदमी वह है, जो ठीक से परख कर लेता है कि क्या असम्भव और क्या सम्भव है। बुद्धिमान आदमी वह है, जो जानता है कि क्या असम्भव है और क्या सम्भव है। एक बात निश्चित रूप से असम्भव है कि जरा और मरण के तेज प्रवाह मे कोई शरण नही है। यह असम्भव है। इसमे पैर जमा कर खडे हो जाने का कोई भी उपाय नही है। इस असम्भव के लिए जो चेष्टा करते है, वे मूढ है।

असम्भव का मतलब यह नही होता कि थोडी कोशिश करेंगे तो हो जायेगा। असम्भव का मतलब यह भी नही होता कि सकल्प की कमी है, इसलिए नही हो रहा। असम्भव का मतलब यह नही कि ताकत कम है, इसलिए नही हो रहा है। असम्भव का मतलब होता है—स्वभावत जो हो नही सकता—प्रकृति के नियम मे जो नही हो सकता।

महावीर यह नही कहते कि आकाश मे उडना असम्भव है। जो कहते हे, वे गलत साबित हो गये है। महावीर जैसे आदमी कभी नही कहेंगे कि आकाश मे उडना असभव है। जब पक्षी उड लेते है, तो आदमी उड ले, इसमे बहुत असभावना नही है। जब पक्षी उड लेते है, तो आदमी भी कोई इन्तजाम कर लेगा। और उड लेगा।

चाँद पर पहुँच जाना, महावीर नही कहेगे कि असम्भव है; क्योंकि चाँद और जमीन के बीच फासला कितना ही हो, आखिर फासला ही है। फासले पूरे किये जा सकते हैं।

इस सम्बन्ध मे ईसाइयत कमजोर है। ईसाइयत ने ऐसी बातें असम्भव कही, जिनको विज्ञान ने सम्भव करके बता दिया और उसके कारण पश्चिम मे धर्म की प्रतिष्ठा गिर गई। धर्म की प्रतिष्ठा गिरने का कारण यह बना कि ईसाइयत ने ऐसे दावे किये थे कि यह हो ही नहीं सकता और वह हो गया। जब हो गया, तो ईसाइयत मुश्किल मे पड गई, लेकिन इस मामले मे भारतीय धर्म अति वैज्ञानिक है।

महावीर ने ऐसा कोई दावा नही किया है, जो विज्ञान किसी दिन गलत कर सके। जैसे यह दावा—'जरा और मरण के तीव्र प्रवाह मे कोई शरण नही है।'—इसे कभी भी, किसी भी स्थिति में गलत नही किया जा सकता; क्योकि गहरे से गहरे जीवन के नियम का हिस्सा है।

शरण मिल सकती है उसमे, जो स्वय परिवर्तित न होता हो। जो स्वय ही परिवर्तित हो रहा हो, उसमे शरण कैसी !

शरण का मतलब होता है कि आप मेरे पास आये और आपने आकर कहा कि मुझे शरण दें। दुश्मन मेरे पीछे लगे हुए है, मुझे बचायें। मैं आपको कहता हूँ कि ठीक है। मैं आश्वासन देता हूँ कि मै आपको बचाऊँगा, लेकिन आश्वासन का मतलब तभी हो सकता है, जब 'मैं' कल भी 'मैं' ही रहूँ। कल, जब 'मैं' ही न रहूँगा, तो दिये गये आश्वासन का कितना मूल्य है ? मैं खुद ही बदल रहा हूँ, तो मेरे आश्वासन का क्या अर्थ है ?

किर्केगार्ड ने कहा है कि मैं कोई आश्वासन नही दे सकता। आई कैन नाट प्रामिस एनिथिंग। इसलिए नही दे सकता कि मैं किस भरोसे से आश्वासन दूँ ? कल सुबह मैं, मैं ही रह जाऊँगा, इसका कोई पक्का नही। तो जिसने आश्वासन दिया था, वही जब न रहे, तो आश्वासन का क्या अर्थ ? जो खुद बदल रहा है, वह क्या आश्वासन दे सकता है ? जहाँ परिवर्तन ही परिवर्तन है, वहाँ शरण कैसी ?

करीब-करीब ऐसा ही है कि दोपहर है और घनी धूप है और आप एक वृक्ष की छाया मे बैठ गये हैं। लेकिन आप को पता है कि वृक्ष की छाया बदल रही है। थोडी देर मे यह हट जायेगी ?

यह वृक्ष की छाया शरण नही बन सकती, क्योकि यह छाया है। बदल रही है। यह परिवर्तित हो रही है। इस जगत् मे जहाँ-जहाँ हम शरण खोजते हैं, वहाँ सभी कुछ परिवर्तित हो रहा है। जिसे हम पकडते हैं, वह खुद ही बहा जा रहा है। बहाव को हम पकडने की कोशिश करते हैं और उस आश्वासन मे जीते हैं, जो खुद बदल रहा है। उसके साथ कैसे शरण सभव हो सकती है ?

इसलिए महावीर कहते हैं कि जरा और मरण के तीव्र प्रवाह मे कोई भी शरण नहीं है।

चाहे धन, चाहे यश, चाहे पद, चाहे प्रतिष्ठा, चाहे मित्र, पति-पत्नी, सम्बन्ध, पुत्र सब बहे जा रहे हैं। इस बहाव मे—जहाँ हजार-हजार बहाव

हो रहे हैं, जो आदमी सोचता है कि मैं पकड कर रुक जाऊँ, ठहर जाऊँ, पैर जमा लूँ, वह आदमी दुख मे पडेगा । यही दुख हमारे जीवन का नर्क है ।

किसी के प्रेम को हम सोचते हैं कि शरण है—सोचते हैं कि मिल गई छाया—अब किसी का प्रेम हमे वरद-छाया की तरह घेरे रहेगा, लेकिन सब चीजे बदल रही है । कल छाया बदल जायेगी । सुबह छाया कही होगी, दोपहर कही होगी, साँझ कही होगी । फिर छाया ही नही बदल जायेगी । आज घना था वृक्ष, कल पतझड आयेगा, तो पत्ते ही गिर जायेंगे और कोई छाया नही बनेगी ।

आज वृक्ष जवान था, कल बूढा हो जायेगा । आज वृक्ष फैला था छाते की तरह आकाश मे, कल सूखेगा और ये सूखना, ये सिकुडना, यह प्रतिपल चल रहा है, तो जो उस वृक्ष के नीचे बैठा है यह आशा बाँध कर कि मुझे छाया मिल गई, अब मैं इस एक जगह रह जाऊँ तो उसे आँख नही खोलनी चाहिये—पहली शर्त । अगर वह आँख खोलेगा, तो कठिनाई मे पडेगा—उसे अधा होना चाहिए । चाहे कितनी ही धूप पडे, उसे सदा ही व्याख्या करनी चाहिये कि यह छाया है । फिर चाहे कितना ही उल्टा हो जाये—वृक्ष मे पतझड आ जाये, तो उसे माने ही चलना चाहिये कि फूल खिले हैं और वसन्त की बहार है ।

हम सब यही कर रहे है । आज जो प्रेम है, कल वह नही होगा, तब हम आँख बन्द करके माने चले आयेंगे कि प्रेम है । आज जो मित्रता है, कल वह नही होगी, तब भी हम माने चले आयेंगे कि मित्रता है। आज जो सुगन्ध थी कल वह दुर्गन्ध हो जायेगी, तब भी हम माने चले जायेंगे ।

आँख बन्द करके हमे जीना पडता है, क्योकि जहाँ हम शरण ले रहे हैं, वहाँ शरण लेने योग्य कुछ भी नही है और तब आँखे खोलने मे डर लगने लगता है । तब हम अपने से ही भयभीत हो जाते हैं। हम किसी चीज को फिर बहुत साफ नही देख पाते, क्योकि डर है कि जो हम मान रहे हैं, कहीं ऐसा न हो कि वह वहाँ हो ही नही ! तो फिर हम आँख बन्द करके जीने लगते हैं ।

हम सब अन्धो की तरह जीते हैं, बहरों की तरह जीते हैं । जो है, उसको हम देखते नही । जो था, हम माने चले आते हैं कि वही है और उसे हम मान कर व्यवहार किये चले जाते हैं ।

यह जो हमारी चित्त दशा है, विक्षिप्त जैसी है । लेकिन कारण क्या है ?

कारण यह नही कि मैंने जिसे प्रेम किया वह आदमी ईमानदार न था। नही, यह कारण नही है, मैंने जिसे प्रेम किया, वह एक प्रवाह था। ईमानदार और बेईमान का कोई भी सवाल नही। इसका मतलब यह नही कि मैने जिससे मैत्री का भरोसा किया, वह भरोसे योग्य न था ! नही, वह एक प्रवाह था। मैंने प्रवाह का भरोसा किया।

चलती हुई, बहती हुई हवाओ पर जो भरोसा करता है, वह कठिनाई मे पडेगा ही। यह कठिनाई किसी की बेईमानी से पैदा नही होती, न किसी के धोखे से पैदा होती है। मेरा तो अनुभव ऐसा है कि इस सारे जगत् मे निन्यानवे प्रतिशत कठिनाइयाँ कोई जान कर पैदा नही करता—प्रवाह से पैदा होती है। आदमी बदल जाते हैं और रोक नही सकते अपने को बदलने से।

कोई बच्चा कब तक बच्चा रहेगा, जवान तो होगा ही ! निश्चित ही बचपन मे उस बच्चे ने माँ को जो आश्वासन दिये थे, वह जवान होकर नही दे सकता। बच्चे के जवान होने मे ही यह बात छिपी है कि माँ कि तरफ पीठ हो जायेगी, जिसकी ओर पहले मुँह था। यह हो ही जायेगा। यह बच्चा माँ की तरफ ऐसे देखता था, जैसे उससे सुन्दर इस जगत् मे कोई भी न हो, लेकिन एक दिन मा की तरफ पीठ हो जायेगी। कोई और सुन्दरी दिखाई पडना शुरू हो जायेगी और तब माँ को लगेगा कि धोखा हो गया।

सभी माँ को लगता है कि धोखा हो गया—अपना ही लड़का···। लेकिन उनको स्मरण नहीं रहता कि उनको जिस पति ने प्रेम किया था, वह भी किसी का लडका था। अगर वह भी अपनी माँ को प्रेम करता चला जाता, तो उनका पति होनेवाला नही था।

लडका जवान होगा, तो माँ से जो प्रेम था, वह बदलेगा—छाया हट जायेगी, किसी और पर पडेगी, किसी और को घेर लेगी--तब धोखा नहीं हो रहा, तब हम सिर्फ प्रवाह को प्रेम कर रहे हैं। यह जाने बिना कि वह प्रवाह है—हम मानते थे कि कोई थिर चीज है इसलिए अडचन हो रही है, इसलिए कठिनाई हो रही है।

आज दस लोग आपको आदर देते हैं, तो आप बडे आश्वस्त हैं, कल ये दस लोग आपको आदर नही देंगे तो आप बड़े निराश और दुखी हो जायेंगे। ऐसा नहीं है कि ये दस लोग बुरे थे—ये दस लोग प्रवाह थे।

हम एक प्रवाह हैं। एक ही आदमी को हम सदा आदर नही दे सकते। हम आदर देते-देते ऊब जाते हैं। आदर के लिए हमे नया आदमी खोजना

पडता है। हम प्रेम भी एक ही आदमी को नही दे सकते। हम प्रवाह हैं। हम प्रेम देते-देते भी ऊब जाते है। हमे प्रेम के लिए भी नये लोग खोजने पडते हैं।

हम एक सतत बदलाहट हैं, और हमी बदलाहट हैं, ऐसा नही—हमारे चारो तरफ जो भी है, वह सब बदलाहट है। अगर हम इस जगत् को इसकी बदलाहट मे देख सकें, तो हमारे दुखी होने का कोई भी कारण नही है।

वृक्ष की छाया बदल जायेगी, वृक्ष भी क्या कर सकता है ! सूरज बदल रहा है और सूरज को क्या मतलब है इस वृक्ष की छाया से। वृक्ष क्या कर सकता है ! वर्षा नही आई और वर्षा को क्या मतलब है इस वृक्ष से। और वृक्ष क्या कर सकता है कि भारी ताप हुई, सूर्य की आग बरसी, पत्ते सूख गये और गिर गये ! क्या मतलब है धूप को इस वृक्ष से ! और जो छाया मे नीचे बैठा है—इस वृक्ष को क्या प्रयोजन है उस आदमी से कि वह छाया मे नीचे बैठे।

यह सारा का सारा जगत् एक अनन्त प्रवाह है। इस प्रवाह मे जो भी पकड़ कर शरण खोजता है, वह दुख मे पडता है, लेकिन तब क्या कोई शरण है ही नही ?

एक सम्भावना तो यह है कि शरण है ही नही, जैसा कि शॉपनहर—एक जर्मन विचारक ने कहा है कि कोई शरण नही है, दुख अनिवार्य है, यह एक दशा है।

अगर आदमी ठीक से सोचे, तो एक विकल्प यह है कि दुख अनिवार्य है। दुख होगा ही। यह बडा निराशाजनक है, लेकिन शॉपनहर कहता है कि सत्य यही है। हम कर भी क्या सकते हैं !

फ्रायड ने पूरे जीवन चिन्तन करने के बाद यह कहा कि आदमी सुखी हो नही सकता, क्योकि जहाँ भी वह पकडता है, वही चीजे बदल जाती हैं, और ऐसी कोई चीज नही है, जो न बदले और आदमी पकड़ ले।

शॉपनहर कहता है कि सब दुख है। सुख सिर्फ आशा है। दुख वास्तविकता है। सुख का एक ही उपयोग है—सुख तो है नही, सिर्फ उसकी आशा का एक उपयोग है कि आदमी दुख को झेल लेता है। दुख को झेलने मे राहत मिलती है—सुख की आशा से लगता है कि आज नही, तो कल मिलेगा। आज का दुख झेलने में आसानी हो जाती है, लेकिन सुख है नही, क्योकि सभी कुछ प्रवाह

है, सभी कुछ बदला जा रहा है। आपकी आशाएँ कभी पूरी नही होगी; आपकी आशाएँ ऐसे जगत् मे पूरी हो सकती हैं, जहाँ चीजें बदलती न हो।

इसे थोडा ठीक से समझ ले।

आप जो भी आशाएँ करते हैं, वह एक ऐसे जगत् की करते हैं, जहाँ सब चीजे ठहरी हुई हैं।

मैं जिसे प्रेम करता हूँ··· । प्रेम की क्या आशा है, आप जानते हैं ? प्रेम की आशा है—अनन्त हो, शाश्वत हो, सदा रहे, कभी कुम्हलाएँ न, कभी मुरझाये न कभी बदले न—यह आशा एक ऐसे जगत् की है, जहाँ प्रवाह न हो, जहाँ सब चीजें थिर हो।

अगर ठीक से समझे, तो यह आशा एक बिलकुल मरे हुए जगत् की है। क्योकि जहाँ जरा भी बदलाहट होगी, वहाँ सब अस्त-व्यस्त हो जायेगा। हम एक ऐसा जगत् चाहते हैं—बिलकुल मरा हुआ जगत्, जहाँ सब चीजे ठहरी हुई हैं। सूरज अपनी जगह, छाया अपनी जगह, प्रेम अपनी जगह—सब ठहरा हुआ है। आदर-श्रद्धा अपनी जगह, बेटा अपनी जगह, पति अपनी जगह,—सब ठहरा हुआ है—तो हम एक योग का जगत् बना लें—बिलकुल मृतक। जहाँ कोई चीज कभी नही बदलती, लेकिन तब भी हम सुखी न होगे, क्योकि तब लगेगा कि सब मर गया।

फ्रायड कहता है कि आदमी की आकाक्षाएँ असम्भव हैं। वह कभी सुखी नही हो सकता। अगर जगत् बदलता रहे, तो वह दुखी होता है कि जो चाहा था वह नही हुआ। अगर जगत् बिलकुल थिर हो जाये—जो वह चाहे, वही हो जाये, तो भी वह दुखी हो जायेगा, क्योकि तब उसमे कोई रस नही रह जायेगा।

अगर गुलाब का फूल खिले और खिला ही रहे, कभी न मुरझाये, तो प्लास्टिक के फूल मे और गुलाब के फूल मे फर्क क्या होगा ?

आप भगवान् से प्रार्थना करने लगेंगे कि कभी तो यह मुरझाये—कभी तो ऐसा हो कि यह गिरे और बिखर जाये।

यह छाती पर भारी पडने लगा। कहते हैं आप कि शाश्वत प्रेम ! आपको पता नही है, शाश्वत प्रेम आपको अगर मिल जाये, तो एक ही प्रार्थना उठेगी कि इससे छुटकारा कैसे हो ?

हम सब चाहते हैं—ठहरा हुआ जगत्, लेकिन चाह सकते हैं, क्योंकि वह मिलता नहीं और मिल जाये तो कठिनाई खडी हो जाती है। फ्रायड कहता है आदमी एक असंभव आकांक्षा है।

ज्यां पाल सार्त्र ने इस बात को अभी एक नया रुख दिया है और वह कहता है कि वासना ही मूढ़तापूर्ण है। आदमी एक वासना है जो मूढतापूर्ण है। कुछ भी हो जाये, आदमी दुखी होगा। दुख अनिवार्य है।

तो एक रास्ता यह हे कि जो शॉपनहर या फ्रायड या सार्त्र कहते हैं लेकिन महावीर निराशावादी नहीं हैं।

महावीर कहते हैं कि यह जगत् एक प्रवाह है, लेकिन इस जगत् मे छिपा हुआ एक ऐसा तत्त्व भी है, जो प्रवाह नहीं है। उसे महावीर धर्म कहते हैं। 'जरा और मरण के तेज प्रवाह मे बहते हुए जीव के लिए धर्म ही एक मात्र द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और शरण होता है।'

यह जो हम देख रहे हैं चारो तरफ बहता हुआ—यही अगर सब कुछ है, तो निराशा के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। और अगर निराशा के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है, तो सिर्फ मूढ़ ही जी सकते हैं, बुद्धिमान आत्मघात कर लेंगे।

कुछ बुद्धिमान आत्मघात करते हैं तो कहते हैं कि सिर्फ मूढ ही जी सकते है। थोडी दूर तक इनकी बात सच भी मालूम पडती है कि मूढ ही जी सकते है। जीने के लिए घनी मूढता चाहिये।

अब यह जो बाप कह रहा है कि 'बेटे को काम पर लगा देने को जी रहा हूँ···। ये बेटा अपने बेटे को काम पर लगा देने के लिए जी रहा है।'

बडी घनी मूढता चाहिये, इन सब को चलाये रखने के लिए—अधापन चाहिए कि दिखाई ही न पडे कि हम क्या कर रहे हैं। अगर यह दिखाई पड जाये कि सभी कुछ निराशा है और कही कोई शरण नहीं है, किसी चीज का कोई भरोसा नहीं, कही पैर टिक नहीं सकते, धारा प्रतिपल बही जा रही है और भविष्य अनजान है और जीवन की हर घडी मौत मे बदल जाती है, हर सुख, दुख मे बदल जाता है और जन्म अन्ततः मृत्यु को लाता है—अगर यह साफ दिखाई पड जाये, तब आप तत्काल वहीं के वही बैठ जायेंगे। यह तो बहुत घबडाने वाला होगा! यह बेचैन रहेगा! यह सताप से भर देगा!

और पश्चिम मे इधर सन्ताप बढा है। पश्चिम में एक विचार दर्शन है—एक्जिस्टेंशियलिज्म (अस्तित्ववाद)। वे महावीर के पहले हिस्से से राजी हैं, लेकिन महावीर अद्भुत आदमी मालूम पडते हैं। जीवन मे सब दुख देखकर भी महावीर आनन्दित हैं।

यह बड़ी असभव घटना मालूम पड़ती है, क्योंकि महावीर और बुद्ध ने जीवन के दुख की जितनी गहरी चर्चा की है, इस जगत् मे कभी किसी ने नहीं की। फिर भी महावीर से ज्यादा प्रफुल्लित, आनदित और नाचता हुआ व्यक्तित्व खोजना मुश्किल है। महावीर से ज्यादा खिला हुआ आदमी खोजना मुश्किल है। शायद जमीन ने फिर ऐसा आदमी दुबारा नही देखा।

कहानियाँ हैं महावीर के बाबत, वह बडी प्रीतिकर हैं। कि महावीर जब रास्ते पर चले, तो काँटा भी अगर सीधा पडा हो, तो तत्काल उलटा हो जाता है कि कही महावीर को गड़ न जाये।

कोई काटा उल्टा हुआ नही होगा। आदमी इतनी चिन्ता नही करते, तो काटे क्या इतनी चिन्ता करेगे! आदमी महावीर को पत्थर मार जाते हैं, कान मे खीलें ठोंक जाते है, तो काटे अगर ऐसी चिन्ता करते हैं, तो काटे तो आदमी से आगे निकल गये! लेकिन जिन्होने कहा है, किन्ही कारणो से कहा है।

वैज्ञानिक तथ्य नही है, लेकिन बहुत गहरा सत्य है। और जरूरी नही है कि सत्य के लिए कि वह वैज्ञानिक तथ्य भी हो। सत्य बडी और बात है। इस बात मे सत्य है। इस बात मे इतना सत्य है कि कोई उपाय ही नही है महावीर को काटे गडने का।

कैसा भी काँटा हो महावीर के लिए उल्टा ही होगा। न भी हो, तो भी होगा और हमारे लिए काटा कैसा भी हो, सीधा ही होगा। हम मखमल की गद्दी पर चले, तो भी काँटे गडनेवाले हैं। महावीर काँटे पर भी चलें, तो उन्हे नही गड़ते, यही मतलब है। काँटो की तरफ से नही है यह बात, यह बात महावीर की तरफ से है। महावीर के लिए कोई उपाय नही है कि उन्हे काँटा गड सके।

जो आदमी दुख की इतनी बात करता है कि सारा जीवन दुख है, उस आदमी को काँटा नही गडता दुख का! जरूर इसने किसी और जीवन को भी जान लिया है!

इसका अर्थ हुआ कि यही जीवन सब कुछ नही है। जिसे हम जीवन कहते हैं, वह जीवन की परिपूर्णता नही है, केवल परिधि है। जिसे हम जीवन जानते हैं, वह केवल सतह है, उसकी गहराई नही और इस सतह के छूटने का तब तक कोई उपाय नही है, जब तक सतह के साथ हमारी आशा बँधी है। इसलिए महावीर इस सतह के सारे दुख को उखाड कर रख देते हैं। इस सारे दुख को उखाड़ कर रख देते हैं। इसका सारा हड्डी, मास, मज्जा खोलकर रख देते हैं कि यह दुख है।

इसलिए नही कि आदमी दुखी हो जाये, इसलिए नही कि आदमी आत्मघात कर ले। इसलिए कि आदमी रूपान्तरित हो जाये। उस नये जीवन मे प्रविष्ट हो जाये, जहाँ दुख नही है। यह एक नई यात्रा का निमत्रण है।

इसलिये महावीर निराशावादी नही हैं, दुखवादी नही हैं, पेसिमिस्ट नही है। महावीर आनन्दवादी हैं, लेकिन दुख की इतनी बात करते हैं कि पश्चिम मे बहुत गलतफहमी पैदा हुई है।

अलबर्ट शवीत्जर ने भारत के ऊपर बडी से बडी आलोचना की है और बहुत समझदार व्यक्तियों मे शवीत्जर एक है। उसने कहा कि भारत जो है, वह दुखवादी है। इनका सारा चिन्तन, इनका सारा धर्म दुख से भरा है—दुख से ओत-प्रोत है, निराशावादी है—इन्होने जीवन की सारी की सारी जड़ों को सुखा डाला है और इन्होने जीवन को कालिख से पोत डाला है।

शवीत्जर थोडी दूर तक तो ठीक कहता है। हमने ऐसा किया है, लेकिन फिर भी शवीत्जर की आलोचना गलत है। अगर महावीर के ऊपर के वचनो को देखकर कोई चलेगा, तो लगेगा कि सब जरा है, सब दुख है, सब पीडा है।

अगर आप महावीर को कहे कि देखते हैं, यह स्त्री कितनी सुन्दर है। तो महावीर कहेगे कि थोडा और गहरा देखो, थोडा चमडी के भीतर जाओ, थोडा थोडा झाँको, तो तुम्हे असली सौन्दर्य का पता चलेगा। तब तुम्हे हड्डी, मास, मज्जा के अतिरिक्त कुछ भी न मिलेगा।

सुना है मैंने, मुल्ला नसरुद्दीन जवान हुआ और एक लडकी के प्रेम में पडा। उसके पिता ने उसे समझाने के लिए कहा कि तू बिल्कुल पागल है। थोडा समझ-बूझ से काम ले। जरा सोच, जिस सौन्दर्य के पीछे तू दिवाना है, दैट ब्युटी इज ओनली स्किन डीप (वह सौन्दर्य केवल चमड़ी की गहराई का है) तो मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा—दैट इज इनफ फॉर मी। आइ ऐम नॉट ए कैनीबाल। मेरे लिए काफी है, चमडी की गहराई का सौन्दर्य भी। मैं कोई आदमखोर तो नही हूँ कि भीतर स्त्री को खा जाऊँ। ऊपर-ऊपर काफी है, भीतर का करना क्या है? आइ ऐम नॉट ए कैनीबाल।

हम भी यही मान के जीते हैं कि ऊपर-ऊपर काफी है। भीतर जाने की जरूरत क्या है! लेकिन यह सवाल केवल स्त्री का ही नही है, यह सवाल केवल पुरुष का ही नही है, यह सवाल हमारे पूरे जीवन को देखने का है। ऊपर ही ऊपर जो मानते हैं कि काफी है, वे प्रवाह से कभी भी छुटकारा न पा

सकेंगे। क्योंकि प्रवाह के बाहर जो जगत् है, वह ऊपर नही है, वह भीतर है और स्त्री के भीतर हड्डी, मास, मज्जा ही अगर हो, तो नसरुद्दीन ठीक कहता है कि इस झंझट में क्यो पडना ! लेकिन स्त्री के हड्डी, मास, मज्जा के भीतर भी जाने का उपाय है। हड्डी, मास मज्जा के भीतर वह स्त्री की जो आत्मा है, वह प्रवाह के बाहर है।

दो-तीन बातें हम समझ लें।

एक तो सतह है, फिर सतह से नीचे छिपा हुआ जगत् है और फिर सतह के नीचे की भी गहराई मे छिपा हुआ केन्द्र है। परिधि है, फिर परिधि और केन्द्र के बीच का फासला है और फिर केन्द्र है।

जब तक कोई केन्द्र तक न पहुँच जाये, तब तक न तो सत्य का कोई अनुभव है, न सौन्दर्य का कोई अनुभव है। सौन्दर्य का अनुभव तभी होता है, जब हम किसी दूसरे व्यक्ति के केन्द्र को स्पर्श करते हैं। प्रेम का भी वास्तविक अनुभव तभी होता है, जब हम किसी व्यक्ति के केन्द्र को छू लेते है—चाहे क्षण भर को ही सही, चाहे एक झलक ही क्यो न हो।

जीवन मे जो भी गहन है, जो भी महत्त्वपूर्ण है, वह केन्द्र है। लेकिन परिधि पर हम अगर घूमते रहे, घूमते रहे, तो जन्मो-जन्मो तक घूम सकते हैं। जरूरी नही है कि हम कितना घूमे कि केन्द्र तक पहुँच जायें। एक आदमी एक चाक की परिधि पर बैठ जाये और घूमता रहे, घूमता रहे, जन्मों-जन्मो तक, वह कभी भी केन्द्र तक नही पहुँचेगा। हम ऐसे ही घूम रहे हैं। इसीलिए हमने जगत् को ससार कहा है।

ससार का अर्थ है—चक्र, जो घूम रहा है। उसमे दो उपाय हैं, होने के—ससार मे दो ढग हैं, होने के : एक ढग है परिधि पर होना और एक ढग है उसके केन्द्र पर होना। केन्द्र पर होना ही धर्म है।

महावीर कहते हैं कि 'धर्म स्वभाव' है। 'वत्थू स्वभावो धम्म', वह जो प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है, उसका आन्तरिक, अन्तरतम, वही धर्म है। महावीर के लिए धर्म का अर्थ रीलिजन नही है, ख्याल रखना—मजहब नही है। महावीर के लिए धर्म से मतलब . हिन्दू, जैन, ईसाई, बौद्ध, मुसलमान नही है।

महावीर कहते हैं कि धर्म का अर्थ है—तुम्हारा जो गहनतम स्वभाव है, वही तुम्हारी शरण है। जब तक तुम अपने उस गहनतम स्वभाव को नहीं

पकड़ पाते हो, तब तक तुम प्रवाह मे भटकते ही रहोगे और प्रवाह मे जरा और मृत्यु के सिवाय कुछ भी नही है।

प्रवाह मे है—मृत्यु, केन्द्र पर है—अमृत, प्रवाह मे है—जरा, दुख। केन्द्र पर है—आनन्द। प्रवाह मे है चिन्ता, सताप। केन्द्र पर है—शून्य, शाति। प्रवाह है ससार, केन्द्र है मोक्ष।

महावीर को अगर ठीक से समझे, तो जहाँ हम परत को पकड लेते हैं, परिवर्तनशील पर्त को, वही हम ससार मे पड़ते हैं। जहाँ हम परिवर्तनशील पर्त को उघाडते चले जाते हैं—तब तक, जब तक कि अपरिवर्तित का दर्शन न हो जाये, वही··· ।

यह उघाडने की प्रक्रिया ही योग है। जिस दिन वह उघड जाता है और हम उसको जान लेते हैं, जो कि शाश्वत है, जिसका कोई जन्म नही, उस दिन फिर कोई भी मृत्यु नही।

हम सब खोजना चाहते है, अमृत को। हम सब चाहते हैं कि ऐसी घडी आये, जब मृत्यु न हो। लेकिन वह घडी आयेगी तब, जब हम उसे खोज लेंगे, जिसका कोई जन्म न हुआ। जब तक हम उसे न खोज लें, जिसका कोई जन्म न हुआ, तब तक अमृत का कोई पता नही चलेगा।

हम सब खोजना चाहते हैं आनन्द, लेकिन आनन्द से हमारा मतलब है, दुख के विपरीत। महावीर का आनन्द से अर्थ है—उसका, जो कभी दुखी नही हुआ। —यह बडी अलग बात है।

हम चाहते है कि आनन्द मिल जाये, लेकिन हम उसी मन से आनन्द चाहते हैं, जो सदा दुखी हुआ, जो मन सदा दुखी हुआ, वह कभी आनन्दित नही हो सकता। मन का स्वभाव ही दुखी होना है।

महावीर कहते हैं कि आनन्द चाहिये, तो खोज ले उसे, तुम्हारे भीतर जो कभी दुखी नहीं हुआ। अगर चाहते हो अमृत, तो खोज लो उसे अपने भीतर, जिसका कभी जन्म नही हुआ। इसे वे कहते हैं—धर्म।

'धर्म' का महावीर के लिए वही अर्थ है, जो लाओत्से का 'ताओ' से—धर्म से वही मतलब है, जो इस अस्तित्व की 'आतरिक प्रकृति' से। मेरे भीतर भी 'वह' है, आपके भीतर भी 'वह' है। आपके भीतर मुझे खोजना, आसान न होगा। आपके पास खोजने जाऊँगा, तो आपकी परिधि ही मुझे मिलेगी।

इसे थोड़ा देख लें।

हम दूसरे आदमी को कभी भी उसके भीतर से नही देख सकते, या कि आप देख सकते हैं ? आप दूसरे आदमी को सदा उसके बाहर से देख सकते हैं। आप मुस्करा रहे हैं, तो मैं आपकी मुस्कराहट देख सकता हूँ, लेकिन आपके भीतर क्या हो रहा है, यह मैं नही देख सकता। आप दुखी हैं, तो आपके आँसू देख सकता हूँ, आपके भीतर क्या हो रहा है, यह मैं नही देख सकता। अनुमान लगाता हूँ कि आँसू हैं, तो भीतर दुख होगा। मुस्कराहट है, तो भीतर खुशी होगी।

दूसरा आदमी अनुमान है, इन्फेन्स है। भीतर तो केवल मैं अपने ही देख सकता हूँ। तब हो सकता है कि ऊपर आँसू हों और भीतर दुख न हो। ऊपर मुस्कराहट हो और भीतर दुख हो।

भीतर तो मैं अपने ही देख सकता हूँ। एक द्वार मेरे लिए स्वभाव में उतरने का खुला है, वह मैं स्वय हूँ। दूसरा मेरे लिए बन्द द्वार है। उसमें मैं कभी नही उतर सकता।

हम सब दूसरे से उतरने की कोशिश कर रहे हैं। हमारा प्रेम, हमारी मित्रता, हमारा सम्बन्ध सब दूसरे से उतरने की कोशिश हैं। दूसरे से हम प्रवाह मे ही रहेंगे।

इसलिए महावीर ने बड़ी हिम्मत की बात कही। महावीर ने ईश्वर को भी स्वीकार नही किया। महावीर ने कहा कि ईश्वर भी दूसरा हो जाता है—द अदर। उससे भी कुछ हल नही होगा। महावीर ने कहा कि मैं तो आत्मा को भी परमात्मा कहता हूँ, और किसी को परमात्मा नही कहता। कोई दूसरा परमात्मा नही है, तुम स्वय ही परमात्मा हो। एक ही द्वार तुम्हारे अपने भीतर जाने का है, वह तुम स्वय हो। परिधि को छोडो और भीतर की तरफ हटो। क्या है उपाय ? कैसे छोडे हम परिधि को ?

एक आखिरी सूत्र।

जो भी बदल जाता हो, समझो कि वह मैं नही हूँ।

शरीर प्रतिपल बदल रहा है, शरीर एक धारा है। जब आपका माँ के पेट मे गर्भाधान हुआ था, उस अणु का चित्र अगर आपके सामने रख दिया जाये, तो आप पहचान भी नही सकेंगे कि आप यह थे, लेकिन एक दिन वही

आपका शरीर था। जिस दिन आप जन्मे थे, उस दिन की तस्वीर अगर आपके सामने रख दी जाये, तो आप पहचान न सकेंगे कि यह मैं ही हूँ, लेकिन एक दिन वही आपका शरीर था। अगर आपके पिछले जन्म की लाश आपके सामने रख दी जाये, तो आप पहचान न सकेंगे, लेकिन एक दिन आप वही थे। अगर आपके भविष्य का कोई चित्र आपके सामने रख दिया जाये, तो आप पहचान नही सकेंगे कि एक दिन आप वह भी हो सकते हैं। शरीर प्रतिपल बदल रहा है।

महावीर कहते है, जो बदल रहा है, वह मै नही हूँ—इसकी धारणा करो। इसको गहन में उतारते चले जाओ। यह तुम्हारे चेतन, अचेतन के पोर-पोर में डूब जाये कि जो बदल रहा है, वह मैं नही हूँ।

मन भी बदल रहा है, प्रतिपल बदल रहा है। शरीर तो थोडा धीरे-धीरे बदलता है, लेकिन मन तो और तेजी से बदलता है, तो जो बदल रहा है, वह मैं नही हूँ।

मन भी मैं नही हूँ। प्रतिपल धारणा को गहरा करते जाओ। यही एकाग्र चिन्तन रह जाये, कि मन भी मैं नही हूँ। एक विचार क्षण भर भी नही टिकता कि दूसरा विचार, वह टिकता भी नही कि तीसरा विचार! मन एक धारा है—विचारो की, वह भी मैं नही हूँ—ऐसा डूबते जाओ भीतर जब तक कि तुम्हे कुछ भी परिवर्तनशील दिखाई पडे, तत्काल अपने को तोड लो। उससे और दूर हो जाओ। एक दिन उस जगह पहुँच जाओगे, जहाँ कुछ परिवर्तनशील नही दिखाई पडेगा। जिस दिन वह घडी आ जाये, जहाँ कुछ भी परिवर्तन होता हुआ न दिखाई पडे, जानना कि धर्म मे प्रवेश हुआ। वही स्वभाव है।

महावीर कहते है कि यही स्वभाव 'द्वीप' है, यही स्वभाव 'प्रतिष्ठा' है, यही स्वभाव 'गति' है। गति का अर्थ यही स्वभाव एक-मात्र मार्ग है और यही स्वभाव 'उत्तम शरण' है।

अगर जाना है किसी की शरण मे, तो इस स्वभाव की शरण मे चले जाओ। अगर किन्ही चरणो मे सिर रख ही देना है, तो इसी स्वभाव के चरणों में ही सिर रख दो। और कोई चरण काम नही पड सकते। और कोई शरण सार्थक नही है।

स्वभाव ही शरण है।

अगर हमने महावीर के चरणों में सिर रखा और अगर हमने कहा कि जिसने जाना है स्वय को, उसकी शरण हम जाते हैं, तो यह केवल अपनी ही शरण जाने के लिए एक माध्यम है, इससे ज्यादा नही। जो महावीर की शरण में ही रुक जाये वह भटक गया।

महावीर की शरण कोई जाता है, तो सिर्फ इसलिए कि अपनी शरण आ सके। महावीर की भी शरण जाते हैं हम तो सिर्फ इसलिए कि हम नही पहुँच पाये अपने स्वभाव तक लेकिन कोई पहुँच गया है। जो हम हो सकते हैं कोई हो गया है। जो हमारी सम्भावना है, किसी के लिए वास्तविक हो गयी है। लेकिन वह भी वस्तुत हम अपने ही स्वभाव की शरण जा रहे हैं। उसके अतिरिक्त कोई गति, कोई द्वीप, कोई शरण नही है।

आज इतना ही। पाँच मिनट बैठें, कीर्तन करे, फिर जाये।

●

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
५ सितम्बर, १९७२

दूसरा प्रवचन

धर्म-सूत्र : २

जहा सागडियो जाण, सम हिच्चा महापहं।
विसम मग्गमोइणो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥

एव धम्म विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मुच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइयो ॥

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्म च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइयो ॥

जरा जाव न पीडेई, वाही जाव न वड्ढई।
जाविन्दिया न हायति, ताव धम्म समायरे ॥

जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझ कर साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड विषम (टेढ़े-मेढ़े, ऊबड़-खाबड़) मार्ग पर चल पड़ता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य जान-बूझ कर धर्म (मार्ग) को छोड़कर अधर्म (मार्ग) को पकड़ लेता है और अन्त में मृत्यु के मुख में पहुँचने पर जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं लौटते हैं। जो मनुष्य अधर्म करता है, उसके वे रात-दिन बिलकुल निष्फल जाते हैं। लेकिन जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात-दिन सफल हो जाते हैं।

जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, तब तक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जब तक इंद्रियाँ अशक्त नहीं होतीं, तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए, बाद में कुछ नहीं होगा।

इस सूत्र मे प्रवेश करने के पहले मृत्यु के सम्बन्ध मे कुछ बातें हम समझ लें।

मृत्यु अत्यन्त निजी अनुभव है। दूसरे को हम मरता हुआ देखते हैं, लेकिन मृत्यु को नही देखते। दूसरे को मरता हुआ देखना, मृत्यु का परिचय नही है। मृत्यु आन्तरिक घटना है। स्वय मरे बिना मृत्यु को देखने का कोई भी उपाय नही। शायद इसीलिए, जब भी हम मृत्यु के सम्बन्ध मे सोचते हैं, तो ऐसा लगता है कि मृत्यु दूसरे की होगी, क्योकि हमने दूसरों को ही मरते देखा है।

जब हम दूसरे को मरते देखते हैं, तो हम क्या देखते हैं? हम इतना ही देखते हैं कि जीवन क्षीण होता चला जाता है। शरीर से जीवन की ज्योति विदा होती चली जाती है। लेकिन उस क्षण मे, जहाँ जीवन और शरीर पृथक होते हैं, हम मौजूद नही हो सकते। केवल वही व्यक्ति मौजूद होता है, जो मर रहा है।

तो किसी को मरते हुए देखना, मृत्यु को देखना नही है। मृत्यु तो स्वय ही देखी जा सकती है। आपके लिए कोई दूसरा नही मर सकता, प्रॉक्सी से (दूसरे के लिए) मरने का कोई उपाय नही है।

मृत्यु अत्यन्त निजी घटना है। उधार—मृत्यु का अनुभव नही हो सकता; और हमारा सब अनुभव उधार है। हमने सदा दूसरो को मरते हुए देखा है। शायद इसीलिए, मृत्यु का जो आघात हमारे उपर पडना चाहिये, वह नही पडता। उसकी गहराई हमारे ख्याल मे नही आती।

क्या जीवन मे कोई और भी ऐसा अनुभव है, जो मृत्यु जैसा हो? एक अनुभव है, लेकिन एक-बारगी ख्याल भी नही आये कि उसका और मृत्यु से कोई सम्बन्ध हो सकता है। वह अनुभव है प्रेम।

'प्रेम और मृत्यु' बडे एक से अनुभव हैं। फिर तीसरा कोई भी अनुभव वैसा नहीं है। आपके लिए श्वास भी दूसरा व्यक्ति ले सकता है। हृदय भी जरूरी नहीं कि आपका ही धडके, दूसरे का भी आप के लिए धड़क सकता है। आपका हृदय पूरा अलग कर दिया जाये और दूसरे के हृदय से जोड़ दिया जाये, तो भी आप जीवित रह लेंगे। खून भी दूसरे का आपकी नाडियों में बह सकता है। श्वास भी यन्त्र आपके लिए ले सकता है, लेकिन प्रेम आपके लिए कोई दूसरा नही कर सकता।

प्रेम अत्यन्त निजी अनुभव है। मृत्यु और प्रेम बडे सयुक्त हैं, इसलिए जिन लोगो ने प्रेम के सम्बन्ध मे गहराई से सोचा है, उन्हें मृत्यु के सम्बन्ध मे सोचना पडा, और जिन्होने मृत्यु की खोजबीन की है वे अन्ततः प्रेम के रहस्य मे भी प्रविष्ट हुए हैं।

कुछ बातें हमारे अनुभव मे भी हैं, जैसे—जो आदमी प्रेम से डरता है, वह मृत्यु से भी डरेगा। जो आदमी मृत्यु से डरता है, वह कभी प्रेम मे नही पडेगा। जो व्यक्ति प्रेम की गहराई मे उतर गया है, मृत्यु के प्रति बिल्कुल अभय हो जाता है। इसलिए प्रेमी निश्चिन्तता से मर सकता है। प्रेमी को मृत्यु मे कोई भय नही रह जाता, लेकिन जिसने कभी प्रेम न किया हो, वह मृत्यु से बहुत डरेगा। तब एक दुष्ट चक्र निर्मित होता है, एक वीसियस सर्कल बनता है।

मृत्यु से डरता है इसलिए प्रेम मे नही उतरता है, क्योंकि प्रेम का अनुभव भी गहरे मे मृत्यु का ही अनुभव है। जब तक कोई पूरी तरह मिटता नही, तब तक उसमे प्रेम का जन्म भी नही होता।

प्रेम एक अर्थ मे आध्यात्मिक मृत्यु है। प्रेम वही कर सकता है, जो अपने को मिटा लेने को राजी हो। जब तक कोई इतना नही मिट जाता कि बचे ही नही, तब तक प्रेम का फूल नही खिलता। इसलिए जिसने प्रेम को जान लिया हो, उसने मृत्यु को भी जान लिया, या जिसने मृत्यु को जाना हो, उसने प्रेम को भी जान लिया।

प्रेम और मृत्यु बडी सयुक्त घटनाएँ हैं। गहरे, आन्तरिक तल पर, वे एक ही चीज के दो रूप हैं। यह बहुत हैरानी की बात है कि मृत्यु तो जब हम मरेंगे तब होगी। दूसरे को मरते देखकर हम मृत्यु का कोई अनुभव नही कर सकते। खुद मरेंगे, तभी अनुभव होगा, लेकिन एक उपाय है—प्रेम, जिससे हम मृत्यु का अनुभव आज भी कर सकते हैं।

प्रेम का ही और विराट रूप है—प्रार्थना। प्रेम का ही सार अंश है—ध्यान। ये सब मृत्यु के रूप हैं। हिन्दू शास्त्रों ने तो कहा है, 'गुरु मृत्यु है।' इसी अर्थ मे कहा है कि गुरु के पास तभी कोई पहुँच सकता है, जब वह इस स्थिति में अपने को छोड दे, जैसे कि दुख मिट गया। और अगर गुरु के पास मृत्यु घटित न हो, तो गुरु से कोई सम्बन्ध नही जुड़ता।

श्रद्धा भी मृत्यु है। वह प्रेम का ही एक रूप है। यह मृत्यु तो जीवन के अन्त मे आयेगी, जिसे हम दूसरे मे घटते देखते हैं, लेकिन प्रेम आज भी घट सकता है। प्रार्थना आज भी हो सकती है। ध्यान मे आज भी प्रवेश हो सकता है।

जो लोग ध्यान मे प्रवेश कर जाते हैं उन्हे मृत्यु का भय मिट जाता हैं। सिर्फ ध्यानी मृत्यु के बाहर हो जाता है, जैसे प्रेमी मृत्यु के बाहर हो जाता है। क्यो? इसलिए नही कि ध्यान के द्वारा मृत्यु पर विजय हो जाती है। इसलिए भी नही कि प्रेम के द्वारा मृत्यु पर विजय हो जाती है। बल्कि इसलिए कि जो प्रेम मे मर कर देख लेता है, वह जान जाता है कि जो मर जाता है, वह मैं नही हूँ। ध्यान मे जो मर कर देख लेता है, वह जान जाता है कि जो मरता है, वह मेरी परिधि है, मेरी देह है, मेरा आवरण है, मैं नही हूँ।

मृत्यु से गुजर कर जाना जाता है कि मेरे भीतर कोई अमृत भी है। इस अमृत के बोध से मृत्यु नही मिटती—मृत्यु तो घटेगी ही। महावीर को भी घटेगी, कृष्ण को भी घटेगी और बुद्ध को भी घटेगी—मृत्यु तो घटेगी ही, लेकिन तब यह मृत्यु केवल दूसरों के लिए होगी। दूसरे देखेंगे कि महावीर मर गये और महावीर जानते रहेंगे कि वे नही मर रहे हैं। भीतर कोई मृत्यु घटित नही होगी। मृत्यु बाहरी घटना हो जायेगी खुद के लिए भी। ऐसा अनुभव न हो पाये, तो जीवन व्यर्थ गया।

इसे हम समझ लें, तो फिर यह सूत्र समझ मे आये।

एक बीज हम बोते हैं। वृक्ष बढता है, बड़ा होता है तो आप कहते हैं कि वृक्ष सफल हुआ, बीज बोया सफल हुआ। जब फूल खिलते हैं, फल लगते हैं, जब फल पकते हैं तो वृक्ष जो दे सकता था, पूरा दे देता है, तब हम कहते हैं, सफल हुआ श्रम। जिस वृक्ष पर फल न लगें, बाझ रह जाये वृक्ष, उस वृक्ष को हम सफल नही कहेंगे। हम कहेंगे कही अवरोध आ गया है। कही रास्ता भटक गया है। कहीं वृक्ष किसी ऐसे रास्ते पर चला गया, जहाँ जीवन की निष्पत्ति नही होती। जहां जीवन मे निर्णय नही आता। इस वृक्ष का होना व्यर्थ हो गया।

मनुष्य भी एक बीज है। मनुष्य भी एक वृक्ष है। सभी मनुष्य फल तक नहीं पहुँचते। पहुँचना चाहिये। पहुँच सकते हैं। सभी के लिए सम्भव है, लेकिन हो नहीं पाता। कुछ लोग भटक जाते हैं। कुछ लोग ऐसे मार्ग पर चले जाते हैं, जहाँ उनके जीवन मे कोई फल नही लगते, जहाँ उनके जीवन मे कोई फूल नही खिलते, जहाँ उनका जीवन निष्फल हो जाता है।

जीवन को हम देखे, तो जीवन की अन्तिम घटना है—मृत्यु। जीवन का जो आखिरी चरण है, शिखर है, वह मृत्यु है। जन्म तो शुरुआत है, मृत्यु अन्त है। मृत्यु मे ही पता चलेगा कि व्यक्ति का जीवन सफल हुआ या असफल हुआ। अन्तिम घडी मे ही जाँच पडताल हो जायेगी, निर्णय हो जायेगा।

अगर आप हँसते हुए मर सकते है, तो जीवन सफल हुआ, फूल खिल गया। अगर आप रोते हुए ही मरते हैं, तो जीवन व्यर्थ गया, फूल खिल नही पाये। जब सब खिल जाता है, तो मृत्यु एक आनन्द है, जब कुछ भी नही खिल पाता, तो मृत्यु एक पीडा है, क्योंकि मैं बिना कुछ हुए मर रहा हूँ। समय व्यर्थ गया, अवसर चूक गया, मैं कुछ नही हो पाया। जो हो सकता था, जो मेरे भीतर छिपा था, वह बाहर न आ पाया। जो गीत मैं गा सकता था, वह अनगाया रह गया।

हम मे से अधिक रोते हुए ही मरते है। रोते हुए मरना इस बात की खबर है कि जीवन असफल गया। मृत्यु जब हँसती हुई होती है, मृत्यु जब फूल की तरह खिलती है, मृत्यु जब एक आनन्द होती है, तो उसका अर्थ है कि इस जीवन की गहनताओ मे छिपा हुआ जो अमृत था, उसका इस व्यक्ति को पता चल गया। अब मृत्यु सिर्फ विश्राम है। अब मृत्यु अन्त नही है, बल्कि अब मृत्यु पूर्णता है। अब मृत्यु एक लम्बी, निष्फल जीवन की समाप्ति नही है, बल्कि एक फुलफिलमेंट है। एक पूर्णता है।

जैसे कोई नदी मरुस्थल मे खो जाये और सागर तक न पहुँच पाये, वैसा अधिक लोगो का जीवन है। कही खो जाता है, पूर्ण नही हो पाता। जैसे कोई नदी सागर मे पहुँच जाये—गीत गाती, नाचती सागर से मिल जाये, वैसा लोगों का जीवन नही है। मरुस्थल मे भी नदी खो जाती है, सागर मे भी नदी खो जाती है। मरुस्थल मे नदी असफल हो जाती है, लेकिन सागर में नदी सफल हो जाती है। इसलिए मरुस्थल मे खोती नदी रोती हुई खोयेगी, सागर मे गिरती नदी, नाचती हुई, अहोभाव से भरी हुई खोयेगी। खोना तो दोनों मे है।

मृत्यु मे हम भी खोते हैं, लेकिन रोते हुए। जैसे मरुस्थल मे सब अवसर व्यर्थ हो गया। महावीर भी खोते हैं, लेकिन हँसते हुए। वह जो अवसर मिला था, उससे जो भी हो सकता था, वह पूरा हो गया।

इस बात को समझ कर हम सूत्र को समझें।

'जिस प्रकार मूर्ख गाडीवान जान-बूझ कर साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड, विषम (टेडे-मेढे, ऊबड-खाबड) मार्ग पर चल पड़ता है और गाडी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है, वैसे ही मूर्ख मनुष्य भी जान-बूझ कर धर्म को छोड, अधर्म को पकड लेता है और अन्त मे मृत्यु के मुख मे पहुँचने पर, जीयन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।'

इसमे बहुत सी बाते हैं। महावीर ने एक बडी ही अद्भुत बात कही है और वह यह है कि 'मूर्ख गाडीवान जान-बूझकर', यह बडी उल्टी बात है। अगर गाडीवान मूर्ख है, तो 'जान-बूझकर' क्या अर्थ रखता है। और अगर गाडीवान जान-बूझकर ही गलत रास्ते पर चलता है, तो मूर्ख कहने का क्या प्रयोजन है। लेकिन महावीर का प्रयोजन है, जब महावीर कहते हैं, 'मूर्ख गाडीवान जान-बूझकर।'

मूर्खता, अज्ञान का नाम नही है। मूर्खता, उन ज्ञानियो के लिए कही जाती है, जो जान-बूझकर, बच्चो को हम मूर्ख नही कहते; अबोध कहते है। बच्चे को हम, अगर भूल करे, तो मूर्ख नही कहते, बच्चा ही कहते हैं; निर्दोष कहते हैं। अभी उसे पता ही नही। मूर्ख तो आदमी तब होता है, जब उसे पता होता है और फिर भी जान-बूझकर गलत रास्ते पर चला जाता है।

जानवरो को हम मूर्ख नही कह सकते, वे तो अज्ञानी हैं। बच्चो को हम मूर्ख नही कह सकते, वे अज्ञानी है। मूर्ख तो हम उनको ही कह सकते हैं, जो ज्ञानी भी हैं। तब जान-बूझकर भूल शुरू होती है। जान-बूझकर की गई भूल ही मूर्खता है। लेकिन कोई जान-बूझकर भूल क्यो करता होगा ?

सुकरात ने कहा है कि कोई जान-बूझकर भूल नही कर सकता। युनान में इस पर लम्बा विवाद रहा है और इस विवाद पर सारे जगत् की सस्कृतियों के अलग-अलग अनुदान हैं कि आदमी जब कोई भूल करता है, तो जान-बूझ कर करता है या कि अनजाने में करता है। सुकरात ने कहा है, कोई आदमी जान-बूझकर भूल कर ही नही सकता। इस बात में सच्चाई है। कभी आप जान-बूझकर आग में हाथ डाल सकते हैं ? असम्भव है। जान-बूझकर कैसे

कोई भूल करेगा ! क्योकि भूल दुख देती है, पीड़ा देती है। भूल तो अनजाने ही हो सकती है।

महावीर कहते हैं कि जान-बूझ कर भी भूल हो सकती है। जान-बूझ कर तब हो सकती है जब आप जानते हैं कि आग मे हाथ डालने से हाथ जलेगा ही। लेकिन फिर भी ऐसी परिस्थितियाँ पैदा की जा सकती हैं कि आप अहकार-वश आग मे हाथ डाल दें। अगर यह प्रतियोगिता हो रही होगी कि कौन कितनी देर तक आग मे हाथ रख सकता है, तो आप जान-बूझकर भी आग मे हाथ डाल सकते हैं।

अहकार के कारण आदमी जान-बूझकर भूल कर मकता है। सिर्फ एक ही कारण है जान-बूझकर भूल करने का, अहकार के कारण। अगर आपके अहकार को रस मिलता है, तो आप जान-बूझकर भूल कर सकते हैं। कोई गाडीवान क्यो साफ-सुथरे राजमार्ग को छोडकर, ऊबड-खाबड मार्ग पर चलेगा!

ऊबड-खावड़ मार्ग पर अहकार को तृप्ति मिलती है। राजमार्ग पर तो सभी चलते हैं, वहाँ अहकार को कोई रस नही है। जब कोई उल्टे-सीधे मार्ग पर चलता है, तो उसके अहकार को रस मिलता है।

एवरेस्ट पर चढने मे कौन सा रस मिलता होगा? एवरेस्ट की चोटी पर खडे होकर क्या उपलब्धि होती है? जब तेनसिंह और हिलेरी पहली दफा एवरेस्ट पर खडे हो गये होंगे, तो उन्होने क्या पाया होगा? एक बडी सूक्ष्म अहकार की तृप्ति। जहाँ पर कोई भी नही पहुँच पाया, वहाँ पहुँचने वाले, वे पहले मनुष्य हैं। और तो कुछ भी एवरेस्ट पर मिलने को है नही। यात्रा के अन्त पर मिलता क्या है? यात्रा के अन्त में मिलती है, अहकार की तृप्ति।

जो आदमी ऊबड़-खाबड मार्ग चुनता है जीवन मे, वह जान कर चुनता है। सीधे रास्ते पर तो सभी चलते हैं। राजमार्ग पर चलना भी कोई चलना है। जब आदमी ऐसे बीहड रास्ते पर चलता है, जहाँ चलना दुर्गम है; जहाँ एक-एक कदम उठाना मुश्किल है, जहां हर घडी कष्ट, हर घड़ी खतरा है, तो अहकार को बड़ा रस आता है।

नीत्से ने कहा है, लिव डेंजरसली, खतरनाक ढग से जियो। नीत्से कहता है कि जीवन मे एक ही तृप्ती है, और वह तृप्ती है—पावर, शक्ती। लेकिन शक्ति का अनुभव तभी होता है, जब हम विपरीत से जूझते हैं। सरल के साथ शक्ति का अनुभव नहीं होता। जहाँ कोई भी चल सकता है, वहाँ शक्ति का

कैसा अनुभव ? जहा बच्चे भी निरापद चल लेते हैं, जहाँ अन्धे भी चल लेते हैं, वहाँ शक्ति का क्या अनुभव ? शक्ति का अनुभव, तो वहाँ पर होता है, जहाँ कदम-कदम पर कठिनाई है, जहाँ पहुँच पाना असभव है। इसलिए अहकारी ऐसे रास्ते चुनता है, जो पहुँचने के लिए नही होते, सिर्फ अहकार के सघर्ष के लिए होते हैं।

मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझकर उबड-खाबड विषम रास्ते चुन लेता है, क्योंकि वहाँ उसके अहकार को प्रतिष्ठा हो सकती है। तो मूर्खता का गहनतम सूत्र है, अहकार। मूर्खता का सम्बन्ध ज्ञान से नही है, अज्ञान से नही है। मूर्खता का सम्बध अहंकार से है, ईगो से है। जितना अहकारी व्यक्ति होगा, उतना मूर्ख होगा।

मजा यह है कि आप अपने ज्ञान का उपयोग भी अपनी मूर्खता के लिए कर सकते हैं, क्योकि आप अपने ज्ञान से भी अपने अहकार को भर सकते हैं। अगर कोई व्यक्ति अपने ज्ञान से भी अपने अहकार को ही भर रहा हो, तो यह प्रयास मूर्खता पूर्ण है।

अज्ञान मे तो लोग भूल करते ही हैं, ज्ञान मे भी लोग भूलें करते हैं और बडी से बडी भूल जो ज्ञान मे हो सकती है, वह यह है कि हम अपने इस अहकार को खडा करने के लिए गलत मार्ग चुन लेते हैं, जान-बूझ कर। आप को भी ख्याल होगा कि कई बार जीवन मे विषम मार्ग चुनने में बडा सुख मिलता है। कठिन है जो, लम्बा है जो रास्ता, विघ्न जहाँ बहुत हैं, आपदाएँ जहाँ हैं, विपत्तियाँ जहाँ हैं, उसे चुनने मे बडा रस आता है। रस क्या है ?

जीतने का रस है। जब रास्ते मे कोई विपत्ति होती है, तब हम जीतते हैं। जब रास्ते मे कोई विपत्ति नही होती, तो क्या खाक जीतना है ! इसलिए जो लोग इस भाँति चलते हैं, उनके जीवन मे हजार जटिलताएँ खडी हो जाती हैं। उनका सारा जीवन एक ही गणित को मानकर चलता है कि जहाँ विपत्ति हो, जहाँ बाधा हो, जहाँ अडचन हो, जो असम्भव मालूम पडे, उसे करने मे उन्हें रस आता है।

इस जगत् में अधर्म से असम्भव कुछ भी नही है। अधर्म इस जगत् मे सबसे असम्भव है। एवरेस्ट पर चढ़ा जा सकता है, चाँद पर उतरा जा सकता है, मगल पर भी आदमी उतर ही जायेगा, लेकिन यह कुछ भी असम्भव नही है,

अधर्म सबसे असम्भव है। अधर्म का मतलब क्या ? कल मैंने आप को कहा था कि धर्म का अर्थ है, स्वभाव। अधर्म का अर्थ है, स्वभाव के विपरीत। निश्चित ही, स्वभाव के विपरीत जाना सबसे असम्भव बात है। आदमी स्वभाव के विपरीत जा ही कैसे सकता है ! स्वभाव का अर्थ ही है कि जिसके विपरीत आप न जा सके। जैसे, आग ठंडी होना चाहे, तो यह स्वभाव के विपरीत हुआ। जैसे, पानी उपर चढना चाहे, तो वह स्वभाव के विपरीत हुआ। ऐसे ही अधर्म का अर्थ है, जो स्वभाव के विपरीत है। वही टेढा-मेढा है।

धर्म तो बहुत सरल और सीधा है, लेकिन मजा यह है कि धर्म मे भी हम तभी उत्सुक होते है, जब वह टेढ़ा-मेढा हो। सीधे धर्म मे हम जरा भी उत्सुक नही होते। कोई बताए कि इतने उपवास करो, ऐसे खडे रहो रात भर, नगे रहो, कि कोडे मारो शरीर को, कि सुखाओ, जर-जर हड्डी-हड्डी हो जाओ, तब जरा रस आ आता है कि हाँ यह कोई बात हुई !

जब धर्म भी टेढ़ा-मेढा हो, तब मूर्ख गाडीवान उत्सुक होता है, इसलिए ध्यान रखना धर्म की तरफ जो उत्सुकता दिखाई पडती है, उसमे निन्यानवे प्रतिशत मूर्ख गाडीवान होते हैं। जिसका कुल कारण यह होता है कि असम्भव करने जैसा दिखाई पड रहा है, तो उनको बडा रस आता है। अगर उनको कहो कि आराम से बैठ कर भी, छाया मे भी धर्म उपलब्ध भी हो सकता है, तो उनको धर्म का सारा रस ही खो जाता है। आसान हुआ, तो रस खो गया। बुद्धिमान आदमी को आसान हो, तो रस बढेगा, लेकिन अहकारी आदमी को आसान हो, तो रस खो जायेगा।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

तपश्चर्या का अधिकतम रस टेढे-मेढेपन के कारण है। जब आप अपने को सता रहे होते हैं, तब आप को लगता है कि हाँ कुछ कर रहे हैं। भूखे हैं, पानी नही पी रहे हैं। तब आपको लगता है, आप कुछ कर रहे हैं। क्यो ? क्योंकि बडा दुर्गम है। बडा अस्वाभाविक है। भूख स्वाभाविक है। भूखा रह जाना अस्वाभाविक है। भूख सहज है। भूख के विपरीत लडना असहज है। लेकिन जितना असहज हो धारा के, विपरीत हो, उतना हमे लगता है कि हाँ, कुछ अहकार को रस आ रहा है। इसलिए तपस्वियों से ज्यादा प्रखर अहंकार और कहीं खोजना मुश्किल है। झोपडे में कोई रह रहा है, तो अहकार बढ़ेगा। झाड के नीचे है, तो और बढ जायेगा। धूप में खडा है, तो और भी बढ़ जायेगा। अगर विश्राम करता ही नही, खडा ही रहता है तपस्वी, तो और बढ जायेगा।

यह सारी की सारी चेष्टा सिकन्दर और नेपोलियन की चेष्टा से भिन्न नही है, लेकिन हमे दिखती है भिन्न, क्योकि हमारी समझ नहीं है। इस चेष्टा का एक ही अर्थ है, जो असम्भव है, वह हम करके दिखा रहे हैं। अगर आदमी सहज जी रहा हो, तो हमे ख्याल मे भी नही आ सकता कि वह धार्मिक भी हो सकता है।

सहज आदमी हमारे ख्याल मे नही आता कि धार्मिक भी हो सकता है। कबीर ने कहा है साधो सहज समाधि भली। कारण है कहने का। सहज का अर्थ यह जो महावीर कह रहे हैं, वह समझदार आदमी, जो सीधे-सादे, साफ-सुथरे राजमार्ग पर चलता है, इसलिए नही कि कही पहुँचना है; इसलिए नही कि कुछ जीतना है।

ये दोनो अलग दिशाएँ हैं। कही पहुँचना है, तो व्यर्थ श्रम लगाने की कोई आवश्यकता नही; तब बीच मे बाधाएँ खडी करने की आवश्यकता नही। अगर कही पहुँचना नही है, सिर्फ अहकार अर्जित करना है—यात्रा मे, तो फिर बाधाएँ होनी चाहिए। तो आदमी अपने हाथ से भी बाधाएँ निर्मित करता है, पैदल जाता है तीर्थयात्रा को।

मुझसे तीर्थयात्री कहते हैं कि जो मजा पैदल जाकर तीर्थयात्रा करने का है, वह ट्रेन मे बैठकर जाने मे नही है। स्वभावत कैसे हो सकता है ? लेकिन जो और आगे बढ गये है, गाडी को टेढ़े-मेढे उतारने मे, वे जमीन पर साष्टांग दण्डवत् करते हुए तीर्थयात्रा करते हैं। उनका वश चले तो शीर्षासन करते हुए भी वे तीर्थयात्रा करें, लेकिन तब उन्हे जो मजा आयेगा, निश्चित ही वह पैदल यात्रा करने वाले को नही मिल सकता। क्यों ? वह मजा क्या है ? वह तीर्थ पहुँचने का मजा नही है। वह अहंकार निर्मित करने का मजा है। जो कोई नही कर सकता, वह मैं कर रहा हूँ।

धर्म हो कि धन हो, कि यश हो, जो भी हम मार्ग तिरछे-तिरछे चुनते हैं—जानकर, महावीर कहते हैं वह अधर्म है।

असल मे अधर्म तिरछा ही होगा, सीधा नही होगा। कभी आपने ख्याल किया है ? एक झूठ बोलें, तो बडी तिरछी यात्रा करनी पड़ती है। सीधा सच बिलकुल वैसा है, जैसे इक्युलिड की रेखा—दो बिन्दुओ के बीच सबसे कम दूरी। इक्युलिड की व्याख्या है रेखा की दो बिन्दुओं के बीच सबसे कम दूरी। तो रेखा सीधी होती है। दो बिन्दुओं के बीच जितना लम्बा चक्कर लगाते

जायें, उतनी रेखा तिरछी होती चली जाती है। सत्य भी दो बिन्दुओ के बीच सबसे कम दूरी है।

असत्य बडी लम्बी यात्रा है। इसलिए एक असत्य···फिर दूसरा, फिर तीसरा। एक को सँभालने के लिए फिर लम्बी शृखला है। सत्य को सम्भालने के लिए कोई शृखला नही होती। एक सत्य अपने मे काफी होता है। सत्य एटॉमिक है। एक अणु काफी है।

झूठ, शृखला है, सीरीज है। एक झूठ काफी नही है। एक झूठ को दूसरे झूठ का सहारा चाहिए। दूसरे झूठो को और झूठो का सहारा चाहिए। झूठ हमेशा अधर मे अटका रहता है, कितना ही सहारा देते जाओ, उसके पैर जमीन से नही लगते। क्योकि हर झूठ जो सहारा देता है, वह खुद भी अधर मे होता है। आप सिर्फ पोस्टपोन करते हैं पकड जाने को, बस। जब मैं एक झूठ बोलता हूँ तो तत्काल मुझे दूसरा झूठ बोलना पडता है कि पकड़ा न जाऊँ। दूसरा बोलता हूँ तो तीसरा बोलना पडता है कि पकडा न जाऊँ। फिर यह भय कि पकडा न जाऊँ, तो मैं सत्य को स्थगित करता जाता हूँ। हर झूठ थोडी राहत देता है, फिर नये झूठ को जन्म देता है।

सत्य ? सत्य, सीधा है।

यह बडी हैरानी की बात है कि सत्य को याद रखने की भी जरूरत नही है; सिर्फ झूठ को याद रखना पडता है। इसलिए जिनकी स्मृति कमजोर है, वे झूठ नही बोल सकते। झूठ बोलने के लिए स्मृति की कुशलता चाहिए। लम्बी याददास्त चाहिए। एक झूठ बोला है, उसकी पूरी शृखला बनानी पडेगी। यह वर्षो तक चल सकती है। इसलिए झूठ बोलने वाले का मन बोझिल होता चला जाता है। सच बोलनेवाले का मन खाली होता है। कुछ रखना नही पडता। कुछ सम्भालना नही पडता।

धर्म भी एक सीधी यात्रा है। सरल यात्रा है। लेकिन धर्म मे हमे रस नही, रस हमे टेढे-मेढेपन मे है, क्योकि रस हमे अहकार मे है।

अभी स्पास्की और बाबी फिशर मे शतरंज की होड थी। अगर स्पास्की पहले ही दिन कहते कि लो तुम जीत गये। इतनी सरल हो अगर जीत, तो जीत मे कोई रस न रह जाये। जीत जितनी कठिन है, जितनी असंभव है, जितनी मुश्किल है, उतनी ही रसपूर्ण हो जाती है। और मजा यह है कि आदमी इसके लिए कैसे-कैसे उपाय करता है! शतरज बडा मजेदार उपाय है।

आदमी एक नकली युद्ध करता है। नकली ! कुछ भी नही है वहाँ; न हाथी हैं, न घोडे हैं, न कुछ है। नकली है सब, लेकिन रस असली है। रस वही है, जो असली हाथी-घोड़े से मिलता है। लेकिन वह मँहगा धन्धा था। पुराने लोग उस धन्धे को काफी कर चुके थे।

खेल, युद्ध का सक्षिप्त, अहिंसात्मक संस्करण है। उसमे भी हम लडते है—नकली साधनो से, लेकिन थोडी ही देर मे नकली साधन भूल जाते है और असली हो जाते हैं। कोई घोडा, क्या होगा मैदान पर, जो शतरज के बोर्ड पर पर होता है! आखिर क्यो ? इस नकली, लकडी के घोडे मे इतना रस क्यों ? यह असली कैसे हो जाता है ? जिस घोडे पर भी अहकार की सवारी हो जाये, वह असली हो जाता है। अहकार चलता है, घोडे थोडे चलते हैं! फिर जितनी कठिनाई हो, जितनी असम्भवता हो, और जितना सस्पेन्स हो, और जितना संदेह हो जिसमे, उतनी ही बात बढती चली जाती है।

आदमी ने बहुत उपाय किये हैं, जिनसे वह जो सीधा सभव है, उसको भी वह बहुत लम्बी यात्रा करके सम्भव करता है। इसे महावीर कहते हैं जान बूझ कर, साफ-सुथरे राजमार्ग को छोड़कर।

'मूर्ख गाडीवान पछताता है।' कब पछताता है मूर्ख गाडीवान ? जब धुरी टूट जाती है। जब गाडी उल्टे-सीधे रास्ते पर, पत्थरो पर, ककडों पर, मरुस्थल मे उलझ जाती है। गाडी की धुरी कही टूट जाती है। जब एक चाक बहुत ऊपर और एक चाक बहुत नीचे हो जाता है, तब धुरी टूटती है।

धुरी टूटने का मतलब है—जब दोनो चाक समान नही होते, असतुलित हो जाते हैं, वहाँ दोनो को सम्भालने वाली धुरी टूट जाती है। तब पछताता है, तब दुखी होता है, लेकिन तब कुछ भी नही किया जा सकता। कुछ भी करना मुश्किल हो जाता है।

जीवन मे हम भी धुरी को तोड कर ही पछताते हैं। जो पहले समझ लेता है, वह कुछ कर सकता है। जो तोड़ कर ही पछताने का आदी है, तो जीवन मे ऐसी घटना नही है कि तोड़ कर पछताने का कोई उपाय हो। जो मृत्यु के बाद ही पछताते हैं, उनके लिए पीछे लौटने का कोई उपाय नही है। हम भी पछताते हैं, जब धुरी टूट जाती है। धुरी हमारी भी तब टूटती है, जब असतुलन बडा हो जाता है। जब एक चाक बहुत ऊपर और एक चाक नीचे हो जाता है।

यह होगा ही तिरछे रास्तो पर।

'अधर्म को पकड लेता है और अन्त मे मृत्यु के मुख मे पहुँचने पर जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।'

अधर्म को हम पकड़ते ही इसलिए हैं कि अहकार की वहा पर तृप्ति है और धर्म को इसलिए नही पकडते कि वहाँ पर अहकार से छुटकारा है। धर्म की पहली शर्त है—अहकार छोडो, वही अडचन है। अधर्म का निमंत्रण है—आओ, अहकार की तृप्ति होगी। वही चुनौती है, वही रस है। अधर्म के द्वार पर लिखा है—बढ़ाओ अहकार को, बडा करो। धर्म के द्वार पर लिखा है—छोड दो बाहर अहकार को, भीतर आ जाओ।

तो जिनको भी इस बात मे रस है कि 'मैं कुछ हू', उन्हे धर्म की तरफ जाने मे बडी कठिनाई होगी। जो इस बात को समझने की तैयारी मे हैं कि 'मैं ना-कुछ हूँ', उनके लिए धर्म का द्वार सदा ही खुला हुआ है। जिनको जरा भी ख्याल है कि 'मैं कुछ हूँ' वे अधर्म मे खीच लिये जायेगे—चाहे वे मन्दिर जाये, चाहे मस्जिद जायें, गुरुद्वारा जाये, कही भी जाये—जिनको ये रस है कि 'मैं कुछ हूँ'। जो मन्दिर मे प्रार्थना करते वक्त भी देख रहे हैं कि कितने लोगो ने मुझे प्रार्थना करते देखा है। यह देख रहे हैं कि कितने लोग मुझे तपस्वी मानते हैं, उपासक मानते है, कितने लोग मुझे साधु मानते हैं। जो अभी भी अहकार मे रस ले रहे है, वे कही से भी यात्रा करे, उनकी यात्रा ऊबड-खाबड मार्ग पर, अधर्म के रास्ते पर हो जायेगी।

इसका मतलब यह हुआ कि जो आदमी स्वय मे कम उत्सुक है और स्वय को दिखाने में ज्यादा उत्सुक है, वह अधर्म के रास्ते पर चला जाता है। जिस आदमी को इसमे कम रस है कि 'मैं क्या हूँ' और इसमे ज्यादा रस है कि लोग मेरे बारे मे क्या सोचते हैं, वह अधर्म के रास्ते पर चला जाता है। जो लोगो की आँखो मे एक प्रतिबिम्ब बनना चाहता है, एक इमेज, वह अधर्म के रास्ते पर चला जाता है।

धर्म के रास्ते पर तो केवल वे ही जा सकते हैं, जो स्वय मे उत्सुक हैं। स्वय की वास्तविकता मे, स्वय के आवरण में, आभूषण मे, स्वय की साज-सज्जा, स्वय के शृगार। दूसरों की आँखों मे बनी स्वय की प्रतिमा मे जिनकी उत्सुकता नही है, केवल वे ही धर्म के रास्ते पर जा सकते हैं। क्योकि दूसरे तो तभी आदर देते हैं जब आप कुछ असम्भव करके दिखाये। दूसरे तो तभी

आपको मानते हैं जब आप कोई चमत्कार करके दिखायें। दूसरे तो आपको तभी मानते हैं, जब आप कुछ ऐसा करे, जो वे नही कर सकते—तब।

जब आप किसी को आदर देते हैं, तो आपने कभी ख्याल किया है, आपके आदर देने का कारण क्या होता है ?

सदा कारण यही होता है कि जो आप नही कर सकते, वह यह आदमी कर रहा है। अगर आप भी कर सकते हैं, तो आप आदर न दे सकेंगे।

आप जाते है—कोई सत्य साईं-बाबा एक तावीज हाथ से निकाल कर दे देते है, तो आप आदर करते हैं। एक मदारी आदर न कर सकेगा। तावीज तो कुछ भी नही, वह कबूतर निकाल देता है। वह जानता है कि इसमे आदर जैसा कुछ भी नही, यह साधारण मदारीगिरी है। वह आदर न कर सकेगा। आप आदर दे सकेंगे, क्योकि आप नही कर सकते। जो आप नही कर सकते, वह चमत्कार है। फिर यह तावीजो से ही सम्बन्धित होता, तो बहुत हर्जा न था; क्योकि तावीजो मे बच्चो के सिवा और कोई उत्सुक नही होता, न कबूतरो मे कोई बच्चो के सिवा उत्सुक होता है, लेकिन यह और तरह से भी सम्बन्धित है।

आप एक दिन भूखे नही रह सकते। और एक आदमी तीस दिन का उपवास कर लेता है, तो आपका सिर उसके चरणो मे लग जाता है—यह भी वही है, इसमे भी कुछ मामला नही है। आप ब्रह्मचर्य नही साध सकते और एक आदमी बाल-ब्रह्मचारी रह जाता है, तो आपका सिर उसके चरणो मे लग जाता है—यह भी वही है, कोई फर्क नही है।

कारण सदा एक ही है भीतर हर चीज के कि जो आप नही कर सकते। इसका यह मतलब हुआ कि अगर आपको भी अहकार की तृप्ति करनी हो, तो आपको कुछ ऐसा करना पडे जो लोग नही कर सकते या कम से कम दिखाना पडे कि आप कर सकते है, जो लोग नही कर सकते।

तो जो व्यक्ति अहकार में उत्सुक है, वह सदा तिरछे रास्तो मे उत्सुक होगा। तावीज पेटी से निकाल कर आपको हाथ मे दे देना बिल्कुल सीधा काम है, लेकिन पहले तावीज को छिपाना और फिर इस तरकीब से निकालना कि दिखाई न पड़े कि कहाँ से निकल रहा है, तिरछा काम है। तिरछा है, इसलिए तो आकर्षक है। आपको भी पता चल जाये कि तावीज कैसे पेटी से कपड़े की बाह के भीतर गया ! फिर बाँह से कैसे हाथ तक आया ! एक दफा आप को पता चल जाये, तो चमत्कार तिरोहित हो जाये। फिर दुबारा आप को इसमे कोई श्रद्धा न मालूम होगी।

आपको पता चल जाये कि भूखा रहने की तरकीब क्या है ? तो फिर उपवास में भी आप की श्रद्धा न रह जायेगी। आपको पता चल जाये कि ब्रह्मचारी रहने की तरकीब क्या है ? फिर आपको उसमे भी रस न रह जायेगा।

यह बड़े मजे की बात है कि किसी आदमी की अपने मे श्रद्धा नही है। जो भी आप कर सकते हैं, उसमें आपकी कभी श्रद्धा नही होगी। जो दूसरा कर सकता है और आप नही कर सकते हैं, तो श्रद्धा होती है। जो भी आदमी अहकार खोज रहा है, अहंकार का मतलब—दूसरो की श्रद्धा खोज रहा है, सम्मान खोज रहा है, वह आदमी तिरछे रास्ते चुन लेगा।

मूर्ख गाड़ीवान ऐसे ही मूर्ख नही है। बहुत समझदारी से मूर्ख है। उस मूर्खता मे एक विधि है।

महावीर कहते हैं—जीवन के रास्ते पर भी यही होता है। मनुष्य जान-बूझकर धर्म के रास्ते को छोड कर, अधर्म को चुन लेता है।

आपको साफ-साफ पता है कि यह सरल और सीधा रास्ता है, लेकिन उसमे अहकार की तृप्ति नहीं होती, तो आप तिरछा रास्ता चुन लेते है। यह जान-बूझकर चुनते हैं, इसको समझ लेना जरूरी है, क्योकि अगर आप बिना जाने-बूझे चुनते हैं, तो फिर बदलने का कोई उपाय ही नही, लेकिन महावीर का जोर है कि आप जान-बूझ कर चुनते हैं। अगर आप बिना जाने-बूझे चुनते है, तब तो फिर बदलने का कोई उपाय ही नही। अगर जान-बूझ कर चुनते हैं, तो बदलाहट हो सकती है।

बदलाहट का अर्थ ही यह है कि आप ही मालिक हैं चुनाव के। आपने ही चाहा था। इसलिए तिरछे-रास्ते पर गये थे। आप चाहेगे तो, सीधे रास्ते पर आ सकते हैं। यह आपकी चाह ही है, जो आपको भटकाती है। इसमे कोई दूसरा पीछे से काम नही कर रहा है। धर्म और अधर्म के बीच यही विकल्प है।

फ्रायड कहता है—आदमी जान-बूझ कर कुछ भी नही करता—सब अनकांशस होता है, सब अचेतन होता है—जान कर आदमी कुछ भी नहीं करता। फ्रायड ने यह बात पिछले पचास-सालों मे जोर से पश्चिम के सामने सिद्ध कर दी।

वह आदमी अद्भुत था। उसकी खोज मे कई सत्य थे लेकिन अधूरे सत्य थे और अधूरे सत्य असत्यों से भी खतरनाक सिद्ध होते हैं, क्योंकि अधूरा सत्य, सत्य भी मालूम पड़ता है और सत्य होता भी नही; और कोई भी

आदमी अधूरे सत्य को नही पकडता, जब अधूरे सत्य को पकडता है, तो पूरा सत्य मान कर पकडता है, तब उपद्रव शुरू हो जाता है ।

फ्रायड ने पश्चिम को समझा दिया कि आदमी जो भी कर रहा है, वह सब अचेतन है । अगर यह बात सच है, तो फिर आदमी के हाथ में परिवर्तन का कोई भी उपाय नही रहा । इसलिए शराबी ने सोचा कि अब मैं कर भी क्या सकता हूँ ! व्यभिचारी ने सोचा कि अब उपाय भी क्या है ! यह सब अचेतन है, यह सब हो रहा है, तो मैं कुछ भी नही कर सकता ।

इस सदी ने बिना जाने जगत् के इतिहास का सबसे बड़ा भाग्यवाद जन्माया । भाग्यवादी कहते थे, परमात्मा कह रहा है, फ्रायड कहता है, अचेतन कर रहा है, लेकिन एक बात में दोनो राजी हैं कि हम नही कर रहे हैं । हमारे हाथ में नही है । परमात्मा कर रहा है । विधि ने लिख दिया खोपडी पर और वह हो रहा है । पीछे से अचेतन चल रहा है और हम चल रहे हैं । जैसे कोई गुडियो को नचा रहा है । हमारे हाथ मे कुछ भी नही है । पहले परमात्मा नचाता था गुडियो को; अब अनकांसस, अचेतन नचा रहा है । शब्द बदल गये हैं ।

महावीर परमात्मा के भी खिलाफ हैं और अचेतन के भी । महावीर कहते हैं कि तुम जो भी कर रहे हो, ठीक से जानना कि तुम ही कर रहे हो । आदमी को इतना ज्यादा उत्तरदायी किसी दूसरे ने कभी नही माना, जितना महावीर ने माना । महावीर ने कहा कि अतत तुम ही निर्णायक हो, इसलिए कभी भूल कर मत कहना कि भाग्य ने, विधि ने, परमात्मा ने, किसी ने करवा दिया । जो तुमने किया है, तुमने किया है । इसमे जोर देने का कारण है और वह कारण यह है कि जितना यह स्पष्ट होगा कि मैं कर रहा हूँ, उतनी ही बद-लाहट आसान है, क्योकि अगर मैं अपने चुनाव के उल्टे रास्ते पर नही गया हूँ, भेजा गया हूँ, तो जब मैं सीधे रास्ते पर भेजा जाऊँगा, तो चला जाऊँगा । जब मैं भेजा गया हूँ, उल्टे रास्ते पर तो मैं कैसे लौट सकता हूँ ? जब भेजेगी प्रकृति, भेजेगी नियति, भेजेगा परमात्मा, तो मैं लौट जाऊँगा । न मैं गया और न मैं लौट सकता हूँ । मैं पानी मे बहता हुआ एक तिनका हूँ । मेरी अपनी कोई गति नही, मेरा अपना कोई संकल्प नहीं ।

महावीर का यह जोर कि तुम जान बूझ कर गलत कर रहे हो, कारण वश है और वह कारण यह है कि अगर जान-बूझ कर कर रहे हैं, तो ही बद-लाहट हो सकती है, नही तो फिर कोई ट्रान्सफार्मेशन, मनुष्य के जीवन मे फिर

कोई क्रांति सम्भव नही है। इसलिए महावीर ने बडे साहस से ईश्वर को बिलकुल इन्कार ही कर दिया; क्योंकि ईश्वर के रहते महावीर को लगा कि आदमी को सदा एक सहारा होता है 'कि उसकी बिना आज्ञा के तो पत्ता भी नही हिलता, तो हम कैसे हिलेंगे ?' वह पत्ता तो बहाना है। असली मे हम हिलना नही चाहते, तो हम कहते हैं कि 'उसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नही हिलता।' अब हम व्यभिचारी हैं, अब हम कैसे व्यभिचार से हिल जाये ? जब वह हिलायेगा—'उसकी मर्जी।'

आदमी बेईमान है। अपने परमात्माओ के साथ भी आदमी बडा कुशल है और परमात्मा कुछ कर नही सकता। आदमी को जो उससे बुलवाना है, बुलवाता है। जो उससे करवाना है, करवाता है। मजा यह है कि परमात्मा की आज्ञा के बिना परमात्मा हिलता है या नही हिलता, ये तो पता नही, पर आपकी बिना आज्ञा के परमात्मा नही हिल सकता, यह पक्का है। वह आप ही उसे हिलाते रहते हैं—'जैसी मर्जी'—आप ही अन्तत. निर्णायक हैं।

इसलिए महावीर कहते हैं—'जान-बूझकर।' लेकिन कितना ही जान-बूझकर गलत रास्ते पर जाये; रास्ता तो गलत होगा ही और गलत रास्ते पर धुरी टूटेगी ही। रास्ते का गलत होने का मतलब ही इतना है कि जहाँ धुरी टूट सकती है। और तो कोई मतलब नही हो सकता। इसलिए अधर्म मे गया आदमी रोज टूटता चला जाता है। निर्मित नही होता, बिखरता है।

चोरी करके देखें। झूठ बोलकर देखे। बेईमानी करके देखे। धोखा करके देखें। किसी की हत्या करे। होगा क्या? आपकी आत्मा की धुरी टूटती चली जायेगी। आप भीतर टूटने लगते हैं। भीतर इन्टिग्रेशन, अखण्डता नहीं रह जाती। खण्ड-खण्ड हो जाता है। कभी कुछ, जिसको धर्म कहा है, वह करके देखें तो भीतर अखण्डता आती है।

इसको ऐसा सोचें कि जब आप झूठ बोलते हैं, तो आपके भीतर टुकडे टुकडे हो जाते है, एक आत्मा नही होती। एक हिस्सा तो भीतर कहता ही रहता है कि मत करो, गलत है। एक हिस्सा तो जानता रहता है कि ये सच नही है। आप सारी दुनिया को झूठ बोल सकते हैं, लेकिन अपने से कैसे बोलियेगा ? भीतर तो पता चलता ही रहता है कि यह झूठ है। इसलिए सतह पर भर आप झूठ के लेबल चिपका सकते हैं; आपकी अन्तरात्मा तो जानती है कि यह झूठ है। इसलिए आप अखण्ड नही हो सकते।

आपकी परिधि और केन्द्र में विरोध बना रहेगा । भीतर कोई कहता ही रहेगा कि यह झूठ है । यह ठीक नही है । यह नही बोलना था । जो बोला था वह ठीक नही था । यह भीतर-भीतर खण्ड कर जायेगा ।

जो आदमी हजार झूठ बोल रहा है, उसके भीतर हजार खण्ड हो जाते हैं । जो आदमी सच बोल रहा है, उसके भीतर कोई खण्ड नही होता । सच के विपरीत कोई कारण नही होना और अगर कभी विपरीत हो भी जाये जैसे सच बोलते समय परिधि कभी कहती है कि मत बोलो, नुकसान होगा, लेकिन तब भी भीतर से सच आता है ।

सच आता है भीतर से और झूठ आता बाहर से, लेकिन भीतर हमेशा मजबूत होता है इसलिए परिधि ज्यादा देर टिक नही पाती, टूट जाती है । लेकिन जब आप झूठ बोलते हैं परिधि की मान कर, तो कभी भी कितना ही बोलते चले जायें टिक नही सकता, रोज सँभालें फिर भी नही सँभलता, क्योंकि भीतर गहरे मे आप जानते है कि यह झूठ है ।

आप जानते हैं क्या, हम सब अपनी 'इन्टिमेसीज' रखते हैं, आन्तरिकताएँ रखते है ? जहाँ हम सब बता देते हैं । बता देने से मन हल्का हो जाता है । नही बता पाते दुनिया को कोई फिकर नही, लेकिन अपनी पत्नी को तो बता देते है, इससे राहत मिलती है । वह जो सच है भीतर, धक्के देता है कि प्रकट करो । नही है हिम्मत कि सारी दुनिया को प्रकट कर दे, तो किसी को तो बता पाते हैं ।

इस दुनिया मे उस आदमी से अकेला कोई भी नही, जिसके कोई भी इतना निकट नही हो कि जिससे वह कम से कम बता सके कि जो-जो मैं गलत कर रहा हूँ, वह यह है । मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि प्रेम का लक्षण ही यह है कि जिसके सामने तुम पूरे सच्चे प्रकट हो जाओ । अगर एक ही आदमी ऐसा नही जगत् मे, जिसके सामने आप पूरा नग्न हो सकें अत.करण से, तो आप समझना आप को प्रेम का कोई अनुभव नही हुआ । जो आदमी सारे जगत् के सामने अत-करण से नग्न हो सकता है, उसको प्रार्थना का अनुभव होता है । एक व्यक्ति के सामने आप पूरे सच हो जाते है, तो क्षण भर को राहत मिलती है और जो सुगन्ध आती है, जो ताजी हवाएँ दौड जाती है प्राणो की ओर, वह भी काफी है । लेकिन जब कोई व्यक्ति समस्त जगत् के सामने सच हो जाता है,

जैसा है वैसा ही हो जाता है, तब उसके जीवन मे दुर्गन्ध का कोई उपाय ही नही रहता।

महावीर स्वभाव की सत्यता को धर्म कहते हैं—जैसा है भीतर, वैसा ही। कोई टेढा-मेढा नही। ठीक वैसा ही नग्न, जैसे दर्पण के सामने कोई खड़ा हो। ऐसा—जो सहज है भीतर, वह जगत् के सामने प्रकट हो जाये। इस अभिव्यक्ति का, सहज अभिव्यक्ति का जो अतिम फल है, वह है—'मृत्यु' मोक्ष बन जाती है। और हमारे समस्त झूठो के सग्रह का जो अतिम फल है, वह है—'पूरा जीवन' एक असत्य, अप्रमाणिक, इनऑथेन्टिक यात्रा हो जाती है। चलते बहुत हैं, पहुँचते कही भी नही। दौडते बहुत हैं, मजिल हाथ नही आती। सिर्फ मरते हैं। जीवन कही पहुँचाता नही, सिर्फ भटकाता है। जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नही लौटते। जो मनुष्य अधर्म करता है, उसके वे रात-दिन बिलकुल निष्फल हो जाते है, लेकिन जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात-दिन सफल हो जाते हैं।

महावीर के लिए सफलता का क्या अर्थ है ?—बैंक-बैलेन्स ? कि कितने लोग आपको जानते हैं ? कि कितने अखबार आपकी तस्वीर छापते है ? कि कितने नोबल प्राइज आपको मिल जाते हैं ! नही, महावीर इसको सफलता नही कहते। थोडा सा उनकी जिन्दगी देखे, जिनको नोबल प्राइज मिलते हैं, उनमे से अधिक आत्म-हत्या कर लेते हैं। जो आत्म-हत्या नही करते, वे मरे-मरे जीते है।

अर्नेस्ट हेमिंग्वे का नाम सुना होगा। कौन उतनी सफलता पाता है ! नोबल प्राइज है, धन है, प्रतिष्ठा है, सारे जगत् मे नाम है, उससे बडा कोई लेखक नही था—उसके समय मे, लेकिन अर्नेस्ट हेमिंग्वे अत मे आत्म-हत्या कर लेता है। बडी अद्भुत सफलता है ! बाहर इतनी सफलता है और भीतर इतनी पीड़ा है कि आत्म-हत्या कर लेनी पडती है। अपने को सहना मुश्किल हो जाता है। तभी तो कोई आत्म-हत्या करता है, जब अपने को बरदास्त करना आसान नही रह जाता। जब एक-एक पल, एक-एक घड़ी आदमी को भारी पड़ने लगती है, तो वह अपने को मिटाता है।

तो जिनकी इतनी सफलता है चारो तरफ—इतना यश, इतना गौरव वह भी भीतर इतनी दिक्कत मे पडा है। भीतर की धुरी टूट गयी है। सारी दुनिया तारीफ कर रही है चक्कों की। धुरी तो दुनिया को दिखायी नही पडती। वह तो भीतर है। स्वय को दिखायी पडती है। सारी दुनिया चाँदी के, सोने के वर्क

लगा रही है चाकों पर। और सारी दुनिया कह रही है, क्या अद्भुत चाकें हैं? कितनी-कितनी ऊबड-खाबड यात्रायें की। और धुरी ही टूट गयी, वह तो गाडी ही जानती है। अब क्या होना है? इन चक्कों पर लगे सितारे काम नही पडेगे। अन्त मे तो धुरी काम पडेगी।

समय तो बीत जाता है। उस समय मे हम दो काम कर सकते हैं—या तो समय मे हम अपनी आत्मा को इकट्ठा कर सकते हैं या उस समय मे हम अपनी आत्मा को बिखेर सकते हैं, तोड सकते हैं; टुकडे-टुकडे कर सकते हैं। समय तो बीत जाता है फिर लौट कर नही आता, लेकिन उस समय मे हमने जो किया है, वह हमारे साथ रह जाता है। वह कभी नही खोता।

इस बात को ठीक से समझ ले।

समय तो कभी नही लौटता, लेकिन समय मे जो घटता है, वह कभी नहीं जाता, वह साथ रह जाता है। तो मैंने जो किया है समय मे, उससे मेरी आत्मा निर्मित होती है। महावीर ने आत्मा को 'समय' का नाम ही दे दिया। महावीर ने तो कहा है—'आत्मा' यानि 'समय'। ऐसा दुनिया मे किसी ने नही कहा है। महावीर ने कहा है कि समय तो दुनिया मे खो जायेगा, लेकिन समय के भीतर तुमने क्या किया है, वही तुम्हारी आत्मा बन जायेगी, वही तुम्हारा सृजन है।

हम समय के साथ विध्वसक हो सकते हैं, सृजनात्मक हो सकते हैं। विध्वसक का अर्थ है कि हम जो भी कर रहे है उससे हमारी आत्मा निर्मित नही हो रही है। झूठ बोलने से आदमी की आत्मा निर्मित नही होती। चोरी करने से आदमी की आत्मा निर्मित नही होती। धन मिल सकता है झूठ बोलने से। यश मिल सकता है। सच तो यह है कि बिना झूठ बोले यश पाना बडा मुश्किल है। बिना चोरी किये धन पाना बहुत मुश्किल है। जब धन मिलता है, तो निन्यानवे प्रतिशत चोरी के कारण मिलता है, एक प्रतिशत शायद बिना चोरी के मिलता हो। जब प्रतिष्ठा मिलती है, तो निन्यानवे प्रतिशत झूठे प्रचार से मिलती है, एक प्रतिशत शायद बिना झूठ के मिलती हो। उसका कोई निश्चय नही है।

एक बात सच है कि अधर्म से जो मिलता है, उससे आपकी आत्मा निर्मित नही होती। अधर्म से जो भी मिलता है, वह आत्मा की कीमत पर मिलता है। बाहर कुछ मिलता है, तो भीतर कुछ खोना पड़ता है। हम हमेशा मूल्य चुकाते हैं।

जब आप झूठ बोलते है, तो ··· इसलिए नही कहता कि झूठ मत बोलें, किसी दूसरे को नुकसान होगा। दूसरे को नुकसान होगा या नही होगा, यह पक्का नही है। आपको निश्चित हो रहा है, यह पक्का है। दूसरा अगर समझदार हुआ, तो आपके झूठ से नुकसान नही होनेवाला है और अगर दूसरा नासमझ है, तो आपके सत्य से भी नुकसान हो सकता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण नही है। महत्त्वपूर्ण आप है अन्तत.। जब आप कुछ भी गलत कर रहे है, तो आप भीतर आत्मा के मूल्य मे चुका रहे हैं। व्यर्थ का ककड इकट्ठा कर रहे है और भीतर आत्मा को खो रहे हैं। महावीर इसको असफलता कहते है। एक आदमी जीवन मे सब कुछ इकट्ठा कर ले और आखिर मे पाये कि खुद की धुरी टूट गयी, सब पा ले और आखिर मे पाये कि खुद को खो कर पाया, तब मृत्यु के क्षण मे भी पछतावा होता है, लेकिन तब समय वापस नही आ सकता।

पुनर्जन्म की सारी भारतीय धारणायें इसीलिए है कि गया समय वापस नही आ सकता। नया समय आपको दुबारा मिलेगा। पुराने समय को लौटने का कोई भी उपाय नही। एक नया जन्म मिलेगा। फिर से नया समय मिलेग। लेकिन जिन्होने पुराने समय मे मजबूत आदते निर्मित कर ली हैं, सस्कार भारी कर लिये है, वे नये समय का भी फिर वैसा ही उपयोग करेगे।

थोडा सोचे, अगर कोई आपसे कहे कि आपको हम फिर से जन्म दे देते हैं, तो आपका क्या करने का इरादा है?—तो आप क्या करेगे? सोचे थोडा, तो आप पायेंगे कि जो आपने किया है, वही फिर करेगे—थोडा-बहुत मोडीफाइड, थोडा-बहुत इधर-उधर, थोडा-बहुत हेर-फेर, पत्नी थोडी और अच्छी नाक वाली चुन लेगे, ये मकान थोडा और नये डिजाइन का बना लेगे।

मरते हुए मुल्ला नसरुद्दीन से किसी ने पूछा था कि फिर जन्म मिले, तो क्या करोगे? तो उसने कहा, जो पाप मैंने बहुत देर से शुरू किये है, वह मैं जल्दी शुरू कर दूँगा, क्योकि जो पाप मैने किये हैं, उनके लिए मुझे कोई पछतावा नही होता, जो पाप मैं नही कर पाया हूँ, उनका मुझे हमेशा पछतावा रहता है।

आप भी ख्याल करना कि पाप का पछतावा बहुत कम लोगो को होता है। जो पाप आप नही कर पाये, उनका पछतावा सदा बना रहता है। और करके पछताना उतना बुरा नही होता जितना न करके पछताना।

कभी आपने ख्याल किया है कि जो-जो आप नही कर पाये हैं—जो चोरी नही कर पाये, उसके लिए भी पछतावा—जो झूठ नही बोल पाये उसके लिए भी पछतावा। बेईमानी अधिक कर लेते हैं—कही के गवर्नर (राज्यपाल) होते या कही के चीफ मिनिस्टर (मुख्य मन्त्री) होते, लेकिन नही हो पाये। नाहक जेल गये और आये। जरा-सी तरकीब लगा लेते, तो···मन पीडा झेलता चला जाता है।

अगर आपको नया समय मिले, तो आप पुनरुक्ति ही करेगे, क्योकि आपको मूल ख्याल मे नही है कि आपने जो किया, वह क्यो किया ? वह, अहकार के कारण आपने गलत रास्ता चुना। अगर अहकार मौजूद है, तो आप फिर गलत रास्ता चुन लेगे।

अहकार प्रवृत्ति है—गलत रास्ते चुनने की। अगर अहकार खो जाये तो आप समय का उपयोग कर सकते है। इसलिए महावीर ने अन्तिम सूत्र मे यह बात कही कि जब तक बुढापा नही सताता, जब तक व्याधियाँ नही सताती, जब तक इन्द्रियाँ अशक्त नही होती तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिये। बाद मे कुछ भी नही होगा।

यहाँ हिन्दू और जैन विचार मे एक बहुत ही मौलिक भेद है। हिन्दू विचार सदा से मानता रहा है कि सन्यास, धर्म, ध्यान, योग सब बुढ़ापे के लिए हैं। अगर महावीर ने इस विचार मे कोई बड़ी से बडी क्रान्ति पैदा की है, तो वह इस सूत्र मे है कि यह बुढापे के लिए नही है।

बडे मजे की बात है कि अधर्म जवानी के लिए और धर्म बुढापे के लिए। भोग जवानी के लिए और योग बुढ़ापे के लिए। क्यो ? क्या योग के लिए किसी शक्ति की जरूरत नही है ? जब भोग तक के लिए शक्ति की जरूरत है, तो क्या योग के लिए शक्ति की जरूरत नही होगी ? लेकिन उसका कारण है। और वह कारण यह है कि हम भली भाँति जानते हैं कि भोग तो बुढ़ापे मे किया नही जा सकता, योग ? · देखेगे ! हो गया तो ठीक, न हुआ तो क्या हर्ज है। भोग छोडा नही जा सकता, योग छोडा जा सकता है। तो भोग तो अभी कर लें, योग को स्थगित रखें। जब भोग करने योग्य नही रह जायेंगे तब योग कर लेंगे।

लेकिन ध्यान रखना कि वही शक्ति भोग करती है, वही शक्ति योग करती है। दूसरी कोई शक्ति आप के पास है नही। आदमी के पास शक्ति तो एक ही

है, उसी से वह भोग करता है और उसी से वह योग करता है। इसलिए महावीर की दृष्टि बडी वैज्ञानिक है।

महावीर कहते हैं जिस शक्ति से भोग किया जाता है, उसी से तो योग किया जाता है। वह जो वीर्य, वह जो ऊर्जा, सम्भोग बनती है, वही वीर्य, वही ऊर्जा तो समाधि बनती है। जो मन भोग का चिन्तन करता है, वही मन तो ध्यान करता है। जो शक्ति क्रोध मे निकलती है, वही शक्ति क्षमा मे खिलती है। उसमें फर्क नही है। शक्ति वही है। शक्ति हमेशा तटस्थ है, नेचरल है। आप क्या करते हैं, इस पर निर्भर करता है।

एक आदमी अगर ऐसा कहे कि धन मेरे पास है, इसका उपयोग मै भोग के लिए करूँगा और जब धन पास नही होगा, तब जो बचेगा उसका उपयोग दान के लिए करूँगा, तो' '।

मुल्ला नसरुद्दीन मरा तो उसने अपनी वसीयत की। वसीयत मे उसने लिखवाया अपने वकील को कि मेरी आधी सम्पत्ति मेरी पत्नी के लिए नियमानुसार और शेष आधी सम्पत्ति मेरे पाँच पुत्रो मे बांट दी जाये। और बाद मे जो कुछ बचे, वह गरीबो मे दान कर दी जाये। वकील ने पूछा कि कुल सम्पत्ति है कितनी ? मुल्ला ने कहा : यह तो कानूनी बात है। सम्पत्ति तो बिलकुल नही है। सम्पत्ति तो मैं खतम कर चुका हूँ, लेकिन वसीयत रहे, तो मन को कुछ शान्ति रहती है। कि कुछ करके आया, कुछ छोड कर आया।

करीब-करीब जीवन ऊर्जा के साथ हमारा भी यही व्यवहार है।

महावीर कहते हैं—भोग के जब क्षण हैं, तभी योग के भी क्षण हैं। भोग जब पकड रहा है, तभी योग भी पकड सकते हैं। महावीर कहते है—जब बुढापा सताने लगे, जब व्याधियाँ बढ जाये, इन्द्रियाँ जब अशक्त हो जाये, तब धर्म का आचरण नही हो सकता। तब धर्म सिर्फ एक आशा हो जाता है, आचरण नही।

आचरण शक्ति मांगता है। इसलिए जिस विचार-धारा मे, बुढापे को धर्म के आचरण की बात मान ली जाये, उस विचार-धारा मे, बुढ़ापे मे सिवाय भगवान् से प्रार्थना करने के फिर कुछ और उपाय बचता नही। इसलिए लोग फिर राम-नाम लेते हैं। और तो कुछ कर नही सकते। कुछ और हो नही सकता। जब हो सकता था, तब सारी शक्ति गँवा दी। जिससे हो सकता था, वह सारा समय खो दिया। जब शक्ति प्रवाह मे थी और ऊर्जा जब शिखर पर

थी, तब हम कूडा-कचरा बीनते रहे और जब पास की सारी शक्ति खो गयी, तब हम आकाश के तारे छूने की सोचते हैं। तब हम सिर्फ आखें बन्द करके राम-नाम ले सकते हैं।

राम-नाम अधिकतर धोखा है। धोखे का मतलब—राम-नाम मे धोखा है, ऐसा नही। राम-नाम लेने वाले मे धोखा है। धोखा इसलिए है कि अब कुछ नही कर सकते। अब तो राम-नाम ही सहारा है। साधु सन्यासी भी यही समझाते रहते है कि 'यह कलयुग' है। अब कुछ कर तो सकते नही। अब तो बस 'राम-नाम ही सहारा है।' लेकिन यह मतलब ? मतलब यही होता है जैसे आम-तौर से होता है कि किसी बात को आप नही जानते, तो आप कहते है—'भगवान् ही जानता है।'—इसका मतलब कोई नही जानता—'राम-नाम ही सहारा है।' इसका ठीक मतलब—'अब कोई सहारा नही।'

महावीर कहते हैं कि इसके पहले कि शक्तियाँ खो जायें, उन्हे रूपान्तरित कर लेना। और बडे मजे की बात है कि जो उन्हे रूपान्तरित कर लेता है खोने के पहले, उसे बुढापा कभी नही सताता। क्योकि बुढापा वस्तुत: शारिरिक घटना कम और मानसिक घटना ज्यादा है। महावीर भी शरीर से तो बूढे हो जाते हैं, लेकिन मन से उनकी जवानी कभी नही खोती।

इसलिए हमने महावीर का कोई चित्र बुढापे का नही बनाया। न कोई मूर्ति बुढापे की बनाई है, क्योकि वह बनाना गलत है। महावीर बूढे हुए होगे। और उनके शरीर पर झुरियाँ पडी होगी; क्योकि शरीर किसी को क्षमा नही करता।

शरीर के नियम हैं। शरीर महावीर की भी फिकर नही करता, किसी की भी फिकर नही करता। उनकी आँखें भी कमजोर हो गई होगी। उनके पैर भी डगमगाने लगे होगे। शायद उन्हे भी लकडी का सहारा लेना पडा हो लेकिन हमने उनकी बुढापे की कोई मूर्ति नही बनाई, क्योंकि वह असत्य है। तथ्य तो हो सकती है, फैक्ट तो हो सकती है, लेकिन वह असत्य होगी। महावीर के बाबत सच्ची खबर उससे नही मिलेगी। वह भीतर से सदा जवान बने रहे, क्योंकि बुढापा वासनाओ मे खोई गयी शक्तियो का भीतरी परिणाम है।

बाहर तो शरीर पर बुढापा आयेगा ही। वह समय ही धारा मे अपने-आप घटित हो जायेगा, लेकिन भीतर जब शरीर की शक्तियाँ वासना मे गँवाई जाती हैं, अधर्म मे, टेढे-मेढे रास्ते पर, धुरी जब टूट जाती है, तब भीतर भी एक बुढापा आता है।

वासना मे बिताये हुए आदमी का जीवन बुढ़ापे मे सबसे ज्यादा दुखद हो जाता है और कुरूप हो जाता है; क्योकि धुरी टूट चुकी होती है और हाथ मे सिवाय राख के कुछ भी नही होता। सिर्फ पापो की थोडी सी स्मृतियाँ होती हैं और वह भी सालती हैं। समय व्यर्थ गया, इसकी भी पीडा कचोटती है।

इसलिए बुढापा हमे सबसे ज्यादा कुरूप मालूम पडता है। होना नही चाहिये; क्योकि बुढापा तो शिखर है जीवन का—आखिरी। सर्वाधिक सुन्दर होना चाहिए उसे। इसलिए जब कभी बूढा आदमी गलत रास्ते पर न चलकर, जिन्दगी मे सीधे-सरल रास्तो पर चला होता है, तो बुढापा बच्चो जैसा निर्दोष, पुन हो जाता है।

बच्चे इतने निर्दोष नही हो सकते (क्योकि वे अज्ञानी होते है)। बुढापा निर्दोष हो सकता है। क्योकि बुढापा एक अनुभव से निखरता और गुजरता है। सफेद बालो के सिर पर छा जाने के साथ ही भीतर जीवन मे भी उतनी शुभ्रता आती चली गई हो, तो उस सौन्दर्य की कोई उपमा नही है।

बूढा होने पर अगर आदमी सुन्दर न हो, तो जानना कि जीवन व्यर्थ गया। बुढापा सौन्दर्य नही बन पाये अगर, लेकिन बुढापा कब सौन्दर्य बनता है? जब शरीर तो बूढा हो जाता है, लेकिन भीतर जवानी की ऊर्जा अक्षुण्ण रह जाती है। जब इस बुढापे की झुर्रियो के भीतर से वह जवानी की जो अक्षुण्ण ऊर्जा है, जो वीर्य है, जो शक्ति है, जो बच गयी है, जो रूपान्तरित हो गयी है, जब उसकी किरणे बुढापे की इन झुर्रियो से बाहर निकलती हैं, तब एक अनूठे सौंदर्य का जन्म होता है।

इसलिए हमने महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण किसी का भी बुढापे का कोई चित्र नही बनाया। अच्छा किया हमने। हमें तथ्यो की बहुत चिन्ता नही है। हमे सत्यो की फिकर है, जो तथ्यो के भीतर छिपे होते है, गहरे मे छिपे होते हैं। इसलिए हमने उनको जवान ही चित्रित किया है।

महावीर कहते हैं—जब है शक्ति, तब उसे बदल डालो, पीछे पछताने का कोई भी अर्थ नही है।

आज इतना ही। पांच मिनट रुके, कीर्तन करे, फिर जायें।

●

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
६ सितम्बर, १९७२

तीसरा प्रवचन

सत्य-सूत्र

•

निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चा उत्तेण दुक्करं ।।

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ।।

सदा अप्रमादी व सावधान रहते हुए असत्य को त्यागकर हितकारी सत्य-वचन ही बोलना चाहिए। इस प्रकार का सत्य बोलना सदा बड़ा कठिन होता है।

श्रेष्ठ साधु पापमय, निश्चयात्मक और दूसरों को दुख देनेवाली वाणी न बोलें। इसी प्रकार श्रेष्ठ मानव को क्रोध, लोभ, भय और हँसी-मजाक में भी पाप-वचन नहीं बोलना चाहिए।

•

सूत्र के पहले एक-दो प्रश्न ।

● मैंने परसो कहा कि हिन्दू-विचार सन्यास को जीवन की अन्तिम अवस्था की बात मानता है । किन्ही मित्र को इसे सुनकर अडचन हुई होगी । मैं निकलता था बाहर, तो उन्होने कहा कि हिन्दू-शास्त्रों में तो जगह्-जगह् ऐसे वचन भरे पडे है कि जब शक्ति हो, तभी साधना कर लेनी चाहिए !

चलते हुए, रास्ते मे उनसे ज्यादा नहीं कहा जा सकता था । मैंने उनसे इतना ही कहा कि ऐसे वचन अगर आपको पता हो, तो उनका आचरण शुरू कर देना चाहिए ।

लेकिन, हमारा मन बड़ा अनुदार है—सभी का । हम सभी सोचते हैं कि मेरे धर्म मे सब कुछ है—यह अनुदार वृत्ति है ।

इस पृथ्वी पर कोई भी धर्म पूरा नही है, हो भी नही सकता । जैसे ही सत्य अभिव्यक्ति बनता है, अधूरा हो जाता है और जब यह अधूरा सत्य सगठित होता है, तो और भी अधूरा हो जाता है । और जब हजारों-लाखों साल तक यह सगठन एक पकड बनता चला जाता है, तो और भी क्षीण होता चला जाता है ।

सभी सगठन, अधूरे-सत्यो के सगठन होते हैं इसलिए जगत् के सारे धर्म मिलकर एक पूरे धर्म की सम्भावना पैदा करते हैं । कोई अकेला धर्म, पूरे धर्म की सम्भावना पैदा नही करता । क्योकि सभी धर्म सत्यो को अलग-अलग पहलुओं से देखी गयी चेष्टाएँ हैं ।

हिन्दू-विचार अत्यन्त व्यवस्थित है । इसलिए हिन्दू-विचार ने जीवन को चार हिस्सों मे बाट दिया है । ब्रह्मचर्य आश्रम है, ग्राहृस्थ्य आश्रम है, वानप्रस्थ आश्रम और फिर संन्यास आश्रम है । यह बडी गणित की व्यवस्था है । इसके अपने उपयोग हैं, अपनी कीमत है ।

लेकिन, जीवन कभी भी व्यवस्था मे बँधता नही है। जीवन सब व्यवस्था को तोडकर बहता है। इस व्यवस्था को हमने दो नाम दिये हैं—वर्ण और आश्रम। हमने समाज को भी चार हिस्सो मे बाँट दिया, और हमने जीवन को भी चार हिस्सो मे बाँट दिया। यह बँटाव उपयोगी है।

हिन्दू-मन को यह कभी स्वीकार नही रहा कि कोई जवान आदमी सन्यासी हो जाये, कि कोई बच्चा सन्यासी हो जाये। सन्यास आना चाहिए, लेकिन वह जीवन की अन्तिम बात है, क्योकि हिन्दू ऐसा मानता रहा है कि संन्यास इतनी बडी घटना है कि सारे जीवन के अनुभव के बाद ही खिल सकती है। इसका अपना उपयोग है, इसका अपना अर्थ है।

लेकिन, महावीर और बुद्ध ने एक क्राति खडी की इस व्यवस्था मे, और वह क्राति यह थी कि सन्यास का फूल कभी भी खिल सकता है, वृद्धावस्था तक रुकने की जरूरत नही है। न केवल इतना, बल्कि महावीर ने कहा है कि जब युवा है चित्त और जब शक्ति से भरा है शरीर, तभी जो भोग मे बहती है ऊर्जा, वह अगर योग की तरफ बहे, तो सन्यास का फूल खिल सकता है।

यह एक दूसरे पहलू से देखने की चेष्टा है, इसका भी अपना मूल्य है, इसमे बहुत फर्क है, और कारण हैं फर्कों के।

इसे थोडा समझ ले।

हिन्दू-विचार ब्राह्मण की व्यवस्था है। ब्राह्मणत्व का अर्थ होता है गणित, तर्क, योजना, नियम, व्यवस्था। जैन और बौद्ध-विचार क्षत्रियो के मस्तिष्क की उपज है—वह एक क्राति, शक्ति और अराजकता है।

जैनियो के चौबीसो तीर्थंकर क्षत्रिय हैं। बुद्ध क्षत्रिय हैं। बुद्ध के पिछले सारे जन्मो की जो और भी कथाएँ हैं, वह भी क्षत्रिय की है। बुद्ध ने जिन और बुद्धो की बात की है, वह भी क्षत्रिय है।

क्षत्रियो के सोचने का ढग ऊर्जा पर, शक्ति पर निर्भर होता है। ब्राह्मण के सोचने का ढग अनुभव पर, गणित पर, विचार पर, मन पर निर्भर होता है। ब्राह्मण एक व्यवस्था देता है और क्षत्रिय अराजक होता है। शक्ति सदा अराजक होती है। इसलिए जवान अराजक होते हैं, बूढे अराजक नही होते।

जवान क्रातिकारी होते हैं, बूढे क्रातिकारी नही होते। अनुभव उनकी सारी क्राति की नोको को झाड देता है। जवान गैर अनुभवी होता है, शक्ति से भरा होता है। उसके सोचने का ढग अलग होता है।

भारत की यह जो वर्ण-व्यवस्था थी, उसमे ब्राह्मण सबसे ऊपर था, उसके बाद क्षत्रिय था, वैश्य था, फिर शूद्र था। जब बगावत होती है, किसी विचार, किसी तत्र के प्रति, तो जो निकटतम होता है, नम्बर दो पर होता है, वही बगावत करता है। नम्बर तीन और चार के लोग बगावत नही करते। इतना फासला होता है कि बगावत का कोई कारण भी नही होता।

इसलिए ब्राह्मणो के खिलाफ जो पहली बगावत हो सकती थी, वह क्षत्रियो से ही हो सकती थी। वे बिलकुल निकट थे। दूसरी सीढी पर खडे थे। उनको आशा बनती थी कि वे धक्का देकर पहली सीढ़ी पर हो सकते थे, शूद्र बगावत नही कर सकता था। वह बहुत दूर था। उसे बहुत सीमा पार करनी थी। वैश्य भी बगावत नही कर सकता था।

एक मजे की बात है मनुष्य के ऐतिहासिक उत्क्रम मे कि ब्राह्मणों के प्रति पहली बगावत क्षत्रियो से आई। ब्राह्मणो को सत्ता से उतार दिया क्षत्रियो ने। लेकिन, क्या आपको पता है कि क्षत्रियों को फिर वैश्यो ने सत्ता से उतार दिया और अब वैश्यो को शूद्र सत्ता से उतार रहे हैं!

हमेशा निकटतम के द्वारा होती है क्राति। जो नीचे था, वह आशान्वित हो जाता है कि अब मैं निकट हूँ सत्ता के, अब धक्का दिया जा सकता है।

जैन और बुद्ध क्षत्रिय मस्तिष्क की उपज हैं। क्षत्रिय जवानी पर, शक्ति पर भरोसा करता है। शक्ति ही उनके लिए सब कुछ है। शक्ति के सब आयामो मे उन्होने प्रयोग किये। महावीर ने इसका ही प्रयोग साधना मे किया।

महावीर ने कहा कि जब ऊर्जा अपने शिखर पर है, तभी उसका रूपान्तरण कर लेना उचित है। क्योकि रूपान्तरण करने के लिए भी शक्ति की जरूरत है। और जब शक्ति क्षीण हो जायेगी, तो कई दफा धोखा भी पैदा होता है, जैसे कि बूढा आदमी सोच सकता है कि मैं ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो गया।

असमर्थता ब्रह्मचर्य नही है। अगर ब्रह्मचर्य को कोई उपलब्ध होता है, तो युवा होकर ही हो सकता है, क्योकि तभी कसौटी है, तभी परीक्षा है। वृद्ध होकर ब्रह्मचारी होना मजबूरी हो जाती है। साधन खो जाते हैं। जब साधन खो जाते हैं, तो साधना का कोई अर्थ नही रह जाता है। जब साधन होते है, उत्तेजना होती है, 'कम्पिटीशन' होता है, जब ऊर्जा दौड़ती हुई होती है, किसी प्रवाह मे, तब उसके रुख को बदल लेना साधना है।

इसलिए महावीर का सारा बल युवा-शक्ति पर है।

दूसरी बात, महावीर और बुद्ध दोनों की ज्ञाति, वर्ण और आश्रम के खिलाफ है। न तो वे समाज में वर्ण को मानते हैं कि कोई आदमी बँटा हुआ है, खण्ड-खण्ड में—न वे व्यक्ति के जीवन मे बँटाव मानते हैं कि व्यक्ति बँटा हुआ है, खण्ड-खण्ड मे।

वे कहते हैं, जीवन एक तरलता है। और किसी को वृद्धावस्था मे अगर सन्यास का फूल खिला है, तो उसे समाज का नियम बनाने की कोई जरूरत नही। किसी को जवानी मे भी खिल सकता है। किसी को बचपन में भी खिल सकता है। इसे नियम बनाने की कोई भी जरूरत नही; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति बेजोड है।

इसे थोडा समझ ले।

हिन्दू चिन्तन मानकर चलता है कि सभी व्यक्ति एक जैसे है, इसलिए बाँटा जा सकता है। जैन और बौद्ध चिन्तन मानता है कि व्यक्ति बेजोड है, बाँटा नही जा सकता। हर आदमी, बस अपने जैसा ही है, इसलिए कोई नियम लागू नही हो सकता। उस आदमी को अपना नियम खुद ही खोजना पडेगा। इसलिए कोई व्यवस्था ऊपर से नही बिठाई जा सकती।

महावीर कहते हैं कि हम नही बाँट सकते है कि कौन शूद्र है, और कौन ब्राह्मण है। महावीर जगह-जगह कहते है कि मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ, जो ब्रह्म को पा ले। उसको ब्राह्मण नही कहता, जो ब्राह्मण घर मे पैदा हो जाये। मैं उसे शूद्र कहता हूँ, जो शरीर की सेवा मे ही लगा रहे। उसे शूद्र नही कहता, जो शूद्र के घर मे पैदा हो जाये। जो शरीर की सेवा, और शृगार मे लगा रहता है चौबीस घटे, वह शूद्र है।

बडे मजे की बात है, इसका अर्थ हुआ कि एक अर्थ मे हम सभी शूद्र की भाँति पैदा होते हैं। जरूरी नही है कि हम सभी ब्राह्मण की भाँति मर सकें। मर सकें, तो सौभाग्य है।

महावीर कहते है कि एक-एक व्यक्ति अलग है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति हजारों-हजारों जन्मो की यात्रा के बाद आया है। बच्चे को बच्चा कहने का क्या अर्थ है? उसके पीछे भी हजारों जीवन का अनुभव है। दो बच्चे एक जैसे नही होते। एक बच्चा बचपन से ही बूढा हो सकता है। अगर उसे अपने अनुभव का थोड़ा सा भी स्मरण हो, तो बचपन मे ही संन्यास घटित हो जायेगा। और एक बूढा भी बिलकुल बचकाना हो सकता है। अगर उसे इसी

जीवन की कोई समझ पैदा न हुई हो, तो बुढापे मे भी बच्चे जैसा व्यवहार कर सकता है।

तो, महावीर कहते हैं यात्रा है लम्बी, सभी हैं बूढे—एक अर्थ मे सभी को अनुभव है। इसलिए जब ऊर्जा ज्यादा हो, तब इस अनन्त-अनन्त जीवन के अनुभव का उपयोग करके जीवन को रूपान्तरित कर लेना चाहिये।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हिन्दू परिवारो मे युवा-संन्यासी नहीं हुए। लेकिन वे अपवाद है। और जो महत्वपूर्ण सन्यासी हिन्दू परम्परा मे हुए, जैसे शकर जैसे लोग, बुद्ध और महावीर के बाद हुए।

सन्यास की जो धारा शकर ने हिन्दू-विचार में चलाई, उस पर महावीर और बुद्ध का अनिवार्य प्रभाव है; क्योकि यह बात हिन्दू विचार से मेल नही खाती कि एक जवान आदमी सन्यास ले लें। इसलिए शकर के जो विरोधी हैं, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, वे सब कहते हैं कि शंकर जो हैं, वे प्रच्छन्न बौद्ध हैं, छिपे हुए बौद्ध हैं, वह असली हिन्दू नही हैं। ठीक हिन्दू नही हैं; क्योकि सारी गड़बड कर डाली है। बडी गड़बड तो यह कर दी कि आश्रम की व्यवस्था तोड डाली। शकर तो बच्चे ही थे, जब उन्होंने सन्यास लिया। तैंतीस साल में तो उनकी मृत्यु ही हो गई।

किसी विचार पर, किसी की कोई बपौती भी नही होती, कि विचार जैन का है, कि बौद्ध का है। विचार तो जैसे ही मुक्त-आकाश में फैल जाता है, सब का हो जाता है। फिर भी स्रोत का अनुग्रह सदा स्वीकार होना चाहिए। और इतनी उदारता होनी चाहिए कि हम स्वीकार करे कि कौन सी बात किस ने दान दी है।

युवक सन्यासी हो, जीवन जब प्रखर ऊर्जा के शिखर पर है—इस दिशा मे जो दान है, वह जैन और बौद्धो का है। इसके खतरे भी हैं। हर सुविधा के साथ खतरा जुडा होता है। हर उपयोगी बात के साथ गड्ढा भी जुडा होता है खतरे का।

निश्चित ही जब युवा व्यक्ति सन्यास लेंगे, तो सन्यास मे खतरे बढ जायेंगे। जब बूढ़ा आदमी सन्यास लेगा, तो सन्यास मे खतरे नही होंगे। इसलिए महावीर को अतिशय नियम निर्मित करने पड़े। क्योकि जब युवा संन्यासी होंगे, तो खतरे नित्य ही बढ जानेवाले हैं। युवक और युवतियाँ जब सन्यासी होंगे और उनकी वासना प्रबल वेग मे होगी, तब खतरे बहुत बढ़

जानेवाले हैं। इसलिए एक पूरी की पूरी आयोजना करनी पडी नियमों की, कि ये खतरे काटे जा सकें।

इसलिए जैन-विचार कई दफा बहुत 'सप्रेसिव', बहुत दमनकारी मालूम होता है। वह है नही। दमनकारी इसलिए मालूम होता है कि एक-एक चीज पर अकुश लगाना पडा। क्योकि इतनी बढती हुई उद्दाम-वासना है, अगर इस पर चारो तरफ से व्यवस्था न हुई, तो सम्भावना इसकी कम है कि योग की तरफ बहे, सम्भावना यह है कि यह भोग की तरफ बह जाये।

इसलिए हिन्दू-विचार आज के युग को ज्यादा अपील करेगा, क्योकि उसमे इतना नियम का जोर नही है। वृद्ध अगर सन्यासी होगा, तो उसका वृद्ध होना ही, उसकी समझ ही नियम बन जायेगी। उस पर बहुत, अतिशय, चारो तरफ बाढ लगाने की जरूरत नही है। उसे छोडा जा सकता है, उसकी समझ पर। उसे कहने की जरूरत नही है कि ऐसा मत करना, ऐसा मत करना, ऐसा मत करना। हजार नियम बनाने की जरूरत नही है।

बुद्ध से आनन्द पूछता है कि स्त्रियो की तरफ देखना कि नही ! बुद्ध कहते 'कभी नही देखना।' आनन्द पूछता है—'और अगर मजबूरी मे, अनायास, आकस्मिक स्त्री दिखायी ही पड जाये, तो ?' तो बुद्ध कहते है, 'बोलना मत।' आनन्द कहता है—'ऐसी हालत हो कि स्त्री बीमार हो, या कोई ऐसी स्थिति बन जाये कि बोलना ही पडे ?' तो बुद्ध कहते हैं—'होश रखना किससे बोल रहे हो।'

ऐसा विचार हिन्दू-चिन्तन मे कही भी खोजे न मिलेगा। इसका कारण है यह युवको को दिया गया सदेश है। हिन्दू-चिन्तन ने तो क्रमबद्ध व्यवस्था की है ब्रह्मचर्य की। यह ब्रह्मचर्य, बुद्ध और महावीर के ब्रह्मचर्य से भिन्न है। कभी-कभी शब्द बडी दिक्कत देते है।

ब्रह्मचर्य, पहला आश्रम है हिन्दू-विचार मे। यह ब्रह्मचर्य ग्राहंस्थ्य के विपरीत नही है। बुद्ध और महावीर का ब्रह्मचर्य ग्राहंस्थ्य के विपरीत है। हिन्दू-ब्रह्मचर्य ग्राहंस्थ्य की तैयारी है। युवक को ब्रह्मचारी होना चाहिए, इसलिए नही कि वह योग मे चला जाये बल्कि इसलिए कि शक्ति सग्रहीत हो, तो भोग की पूरी गहराई मे उतर जाये, यह बडा अलग मामला है। इसलिए ब्रह्मचर्य पहले। पच्चीस वर्ष तक युवक ब्रह्मचारी हो इसलिए नही कि योग मे चला जाये। अभी योग बहुत दूर है। बल्कि इसलिए कि ठीक से भोग मे चला

जाये। क्योंकि हिन्दू यह मानता है कि अगर ठीक से कोई भोग में चला जाए, तो भोग से छुटकारा हो जाये।

जिस चीज को हम ठीक से जान लेते हैं, वह व्यर्थ हो जाती है। अगर ठीक से न जान पाएँ तो वह पीछा करती है। अगर बुढापे मे भी कामवासना आपका पीछा करती है, तो इसका मतलब ही यह है कि आप कामवासना को जान न पाये। आप पूरी ऊर्जा न लगा पाये कि अनुभव पूरा हो जाता, कि आप उसके बाहर निकल आते। जब अनुभव पूरा होता है, तब हम उसके बाहर हो जाते हैं; जब अनुभव अधूरा होता है, तब हम अटके ही रह जाते हैं।

तो, ब्रह्मचर्य इसलिए है कि शक्ति पूरी इकट्ठी हो जाये, और प्रबल वेग से आदमी ग्राहंस्थ्य मे प्रवेश कर सके, वासना मे प्रवेश कर सके। पच्चीस वर्ष से पचास वर्ष तक वह वासना के जीवन मे पूरी तरह डूबा रहे—पूरी तरह, समग्रता से। यही उसे बाहर निकालने का कारण बनने लगेगा।

और तब पच्चीस वर्ष तक वह जगल की तरफ मुंह कर ले, वानप्रस्थ हो जाये। रहे घर मे, अभी जगल न जाये; क्योकि एकदम जगल जाने में हिन्दू-विचार को लगता है कि छलाग हो जायेगी, क्रमिक न होगा। और जो आदमी एकदम घर से जगल मे चला गया, वह घर को जगल मे ले जायेगा। उसके मस्तिष्क मे घर ही होगा, जगल मे भी।

हिन्दू-विचार कहता है कि पच्चीस साल तक वह घर पर ही रहे। जगल की तरफ मुंह रखे, ध्यान जगल का रखे, रहे घर पर। अगर जल्दी चला जायेगा, तो रहेगा जगल मे, ध्यान होगा घर पर। पच्चीस साल तक सिर्फ ध्यान को जगल मे ले जाये। जब पूरा ध्यान जगल मे पहुँच जाये, तब वह भी जगल चला जाये, तब वह पचहत्तर वर्ष की उम्र मे सन्यासी हो।

इसके अपने उपयोग हैं। कुछ लोगो के लिए शायद यही प्रीतिकर होगा। लेकिन, हम हैं बेईमान। हम हर सत्य से अपने हिसाब की बातें निकाल लेते हैं। हम सोचेंगे कि यह ठीक है। हमारे लिए बिलकुल उपयोगी है, जँचता है।

···सिर्फ इसलिए उपयोगी है कि इसमें 'पोस्टपोन', स्थगित करने की सुविधा है। न बचेंगे हम पचहत्तर साल के बाद और न यह झंझट होगी, घर मे ही रहेगे। रहा वानप्रस्थ, वन की तरफ मुंह रखने की बात, तो वह भीतरी बात है, किसी को उसका पता चलेगा ही नही!

अपने को धोखा हम किसी भी चीज से दे सकते हैं।

···महावीर की सारी जो साधना-प्रक्रिया है, वह हिन्दू-साधना-प्रक्रिया से अलग है। इसलिए महावीर की साधना-प्रक्रिया का ही उपयोग करना पडेगा—अगर जवान सन्यासी हो, तो। क्योकि तब ऊर्जा के प्रबल वेग को रूपातरित करने की क्रियाओ का उपयोग करना पडेगा।

बूढा सौम्यता से संन्यास मे प्रवेश करता है। जवान तूफान-आँधी की तरह सन्यास मे प्रवेश करता है। इन सबकी प्रक्रियाएँ अलग हैं। लेकिन एक बात तय है कि महावीर और बुद्ध ने युवा जीवन-ऊर्जा को सन्यास मे बदलने की जो कीमिया है, पहले उसके सूत्र निर्मित किए। वह हिन्दू-विचार की देन नही है। और अगर हिन्दुओ ने पीछे युवा-अवस्था मे सन्यास भी लिये, अगर युवा-सन्यास के आन्दोलन भी चलाये शकराचार्य ने, तो उन पर अनिवार्य रूप से महावीर और बुद्ध की छाप है।

···इतना अनुदार नही होना चाहिए कि सभी कुछ हमसे ही निकले। परमात्मा सब तरफ है और परमात्मा हजार आवाजो मे बोला है और सब आवाजे परिपूरक हैं। किसी न किसी दिन हम उस सार-भूत धर्म को खोज लेंगे, जो सब धर्मों मे अलग-अलग पहलुओ मे छिपा है। उस दिन ऐसा कहने की जरूरत न होगी कि हिन्दू-धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म। ऐसा ही कहने की बात रह जायेगी—धर्म की तरफ जानेवाला जैन-रास्ता, धर्म की तरफ जानेवाला बौद्ध-रास्ता, धर्म की तरफ जानेवाला हिन्दू-रास्ता।

ये सब रास्ते हैं और धर्म की तरफ जाते हैं। इसलिए हम अपने मुल्क मे इनको सम्प्रदाय कहते थे—धर्म नही। कहना भी नही चाहिये। धर्म तो एक ही हो सकता है, सम्प्रदाय अनेक हो सकते हैं।

सम्प्रदाय का अर्थ है—मार्ग। धर्म का अर्थ है—मजिल।

एक और मित्र ने पूछा है कि क्रोध से दूर रहने का, अस्तित्व जैसा है वैसा स्वीकार करने का, साधना करने का मैं भी यथा-शक्ति प्रयत्न करता हूँ। इन कार्यों मे आनन्द भी मिलता है। हो सकता है, इसमे अहकार की पुष्टि भी होती हो।

अहकार को विलीन करने की प्रक्रिया मे भिन्न प्रकार का अहंकार भी समर्थित हो जाता है। सामान्य मनुष्य अहकार के सिवाय और है क्या ?

क्या यह सम्भव है कि अहंकार का ही किसी इष्ट दिशा में सशोधन होते-होते आखिर मे कुछ प्राप्त करने योग्य तत्त्व बचा रह जाये ?

दो रास्ते हैं :

एक रास्ता है अहंकार को हम शुद्ध करते चले जायें; क्योंकि जब अहकार शुद्ध हो जाता है, तो बचता ही नही। शुद्ध होते-होते ही विलीन हो जाता है। इसके मार्ग हैं कि हम अहंकार को कैसे शुद्ध करें। इसके खतरे भी हैं; अहकार शुद्ध हो रहा है या परिपुष्ट हो रहा है—इसकी परख रखनी बड़ी कठिन है।

दूसरा रास्ता है : अहंकार को हम छोडते चले जायें, शुद्ध करने की कोशिश ही न करें, सिर्फ छोडने की कोशिश करे। जहाँ-जहाँ अहंकार दिखाई पडे, वहाँ-वहाँ उसको त्याग करते चले जायें। इसके भी खतरे हैं। खतरा यह है कि हमारे भीतर एक दूसरा अहकार जन्म सकता है कि मैंने अहंकार का त्याग कर दिया, कि मैं ऐसा हूँ जिसके पास अहकार बिलकुल नही है।

साधना निश्चित ही खतरनाक होती है। जब भी आदमी किसी दिशा मे बढता है, तो भटकने के डर भी निश्चित होते है। और कोई रास्ता ऐसा नहीं होता कि सुनिश्चित हो—आप चलें और मजिल पर पहुँच ही जायें। आपके चलने से ही रास्ता निर्मित होता है। रास्ते पहले से निर्मिते हो, तब तो आसानी हो जाये। यह कोई रेल की पटरियो जैसा मामला हो कि डिब्बों को भटकने का उपाय ही नही, पटरी पर दौडते चले जाये, तब तो ठीक है।

यह रेल की पटरियो जैसा मामला नही है, यहा रास्ता लोह-पथ निर्मित नही है कि आप एक दफे पटरी पर चढ़ गए, तो फिर उतरने का उपाय ही नही, चलते ही चले जायेंगे और मजिल पर पहुँचेंगे ही।

मजिल पर पहुँचने की नियति स्पष्ट नही है। और अच्छा है कि नही है। इसलिए जीवन में इतना रस, रहस्य और आनन्द है। अगर रेल की पटरियों की तरह आप परमात्मा तक पहुँच जाते हों, तो परमात्मा भी एक व्यर्थता हो जायेगी।

सत्य की खोज, परमात्मा की खोज मूलत: पथ की ही खोज है। और पथ भी अगर निर्मित हो बहुत से, तो भी आसान हो जाये कि हम अ को चुने, कि ब को चुने, कि स को चुनें। एक दफा तय कर ले और चल पडें।

पथ की खोज, पथ का निर्माण ही है। आदमी चलता है और चल कर ही रास्ता बनाता है, इसलिए खतरे हैं। इसलिए भटकने के सदा उपाय हैं। पर अगर सचेतना हो, तो सभी बिधियो से जाया जा सकता है। अगर अप्रमाद हो, अगर होश हो, जागरूकता हो, तो किसी भी विधि का उपयोग किया जा

सकता है। और अगर होश न हो, तो सभी विधियाँ खतरे में ले जायेंगी, इसलिए एक तत्त्व अनिवार्य है—रास्ता कोई हो, मार्ग कोई हो, विधि कोई हो, होश, 'अवेयरनेस' अनिवार्य है।

आप अहकार को शुद्ध करने मे लगे है, लेकिन अहकार को शुद्ध करने का क्या अर्थ है?

मुझसे बड़ा डाकू कोई भी नही—यह अहकार है—यह डाकू का अहकार है। मुझसे बडा साधु कोई भी नही—यह भी एक अहकार है—यह साधु का अहकार है। डाकू का अहकार काला अहकार है और साधु का अहकार शुभ्र अहकार है।

लेकिन, अगर साधु को होश न हो (डाकू को तो होगी ही नही होश, नहीं तो डाकू होना मुश्किल है।) और यह बात उसके मन को ऐसा ही रस देने लगे कि मुझसे बडा साधु कोई भी नही, (जैसा कि डाकू को यह बात रस देती है कि मुझसे बडा डाकू कोई भी नही) तो यह भी काला अहकार हो गया।

'मुझसे बडा साधु कोई नही'—इसमे अगर 'साधुता' पर जोर हो और होश रखा जाये, तो अहकार शुद्ध होगा। इसमे अगर 'मुझसे बडा' पर जोर रखा जाये, तो अहकार अशुद्ध होगा।

मुझसे बडा साधु कोई नही—इस भाव मे 'साधुता' ही महत्त्वपूर्ण हो और मुझे यह भी पता चलता रहे कि जब तक मुझे यह लग रहा है कि मुझसे बड़ा कोई नही, तब तक मेरी साधुता मे थोडी कमजोरी है। क्योकि, साधु को यह भी पता चलना कि मैं बडा हूँ, असाधु होने का लक्षण है।

कोई मुझसे छोटा है, तो यह हिंसा है। इसको धीरे-धीरे छोडते जाना है। एक दिन साधु ही रह जाये, मुझसे बडा, मुझसे छोटा कोई भी न रह जाये। 'मैं साधु हूँ,' इतना ही भाव रह जाये, तो अहकार और शुद्ध हुआ।

लेकिन, अभी मैं साधु हूँ, तो असाधु से मेरा फासला बना हुआ है। अभी असाधु के प्रति मैं सदय नही हूँ। अभी असाधु मुझे अस्वीकार है। अभी कहीं असाधु के प्रति निन्दा है, 'कण्डेमनेशन' है। इसे भी चला जाना चाहिए, अन्यथा मैं साधु पूरा नही हूँ।

फिर जिस दिन मुझे यह भी पता न चले कि 'मैं साधु हूँ' कि 'असाधु हूँ', इतना ही पता रह जाये कि 'मैं हूँ' साधु-असाधु का फासला गिर जाये, तो अहकार और भी शुद्ध हुआ।

लेकिन, 'मैं हूँ' इसमे भी अभी दो बातें रह गयी हैं। 'मैं' और 'होना'। यह 'मैं' भी बाधा है। यह भी वजन है। यह होने को जमीन से बाँध रखता है। अभी पख पूरे नही खुल सकते। अभी आकाश में पूरा नहीं उडा जा सकता।

इस 'मैं' को भी आहिस्ता-आहिस्ता विलीन कर देना है। सिर्फ 'हूँ' ही रह जाये। होना मात्र रह जाये—'जस्ट बीइंग', इतना भर ख्याल रह जाये कि 'हूँ' तो यह अहकार की शुद्धतम अवस्था है।

लेकिन, यह भी अहकार की अवस्था है। जब यह भी खो जाती है, जब मात्र अस्तित्व रह जाता है, तब अहकार से हम आत्मा मे छलाँग लगा जाते हैं।

यह शुद्ध करने की बात हुई। लेकिन, शुद्ध करने मे भी छोडते तो जाना ही होगा। और एक होश सदा रखना होगा कि जो भी मेरा भाव है, उस भाव मे आधा हिस्सा गलत होगा, आधा हिस्सा सही होगा। तो पचास प्रतिशत जो गलत है, उसे मैं पच्चास प्रतिशत सही के लिए कुर्बान करता चला जाऊँ, जब तक कि एक ही न बच जाये।

लेकिन, एक जब बचता है, तब भी अहकार की एक रेखा बच जाती है। जब एक भी न बचे, जब अद्वैत भी न बचे, जब अद्वैत भी खो जाये। जब हम ऐसे हो जायें जैसे फूल हैं, पत्थर हैं, आकाश है—लेकिन, इसका कोई पता नही कि हैं—इतनी सरलता हो जाये भीतर कि दूसरे का सारा बोध खो जाये, तो छलाँग आत्मा मे लग गयी।

तो यह, शुद्ध करने का एक उपाय है। लेकिन इसके खतरे हैं। क्योकि जोर हमने अगर गलत पर दिया, तो अहकार शुद्ध होने के बजाये अशुद्ध होता चला जायेगा। और, जब अशुद्धि शुद्धता के रूप मे आती है, तो बडी प्रीतिकर होती है। जजीरे अगर आभूषण बन कर आये, तो बडी प्रीतिकर होती हैं। और कारागृह भी अगर स्वर्ण का बना हो, हीरे मोतियो से सजा हो, तो मदिर मालूम होने लगता है।

दूसरा उपाय है कि हम प्रतिपल जहाँ भी 'मैं' का भाव उठे, तो उसे उसी क्षण छोड दें। भाव उठे—'मेरा मकान', तो हम सिर्फ मकान पर ध्यान रखे, और 'मेरा' को उसी क्षण छोड दे। कोई मकान मेरा नही है, हो भी नही सकता। मैं नही था, तब भी मकान था। मैं नही रहूँगा, तब भी मकान होगा। मैं केवल एक यात्री हूँ—एक विश्रामालय मे थोडे क्षण को, और विदा हो जाने को।

यह 'मैं' जहाँ भी जुडे, तत्काल उसे वही तोड देना। मेरी पत्नी, मेरा पुत्र मेरा धन, मेरा नाम, मेरा वंश—जहाँ भी यह 'मेरा' जुडे, उसे तत्काल तोड देना। उसे जुडने ही न देना। शुद्ध करने की कोशिश ही नही करना, छोड़ते ही चले जाना।

मेरा धर्म, मेरा मन्दिर, मेरा शास्त्र—जहाँ भी 'मेरा' जुडे, उसे तोडते जाना। फिर मेरा शरीर, मेरा मन, मेरी आत्मा—जहाँ भी 'मेरा' जुड़े, उसे तोडते चले जाना। अगर यह 'मेरा' टूट जाये सब जगह से और एक दिन आपको लगे कि मेरा कुछ भी नही है, 'मैं' भी मेरा नही है, तो उस दिन छलाँग हो जायेगी।

लेकिन, रास्ता अपना-अपना चुन लेना पड़ता है कि क्या आपको प्रीतिकर लगेगा! प्रतिपल तोडते जाना प्रीतिकर लगेगा या प्रतिपल शुद्ध करते जाना प्रीतिकर लगेगा! 'मेरे' को श्रेष्ठत्तर बनाना उचित होगा कि 'मेरे' को जड से ही तोड देना उचित होगा—इसकी जाँच भी अत्यन्त कठिन है। इसीलिए साधना मे गुरु का इतना मूल्य हो गया।

इसकी जाँच अति कठिन है कि आपके लिए क्या ठीक होगा। अक्सर तो यही होता है कि जो आपके लिए गलत होगा, वही आपको ठीक लगेगा; क्योकि आप गलत हैं, इसलिए गलत आपको आकर्षित करेगा, तत्काल—यह कठिनाई है।

जो आपको आकर्षित करे, जरूरी मत समझ लेना कि वह आपके लिए ठीक ही है, होश-पूर्वक प्रयोग करना पडेगा। सौ मे से निन्यानबे मौको पर तो आपका चुनाव गलत ही होगा, क्योकि आपके आकर्षण अभी गलत होगे। इसीलिये गुरु की जरूरत पडी, ताकि शिष्य गलत चुनाव से बच सके।

कई बार तो बहुत मजे की बात होती है—शिष्य गुरु को जा कर बताते हैं कि उसके लिए क्या उचित है। जाकर कहते हैं कि आप मुझसे करवाइये, यह मेरे लिए उचित है।

···शिष्य अज्ञान में है, इसलिए वह जो भी चुनेगा, वह अनुचित होगा, उचित नही हो सकता। और जो उचित है वह उसे विपरीत मालूम पड़ेगा, वह कहेगा कि यह मुझसे न हो सकेगा। इसलिए गुरु की जरूरत पडी कि वह सोच सके, निदान कर सके, खोज सके कि क्या ठीक होगा—निष्पक्ष दूर खड़ा होकर पहचान सके।

आप खुद ही उलझे हुए हैं, आप पहचान न सकेंगे। आप खुद ही बीमार हैं, तो अपनी बीमारी का निदान करना जरा मुश्किल होगा। क्योंकि मन बीमारी की वजह से बेचैन होता है। मन जल्दी ठीक होने के लिए अधैर्य से भरा होता है। किसी भी तरह बीमारी इसी वक्त समाप्त हो जाये, इसमें मन ज्यादा उत्सुक होता है। बीमारी क्या है, कैसे इसकी शांति से परीक्षा की जाये, इसमे मन उत्सुक नही होता। इसलिए बीमार अपना निदान नही कर पाता।

लेकिन, बिना गुरु के भी चला जा सकता है। तब एक ही रास्ता है—'ट्रायल एण्ड एरर,' (भूल करे और सुधार करे।) जो आपको ठीक लगे, उस पर प्रयोग करे। तय कर ले कि एक वर्ष तक इस पर प्रयोग करता ही रहूँगा। और, फिर इसके परिणाम देखे। वे दुखद हैं, अप्रीतिकर हैं, अहकार को घना करते हैं, तो छोड दे उसे और दूसरा प्रयोग करें।

एक उपाय है—खुद करे और भूल-चूक से गुजरें। दूसरा उपाय है—जो भूल-चूक से गुजरा हो, अनुभव तक पहुँचा हो, उससे पूछें।

दोनो रास्तो की अपनी-अपनी सुविधाएँ हैं, और दोनो के अपने-अपने खतरे है।

अब सूत्र।

'सदा अप्रमादी व सावधान रहते हुए। असत्य को त्याग कर हितकारी सत्य-वचन ही बोलना चाहिये। इस प्रकार का सत्य बोलना सदा बडा कठिन होता है।'

बडी शर्तें महावीर ने सत्य बोलने मे लगाई हैं। 'सत्य बोलना चाहिये'—इतना महावीर कह सकते थे। लेकिन, इतना नही कहा। महावीर पर्त-पर्त चीजो को उघाडने मे अति-कुशल है। इतना कहना काफी था कि सत्य वचन बोलना चाहिये। और अधिक शर्तें जोडने की क्या जरूरत थी! लेकिन, महावीर आदमी को भली भाँति जानते है कि आदमी इतना उपद्रवी है कि 'सत्य बोलना चाहिए'—इसका दुरूपयोग कर सकता है। इसलिए शर्तें लगाई उन्होंने।

'सदा अप्रमाद मे, होश-पूर्वक सत्य बोलना चाहिये।'

असत्य ही बुरा होता है, ऐसा नही—सत्य भी बुरा होता है—बुरे आदमी के हाथ मे। सिर्फ दूसरे को चोट पहुँचाने के लिए, कई बार आप सत्य बोलते

हैं—उससे हिंसा करने मे आसानी होती है। आप अन्धे आदमी को कह देते हैं, 'अन्धा'।—सत्य है बिलकुल। चोर को कह देते हैं, 'चोर', पापी को कह देते हैं, 'पापी'—सत्य है बिलकुल। लेकिन, महावीर कहेंगे : ऐसे बोलना नहीं था।

जब आप किसी को चोर कह रहे है, तो वस्तुत · आप उसकी चोरी की तरफ इंगित करना चाहते हैं या चोर कह कर उसे अपमानित करना चाहते हैं? वस्तुत आपको सत्य बोलने से प्रयोजन है या एक आदमी को अपमानित करने से? वस्तुत जब आप किसी को चोर कहते है, तो क्या आपको पक्का है कि वह चोर है या आपको मजा आ रहा है किसी को चोर कहने मे?

जब भी हम किसी को चोर कहते हैं, तो भीतर लगता है कि हम चोर नही हैं। इसमे जो रस मिल रहा है, वह सत्य बोलने का रस नही है।

इसलिए महावीर कहते हैं—'सदा अप्रमाद मे पहली शर्त लगाते हैं, सदा होश-पूर्वक सत्य बोलना। क्योकि बेहोशी मे बोला गया सत्य, असत्य से भी बदतर हो सकता है। इसलिए सावधान रहते हुए, एक-एक चीज को देखते हुए, सोचते हुए, सावधानी पूर्वक—ऐसे मत बोल देना तत्काल, बोलने के पहले क्षण भर चेतना को सजग कर लेना, रुक जाना, ठहर जाना, सब पहलुओ से देख लेना—ऊपर उठकर अपने से, परिस्थिति से—फिर सत्य बोलना।

सावधानी का अर्थ है क्या होगा परिणाम? क्या है हेतु, जब आप बोल रहे हैं, सत्य? क्यो बोल रहे है? किस परिणाम की इच्छा है? क्योंकि सत्य बोल कर आप किसी को फँसा भी दे सकते हैं। इसलिए आपके भीतर हेतु क्या है, 'मोटिव' क्या है?

महावीर का सारा जोर इस बात पर है कि पाप और पुण्य कृत्य मे नही होते, हेतु मे होते हैं, 'मोटिव' मे होते है— 'एक्ट' मे नही होते।

एक माँ अपने बेटे को चाँटा मार रही है, तो उस चाँटा मारने मे और एक दुश्मन, एक दुश्मन को चाँटा मार रहा है, इस चाँटा मारने मे 'फिजिऑलॉजिकली,' शरीर के अर्थ मे कोई भेद नही है। और, अगर एक वैज्ञानिक मशीन पर दोनों के चाँटे को तौला जाये, तो मशीन बता नही सकेगी कि हेतु क्या था—चाँटे का वजन बता देगी—कितनी जोर से पडा, कितनी चोट पडी, कितनी शक्ति थी चोट मे, कितनी विद्युत् थी—सब बता देगी, लेकिन यह नही बता पायेगी कि हेतु क्या था।

माँ के द्वारा मारा गया चाँटा और दुश्मन के द्वारा मारा गया चाँटा—दोनों, एक से कृत्य हैं, लेकिन एक से हेतु नही हैं।

जरूरी नही है कि माँ का चाँटा, हर बार माँ का ही चाँटा हो। कभी-कभी माँ का चाँटा भी दुश्मन का चाँटा होता है। माँ भी दो बार चाँटा मारे, तो जरूरी नही है कि हेतु एक ही हो। इसलिए माताएँ ऐसा न समझें कि हर वक्त चाँटा मार रही हैं, तो हेतु 'मां' का है। सौ मे निन्यानबे मौके पर हेतु 'दुश्मन' का होता है। माँ भी इसलिए चाँटा नहीं मारती कि लडका शैतानी कर रहा है। माँ भी इसलिए चाँटा मारती है कि लडका 'मेरी' नही मान रहा।

शैतानी बडा सवाल नही है। सवाल 'मेरी आज्ञा' है, सवाल 'मेरा अधिकार' है, सवाल मेरा अहंकार' है।

··· माँ का चाँटा भी सदा माँ का चाँटा नहीं होता। महावीर मानते हैं कि 'मोटिव' क्या है! भीतर क्या है? किस कारण?

इस फर्क को समझ लें।

एक बच्चा शैतानी कर रहा है और माँ ने चाँटा मारा। तो आप कहेंगे, कारण साफ है कि बच्चा शैतानी कर रहा है। लेकिन, यह हेतु नही है—यह कारण है कि बच्चा शैतान है—शैतानी कर रहा है।—हेतु आप के भीतर होगा।

कल भी यह बच्चा इसी वक्त शैतानी कर रहा था, लेकिन आपने कल चाँटा नही मारा था, आज मारा। कल भी परिस्थिति यही थी, परसों भी यह बच्चा शैतानी कर रहा था, लेकिन तब आपने पडोसी से इसकी प्रशसा की थी कि मेरा बच्चा बड़ा शैतान है। कल मारा नही था, सिर्फ देख लिया था, आज मारा है, क्या बात है, कारण तो तीनो में एक है।

···आज आपके भीतर हेतु बदल गया है। कल जब आपने पड़ोसी से कहा कि मेरा बच्चा बडा शैतान है, तब आपके अहकार को तृप्ति मिल रही थी। इस बच्चे की शैतानी आपको रसपूर्ण लगी थी। कल बच्चा शैतानी कर रहा था, आप अपने भीतर खोये थे। आप अपने मे लीन थे। इस बच्चे की शैतानी ने आपको कोई चोट नही पहुँचाई। आज सुबह पति से कलह हो गयी है, क्रोध उबल रहा है, आप अपने भीतर नही जा पाते और यह बच्चा शैतानी कर रहा है, चाँटा पड जाता है।

···यह चाँटा आपके भीतर के क्रोध के हेतु से उपजता है।

यह बच्चे का कारण सिर्फ बहाना है, सिर्फ खूँटी है, कोट (क्रोध) आपके भीतर से आकर टँगता है। तो महावीर कहते हैं· 'सावधानी पूर्वक'—इसका अर्थ है हेतु को देखते हुए।

'सावधान रहते हुए असत्य को त्याग कर हितकारी सत्य-वचन बोलना ही चाहिए।'

सावधान रहें और जो भी असत्य मालूम पडे, उसे त्याग दें—कोई भी मूल्य हो। साधक के लिए एक ही मूल्य है—उसकी आत्मा का निर्माण, सृजन। महावीर और कोई मूल्य नही मानते। कोई भी कीमत हो, अप्रमाद से, सावधानी पूर्वक, हेतु की परीक्षा करके—जो भी असत्य है, उसे तत्काल छोड दें।

यह 'निगेटिव,' नकारात्मक बात हुई—असत्य को छोड दें। और, उसके बाद वे कहते हैं 'हितकारी सत्य वचन ही बोलें।' अभी, सत्य वचन में फिर एक शर्त है। वह यह कि वह दूसरे के हित मे हो।

आप के भीतर कोई हेतु न हो बुरा, यह भी काफी नही है। महावीर कहते हैं जो दूसरे का अहित करे, वैसा सत्य भी नही। बडी शर्तें हो गयी! असत्य का त्याग सीधी बात न रही! 'असत्य का त्याग'—असावधानी का त्याग हो गया, प्रमाद का त्याग हो गया, और साथ ही दूसरे के अहित का भी त्याग हो गया।

·· 'वही बोलें, जो दूसरे के हित मे हो'—तब तो आप मौन हो जायेंगे! बोलने को कुछ बचेगा ही नही! महावीर बारह वर्ष तक मौन रहे, इस साधना मे। हम कहेंगे कि हद हो गयी! अगर सत्य भी बोलना है, तो भी बोलने को बहुत बातें हैं। आप गलती मे हैं। अगर महावीर जैसी निकस्, कसौटी आपके पास हो, तो मौन हो ही जाना पडेगा।

असत्य बहुत प्रकार के हैं। ऐसे असत्य है, जिनको आप सत्य माने हुए बैठे हैं—जो सत्य हैं नही। और आपको पता ही नही चलता कि ये असत्य हैं।

आप कहते हैं कि ईश्वर है। आपको पता है? महावीर नही बोलेंगे। वे कहेंगे—मुझे पता नहीं है, मेरे लिए असत्य है। असत्य, इसलिए नही है कि ईश्वर नही है, असत्य इसलिए कि बिना जाने इसे मानना असत्य है। लेकिन जिस समाज मे आप पैदा हुए हैं, वह मानता है कि ईश्वर है, इसलिए आप भी मानते हैं कि ईश्वर है। आपने फिर कभी लौट कर सोचा ही नही कि है भी!

जब मैं मन्दिर के सामने हाथ जोड़ कर खडा हूँ, तो यह हाथ जोड़ना तब तक असत्य है, जब तक मुझे ईश्वर का कोई पता नही है। महावीर मन्दिर के सामने हाथ नही जोडेंगे।

फिर महावीर कहते हैं कि सामूहिक असत्य हैं—'कलेक्टिव अनट्रुथ्स'। जब पूरा समूह बोलता है, तो आपको पता ही नही चलता। बल्कि पता ही तब चलता है, जब समूह मे कोई बगावती पैदा हो जाता है। जब वह पूछता है—कहाँ है ईश्वर ? तब आपको क्रोध आता है। अगर आपके पास सत्य है, तो उसे दिखा देना चाहिये। क्रोध का कोई कारण नही है ! लेकिन, जब कोई पूछता है कि कहाँ है ईश्वर, तब आप दिखाने को उत्सुक नही होते, उसको मारने को उत्सुक होते हैं।

क्रोध सदा असत्य से पैदा होता है—सत्य से पैदा नहीं होता। अगर ईश्वर है, तो दिखा दो, इस गरीब ने कुछ गलत नही पूछा है, एक जिज्ञासा थी इसकी। लेकिन, नास्तिक को हम सदा मारने को उत्सुक होते हैं। इसका मतलब है कि हमारी आस्तिकता झूठी है—'होकस-फोकस'। उसमे कुछ जान नही है। ऊपरी ढाँचा है। जरा सा कोई खँरोच देता है, तो भीतर खलबली मच जाती है।

आप मानते हैं कि आपके भीतर आत्मा है। क्या आपको पता है ? कभी मुलाकात हुई आत्मा से। छोडो ईश्वर ! ईश्वर बडा दूर है। भीतर आत्मा बिलकुल पास है। कहते है कि हृदय से भी करीब है। मुहम्मद कहते हैं कि गले की फडकती नस से भी करीब है ! आत्मा का आपको पता है ? कि यह भी किताब मे पढा है। बडा मजेदार है।

रामकृष्ण के पास एक दिन एक आदमी आया। रामकृष्ण ने कहा कि सुना है पडोस मे तुम्हारा मकान गिर गया है। उसने कहा . 'मैंने सुबह का अखबार अभी देखा नही ! जाकर देखता हूँ।'

मकान गिरे, तो भी अखबार मे पता चलता है ! मगर यह भी ठीक है, क्योकि पडोस कोई छोटी बात नही, बडी बात है—नही पता चला होगा। लेकिन, आपको अपनी आत्मा का पता भी अखबार में पढने से चलता है कि 'है,' कि 'नही है।'

अखबार मे एक लेख निकल जाये कि आत्मा नही है, तो आपको भी शक आ जाता है कि किताब मे पढ लें कि आत्मा है, तो आपको भरोसा आ जाता है। लोग पूछते फिरते हैं कि आत्मा है ? बडे मजे की बात है ! और सब चीजे पूछी जा सकती हैं, दूसरे से। क्या यह भी दूसरे से पूछने की बात है कि "मैं हूँ !'—कोई मुझे बता दे कि 'मैं हूँ।'

महावीर कहते हैं यह भी असत्य है। मत कहो कि 'मैं हूँ,' जब तक तुम्हें पता न चल जाये। मत कहो कि भीतर आत्मा है, जब तक तुम्हें पता न चल जाये। कौन जाने सिर्फ हड्डी मांस का जोड हो ! कौन जाने यह बोलना और चलना सिर्फ 'बाइ-प्रोडक्ट' हो—जैसा कि चार्वाक ने कहा है।

पान मे हम पाँच चीजें मिला लेते हैं, फिर होठो पर लाली आ जाती है। यह लाली 'बाइ-प्रोडक्ट' है। क्योकि पाँच चीजो को अलग-अलग मुंह मे ले जायें, तो लाली नही आती। पाँचो को मिला दे, तो पाचो के मिलने से लाली पैदा हो जाती है। लेकिन लाली कोई अलग चीज नही है। पाँचो का दान है। पाँचो को अलग कर लें, तो लाली खो जाती है। पाँचों को आप अलग करके यह नही कह सकते कि लाली अब कही है।

चार्वाक ने कहा है कि यह शरीर भी सिर्फ पाँच तत्त्वो का जोड है। इसमे जो आत्मा दिखायी पडती है, वह 'बाइ-प्रोडक्ट' है, (उप-उत्पत्ति है।) वह कोई तत्त्व नही है। तत्त्व तो पाँच हैं, उनके जोड से, उनके सयोग से आत्मा दिखाई पडती है। पाँचो तत्त्वो को अलग कर ले, तो आत्मा बचती ही नही, खो जाती है, समाप्त हो जाती है।

तो, महावीर कहते हैं कौन जाने चार्वाक सही हो। झूठ मत बोलो कि मैं आत्मा हूँ, कि मैं अमर हूँ। मत कहे कि पुनर्जन्म है, जब तक जान न लें। मत कहे कि पुण्य का फल सदा ठीक होता है। मत कहे कि पाप सदा दुख मे ले जाता है, जब तक जान न लें।

··· सामूहिक असत्य हैं। फिर, रोजमर्रा के काम चलाऊ असत्य भी हैं, जिनको कभी हम सोचते नही कि असत्य हैं।

रास्ते मे एक आदमी आपसे पूछता है—कैसे हैं ? आप कहते हैं, 'बडे मजे मे हूँ।' कभी नही सोचते कि क्या कहा !

'··बडे मजे में हूँ !'—एक दफा फिर से सोचें—'बडे मजे मे हूँ ?'

कही कोई भीतर समर्थन न मिलेगा। लेकिन, जब कोई पूछता है रास्ते पर कि कैसे है, तो आप कहते है कि बड़े मजे मे हूँ ! और जब कहते हैं कि बडे मजे मे हूँ, तो पैर की चाल बदल जाती है। टाई वगैरह ठीक करके चलने लगते हैं। ऐसा लगने भी लगता है कि बडे मजे मे हूँ।

चार लोग पूछ लें, तो दिल खुश हो जाता है। कोई न पूछे, तो दिल उदास हो जाता है। जब कोई आदमी कहता है—'हेलो'···तो भीतर गुदगुदी

हो जाती है। लगता भी है उस क्षण में कि जिन्दगी बड़े मजे में जा रही है।

ये कामचलाऊ असत्य हैं, ये उपयोगी हैं। एक दूसरे को हम ऐसे ही सहारा देते रहते हैं।

महावीर कहते है—कामचलाऊ असत्य भी नही। कुछ भी हम बोलते रहते है!

फिर आदतन असत्य भी हैं—कोई कारण नही होता, कोई हेतु नही होता—हम आदतन बोलते रहते हैं।

मेरे एक प्रोफेसर थे। किसी भी किताब का नाम लो, वे सदा कहते, 'हाँ मैंने पढी थी—पद्रह-बीस साल हो गये'—यह आदतन था; क्योकि 'पद्रह-बीस साल', सदा वे कहते थे। सारी किताबे उन्होने पद्रह-बीस साल पहले नही पढी होगी। कोई साल पहले पढी होगी, कोई दस साल पहले पढी होगी, कोई पचास साल पहले पढी होगी।

बूढे आदमी थे। लेकिन वे सदा कहते—पद्रह-बीस साल पहले मैंने यह किताब पढी थी। यह उनका तकिया कलाम था।

मैंने उनके समक्ष ऐसी-ऐसी किताबो के नाम लिये, जो कि हैं ही नही; पर वे उनके लिए भी कहते 'हाँ मैंने पढी थी—पद्रह-बीस साल पहले।' तब मुझे पता चला कि वे झूठ नही बोलते, आदतन झूठ बोलते हैं। उनकी आँख से भी पता नही चलता था कि वे झूठ बोल रहे है। और झूठ बोलने का कोई कारण भी नही था। कोई उन किताबो को पढा हो, न पढा हो, इससे उनकी प्रतिष्ठा मे कोई फर्क नही पड़ता था। वे काफी प्रतिष्ठित थे।

एक दिन मैंने उनको जाकर कहा कि यह किताब तो है ही नही, जिसको आपने पन्द्रह-बीस साल पहले पढा—न तो यह कोई लेखक है, न यह कोई किताब है, तो उन्हे होश आया। उन्होने कहा 'यह मेरी आदत हो गई है।'

यह आदत क्यों हो गई? इस आदत के पीछे कही गहरा कोई हेतु है! 'ऐसी कोई किताब हो कैसे सकती है—यह नीचे बहुत गहरा दब गया। बरसो पहले—लेकिन, अब यह आदतन है।

आप बहुत सी बातों को आदतन बोल रहे हैं—जो असत्य हैं।

फिर ऐसे सत्य हैं, जो अनिश्चित भी हैं।

जब आप कह देते हैं कि फला आदमी पापी है, तो आप गलत बात कह देते हैं। क्योंकि आपको खबर है, वह पुरानी पड़ चुकी है। सम्भव है पापी

इस बीच पुण्यात्मा हो गया हो ! कोई भी पापी, कोई ठहरी हुई बात नही है जो आज सुबह पापी था, वह साँझ साधु हो सकता है। और जो आज सुबह परम-साधु था, वह साँझ पापी हो सकता है।

जिन्दगी तरल है और शब्द ठोस होते हैं। आप कहते हैं फला आदमी पापी है, महावीर नही कहेगे। वे कहेगे आदमी एक प्रवाह है। महावीर कहेगे, 'स्यात्', शायद पापी हो, शायद पुण्यात्मा हो।

फिर जो आदमी पापी है, वह पाप करने में भी पूरा पापी नही होता। उसके पाप मे भी पुण्य का हिस्सा हो सकता है। और जो आदमी पुण्य कर रहा है, उसके पुण्य मे भी पाप का हिस्सा हो सकता है।

आदमी बडी घटना है, कृत्य बडी छोटी बात है। चोर भी आपस मे सत्य बोलते हैं और ईमानदार होते हैं। और जिनको हम साधु बोलते है, उनसे ज्यादा सत्य बोलते हैं। आपस मे और ज्यादा ईमानदार होते हैं। दस साधुओं को पास बिठाना मुश्किल है, लेकिन दस चोर गले मिल जाते हैं। दस साधुओं को इकट्ठा करना मुश्किल है। उनमे इस पर झगडा हो जाता है कि कौन कहाँ बैठे। कौन नीचे बैठे और कौन ऊपर बैठे। किसी चोर मे कभी झगडा नही हुआ, इस बात पर।

साधु के भीतर भी चोर छिपा है और चोर के भीतर भी साधु छिपा है। चोर की चोरी बाहर है, पीछे साधु छिपा है। चोरी जब करनी हो तो वचन मानना पडता है, नियम मानने पडते हैं, सचाई रखनी पडती है, ईमानदारी रखनी पडती है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन पर चोरी का एक मुकदमा चला। वह सात बार एक रात एक ही दुकान मे घुसा और सातवी बार पकड लिया गया। मेजिस्ट्रेट ने उससे पूछा कि नसरुद्दीन, चोरी भी हमने बहुत देखी, मुकदमे भी बहुत देखे, लेकिन एक ही रात मे सात बार घुसना—एक ही दुकान मे—मामला क्या है ! अगर ज्यादा ही सामान ढोना था, तो सगी-साथी क्यो नही कर लिया—अकेले ही सात दफा !

नसरुद्दीन ने कहा, 'बड़ा मुश्किल है। लोग इतने बेईमान हो गये हैं कि किसी को सगी-साथी बनाना चोरी तक मे मुश्किल हो गया है। और दुकान थी कपडे की, जो भी चुराकर ले गया, पत्नी ने ना-पसन्द कर दिया। रात भर कपड़े ढोता रहा—उसमे फँसा।'

नसरुद्दीन कहता है और लोग इतने बेईमान हो गये हैं कि अकेले ही चोरी करनी पड़ती है, किसी का भरोसा नहीं किया जा सकता—चोरी तक में। साधुओं में तो कभी भरोसा आपस में रहा नही, लेकिन चोरो मे सदा रहा है।

चोर कभी चोर को धोखा नही देता। चोरी का भी कोड है। जैसे हिन्दू-कोड है, वैसे चोरो का कोड है। उनका अपना नियम है, वे कभी धोखा नही देते।

महावीर कहते हैं जब हम किसी को चोर कहते हैं, तो पूरा ही चोर कह देते हैं, जो कि गलत है। जब हम किसी को साधु कहते हैं, तो पूरा ही साधु कह देते हैं, जो कि गलत है। जीवन मिश्रण है। सभी चीजें मिली-जुली हैं। पूर्ण सत्य बोलना बडा मुश्किल है, फिर क्या बोलियेगा !

एक आदमी कहता है · सुबह सूरज निकला है, बडा सुन्दर है। मुश्किल है कहना कि यह पूर्ण सत्य है। क्योकि प्रत्येक कहा गया सत्य निजी सत्य है, और हो सकता है कि एक का निजी सत्य, दूसरे का निजी सत्य न हो। जिसका बच्चा आज सुबह मर गया है, सूरज आज उसे सुन्दर नही मालूम पडेगा। तो 'सूरज सुन्दर है'—यह निजी सत्य है। यह 'एब्सोल्यूट' सत्य नही है। जिसका बच्चा मर गया है, वह रो रहा है। वह चाहता है कि अब कभी सूरज उगे ही न—अब दिन कभी हो ही न, अब अँधेरा ही छा जाये, अब रात ही हो जाये। अब सूरज उसे दुश्मन की तरह मालूम होगा, जब सुबह उगेगा। अब वह सुन्दर नही हो सकता।

सूरज कब सुन्दर होता है ? जब आपके भीतर सूरज को सुन्दर बनाने की कोई घटना घटती है। सूरज असुन्दर हो जाता है, जब आपके भीतर सूरज को अँधेरा करने की कोई घटना घट जाती है।

आप अपने को ही फैला कर जगत् मे देखते रहते हैं। तो, जो आप देखते हैं, वह निजी सत्य है—'प्राइवेट ट्रुथ।' और सत्य कभी निजी नही होता। असत्य निजी होते हैं। सत्य तो सार्वजनीय 'युनिवर्सल' होता है, सार्वभौम होता है।

इसलिए महावीर कहेगे शायद सूरज सुन्दर है, कभी भी ऐसा नही कहेगे कि सूरज सुन्दर है। कहेंगे—'शायद,' 'परहैप्स'। महावीर एक वचन मे कभी भी ऐसा नहीं कहेंगे कि 'ऐसा है'। वे ऐसा कहेगे कि 'हो सकता है'। वे ये भी कहेंगे कि इसके 'विपरीत भी हो सकता है।'

वह सूरज हजारों-लाखों ने देखा है। कोई दुखी होगा, तो सूरज उसे असुन्दर होगा। कोई सुखी होगा, तो सूरज उसे सुन्दर होगा। कोई चिन्तित होगा, तो सूरज उसे दिखाई ही नही पडेगा। कोई कविता से भरा होगा, तो सूरज उसे पूरा जीवन और आत्मा बन जायेगा। कुछ कहा नही जा सकता, क्योकि यह निजी सत्य है।

महावीर बारह वर्ष तक चुप रहे, क्योकि सत्य बोलना बहुत कठिन है। इसलिए महावीर कहते है 'इस प्रकार का सत्य बोलना सदा बडा कठिन है।' ऐसा सत्य जो बोलना चाहता हो, उसे लम्बे मौन से गुजरना पडेगा, गहरे परिश्रम से गुजरना पडेगा।

अगर जैन यह कहते हैं कि महावीर जैसी वाणी कभी नही बोली गई, तो इसका कारण है महावीर जैसा मौन भी कभी नही साधा गया। इसलिए महावीर जैसी वाणी भी फिर नहीं बोली गई। इतने मौन से, इतने परिक्षण से, इतनी कठिनाइयो से, इतनी कसौटियो से गुजर कर जो आदमी बोलने को राजी हुआ, तो उसने जो बोला है, वह बहुत गहरा और मूल्य का होगा ही।

'श्रेष्ठ साधु पापमय, निश्चयात्मक और दूसरो को दुख देनेवाली वाणी न बोले।'

श्रेष्ठ साधु पापमय, निश्चयात्मक, 'सेटॅल' बात न बोले। ऐसा न कहे कि वह आदमी चोर है। इतना निश्चयात्मक होना असत्य की तरफ ले जाता है।

यह बडी अद्भुत बात है। यह थोडा सोच लेने जैसी बात है। हम तो कहेगे कि सत्य निश्चित होता है। लेकिन, महावीर कहते हैं—सत्य इतना बड़ा है कि हमारे किसी निश्चित वाक्य मे समाहित नही होता। जब हम कहते हैं फलाँ आदमी पैदा हुआ, तब यह अधूरा सत्य है क्योकि जैसे ही पैदा हुआ, वैसे ही उस आदमी ने मरना शुरू कर दिया।

सन्त अगस्तीन ने एक सस्मरण लिखा है. उसका बाप मर रहा है, मरण-शैय्या पर पडा है और डाक्टर इलाज कर रहे हैं। आखिर इलाज काम नहीं आया···।

एक दिन तो ऐसा आता है कि डॉक्टर काम नही पडता। कभी न कभी डॉक्टर हारता है और मौत जीतती है। डॉक्टर बीच-बीच मे कितना ही जीतता रहे, आखिर मे तो हारेगा ही। इस लडाई मे अतिम जीत डॉक्टर के हाथ मे नही है, सदा मौत के हाथ मे है।

मामला ऐसा है, जैसे एक बिल्ली को आपने चूहा दे दिया, तो वह उससे खेल रही है। कभी छोड देती है, क्योंकि छोड़ देने मे मजा आता है। फिर पकड़ लेती है, फिर छोड देती है। चूहा दौडता है, भागता है, लेकिन बिल्ली निश्चित होती है, क्योकि अन्त में वह पकड ही लेगी। यह सिर्फ खेल है।

मौत भी आदमी के साथ ऐसे ही खेलती है। कभी छोड देती है, तो डॉक्टर बडा प्रसन्न होता है, मरीज भी बडा प्रसन्न होता है और मौत भी बडी प्रसन्न होती है, एक खेल चलता है। पर मौत की जीत निश्चित ही है। इस खेल मे कोई अडचन नही है। कभी चूहा बिल्ली से चूक भी जाये, मौत से आदमी नही चूकता।

'''गाँव के सारे डॉक्टर इकट्ठे हुए और उन्होने कहा . 'नाउ वी आर हेल्पलेस। नाउ नथिंग कैन बी डन। नाउ धिस मैन कैन नॉट रिकव्हर। (अब कुछ हो नही सकता है, अब यह आदमी मरेगा ही।) नाउ धिस मैन कैन नॉट रिकव्हर।'

सन्त अगस्तीन ने अपने संस्मरणो मे लिखा है कि उस दिन मुझे पता चला कि जो बात डॉक्टर मरते वक्त कहते हैं, वह तो जब बच्चा पैदा होता है, तभी कह देनी चाहिए—'नाउ धिस चाइल्ड कैन नॉट रिकव्हर।' (यह जो बच्चा पैदा हो गया है, अब नही बच सकता।) पैदा होने के बाद क्या मौत से बच सकते है! फिजूल इतने दिन रुकते है, कहने के लिए कि 'नाउ धिस मैन कैन नॉट रिकव्हर'। पैदा हुआ बच्चा, उसी दिन यह कह देना चाहिये।

महावीर कहते है, 'निश्चयात्मक मत होना—अगर सत्य होना हो, तो।' सत्य होने का मतलब ही यह है कि जीवन है। अनन्त पहलुओ वाला और जब भी हम बोलते हैं, तो एक पहलू ही जाहिर होता है। अगर हम उस पहलू को इतने निश्चय से बोलते हैं कि ऐसा मालूम होने लगे कि यही पूर्ण-सत्य है, तो वह असत्य हो गया।

इसलिए महावीर ने सप्त-भगी निर्मित की (बोलने का सात अगों वाला ढग)। महावीर से आप एक सवाल पूछें, तो वे आपके सवाल के सात जवाब देते थे। और ऐसे जवाब कि सुनते-सुनते आपकी बुद्धि चकरा जाये और फिर भी आपको एक भी जवाब समझ मे न आये।

जैसे आपने पूछा कि यह आदमी जिन्दा है कि मर गया है। तो महावीर को यह साफ कहना चाहिए कि हाँ मर गया या कहना चाहिए नहीं, अभी

जिन्दा है। इसमे सात का क्या सवाल है। लेकिन, महावीर जवाब देते हैं: शायद मर गया। शायद जिन्दा है। शायद दोनों हैं। शायद दोनों नही हैं। ऐसा वे सात भगियों मे उत्तर देते हैं और आपको कुछ भी समझ मे नहीं पड़ता। लेकिन महावीर ने सत्य बोलने की अथक चेष्टा की है। ऐसी चेष्टा किसी आदमी ने पृथ्वी पर कभी नही की।

सत्य बोलने की चेष्टा अति जटिल मामला है। जब कहते हैं आप कि एक आदमी मर गया, तो जरूरी नही है कि वह मर गया हो। क्योंकि अभी उसकी छाती पर 'मसाज' (मालिश) की जा सकती है, अभी उसे 'ऑक्सीजन' दी जा सकती है, अभी खून दौड़ाया जा सकता है और यह हो सकता है आदमी जिन्दा हो जाये। तो, आपका यह कहना कि यह मर गया है, गलत है।

रूस में, पिछले महायुद्ध मे कोई बीस लोगो पर प्रयोग किये गये, उनमे से छ जिन्दा हो गये। वे अभी भी जिन्दा हैं। डॉक्टर ने लिख दिया था कि वे मर गये है।

मृत्यु भी कई हिस्सो मे घटित होती है, शरीर मे। मृत्यु कोई इकहरी घटना नही है। जब आप मरते हैं, तो पहले आप के जो बहुत जरूरी हिस्से हैं, वे टूटते हैं। शरीर से जुडे वे ऊपरी हिस्से टूट जाते हैं, जो आपको परिधि पर सँभाले हुए हैं। लेकिन इतने से आप मर नही जाते, अभी आप जिलाये जा सकते हैं। अभी अगर हृदय दूसरा लगाया जा सके, तो आप फिर जी उठेंगे। धड़कन फिर शुरू हो जायेगी। लेकिन यह हो जाना चाहिये छ सेकण्ड के भीतर। अगर छ सेकण्ड पार हो गये, तो जो लोग हृदय के बन्द हो जाने से मरते हैं, 'हार्ट-फेल' से मरते है, छ सेकेण्ड के भीतर उनमे से बहुत से लोग पुन जीवित हो सकते हैं।

इस सदी के अन्त तक, छ सेकण्ड के भीतर हृदय बदल दिया जाये, उपाय हो सकेगा। इसका इक ही उपाय वैज्ञानिक सोचते हैं (जो कि जल्दी कारगर हो जायेगा) कि एक 'एक्स्ट्रा', 'स्पेअर' (अतिरिक्त) हृदय पहले से लगा रखना चाहिए और यह 'आटोमैटिक चेन्ज' (स्व-नियंत्रित परिवर्तन) होना चाहिये। जैसे ही पहला हृदय बन्द हो दूसरा धड़कना शुरू हो जाना चाहिये, तो ही यह छ सेकण्ड के भीतर हो पायेगा।

अगर छः सेकण्ड से ज्यादा हो जायें, तो मस्तिष्क के गहरे तन्तु टूट जाते हैं, फिर उनको स्थापित करना मुश्किल होता है। और एक दफे तन्तु टूट

जायें, तो फिर हृदय भी नही धड़क सकता, क्योंकि वह भी मस्तिष्क की आज्ञा से ही धडकता है—चाहे आपको आज्ञा का पता हो या न हो।

अगर कोई आदमी पूरे मन से भाव कर ले मरने का, तो इसी वक्त मर सकता है। या कोई जीवन की बिलकुल आशा छोड़ दे, इसी वक्त—मस्तिष्क अगर आशा छोड दे पूरी, तो हृदय धड़कना बन्द कर देगा, क्योंकि आज्ञा मिलनी बन्द हो जायेगी। इसलिए आशावान लोग ज्यादा जी लेते हैं और निराश लोग जल्दी मर जाते हैं।

ध्यान रखना, दुनिया में सहज मृत्यु बहुत कम होती है, स्वाभाविक मृत्यु बडी मुश्किल घटना है। अधिक लोग आत्महत्या से मरते हैं। जब कोई छूरा मारता है, तो हमें दिखाई पडता है। जब कोई भीतर की निराशा से मरता है, तो हमे दिखाई नही पडता। जब कोई जहर पी लेता है, तो हमे दिखाई पडता है कि उसने आत्मघात कर लिया लेकिन आप भी आत्मघात से ही मरेंगे, पर वह दिखाई नही पडता। सौ मे निन्यानबे मौके पर आदमी आत्मघात से ही मरता है।

पशु मरते हैं, स्वाभाविक मृत्यु—आदमी नही मरते। मर नही सकता आदमी, क्योंकि उसके जीवन पर पूरे वक्त प्रभाव डाल रहा है—आशा-निराशा, जीना नही जीना—यह सब भीतर से प्रभावित कर रहा है। और जिस दिन मन पूरा राजी हो जाता है कि जीना नही, उसी दिन हृदय की धडकन बन्द हो जाती है।

अगर मस्तिष्क के तन्तु टूट गये, तो फिर मुश्किल है। अभी मुश्किल है, पर सौ, दो सौ साल मे मुश्किल नही होगा। क्योंकि मस्तिष्क तन्तु भी किसी न किसी दिन 'रिप्लेस' किये जा सकेंगे। कोई अडचन नही है कि तब आदमी जिन्दा हो जाये।

तो कब कहे कि आदमी मरा हुआ है?

जब तक शरीर और आत्मा का सम्बन्ध नहीं टूट जाता, तब तक आदमी मरा हुआ नही है। और यह सम्बन्ध कब टूटता है, अभी तक तय नहीं हुआ। कही टूटता है, लेकिन कब टूटता है, अभी तक तय नही हुआ। किसी गहरे क्षण मे जा कर टूट जाता है, फिर कुछ भी नही किया जा सकता। फिर मस्तिष्क बदल डालो, हृदय बदल डालो, सारा खून बदल डालो, पूरा शरीर बदल डालो, तो भी वह लाश ही होगी।

जब शरीर और आत्मा का सम्बन्ध टूट जाये, तब हमे कहना चाहिए कि आदमी मर गया। लेकिन तब भी यह बात अधूरी है, क्योकि मरता कोई भी नही। शरीर सदा से मरा हुआ था, वह अब भी मरा हुआ है। और आत्मा सदा से अमर थी, वह अब भी अमर है। मरा कोई भी नही, तो कैसे हम कहें कि आदमी मर गया!

यह मैंने एक उदाहरण के लिए कहा।

महावीर कहेगे—'स्यात्'। निश्चयात्मक कुछ मत बोलना, 'एब्सोल्यूटिस्टिक' कुछ मत बोलना।

इसलिए महावीर शकर को पसन्द न पडे, बुद्ध को भी पसन्द न पडे, हिन्दुस्तान मे बहुत कम विचारको को पसन्द पडे। क्योकि विचारक का यह मजा होता है कि कुछ निश्चित बात का पता चल जाये, नही तो उसका मजा ही खो जाता है।

शकर कहते हैं—'ब्रह्म है'। महावीर कहेगे—'स्यात्'। शकर कहेगे—'माया है'। महावीर कहेगे—'स्यात्'।

चार्वाक कहता है—'आत्मा नही है'। महावीर कहते है—'स्यात्'। यदि कोई कहे कि 'ईश्वर नही है',—तो महावीर उससे भी कहेगे–'स्यात्'। वे कहते यह है कि हम जो भी बोल सकते हैं, जो भी कहा जा सकता है, वह सदा ही अश होगा। और उस अश को पूर्ण मान लेना, असत्य है।

इसलिए महावीर कहते है। सभी दृष्टियाँ असत्य होती है, सभी देखने के ढग अधूरे होते हैं, इसलिए असत्य होते है। और पूर्ण को देखने का कोई ढग नही है, क्योकि सभी ढग अधूरे होते है।

मै आपको कही से भी देखूं, वह अधूरा होगा। कैसे भी देखूं, वह अधूरा होगा। पूर्ण को तो वही देख सकता है, जो सब दृष्टियों से मुक्त हो गया हो।

महावीर के दर्शन का, सम्यक् दर्शन का अर्थ है—सब दृष्टियों से मुक्त हो जाना। एक ऐसी स्थिति मे पहुँच जाना, जहाँ कोई दृष्टि शेष नहीं रह जाती, देखने का कोई ढग शेष नही रह जाता। तब आदमी पूर्ण-सत्य को जानता है। लेकिन सिर्फ जान सकता है, और जब कहेगा तो फिर दृष्टि का उपयोग करना पडेगा, तब वह फिर अधूरा हो जायेगा। इसलिए महावीर की यह बात समझ लेने जैसी है।

सत्य पूरा जाना जा सकता है, लेकिन कहा कभी नही जा सकता। जब भी सत्य कहा जायेगा, वह असत्य हो ही जायेगा। इसलिए सावधानी बरतना और निश्चयात्मक रूप से कुछ भी मत कहना।

हम तो असत्य को भी इतने निश्चय से कहते हैं कि जिसका हिसाब नही। और महावीर कहते हैं कि सत्य को भी निश्चय से मत कहना। हम तो असत्य को भी बिलकुल दावे की तरह कहते हैं। सच तो यह है कि जितना बडा असत्य होता है, उतना जोर से हम 'टेबल' पीटते हैं, क्योकि सहारा लेना पडता है। जितना असत्य बोलना हो, उतना जोर से बोलना चाहिए। धीमे बोलो, तो लोग समझेंगे कि कुछ गडबड है। इसलिए जोर से बोलो, टेबल को पीट कर बोलो, तो···!

सागर युनिवर्सिटी के 'वाइस चान्सलर' (उप कुलपति) थे डॉ. गौड। वे बडे वकील थे। उन्होने मुझसे कहा कि मेरे गुरु ने मुझे कहा था कि जब तुम्हारे पास कानूनी प्रमाण हो, तो अदालत मे धीरे बोलने से भी चल जायेगा। जब तुम्हारे पास प्रमाण हो कानूनी, तो किताबे ले जाने की और कानूनों का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नही है। पर जब तुम्हारे पास कानूनी प्रमाण न हो, तो अदालत मे बडे-बडे ग्रन्थ लेकर पहुँचना। और जब तुम्हें पक्का हो कि इसके विपरीत प्रमाण हैं, तब टेबल को जितने जोर से पीट सको जज के सामने, पीटना।

जितना बडा असत्य हो, उतने निश्चय से बोलना पडता है, अन्यथा आपके असत्य को कोई मानेगा कैसे? इसलिए असत्य बोलने के लिए भोली शक्ल हो, निश्चय वाला मन हो, आवाज तेज हो, तो कुशल हो सकते हैं, अन्यथा मुश्किल मे पडेगे। साधु होने के लिए उतनी भोली-शक्ल आवश्यक नही है, जितनी अपराधी होने के लिए। इसलिए भोली-शक्ल के साधु खोजना अक्सर मुश्किल है, लेकिन भोली-शक्ल के अपराधी निरन्तर मिल जायेंगे, क्योकि अपराध के लिए भोली-शक्ल बहुत जरूरी है—झूठ बोलने के लिए और तरह के प्रमाण चाहिये।

महावीर कहते हैं कि सत्य को भी निश्चय से मत बोलना। इसलिए महावीर का बहुत प्रभाव नही पडा। हैरानी की बात है कि महावीर जैसी ज्वलत-प्रतिमा के व्यक्ति का प्रभाव न के बराबर पडा। जीसस को मानने वाली आधी दुनिया है। बुद्ध को मानने वालो मे करोडों-करोडों लोग हैं। मोहम्मद को मानने वाले करोडो-करोडो लोग हैं। महावीर को मानने वाले कितने लोग हैं? कोई भी नही। वह जो पच्चीस लाख लोग दिखाई पडते हैं, इनको मानते हुए, वह भी मजबूरन हैं। कोई मानने वाला नही है।

महावीर को मानना कठिन है; क्योकि मानने पर आदमी गुरु के पास जाता है इसलिये, कि हम अनिश्चित हैं, आप निश्चय से कुछ कहें, तो भरोसा मिले। और महावीर निश्चय से कुछ बोलते नही। वे कहते हैं, एक ही बात निश्चित है कि निश्चित रूप से सत्य बोला नही जा सकता।

जो आदमी आश्वासन खोजने आया है, (और सभी लोग आश्वासन खोजने आते हैं, गुरु के पास) वह ऐसे गुरु का कैसे जान पायेगा ? महावीर को मानने के लिए तो बडी गहन-जिज्ञासा चाहिये, बडी गहन-जिज्ञासा—आश्वासन की तलाश नही, सान्त्वना नही—खोज।

बहुत थोडे से लोग महावीर को मान पाये। ज्यादा लोग कभी भी मान सकेंगे, इसमे शक मालूम पडता है। लेकिन किसी न किसी दिन जैसे-जैसे मनुष्य का मन विस्तीर्ण होगा और सत्य के अनन्त पहलू हमे दिखाई पडने शुरू होगे, वैसे-वैसे निश्चय का जोर गिर जायेगा।

निश्चय कमजोरी है। अनिश्चय बडी प्रज्ञा है।

आइन्स्टीन अनिश्चित है, विज्ञान के जगत् मे। महावीर अनिश्चित हैं, दर्शन के जगत् मे। यह दो शिखर हैं, अद्‌भुत्। महावीर ने दर्शन को जितना दिया, उतना ही आइन्स्टीन ने विज्ञान को दिया। महावीर ने स्यात्‌वाद दी और आइन्स्टीन ने 'रिलेटिविटि'। पर दोनो अनिश्चित हैं।

आइन्स्टीन कहता है कोई भी सत्य निरपेक्ष नही है, सापेक्ष है, किसी की तुलना मे है—सीधा पूर्ण-सत्य कुछ भी नही है।

विज्ञान को हम बहुत निश्चित बात सोचते थे लेकिन नया-विज्ञान एकदम अनिश्चित होता चला जाता है। मेरी अपनी समझ यह है कि जहाँ भी सत्य के निकट पहुँचता है मनुष्य, वही अनिश्चित हो जाता है।

जब हम दर्शन मे सत्य के निकट पहुँचे, तो महावीर के साथ अनिश्चिय हो गया—'स्यात्,' 'रिलेटिव,' निरपेक्ष नही सापेक्ष। कहो, लेकिन यह जानकर कि जो कहा जा रहा है, वह अधूरा है, अश है, पूरा नही है, इसके विपरीत भी सही हो सकता है।

विज्ञान में आइन्स्टीन के साथ हम फिर दूसरी दिशा से सत्य के निकट पहुँचे। सब अनिश्चित हो गया। आइन्स्टीन ने कहा कि कहो, लेकिन ध्यान रखना कि सब तुलनात्मक है। कोई चीज पूर्ण नही है। सब अधूरा है।

अनिश्चित ज्ञान का अनिवार्य अग है। वक्तव्य तो अनिश्चित ही होंगे, अनुभव निश्चित हो सकता है।

सत्य के लिए इतनी कठिन शर्तें—'क्रोध, लोभ, भय, हँसी-मजाक मे भी असत्य नही बोलना चाहिये।'

हँसी-मजाक मे भी हम ऐसे ही नही बोलते असत्य, उसमे भी हेतु होता है। अक्सर तो जब आप मजाक करते हैं किसी का, तो चोट पहुँचाने के लिए ही करते है। इसलिए बुद्धिमान आदमी दूसरे का मजाक न करके अपना ही मजाक करते है, क्योकि दूसरे पर की गई मजाक मे हिंसा हो सकती है।

यह जो मुल्ला नसरुद्दीन की इतनी कहानियाँ आपको कहता हूँ। यह कहानियाँ खुद के उपर किये गये मजाक हैं। हर कहानी मे मुल्ला खुद ही फसता है, खुद ही मूढ़ सिद्ध होता है। वह अपने पर ही हसता रहा है।

नसरुद्दीन ने कहा है कि जो दूसरो पर हँसता है, वह ना-समझ है और जो अपने पर हँस सकता है, वह समझदार है।

हम मजाक भी करते हैं, तो उसमें भी चोट है, आघात है किसी के लिए।

फ्रायड ने मजाक पर बडी खोज की है। वह महावीर से राजी होता अगर उसे पता चलता कि महावीर ने कहा है कि मजाक मे भी असत्य मत बोलना। फ्रायड ने कहा है कि तुम्हारी सब मजाकें तरकीबें हैं। तुम जो हिम्मत से सीधा नही बोल पाते, वह तुम मजाक से बोलते हो।

कभी ख्याल किया आपने कि जितने 'जोक्स' आपने सुने है, उनमे निन्यानवे प्रतिशत 'सेक्स' से सम्बन्धित क्यो होते हैं? जिस मजाक मे काम-वासना न आ जाये उसमे कुछ मजाक जैसा मालूम नही पड़ता। क्यों? क्योकि 'सेक्स' के सम्बन्ध मे हम सीधा नही बोल सकते, इसलिए मजाक से बोलते हैं। वह झूठ है, हमारा छिपाया हुआ। जो हम सीधा नही बोल सकते, उसे हम गोल-मोल करके घुमा-घुमा के बोलते हैं।

कभी आपने ख्याल किया कि मजाक मे आप किसको अपमानित करते हैं!

समझ ले कि एक रास्ते पर एक राजनैतिक नेता एक केले के छिलके पर फिसल कर गिर पडे, तो आपको ज्यादा मजा आयेगा, बजाय एक मजदूर के गिर पडने के। क्यो? क्योकि राजनैतिक नेता को आप नीचे गिरा कर देखने की बहुत दिन से इच्छा किये बैठे हैं। एक मजदूर गिर पड़े, तो दया भी

आयेगी। एक राज-नेता गिर पडे तो दिल खुश हो जायेगा। केले का छिलका वही है, गिरने की घटना वही है, लेकिन राजनैतिक नेता गिरता है, तो इतना मजा क्यों आता है? बहुत दिन से चाहा था कि गिरे। जो हम न कर पाये, वह केले के छिलके ने कर दिखाया, इसलिए दिल खुश हो जाता है।

हमारी मजाक मे भी हमारे हेतु है। हम जब हँसते हैं, तब भी हमारे हेतु हैं। हम न तो अकारण हँस सकते हैं और न अकारण रो सकते हैं। सब जगह हेतु है।

महावीर कहते है। वहाँ भी खोजते रहना, सावधान रहना, मजाक मे भी असत्य नही बोलना।

आज इतना ही, रुके पाँच मिनट, कीर्तन करे।

●

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
७ सितम्बर, १९७२

चौथा प्रवचन

ब्रह्मचर्य-सूत्र : १

●

विरई अबभचेरस्स, काम - भोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वय बम, धारेयव्व सुदुक्कर ।।

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सय ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति ण ।।

विभूसा इत्थिससग्गो, पणीय रसभोयण ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विस तालउडंड जहा ।।

जो मनुष्य काम और भोगों के रस को जानता है, उनका अनुभवी है, उसके लिए अब्रह्मचर्य त्यागकर ब्रह्मचर्य के महाव्रत को धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।

निर्ग्रन्थ मुनि अब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन-ससर्ग का त्याग करते हैं, क्योंकि यह अधर्म का मूल ही नहीं, अपितु बड़े-से-बड़े दोषों का भी स्थान है।

जो मनुष्य अपना चित्त शुद्ध करने, स्वरूप की खोज करने के लिए तत्पर है, उसके लिए देह का शृंगार, स्त्रियों का संसर्ग और स्वादिष्ट तथा पौष्टिक भोजन (दूध, मलाई, घी, मक्खन, विविध मिठाइयाँ आदि) का सेवन विष जैसा है।

काम-ऊर्जा, 'सेक्स-एनर्जी' मनुष्य के पास एक-मात्र ऊर्जा है।

एक ही शक्ति है मनुष्य के पास, उस शक्ति को हम कोई भी नाम दे सकते हैं। वह शक्ति दो दिशाओ मे गतिमान हो सकती है।

काम-ऊर्जा किसी दूसरे के प्रति गतिमान हो, तो यौन बन जाती है और काम-ऊर्जा यदि स्वय के प्रति गतिमान हो, तो योग बन जाती है। ऊर्जा एक है, लेकिन दिशाओ के भेद से सारा जीवन भिन्न हो जाता है।

पानी हम गर्म करे सौ डिग्री तक, तो पानी भाप बन जाता है, हल्का हो जाता है, आकाश की तरफ उड़ने मे सक्षम हो जाता है। पानी को हम ठडा करे, तो शून्य डिग्री के नीचे पानी जमकर बर्फ हो जाता है, भारी हो जाता है, जमीन की गुरुत्वाकर्षण की शक्ति उस पर वजनी हो जाती है।

भाप भी पानी है और बर्फ भी पानी है, लेकिन भाप आकाश की तरफ उडती है और बर्फ जमीन की तरफ गिर जाती है।

ऊर्जा एक है, दिशाएँ दो है।

जिसे हम यौन कहते हैं, 'सेक्स' कहते हैं, वह उसी 'एक्स,' अज्ञात ऊर्जा का नीचे की तरफ प्रवाह है। शून्य डिग्री के नीचे बर्फ बन जाता है। जमीन का गुरुत्वाकर्षण उस पर सघन हो जाता है। वही ऊर्जा, वही 'एक्स', अज्ञात शक्ति अगर ऊपर को उठनी शुरू हो जाये, तो सौ डिग्री के पार परमात्मा की तरफ, भाप की तरह उठनी शुरू हो जाती है। जमीन का नीचे का खिंचाव समाप्त हो जाता है। शक्ति एक है, दिशाएँ अलग है।

तो पहली बात यह समझ लेनी जरूरी है कि शक्ति एक है और उसके उपयोग पर निर्भर करेगा कि वह आपको कहाँ ले जाये।

दूसरी बात यह समझ लेनी जरूरी है कि शक्ति तटस्थ है। शक्ति स्वय आपसे नहीं कहती कि क्या करें। शक्ति आपको हेतु नही देती, गति नही देती।

शक्ति तटस्थ आपके भीतर मौजूद है। आप ही जो करना चाहे, उस शक्ति का उपयोग करते है। शक्ति आपसे कुछ भी नही करवाती। आप नीचे की ओर बहाना चाहे, तो ऊर्जा नीचे की ओर बहेगी, ऊपर की ओर बहाना चाहें, तो ऊपर की ओर बहेगी। निर्णायक आप हैं, शक्ति नही। शक्ति आपके हाथ मे है। अगर नीचे ले जायेगे, तो नीचे के जो सुख-दुख हैं, वे मिलेंगे। अगर उपर ले जायेगे, तो ऊपर के जो अनुभव है, वे मिलेंगे।

तीसरी बात समझ लेनी जरूरी है कि इस शक्ति के रूपान्तरण के दो उपाय हैं एक उपाय का नाम है योग और दूसरे उपाय का नाम है तन्त्र। दोनो विपरीत हैं। दोनो उपाय जितने विपरीत हो सकते है, उतने विपरीत हैं, लेकिन दोनो का लक्ष्य एक है।

विपरीत मार्ग भी एक लक्ष्य पर पहुँचा सकते है—इस सम्बन्ध मे थोडी बात समझ ले, तो फिर यह सूत्र समझना आसान होगा।

तन्त्र की मान्यता है कि काम-ऊर्जा का पूरा अनुभव जब तक न हो, तब तक काम-ऊर्जा को रूपान्तरित नही किया जा सकता। काम-ऊर्जा का जितना गहन अनुभव हो सके, उतना ही काम के रस से मुक्ति हो जाती है—यह महावीर से बिलकुल उलटा सूत्र है।

इसे थोडा समझ ले, तो फिर महावीर का जो बिलकुल विपरीत दृष्टिकोण है, वह समझना आसान हो जायेगा। 'कन्ट्रास्ट' मे एक दूसरे को सामने रख कर देखना आसान हो जायेगा।

तन्त्र मानता हे कि हम केवल उसी से मुक्त हो सकते हैं, जिसका हमे अनुभव हो, लेकिन क्यो ? हम उसी से क्यों मुक्त हो सकते हैं, जिसका हमे अनुभव हो ? तब तो इसका अर्थ यह होगा कि जिस दिन हमे मोक्ष का अनुभव होगा, हम मोक्ष से मुक्त हो जायेगे ! तब तो इसका अर्थ यह होगा कि जिस दिन हमे आनन्द का अनुभव होगा, हम आनन्द से मुक्त हो जायेगे ! तब तो इसका अर्थ होगा कि जिस दिन हम आत्मा का अनुभव कर लेगे, उस दिन आत्मा व्यर्थ हो जायेगी !

नही, तन्त्र का कहना यह है कि जिस अनुभव की पूरी प्रक्रिया से गुजर कर अगर मुक्ति न हो, तो समझना कि वह अनुभव स्वभाव है। और जिस अनुभव से गुजर कर मुक्ति हो जाये तो समझना कि वह अनुभव प्रभाव है।

" उस अनुभव से मुक्ति हो जाती है, जिसमे पहले सुख मालूम पड़ता था। उस अनुभव से मुक्ति हो जाती है, जिसके ऊपर तो लिखा था अमृत, लेकिन

खोल फाडने पर जिसमें जहर मिलता है। उस अनुभव से मुक्ति हो जाती है, जो व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

इसलिए तन्त्र कहता है कि काम पूरा आवश्यक है, ताकि काम का रस विलीन हो जाये; क्योकि काम का रस भ्रात है। रस है नही, लेकिन प्रतीत होता है। जो प्रतीत होता है अगर उसमे पूरे अनुभव से गुजर जाये, तो वह विलीन हो जायेगा।

रात को अँधेरे मे मुझे एक रस्सी साँप मालूम पड़ती है। उससे मैं कितना ही भागूँ, वह रस्सी मेरे लिए रस्सी न हो पायेगी, साँप ही बनी रहेगी।

तन्त्र कहता है कि निकट जाऊँ, प्रकाश को जला लूँ, देख लूँ, जान लूँ, अनुभव मे आ जाए कि रस्सी है, साँप नही, तो भय विलीन हो जायेगा।

कामवासना मालूम होती है कि स्वर्ग है—मालूम होता है कि काम-वासना मे गहरा आनन्द है। अगर वस्तुत. आनन्द है, जो तन्त्र कहता है · छोडना पागलपन है। अगर वस्तुत आनन्द नही है, तो अनुभव से गुजर कर जान लेना जरूरी है कि रस्सी, रस्सी है—साँप नही। और जिस दिन दिखाई पड़ जायेगा कि अनुभव आनन्दहीन है—न केवल आनन्दहीन है, बल्कि दुख से परिपूरित भी है—उस दिन उसे कौन पकडना चाहेगा ?

यह तन्त्र की दृष्टि है। यह एक उपाय है। दूसरा एक उपाय है, जो महावीर की दृष्टि है—जो योग की दृष्टि है और ये दोनो बिलकुल विपरीत हैं, 'पोलर ऑपोजिट।'

महावीर कहते हैं कि जिसका अनुभव हो जाये, उससे छुटकारा मुश्किल है। महावीर कहते हैं कि—जिसका हम अनुभव करते है, अनुभव की प्रक्रिया मे उसकी आदत निर्मित होती है। जितना अनुभव करते हैं, उतनी आदत निर्मित होती है, और आदत एक दुष्ट चक्र है। आदमी धीरे-धीरे यान्त्रिक हो जाता है। एक अनुभव किया, दूसरा अनुभव किया, फिर यह अनुभव हमारे शरीर के रोएँ-रोएँ की माँग बन जाता है। फिर इस अनुभव के बिना अच्छा नही लगता और अनुभव से भी अच्छा नही लगता। अनुभव करते हैं तो लगता है, कुछ भी न मिला, अनुभव नही करते तो लगता है, कुछ खो रहा है, खाली जगह मालूम होने लगती है।

महावीर कहते हैं कि अनुभव कर लिया जाये, तो अनुभव आदत का निर्माता हो जाता है और आदमी जीता है आदत से।

आप चौबीस घण्टे जो करते हैं, वह सिर्फ आदत है। जरूरी नही है कि करने के लिए कोई अन्त प्रेरणा रही हो।

ठीक वक्त पर आप रोज भोजन करते हैं। उस वक्त शरीर कहता है भूख लगी है। जरूरी नही है कि भूख लगी हो।

आप एक बजे रोज भोजन लेते हो, घडी अगर बदल कर रख दी जाये और आपको पता न हो कि घडी बदल कर रख दी गयी है। अभी ग्यारह ही बजे हो और घडी मे एक बजा दिया गया हो, तो आपको पेट खबर देना शुरू कर देगा कि भूख लग गई है। मन को खबर हुई कि एक बज गया, तो आदत दोहरनी शुरू हो जायेगी।

आप जिस वक्त सोते हैं अगर उसी वक्त न सो जाएँ, तो नीद तिरोहित हो जाती है। अगर नीद वास्तविक थी और आप रोज बारह बजे सोते थे, तो एक बजे रात तक नीद और भी तीव्रता से आनी चाहिए, लेकिन अगर बारह बजे नही सोये और एक बज गया, तो नीद आती ही नही। वह जो बारह बजे की नीद थी, आदतन थी, हैबीचुअल थी, वास्तविक नीद नही थी।

अगर आपको एक बजे भूख लगती है और अब तीन बज गए, तो आप हैरान होगे कि भूख मर जाती है, हालाँकि बढ़नी चाहिए। अगर वास्तविक भूख है, तो एक बजे वाली भूख तीन बजे और गहरी हो जानी चाहिए, लेकिन तीन बजे भूख मर जाती हैं, क्योकि भूख आदतन थी।

सभ्य आदमी जितना सभ्य होता है, उतना आदत से जीता है। न असली भूख रह जाती है, न असली नीद रह जाती है। आदमी का काम, 'सेक्स' का अनुभव भी आदत हो जाती है। जरूरी नही कि भीतर कोई अन्त प्रेरणा हो। पति-पत्नि भी आदत हो जाते हैं और आदत दोहरती चली जाती है।

एक बहुत बडे विचारक डी० एच० लॉरेन्स ने लिखा है कि विवाह अनुभव कम और आदत ज्यादा है। वही कमरा। वही बिस्तर, वही रंग-रौनक, वही समय।...डी० एच० लॉरेन्स ने लिखा है कि एक बात इतनी कष्टकर है, जितनी और कोई नही। वह है : 'रोज उसी बिस्तर पर सोना!' उसने लिखा है कि मैं कही भी मरना पसन्द करूँगा, लेकिन बिस्तर पर नही। ऐसे आमतौर से निन्यानबे प्रतिशत लोग बिस्तर पर मरते हैं, लेकिन यह आदमी बड़ा मजेदार है!

अगर आप हवाई जहाज में बैठें, तो लोग कहते हैं कि मत बैठो··· । (कभी कभी लाख मे एकाध आदमी हवाई जहाज में मरता है !) घोड़े पर सवारी करे, तो लोग कहते हैं कि मत करो···। (कभी-कभी हजार मे एक आदमी घोडे से गिर कर मर जाता है !) लेकिन, कोई आपसे नही कहता कि बिस्तर पर मत सोओ, क्योंकि निन्यानबे प्रतिशत आदमी बिस्तर पर मरते हैं। अधिकतम दुर्घटनाएँ बिस्तर पर घटती हैं।

ठीक समय पर भूख लगती है, ठीक समय पर नीद आती है, ठीक समय पर काम की वृत्ति पैदा हो जाती है और लोग आदते दोहराते रहते हैं।

महावीर कहते हैं, अनुभव आदत का निर्माण करता है और आदमी आदत से जीता है, होश से नही जीता। अगर होश से जिये, तो तन्त्र की बात ठीक हो सकती है, लेकिन आदमी जीता है आदत से, होश से नही, इसलिए महावीर की बात मे भी अर्थ है।

महावीर कहते हैं, एक बार आदत बननी शुरू हो जाये, तो फिर बनती ही चली जाती है। बीज को जमीन में नही डालो, तो अकुर नही निकलता, लेकिन एक बार डाल दो, तो अंकुर निकलता ही चला जाता है और वृक्ष बन जाता है। और वृक्ष मे हजार-करोड बीज लग जाते हैं, लेकिन बीज को जमीन मे नही डालो और रखा ही रहने दो, तो अकुर नही निकलता। एक दफा अनुभव से गुजरो कि बीज जमीन पकड लेता है और फिर आदत का अकुर बढना शुरू हो जाता है। फिर वह बढता चला जाता है। फिर वह बड़ा होता चला जाता है।

इसलिए महावीर ने बच्चों को भी दीक्षा का मार्ग खोला है। बल्कि महावीर के हिसाब से तो बच्चे को ही दीक्षा देनी चाहिए। अब तो मनोवैज्ञानिक भी कहते हैं कि सात साल की उम्र के बाद आदमी मे बदलाहट मुश्किल हो जाती है। अगर प्राथमिक सात वर्ष एक ढग के निर्मित कर दिये जाएँ, तो आदमी फिर उन्ही ढगो मे जीता चला जाता है। इसलिए पहले सात वर्ष पूरे सत्तर वर्ष की सक्षिप्त कथा है। फिर वही दोहराता चला जाता है।

यह बड़ी मजे की बात है ! इस पर थोडा सोचना बहुत जरूरी है कि आदत कितनी अद्भुत है। आप अपनी माँ से प्रेम करते हैं। सभी करते हैं, लेकिन कभी आपने ख्याल नही किया होगा कि माँ का प्रेम भी वैज्ञानिक अर्थों में सिर्फ आदत है। इस पर लोरेन्जो ने बहुत काम किया है।

लोरेन्जो ने 'सब्स्टिट्यूट मदर' परिपूरक माताओ के ऊपर प्रयोग किये। जैसे एक बतख का बच्चा पैदा होता है, तो मादा बतख ही उसे सबसे पहले मिलती है। मुर्गी का बच्चा पैदा होता है, तो मुर्गी ही उसे सबसे पहले मिलती है। स्वभावतः आदमी का बच्चा पैदा होता है, तो उसे पहला दर्शन, पहला अनुभव माँ का होता है।

लोरेन्जो ने ऐसे प्रयोग किये कि मुर्गी का बच्चा पैदा हो, तो मुर्गी का उसे अनुभव न होने पाये, मुर्गी छिपा ली जाये। मुर्गी की जगह रबर का फुग्गा फुला कर रख दिया जाये। जो पहला दर्शन हुआ बच्चे को, जो पहला अनुभव हुआ, वह गहन अनुभव है, फिर सब कुछ उसके ऊपर निर्मित होगा।

उस बच्चे ने रबर का फुग्गा देखा, वह रबर के फुग्गे के प्रति वैसा ही आसक्त हो गया, जैसा कि माँ के प्रति हो। इसके बाद रबर का फुग्गा हवा मे उडाया जाये, तो बच्चा उसके पीछे दौडे, लेकिन जब माँ पास हो, तो उसकी तरफ ध्यान भी न दे। माँ व्यर्थ हो गयी, क्योकि वह आदत न बन पाई। यह रबर का फुग्गा सार्थक हो गया, क्योकि यह माँ बन गया।

लोरेन्जो कहता है कि माँ का कोई अर्थ नही है, वह पहली आदत है। लेकिन और बडे अनुभव हुए। यह जो मुर्गी का बच्चा रबर के गुब्बारे के पास बडा हुआ इसको खाना-पीना सब यात्रिक विधि से दिया गया, इसका माँ से कोई सम्बन्ध नही जोडा गया। एक बडी हैरानी की बात हुई कि इस बच्चे के मन मे मादाओ के प्रति कोई रस पैदा नही हुआ। वह मुर्गियो मे उत्सुक नही रहा। उसके जीवन मे 'सेक्स' सूख गया।

मनोवैज्ञानिक कहते है, जिस बच्चे का पहला सम्पर्क माँ से न हो, जीवन मे स्त्री से उसके गहरे सम्बन्ध न हो पायेगे। माँ पहली आदत है। इसलिए हर आदमी अपनी पत्नी मे माँ को खोजता रहता है—जाने-अनजाने, चेतन-अचेतन मा को खोजता रहता है और बडी कठिनाई यह है कि माँ मिल नही सकती पत्नी मे, इसलिए पत्नी से कभी चैन और शान्ति नही मिल सकती। माँ पत्नी हो नही सकती और कोई पत्नी माँ बनने को राजी नही और कठिनाई तो यह है कि अचेतन आकाक्षा है, इसलिए अगर कोई पत्नी माँ बनने को राजी भी हो, तो भी पति को दुख होगा।

पुरुषो का इतना आकर्षण स्त्रियो के स्तन मे, माँ के सम्बन्ध मे बनी पहली आदत का परिणाम है और कुछ भी नही। माँ से पहला सम्बन्ध स्तन से बना, इसलिए पुरुष स्त्री के स्तन मे इतने उत्सुक हैं।

चित्र, मूर्तियाँ, फिल्मे सब स्त्री के स्तन के आसपास निर्मित होती चली जाती हैं । कहानियाँ, कविताएँ, रोमास सब स्त्री के स्तन के आसपास निर्मित होती चली जाती हैं । इससे कुछ और पता नहीं चलता, सिर्फ इतना ही पता चलता है कि जैसे मुर्गी का बच्चा गुब्बारे पर आसक्त हो गया, ठीक वैसे ही बच्चा स्तन के प्रति आसक्त हो जाता है और बूढा होकर भी इस आदत से मुक्त नही हो पाता । बूढ़ा भी मुक्त नही हो पाता स्तन की आदत से । वह रस कायम ही रहता है, वह रस बना ही रहता है ।

अगर आदतें इतनी महत्वपूर्ण हैं, तो महावीर कहते हैं कि जिस अनुभव से छूटना हो, उस अनुभव में न उतरना ही उचित है । उतर जाने के बाद छूटना रोज-रोज मुश्किल होता चला जायेगा ।

महावीर मनुष्य को एक यत्र की भाँति देखते हैं और निन्यानबे प्रतिशत आदमी यत्र हैं । इसलिए महावीर कहते हैं कि यन्त्रवत आदमी का जो जीवन है, वह वही रोक दिया जाना चाहिए, जहाँ से चीजो की शुरुआत होती है ।

क्या इस बात की सम्भावना है कि अगर एक व्यक्ति को काम के समस्त अनुभवो, परिस्थितियो से बाहर रखा जा सके, तो उसके जीवन में काम का प्रवाह पैदा नही होगा ?

इस बात की सम्भावना नही है कि काम का प्रवाह पैदा नही होगा । एक दिन बच्चा युवा होगा, शक्ति से भरेगा, ऊर्जा आयेगी, शरीर का यन्त्र शक्ति देगा, काम ऊर्जा भर उठेगी—काम से, काम की ऊर्जा से अगर सारी परिस्थितियाँ भी रोक ली जायें, तो भी बच्चा भरेगा, लेकिन एक फर्क पडेगा । उस बच्चे के पास आदतो के सुनिश्चित मार्ग न होगे । ऊर्जा भर जायेगी, लेकिन आदतो के बहने के लिए कोई निर्मित मार्ग न होगे । उस बच्चे की ऊर्जा को किसी भी दिशा मे रूपान्तरित करना आसान होगा ।

जिनके मार्ग निर्मित हो गए हैं, उन्हे नये मार्ग बनाना कठिन होता है, क्योकि ऊर्जा पुराने मार्ग पर बिना श्रम के बहती है । अगर कोई भी मार्ग निर्मित न हो, तो नया मार्ग निर्मित करना बहुत आसान होता है, क्योंकि ऊर्जा बहना चाहती है और कोई भी मार्ग मिल जाये, तो गति से उस मार्ग पर अग्रसर हो जाती है ।

महावीर की यही दृष्टि है । वह कहते हैं, काम का अनुभव खतरे मे ले जायेगा, फिर ब्रह्मचर्य की तरफ आना मुश्किल होता चला जायेगा, इसलिए अनुभव से बचना ।

इसे ध्यान से समझ लें, अनुभव से बचना दमन नहीं है, 'रिप्रेशन' नहीं है, जिसको फ्रायड ने दमन कहा है—अनुभव से बचना दमन नहीं है। महावीर के लिए अनुभव से बचना ऊर्जा को दबाना नही है। अनुभव से बचना ऊर्जा को नया मार्ग देना है। जो ऊर्जा नीचे की तरफ बह रही है, उसे ऊपर की तरफ ले जाना है।

नीचे की तरफ बहने का अनुभव न हो, तो ऊपर की तरफ मार्ग बनाना आसान होगा, लेकिन तब तन्त्र की, महावीर और योग की सारी प्रक्रिया विपरीत हो जायेगी। सारी प्रक्रियाएँ, तन्त्र जो भी करेगा, महावीर के लिए वह गलत हो जायेंगी। और महावीर जो भी करेंगे, वह तन्त्र के लिए गलत होगा।

मेरी दृष्टि मे दोनो मार्गो से पहुँचना सम्भव है। दोनों ही मार्गों पर अलग-अलग बात पर जोर है ऊपर से, लेकिन भीतर एक ही बात पर जोर है और वह भी आप से कह दूँ।

वह जोर यह है कि तन्त्र कहता है—रस से मुक्ति होगी अनुभव से और महावीर कहते हैं—रस लेना ही मत, तो मुक्ति होगी। लेकिन रस से मुक्ति दोनों मे केन्द्रिय है। रस से मुक्ति कैसे होगी, इस बारे मे दोनो मे भेद है।

तन्त्र उन लोगो के लिए आसान पडेगा, जो होश को जगाने मे लगे हैं। जो लोग होश को जगाने मे नही लगे हैं, उनके लिए तन्त्र खतरनाक होगा। इसलिए तन्त्र बहुत थोडे से लोगो के ही काम की बात मालूम पडती है। तन्त्र का व्यापक प्रभाव इसलिए नही हो सका, लेकिन भविष्य मे तन्त्र का व्यापक प्रभाव होगा, क्योकि सारे समाज के जीवन का ढांचा रोज-रोज तन्त्र के ज्यादा अनुकूल आता जा रहा है और लोग अनुभव से रस-विहीन होते चले जा रहे हैं।

यह जानकर आपको हैरानी होगी कि जिन देशो मे यौन की जितनी स्वतत्रता है, उन देशों मे यौन के प्रति उतनी ही विरक्ति पैदा होती जा रही है। जिन मुल्को मे यौन की जितनी गुलामी है, जितनी परतन्त्रता है, उन मुल्कों मे यौन के प्रति उतनी ही उत्सुकता है।

अगर सारा जगत् ठीक से समृद्ध हुआ, तो तन्त्र की सार्थकता बढ़ती चली जायेगी।

समृद्ध होने के दो ही मतलब होते हैं, क्योकि आदमी की दो ही भूख हैं: एक शरीर की भूख है, जो रोटी से पूरी होती है, मकान से पूरी होती है, सामान से पूरी होती है और एक यौन की भूख है, जो प्रेम से पूरी होती है।

अगर इन दोनों का अतिरेक हो गया, तो तन्त्र की सार्थकता बढ़ती चली जायेगी, लेकिन अभी भी वह अतिरेक हुआ नहीं है।

महावीर जो कह रहे हैं, वह तन्त्र के बिलकुल विपरीत है। उस विपरीतता मे जो मौलिक बिन्दु है, वह हम ख्याल में ले लें, तो फिर यह सूत्र समझ मे आए।

तन्त्र कहता है : जिससे मुक्त होना है, उसमें जाओ। महावीर कहते हैं : जिससे मुक्त होना हो, उसको छुओ ही मत। पहले ही कदम पर रुक जाओ, क्योंकि अन्तिम कदम पर तुम रुक सकोगे, इसका भरोसा कम है।

तन्त्र कहता है : अगर शराब से मुक्त होना है, तो शराब पीओ और होश को सम्भालो। शराब की मात्रा उतनी ही बढाते जाओ, जितना होश बढ़ता जाये, लेकिन होश सदा ऊपर रहे और शराब कभी भी बेहोश न कर पाये।

और तान्त्रिको ने अद्भुत प्रयोग किये और ऐसे तान्त्रिक हैं कि उनको कितना ही नशा पिला दो, बेहोश न कर पाओगे। बेहोशी न आये तो शराब पी भी और नही भी पी। शरीर मे तो शराब गयी, पर चेतना में शराब का कोई भी सस्पर्श न हुआ।

तो तन्त्र कहता है : चेतना को मुक्त करो, शराब को जाने दो शरीर मे लेकिन चेतना को अछूता रहने दो।

यह कठिन है, लम्बी साधना की बात है और सबके लिए शायद सम्भव भी नही है। हालाकि सब करना चाहेगे, लेकिन तन्त्र का सूत्र पूरा करना कठिन है, क्योंकि तन्त्र का सूत्र यह है कि होश न खो जाये।

महावीर कहते हैं, अगर होश खोता हो, तो बेहतर है पियो ही मत, लेकिन दोनो एक बात में राजी हैं कि होश नही खोना चाहिए। महावीर कहते हैं : पियो ही मत, कहीं होश न खो जाये। तन्त्र कहता है पियो और होश को बढाओ।

यही सभी बातों के सम्बन्ध मे है।

महावीर कहते हैं, मास नही और तन्त्र कहता है कि मांस भी प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन तन्त्र यह भी कहता है कि चाहे सब्जी खाओ, चाहे मास खाओ, भीतर मन मे कोई भेद न पडे। यह बहुत कठिन बात है।

तन्त्र कहता है : अभेद को पाना है, अद्वैत को पाना है, तो कोई भेद न पड़े—मास खाओ तो, सब्जी लो तो—कोई भेद भीतर न पड़े। अगर भेद भीतर पड़ गया, तो मास खाना खतरनाक हो गया। भेद न पड़े भीतर कोई,

अगर जहर भी पियो या अमृत भी पियो—भीतर अनासक्त मन बना रहे; दोनों बराबर मालूम पड़े, तो तन्त्र कहता है, फिर मासाहार भी मांसाहार नही है।

महावीर कहते हैं कि यह कठिन है कि भेद न पडे। जिनके जीवन में हर चीज मे भेद है, वह कितना ही कहें कि सोना हमारे लिए मिट्टी है, फिर भी उन्हे सोना सोना है—मिट्टी मिट्टी है। जिसके जीवन मे हर चीज मे भेद है, जो इंच भर बिना भेद के नही चलते, वे मदिरा को पानी जैसा पी जायेंगे, इसकी आशा करनी कठिन है। तो महावीर कहते हैं कि जहाँ से गिर जाने का डर हो, वहाँ गति मत करना। इसलिए पूरी प्रक्रिया का रूप बदल जायेगा।

'जो मनुष्य काम और भोगो के रस को जानता है, उसका अनुभवी है, उसके लिए अब्रह्यचर्य त्यागकर ब्रह्मचर्य के महाव्रत को धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।'

आदत को तोडना अत्यन्त दुष्कर है और आप सब जानते हैं कि काम की आदत गहनतम आदत है। एक आदमी सिगरेट पीता है, उसे छोडना मुश्किल है।

हालाकि पीने वाले सभी यह सोचते है कि जब चाहे तब छोड़ दे। पीने वाले सोचते हैं कि वे कोई 'एडिक्टेड' नही है, या वे कोई इसके गुलाम नही हो गये।...

मुल्ला नसरुद्दीन को उसके डाक्टर ने कहा कि अब तुम शराब बन्द कर दो क्योकि शराब से 'एडिक्शन' पैदा होता है, आदमी गुलाम हो जाता है। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा कि रहने दो चालीस साल से पी रहा हूँ, अभी तक 'एडिक्टेड' नही हुआ, अब क्या खाक होऊँगा? अनुभव से कहता हूँ कि चालीस साल से रोज पी रहा हूँ, अभी तक 'एडिक्टेड' नही हुआ।

आप जो भी करते हैं, सोचते हैं, जब चाहें, तब छोड दें इतना आसान नही है। जरा सी आदत भी छोडनी आसान नही है। आदत बड़ी वजनी है। आपकी आत्मा आदत से बहुत कमजोर है। एक छोटी सी आदत छोडना चाहे, तो आप को पता चलेगा कि कितना मुश्किल है, लेकिन काम तो गहनतम आदत है, क्योकि 'बायोलॉजिकल' है, जैविक है।

गहनतम आपके प्राणो मे काम की ऊर्जा छिपी है, क्योकि आदमी का जन्म होता है, काम से, उसका रोआँ-रोआ निर्मित होता है काम से, उसका एक-एक कोष्ठ पैदा होता है, काम के कोष्ठ से।

आप काम का ही विस्तार हैं, आप हैं जगत् मे इसलिए कि आपके माता-पिता, फिर उनके माता-पिता करोडो-करोड़ों वर्ष से काम-ऊर्जा को फैला रहे

हैं। आप उसका एक हिस्सा हैं। आपके माता-पिता की काम-वासना का आप फल है।

इस फल के रोएँ-रोएँ मे, कण-कण मे कामवासना छिपी है और सब आदतें उपरी हैं, काम-वासना गहनतम आदत है। इसलिए महावीर कहते हैं कि अगर आदत निर्मित होनी शुरू हो जाये, तो अत्यन्त दुष्कर है। फिर अब्रह्मचर्य का त्याग करके ब्रह्मचर्य मे प्रवेश करना अत्यन्त दुष्कर है।

असम्भव वे नही कहते, इसलिए तंत्र का पूर्ण निषेध नही है, दुष्कर कहते है। और निश्चित ही जिनको सिगरेट पीना छोडना मुश्किल हो, उनके लिए महावीर ठीक ही कहते हैं। जो सिगरेट भी न छोड सकते हो, वे सोचते हो कि काम के अनुभव को छोड देंगे, तो वे आत्म-हत्या मे लगे हैं। उनके लिए यह सम्भव नही होगा।

तन्त्र की भी शर्तें बडी ही अजीब हैं। तन्त्र पहले और सब तरह की आदते तुडवाता है और जब निश्चित हो जाता है तात्रिक गुरु को कि सब तरह की आदते टूट गई हैं, तब वह इन गहन प्रयोगो के लिए आज्ञा देता है।

तन्त्र की शर्तें कठोर हैं। तन्त्र मानता है : जब तक प्रत्येक स्त्री मे माँ का दर्शन न होने लगे, न केवल माँ का बल्कि जब तक प्रत्येक स्त्री मे तारा का, दुर्गा का, देवी का, भगवती का, परम माँ का, जगत्-जननी का स्मरण न होने लगे, तब तक तन्त्र नही कहता कि सम्भोग के द्वारा समाधि उपलब्ध हो सकेगी।

तो तन्त्र की प्राथमिक प्रक्रियाओ मे, स्त्री मे माँ का दर्शन, परम-जननी का दर्शन जरूरी है और इसके प्रयोग हैं। इसलिए सभी तान्त्रिक ईश्वर को माँ के रूप मे देखते हैं, पिता के रूप मे नही। जब माँ दिखाई पडने लगे प्रत्येक स्त्री मे, तभी तन्त्र का प्रयोग किया जा सकता है।

तन्त्र के प्रयोग की जो पूरी आयोजना है, वह अति कठिन है। वह अति कठिन इसलिए है कि पहले स्त्री को तिरोहित करना होता है। वह समाप्त हो जाये, विलीन हो जाये, स्त्री मौजूद न रहे और तब भी उसके साथ सम्भोग मे परम-पवित्र भाव से प्रवेश करना होता है। अगर क्षणभर को भी वासना आ जाये, तो तन्त्र का प्रयोग असफल हो जाता है, लेकिन वह दूभर है। महावीर कहते हैं, दुष्कर है।

आसान आदमी के लिए यही है कि वह जिससे मुक्त होना चाहते हों, उसकी आदत निर्मित न करें।

यह आसान क्यों ? क्योंकि ऊर्जा जब भीतर भरती है, तो बहना चाहती है। ऊर्जा का लक्षण है, बहना। जैसे नदी बहती है सागर की तरफ, सागर से मिलने के लिए।

मिलन दो तरह के हो सकते हैं, यह मिलन अपने से बाहर की ओर घटित हो सकता है, किसी स्त्री का किसी पुरुष से या किसी पुरुष का किसी स्त्री से। यह एक बहाव है। बाहर की तरफ, एक और बहाव है भीतर की तरफ, अपने से ही मिलने का। यह जो आन्तरिक बहाव है, अगर बाहर बहने की आदत न हो, तो शक्ति खुद इतनी भर जायेगी कि वह भीतर के द्वार खटखटाने लगेगी और भीतर बहनी शुरू हो जायेगी।

ब्रह्मचर्य पर इतना जोर इसी कारण है। इस कारण की शक्ति इतनी होनी चाहिये कि वह शक्ति खुद भी मार्ग खोजने लगे और यदि नीचे की कोई आदत न हो, बाहर की कोई आदत न हो, दूसरे के प्रति बहने की आदत न हो, मार्ग न मिले और जब मार्ग नही मिलता और शक्ति बढती चली जाती है और बाँध तोडना चाहती है, तब साधक आसानी से भीतर जानेवाला मार्ग खोल सकता है। शक्ति खुद ही सहयोगी हो जाती है, मार्ग खोलने के लिए।

इसलिए महावीर कहते है निर्ग्रथ मुनि अब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन ससर्ग का त्याग करते हैं, क्योकि यह अधर्म का मूल ही नही, अपितु बडे से बडे दोषो का भी स्थान है।

अगर ऊर्जा बाहर की तरफ बहती है, तो समस्त अधर्म का मूल है, क्योकि धर्म की परिभाषा हमने की है, 'स्वभाव'। धर्म का अर्थ है स्वय को पाना, धर्म का अर्थ है, अपनी खोज। अगर धर्म का अर्थ है, अपने को पा लेना, तो अधर्म का फिर अर्थ हुआ, अपने से बाहर किसी को पाने की कोशिश—'ध अधर', दूसरे को पाने की कोशिश। इसलिए कामवासना से ज्यादा अधर्म कुछ भी नही हो सकता, क्योकि कामवासना का अर्थ ही है, दूसरे की खोज।

महावीर कहते है अधर्म का मूल है और बडे-बडे दोष का स्थान भी।

इसे थोडा समझ लेना जरूरी है।

हमारे जीवन मे जितने दोष पैदा होते हैं, उनमे निन्यानबे प्रतिशत कामवासना से सम्बन्धित होते है।

आदमी अगर धन इकट्ठा करने के लिए पागल हो जाता है, तो इसलिए कि अन्तत धन से कामवासना पाई जा सकती है, चाहे उसे पता हो, चाहे

पता न हो। आदमी पद पाना चाहता है, यश पाना चाहता है, अन्तत इसलिए कि उससे कामवासना ज्यादा से ज्यादा सुगमता से पूरी की जा सकती है। आदमी जीवन मे और जो करने निकल पडता है, उस सब के पीछे गहन में कामवासना छिपी होती है। यह दूसरी बात है कि वह पूरा न कर पाये। वह साधन को ही पूरा करने मे लगा रहे और साध्य तक न पहुँच पाये, यह दूसरी बात है, लेकिन गहन मे साध्य एक ही होता है।

क्यो ऐसा है ? क्योकि आदमी काम-वासना का विस्तार है और आदमी के भीतर मैंने कहा, दो भूखे हैं; आप जब भोजन करते हैं, तो यह आपके जीवन की सुरक्षा है और जब आप यौन मे उतरते हैं, तो यह आपकी जाति के जीवन की सुरक्षा है। यह भी एक भोजन है।

आप अगर भोजन करना बन्द कर दें, तो आप मरेंगे। अगर आप काम-वासना बन्द कर दे, तो आप अपनी जाति को मारने का कारण बनेंगे।

जर्मनी के प्रसिद्ध विचारक इमैनुएल काट ने तो ब्रह्मचर्य को अनीति कहा है और उसके कारण हैं कहने के। उसका कहना यह है कि अगर सारे लोग ब्रह्मचर्य का पालन करे, तो जीवन तिरोहित हो जायेगा। और कांट कहता है कि नीति का अर्थ है—'ऐसा नियम, जिसका सब लोग पालन कर सके।' और अगर सब लोग ब्रह्मचर्य का पालन करे, तो जीवन, जो कि नीति का आधार है, सम्भावना है, वही तिरोहित हो जाये, तो वह अनीति हो गई।

फिर तो ब्रह्मचर्य भी नही पाला जा सकता—अगर जीवन तिरोहित हो जाये।

तो जिस नियम की पूर्णता स्वयं ही जीवन को नष्ट कर देती हो, वह नियम नैतिक नही है। एक अर्थ मे यह ठीक है। आप किसी को मारते हैं, तो यह हिंसा है। आप अगर कामवासना को रोक लेते हैं, तो भी आप उनकी हिंसा कर रहे हैं, जो इस कामवासना से पैदा हो सकते थे।

कांट के हिसाब से ब्रह्मचर्य हिंसा है। जो हो सकते थे, जो जन्म ले सकते थे, उनको आप रोक रहे है।

कांट कहता है कि कोई आदमी अगर भूखा रहे, तो यह उतना बडा पाप नही; क्योकि वह अपने लिए, अपने ऊपर कुछ कर रहा है। ठीक है, स्वतन्त्र है, लेकिन कोई आदमी अगर ब्रह्मचारी रहे, तो यह खतरनाक है, क्योंकि इसका अर्थ यह हुआ कि वह जाति को नष्ट करने का उपाय कर रहा है।

लेकिन कांट के सोचने की एक सीमा है। इस जीवन के अलावा कांट के लिए कोई और जीवन नही है—कांट के लिए इस जीवन के पार और कोई रहस्य का लोक नही है।

महावीर कहते हैं कि जो ऊर्जा इस जगत् मे प्राणियो को जन्म देने के काम आती है, वही ऊर्जा स्वय को उस जगत् मे जन्म देने के काम आती है—आत्मजन्म, खुद का ही पुनर्जन्म, उसके ही लिए काम आती है।

ऊर्जा वही है। महावीर के तर्क अलग हैं। महावीर कहते हैं (और अब तो विज्ञान समर्थन करता है।) कि एक सम्भोग मे कोई दस करोड 'सेल,' वीर्याणु छूटते हैं,–एक सम्भोग मे दस करोड़ जीवन छूटते हैं। दो घण्टे के भीतर सब मर जाते है। प्रत्येक सम्भोग मे दस करोड जीवन की हत्या का पाप है। और एक आदमी अगर अपने जीवन मे सयम-पूर्वक सम्भोग करे, तो चार हजार सम्भोग कर सकता है। अगर आपके दस-पाँच बच्चे पैदा भी हो जाते हैं तो अरबो-खरबो जीवन की हत्या पर।

जीवन बडा अद्भुत है। दस करोड जीवाणु छूटते हैं। एक सम्भोग मे और उनमे सघर्ष शुरू हो जाता है उसी वक्त। बाजार मे ही प्रतियोगिता नही है, दिल्ली मे ही प्रतियोगिता नही है! जैसे ही यह दस करोड जीवाणु स्त्री योनी मे मुक्त होते हैं, इनमे सघर्ष शुरू हो जाता है कि कौन आगे निकल जाये, क्योकि एक जीवाणु ही स्त्री अण्डे तक पहुँच सकता है।

वह जो ओलम्पिक मे दौड़ें होती हैं, वे कुछ भी नही, बडी से बडी दौड जिसका आपको कोई पता नही चलता, जिस पर सारा जीवन निर्भर होता है, वह बडे अज्ञात मे होती है। यह दस करोड धावक दौड पडते हैं। इनमे से एक पहुँच पाता है, बाकी सब मर जाते हैं रास्ते मे। और वह एक भी सदा नही पहुँच पाता।

जितनी जमीन पर सख्या है इस वक्त, उतनी संख्या एक आदमी पैदा कर सकता है। साढे तीन अरब लोग हैं इस समय पृथ्वी पर, एक-एक आदमी के पास भी उसके वीर्य मे इतने ही जीवाणु हैं कि साढे तीन अरब बच्चे पैदा कर दें। एक आदमी एक जीवन में इतनी हत्याएँ करता है। यह सब जीवाणु मर जाते हैं, यह बच नही सकते।

महावीर का हिसाब यह है कि यह बडी हिंसा है। इसलिए महावीर अब्रह्मचर्य को हिंसा कहते हैं। यह बड़ी भारी हिंसा है क्योकि इतना प्राण!

ये सारी की सारी ऊर्जा रूपान्तरित हो सकती है और इस सारी ऊर्जा के आधार पर स्वयं का नव-जन्म हो सकता है।

फिर महावीर यह भी नही मानते कि इस जगत् का होना कोई अनिवार्यता है। यह न भी हो, तो कोई हर्जा नही। क्योंकि इसके होने से सिवाय हर्जे के और कुछ भी नही होता। यह पृथ्वी खाली हो, तो हर्जा क्या है? आप न हुए तो ऐसा क्या बिगड जाता है? फूल ऐसे ही खिलेंगे, चाँद ऐसा ही निकलेगा, समुद्र ऐसे ही दहाड मारेगा, हवाएँ इतनी ही शान से बहेंगी, सिर्फ बीच मे आपके मकानो की बाधा न होगी। आपके होने, न होने से फर्क क्या पड़ता है? आप नही हुए, तो क्या होता है? आपके होने से जमीन सिर्फ एक नर्क हो जाती है।

महावीर कहते हैं. यह जो चेतना रोज-रोज शरीर मे उतरती है, उपद्रव ही पैदा करती है। इसे शरीर से मुक्त करना है और किसी दूसरे लोक मे इसको जन्म देना है, जहाँ कोई सघर्ष नही है। मोक्ष और संसार मे इतना ही फर्क है।

ससार मे हर चीज सघर्ष है—हर चीज, चाहे आपको पता चलता हो या न चलता हो। यहाँ एक श्वास भी मैं लेता हूँ, तो किसी की श्वास छीन कर लेता हूँ। यहाँ मैं जीता हूँ, तो किसी को मार कर जीता हूँ। यहाँ होने का अर्थ ही किसी को मिटाना है। यहाँ और कोई उपाय ही नही है। यहाँ, जीवन मौत से ही चलता है। यहाँ, हिंसा भोजन है—चाहे कोई मांस खाता हो या न खाता हो—पशु-पक्षी मारता हो या न मारता हो—कुछ भी खाता हो—सब भोजन हिंसा है। हिंसा से बचा नही जा सकता। कोई उपाय ही नही है।

महावीर कहते हैं कि एक ऐसा लोक भी है चेतना का, जहाँ कोई प्रतिस्पर्धा नही है, जहाँ कोई सघर्ष नही है।

ध्यान रहे : सारा सघर्ष शरीर के कारण है, आत्मा के कारण कोई भी सघर्ष नही। इस पृथ्वी पर जो भी आत्मा को पाने मे लगते हैं, उनका किसी से कोई सघर्ष नही।

अगर मैं धन पा रहा हूँ, तो किसी का छीन लूँगा। अगर मैं सौन्दर्य की खोज कर रहा हूँ, तो किसी न किसी को कुरूप कर दूँगा। मैं कुछ भी कर रहा हूँ बाहर के जगत् में, तो कोई न कोई छिनेगा, कोई न कोई पीछे पड़ेगा। लेकिन

अगर मैं ध्यान कर रहा हूँ, अगर मैं भीतर शान्त होने की कोशिश कर रहा हूँ, अगर भीतर मैं एक अन्तर्यात्रा पर जा रहा हूँ, मौन हो रहा हूँ, होश खोज रहा हूँ, तो मैं किसी से कुछ भी नही छीन रहा हूँ। तो मुझसे किसी को कोई नुकसान नही होता। मुझसे किसी को लाभ हो सकता है।

महावीर के होने से किसी को कोई नुकसान नही हुआ, लाभ बहुत हुआ है। लेकिन, ससार मे जितना बडा आदमी हो, उतना ज्यादा नुकसान पहुँचाने वाला होता है। वह बडा किसी भी दिशा मे हो—बडप्पन निर्भर ही होता है दूसरे से छीनने पर।

ससार मे भीना-झपटी नियम है, क्योकि शरीर छीना-झपटी का प्रारम्भ है। छीना-झपटी माँ के गर्भ से हो शुरू हो जाती है, वह फिर जीवन भर चलती है।

मोक्ष का अर्थ है जहाँ शुद्ध है, चेतना—शरीर से मुक्त। जहाँ कोई सघर्ष नही है। जहाँ होना, दूसरे की हत्या और हिंसा पर निर्भर नही है।

महावीर कहते है कि इस ऊर्जा का उपयोग उस जगत् मे प्रवेश के लिए हो सकता है, लेकिन यह प्रवेश दूसरे की तरफ दौडने से कभी भी न होगा और कामवासना दूसरे की तरफ दौडती है, कामवासना दूसरे से बाँधती है, कामवासना दूसरे पर निर्भर करा देती है, इसलिए कामवासना से जुडे हुए व्यक्तियो मे सदा कलह बनी रहती है। कलह का मतलब केवल इतना ही है कि कोई भी आदमी गुलाम नही होना चाहता और कामवासना गुलाम बना देती है।

आप किसी को प्रेम करते है, तो आप उस पर निर्भर हो जाते हैं। क्षणभर के लिए सुख—सतोष की जो झलक आपको मिलती, वह अब उसके बिना नही मिल सकती। उसके हाथ मे है चाभी और उसकी चाभी आपके हाथ मे हो जाती है। चाभियाँ बदल जाती हैं। पत्नी की चाभी पति के हाथ मे और पति की चाभी पत्नी के हाथ मे। निश्चित ही गुलामी अनुभव होनी शुरू हो जाती है। जिसके कारण हमे सुख मिलता है, उसके हम गुलाम हो जाते हैं और जिसके कारण हमें दुख मिलता है, उसके भी हम गुलाम हो जाते हैं। फिर गुलामी के प्रति विद्रोह चलता है।

अभी एक बहुत ही विचारशील मनोवैज्ञानिक ने एक किताब लिखी है, 'घि इन्टीमेंट एनिमि'। वह पति-पत्नी के सम्बन्ध में एक किताब है—'आन्तरिक शत्रु।' आन्तरिकता भी बनी रहती है और शत्रुता भी चलती रहती है। शत्रुता

अनिवार्य है पति-पत्नी के बीच, मित्रता आकस्मिक है। मित्रता सिर्फ इसलिए है ताकि शत्रुता टूट ही न जाये—जुड़ी रहे, बनी रहे, चलती रहे। जब शत्रुता टूटने के करीब आ जाती है, तो फिर मित्रता जमा देती है उखड़ा रूप और फिर शत्रुता शुरू हो जाती है।

शत्रुता अनिवार्य है। उसका कारण है—जिस पर हम निर्भर हो जाते है, उसके प्रति दुर्भाव शुरू हो जाता है। उससे बदला लेने का मन हो जाता है। वह दुश्मन हो जाता है।

महावीर कहते हैं कि जब तक हम दूसरे के प्रति बह रहे हैं, तब तक हम गुलाम रहेंगे। काम-वासना सबसे बडी गुलामी है, इसलिए ब्रह्मचर्य को सबसे बडी स्वतन्त्रता कहा है और इसीलिए ब्रह्मचर्य को मोक्ष का अनिवार्य हिस्सा मान लिया महावीर ने।

'जो मनुष्य अपना चित्त शुद्ध करने, स्वरूप की खोज करने के लिए तत्पर है, उसके लिए देह का शृगार, स्त्रियो का ससर्ग और स्वादिष्ट तथा पौष्टिक भोजन का सेवन विष जैसा है।'

महावीर ऐसा क्यो कहते है, इसके कारण हम ठीक से ख्याल मे ले ले।

देह का शृगार हम करते ही इसलिए है कि हमारी उत्सुकता किसी और मे है। देह का शृगार कोई अपने लिए नही करता, सदा दूसरे के लिए करता है। जिसके प्रति हम आश्वस्त हो जाते हैं, उसके लिए फिर हम देह का शृगार नही करते। इसलिए दूसरो की पत्नियाँ ज्यादा सुन्दर दिखाई पडती हैं, अपनी पत्नियाँ उतनी सुन्दर मालूम नही पडती; क्योंकि पत्नियाँ आश्वस्त हो जाती हैं पति के प्रति कि अब रोज-रोज शृगार करने की कोई जरूरत नही। जिसको जीत ही लिया, उसको अब रोज-रोज जीतने का क्या कारण! तो पति पत्नी की असली शक्ल देखता है और उससे ऊब जाता है। पडोसी उनकी नकली शक्ल देखते हैं, जो बाहर तैयार होकर आती हैं, इसलिए पडोसी उनमे रस लेते मालूम पड़ते हैं।

पश्चिम मे मनोवैज्ञानिक समझाते हैं स्त्री को कि अगर पति को सदा ही अपने मे उत्सुक रखना हो, तो रोज-रोज ही वह पति को जीते, इसके उपाय करते रहना चाहिए, जीत निश्चित न हो जाये; क्योकि जीत जब निश्चित हो जाती है, तो पुरुष का रस खो जाता है। पुरुष जीत मे उत्सुक है।

दूसरे की पत्नी कम सुन्दर हो, तो भी आकर्षक मालूम होती है; क्योकि आकर्षण जीत में है। जीतना जितना दुरूह हो जाये, जितना मुश्किल मालूम पड़ने लगे, उतनी चुनौती मिलती है।

शृंगार हम करते ही दूसरो के लिए हैं, अपने लिए नही । अगर आपको अकेले जगल मे छोड दिया जाये, तो आप सोचिए कि आप क्या करेंगे ! आप शृंगार नहीं करेंगे, और भले कुछ भी करे सजेगे नही, क्योंकि सजने का मतलब है, किसी के लिए ।

हमने इन्तजाम कर रखा था कि पति मर जाये, तो फिर विधवा को हम सजने नही देते थे । हम उससे पूछते थे—किसके लिए ? वह अगर अपने लिए ही सज रही थी, तो विधवा को भी सजने मे क्या हर्ज था ? वह पति के लिए सज रही थी । अब चूँकि पति नही रहा, तो किसके लिए ? और अगर हम विधवा को सजते देखते, तो शक पैदा होता कि उसने कही न कही पति की तलाश शुरू कर दी है । इसलिए हम उसको सजने नही देते थे । उसको हम सब तरफ से कुरूप करने की कोशिश करते हैं ।

बडे मजे की बात है—क्या सौन्दर्य दूसरे के लिए है ? असल मे सौन्दर्य एक फदा है—एक जाल, जिसमे हम किसी को फँसाना चाहते है ।

महावीर कहते हैं, जब दूसरे मे उत्सुकता ही नही, तो शृगार का क्या प्रयोजन ? इसलिए महावीर ने कहा है कि तुम जैसे हो, अपने लिए (अगर तुम पृथ्वी पर अकेले होते तो), वैसे ही रहो । इसलिए महावीर नग्न हो गये । इसलिए महावीर ने शरीर की सजावट छोड दी । इसका यह मतलब नही है कि महावीर शरीर के प्रति शत्रु हो गये । इसका मतलब यह भी नही कि महावीर ने अपने शरीर को कुरूप कर लिया, क्योकि वह तो दूसरी अति होगी ।

सौन्दर्य भी अगर हम निर्माण करते हैं, तो दूसरे के लिए, कुरूपता भी अगर हम निर्माण करते हैं, तो दूसरे के लिए । जिस दिन पत्नी नाराज हो, उस दिन वह पति के सामने सब तरह से कुरूप रहेगी, सजेगी नही, वह भी दूसरे के लिए । अगर सजने से सुख देने का उपाय था, तो कुरूप रह कर दुख देने का उपाय है ।

महावीर ने दूसरे का ख्याल छोड दिया । अपने लिए जैसा जी सकते थे, वैसा जीने लगे । इससे वे कुरूप नही हो गये, बल्कि सही अर्थों मे पहली दफा एक सौन्दर्य निखरा, जो दूसरे के लिए नही था, जो अपने ही भीतर से आ रहा था, जो अपने ही लिए था, जो स्वभाव था ।

शृंगार झूठा है और इसलिए शृगार मे छिपा हुआ सौन्दर्य एक धोखा है । मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि शृगार की चेष्टा, वह जो वास्तविक सौन्दर्य होना चाहिए, उस कमी की पूर्ति है ।

स्त्री जितनी सुन्दर होगी, उतना कम शृंगार करेगी। जितनी कुरूप स्त्री होगी, उतना ज्यादा शृगार करेगी। कुरूप समाज सब तरह से आभूषणों से लद जायेगा। सुन्दर समाज आभूषणो को छोड देगा। हम कमी की पूर्ति कर रहे हैं, लेकिन दृष्टि दूसरे पर है, दृष्टि सदा दूसरे पर है।

स्त्रियाँ सौन्दर्य मे कम उत्सुक हैं, शक्ति मे ज्यादा उत्सुक हैं। पुरुष शक्ति मे कम उत्सुक हैं, सौन्दर्य मे ज्यादा उत्सुक हैं। इसलिए स्त्रियाँ पूरी जिंदगी शृगार मे बिताती हैं। शक्ति हो अगर पुरुष के पास, तो वही, स्त्री की उत्सुकता का कारण है। कितना धन पुरुष के पास है, कितना बलिष्ट शरीर पुरुष के पास है, यह स्त्री के लिए मूल्यवान है।

स्त्री के मन मे सौन्दर्य का अर्थ शक्ति है। पुरुष के मन मे सौन्दर्य का अर्थ है कमनीयता, कोमलता—शक्ति नही। पुरुष शृगार की फिक्र नही करता। पुरुष कुछ और करता है। पुरुष शक्ति को बढ़ाने मे लगा रहता है। जिस चीज से भी शक्ति मिलती है, वह बढाता है—धन से मिलती हो या यश से मिलती हो। धन की दौड करता है, यश की दौड़ करता है; मगर वह भी दूसरे के लिए।

महावीर कहते है · यह दूसरे के लिए होना, यही ससार है। अपने लिए हो जाना मुश्किल है। यह जो दूसरे के लिए होने की चेष्टा है, उसमे शृगार भी होगा, स्त्रियो का ससर्ग भी होगा। स्त्री से या पुरुष से, मतलब विपरीत यौन से। विपरीत यौन के पास रहने की आकाक्षा होगी। क्योकि जब भी विपरीत यौन पास होगा, तभी आप को लगेगा कि आप हैं और जब वह पास नही होगा, तभी आप उदास हो जायेंगे, लगेगा आप नही हैं।

इसलिए देखें, अगर बीस पुरुष बैठे हो और उनमे चर्चा चल रही हो और फिर एक सुन्दर स्त्री उस कमरे मे आ जाये, तो कमरे की रौनक बदल जाती है, चेहरे बदल जाते हैं, चर्चा मे हल्कापन आ जाता है, भारीपन मिट जाता है, विवाद की जगह ज्यादा सम्वाद मालूम पडने लगता है···क्यो ? सभी पुरुष स्त्री के आते ही पहली दफा अनुभव करते हैं कि वे पुरुष हैं। यह स्त्री की जो मौजूदगी है, वह उनके पुरुषत्व के प्रति सचेतना बन जाती है। उनकी रीढ़े सीधी हो जाती हैं, वे ठीक सँभल कर बैठ जाते है, टाई ठीक कर लेते हैं, कपडे वगैरह सब सुधार लेते हैं···विपरीत मौजूद हो गया, आकर्षण शुरू हो गया।

विपरीत का आकर्षण है। इसलिए अकेले पुरुषों के क्लब हों, तो वे बिल-कुल उदास होंगे। वहां कोई रौनक नही होगी। अकेली स्त्रियो की भी अगर

बैठकें हों, तो थोडी-बहुत देर मे, जो स्त्रियाँ वहाँ मौजूद नहीं हैं, जब उनकी निंदा चुक जायेगी, तो सब फालतू मालूम पडने लगेगा।

दो स्त्रियो में मित्रता भी मुश्किल है। मित्रता का एक ही कारण हो सकता है कि कोई तीसरी स्त्री दोनों की शत्रु हो। पुरुषो मे मित्रता हो जाती है, क्योंकि उनके बहुत शत्रु हैं चारों तरफ। मित्रता बनाते ही हम इसलिए हैं कि शत्रु के खिलाफ लडना है। स्त्रियो मे कोई मैत्री नहीं बन सकती। और उनकी अगर बैठक हो, तो उसमे चर्चा योग्य भी कुछ नही हो सकता, सब छिछला होगा। लेकिन एक पुरुष को प्रवेश कर दे, तो सारी स्थिति बदल जायेगी।

यह सब अचेतन होता है। इसके लिए चेतन रूप से आपको कुछ करना नही होता। आपकी ऊर्जा ही करती है।

दूसरे की हम तलाश करते हैं, ताकि अपने को हम अनुभव कर सकें। विपरीत को हम खोजते हैं, ताकि हमे अपना पता चला सके।

इसलिए महावीर कहते हैं विपरीत का ससर्ग—जिसे ब्रह्मचर्य साधना है, जिसे स्वरूप की तलाश करनी है—उसे छोड देना चाहिये। ख्याल ही विपरीत का छोड देना चाहिये। क्योकि आत्मा विपरीत से नही जानी जा सकती, केवल शरीर विपरीत से जाना जा सकता है।

शरीर के तल पर आप स्त्री हैं या पुरुष हैं। आत्मा के तल पर आप न स्त्री हैं, न पुरुष हैं। अगर आत्मा को खोजना है, तो विपरीत का कोई उपयोग नही है। अगर शरीर की ही खोज जारी रखनी है, तो विपरीत के बिना कोई उपयोग नही है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि कभी न कभी स्त्री और पुरुष अलग-अलग नही थे। बाइबल की कहानी बडी सच मालूम पडती है। बाइबल मे कहानी है कि ईश्वर अकेला रहते-रहते ऊब गया। (अकेला रहता कोई भी ऊब जाये।) और उसने, 'आदम' को पैदा किया। फिर 'आदम' अकेला ऊबने लगा, तो उसकी पसली निकाल कर ईश्वर ने 'हव्वा'—'ईव' पैदा किया, स्त्री को पैदा किया।

किर्केगार्ड ने बडा गहरा मजाक किया है। उसने कहा है : पहले ईश्वर अकेला ऊब रहा था, फिर उसने 'आदम' को पैदा किया। फिर 'आदम' ऊबने लगा, तो ईश्वर ने 'आदम' की हड्डी से 'ईव' को पैदा किया। फिर 'ईव' और 'आदम' ऊबने लगे और उन्होंने बच्चे पैदा किये 'कैन' और 'अबेल'। फिर कैन,

अबेल, आदम, ईव, ईश्वर, सब ऊबने लगे, पूरा परिवार ऊबने लगा, तो फिर उन्होंने पूरा संसार पैदा किया और अब पूरा संसार ऊब रहा है।

बाइबिल की कहानी कहती है कि 'आदम' की हड्डी से ईश्वर ने 'ईव' को पैदा किया। यह बात अब तक तो 'मिथ' पुरान, कल्पना थी, लेकिन विज्ञान की खोजों ने सिद्ध किया कि इसमे एक सच्चाई है।

जैसे हम पीछे लौटते हैं जीवन मे, तो 'अमीबा', जो जीवन का पहला अकुरण है पृथ्वी पर, उसमे स्त्री और पुरुष एक साथ हैं। उसका शरीर दोनों का है। उसको पत्नी खोजने कही जाना नही पडता। उसकी पत्नी उसके साथ ही जुडी है। वह पति-पत्नी दोनों एक साथ है। वह पहला रूप है 'अमीबा'। फिर बाद में, बहुत बाद मे 'अमीबा' टूटा और उसके दो हिस्से हुए।

इसलिए स्त्री और पुरुष मे इतना आकर्षण है। क्योंकि 'बायलॉजी' के हिसाब से वे एक बड़े शरीर के दो टूटे हुए हिस्से हैं। इसलिए वे पास आना चाहते है, निकट आना चाहते है, जुडना चाहते हैं, फिर से। सम्भोग उनके जुडने की कोशिश है। इस कोशिश मे उन्हे क्षण भर का जो मेल मालूम पडता है, वही उनका सुख है। यह जो जुडने की कोशिश हे शरीर के तल पर, यह अर्थपूर्ण है। क्योकि आधे-आधे हैं दोनो और दोनों को अधूरापन लगता है। पर आत्मा के तल पर न कोई पुरुष है, न कोई स्त्री है।

इसलिए महावीर कहते है कि जो स्वरूप को खोज रहा हो, उसके लिए विपरीत के ससर्ग की सार्थकता तो है ही नही, खतरा भी है; क्योकि जैसे ही विपरीत मौजूद होगा, उसका शरीर प्रभावित होना शुरू हो जायेगा। वह कितना ही अपने को रोके, उसके शरीर के अणु विपरीत के प्रति खिचने लगेंगे। यह खिचाव वैसा ही है, जैसा हम चुम्बक को रख दे और लोहे के कण उसकी तरफ खिच आये।

जैसे ही पुरुष मौजूद होगा, स्त्री मौजूद होगी, दोनों के शरीर का रुख आकर्षण का होगा। वह एक दूसरे के करीब आ जाने को उत्सुक हो जायेंगे। आपकी इच्छा और अनिच्छा का सवाल नहीं है। आपकी 'बायलॉजी,' आपके शरीर का ढांचा, आपकी बनावट, आपका होना ऐसा है कि स्त्री और पुरुष के होते ही तत्काल खिंचाव शुरू हो जाता है। उस खिंचाव को आप रोकते हैं। (यह ख्याल पकड़ लेता है कि वह मेरी पत्नी नही है, वह मेरा पति नही है) आप उसको रोकते हैं। वह सभ्यता है, सस्कृति है, नियम है, लेकिन खिंचाव

शुरू हो जाता है। वह खिंचाव आपको आत्मा के तल पर जाने से रोकेगा। आपकी उर्जा नीचे की तरफ बहने लगेगी।

इसलिए महावीर कहते हैं : यह ससर्ग खतरनाक है ब्रह्मचर्य के साधक को। स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन भी वे कहते हैं कि खतरनाक है, विष जैसा है। क्यो ? क्योकि आपकी जो भी वीर्य-ऊर्जा है, वह आपके पौष्टिक भोजन से निर्मित होती है। आपकी जो भी कामवासना है, वह पौष्टिक भोजन से निर्मित होती है।

महावीर कहते है इतना भोजन लो, जिससे शरीर चल जाता हो। बस इससे ज्यादा भोजन, जो अतिरिक्त शक्ति देगा, उससे कामवासना बनती है। जो अतिरिक्त भोजन है, यह तुम्हे नही मिलता, तुम्हारी कामवासना को मिलता है।

इस बात को हम समझ लें।

चलने, उठने, बैठने, काम करने, बोलने, इस सबके लिए एक अनिवार्य शक्ति, एक खास 'केलरी' शक्ति जरूरी है। उतनी 'केलरी' शक्ति शरीर में लग जाती है। उसके अतिरिक्त जो आपके पास बचता है, वही आपकी कामवासना को मिलता है।

ध्यान रखे · हमारे पास जब भी कुछ अतिरिक्त बचता है—जब भी शरीर मे ही नही, बाहर भी—अगर आपके 'बैंक-बैलेन्स' मे आपके खर्च और जीवन की व्यवस्था को बचाकर कुछ बचता है, तो वह भोग और विलास मे लगेगा। उसका कोई और उपयोग नही है।

अतिरिक्त हमेशा विलास है। इसलिए जिन समाजो के पास समृद्ध बढेगी, वे विलासी हो जायेंगे। यह बडी कठिनाई है।

गरीब की अपनी तकलीफे हैं, अमीर की अपनी तकलीफे हैं। गरीब को जीवन की जरूरतें पूरी नही है, इसलिए बेइमान हो जायेगा, चोर हो जायेगा, अपराधी हो जायेगा। अमीर के पास जरूरत से ज्यादा है, इसलिए विलासी हो हो जायेगा। सतुलन बडा मुश्किल है।

महावीर कहते हैं सम्यक सतुलन। इतना भोजन जितने से शरीर का काम चल जाता हो। उससे कम भी नही, उससे ज्यादा भी नहीं। महावीर का जोर सम्यक् आहार पर है, लेकिन हम ज्यादा लिये चले जाते हैं।

इसमें उन्होने चीजें गिनाई है. दूध, मलाई, घी, मक्खन—यह थोड़ा सोचने जैसा है।

असल में दूध अत्यधिक काम-उत्तेजक आहार है और मनुष्य को छोड़कर पृथ्वी पर कोई पशु इतना कामवासना से भरा हुआ नहीं है। उसका एक कारण दूध है।

कोई पशु बचपन के कुछ समय के बाद दूध नही पीता, सिर्फ आदमी को छोडकर। पशु को जरूरत भी नही है। शरीर का काम पूरा हो जाता है। सभी पशु दूध पीते हैं अपनी माँ का, लेकिन दूसरों की माताओ का दूध सिर्फ आदमी पीता है और वह भी आदमी की माताओ का नहीं, जानवरो की माताओं का पीता है।

दूध बडी अदभुत बात है और आदमी की संस्कृति में दूध न मालूम क्या-क्या है, इसका हिसाब लगाना कठिन है। बच्चा एक उम्र तक दूध पिये, यह नैसर्गिक है, इसके बाद दूध समाप्त हो जाना चाहिये। सच तो यह है कि जब तक माँ के स्तन से बच्चे को दूध मिल सके, बस, तब तक ठीक है। उसके बाद दूध की आवश्यकता नैसर्गिक नही है। बच्चे का शरीर बन गया, निर्माण हो गया, दूध की जरूरत थी—हड्डी के लिए, खून के लिए, माँस बनाने के लिए—'स्ट्रक्चर' पूरा हो गया, ढाँचा तैयार हो गया, अब सामान्य भोजन काफी होगा। अब भी अगर दूध दिया जाता है, तो यह सारा दूध कामवासना का निर्माण करता है। यह अतिरिक्त है। इसलिए वात्सायन ने काम सूत्र मे कहा है कि हर सम्भोग के बाद पत्नी को अपने पति को दूध पिलाना चाहिए ठीक कहा है।

दूध जिस बडी मात्रा मे वीर्य बनाता है, और कोई चीज नही बनाती। क्योंकि दूध जिस बड़ी मात्रा मे खून बनाता है, और कोई चीज नही बनाती। खून बनता है, फिर खून से वीर्य बनता है। तो दूध से निर्मित जो भी है, वह कामोत्तेजक है।

इसलिए महावीर ने कहा है कि दूध उपयोगी नही है। खतरनाक है। कम से कम ब्रह्मचर्य के साधक के लिए खतरनाक है। ठीक है। काम-सूत्र और महावीर की बात मे कोई विरोध नही है। भोग के साधक के लिए सहयोगी है, तो योग के साधक के लिए अवरोध है। फिर पशुओं का दूध है वह। निश्चित ही पशुओं के लिए, उनके शरीर के लिए, उनकी वीर्य ऊर्जा के लिए, जितना शक्तिशाली दूध चाहिए, उतना पशु मादाएँ पैदा करती हैं।

जब एक गाय दूध पैदा करती है, तो आदमी के बच्चे के लिए पैदा नहीं करती, सांड के लिए पैदा करती है। और जब आदमी का बच्चा पिये उस

दूध को और उसके भीतर सांड जैसी काम-वासना पैदा हो जाए, तो इसमें कोई आश्चर्य नही है। वह आदमी का आहार न था। इस पर अब तो वैज्ञानिक भी काम करते हैं और आज नही कल हमे समझना पडेगा कि आदमी में बहुत सी पशु प्रवृत्तियाँ हैं, तो कही उनका कारण पशुओ का दूध तो नही है। अगर उसकी पशु प्रवृत्तियो को बहुत बल मिलता है, तो उसका कारण पशुओ का आहार तो नही है।

आदमी का क्या आहार है, यह अभी तक ठीक से तय नही हो पाया। लेकिन वैज्ञानिक हिसाब से अगर आदमी के पेट की हम जाँच करे, जैसा कि वैज्ञानिक किये हैं, तो वे कहते हैं कि आदमी का आहार शाकाहारी ही हो सकता है। क्योकि शाकाहारी पशुओं के पेट मे जितने बडे 'इन्टेस्टाइन' (आत) की जरूरत होती है, उतनी बडी 'इन्टेस्टाइन' है—आदमी के भीतर।

मासाहारी जानवरो की 'इन्टेस्टाइन' छोटी होती है। जैसे शेर की बहुत छोटी होती है। क्योकि मास पचा हुआ आहार है। बडी 'इन्टेस्टाइन' की जरूरत नही है, पचा-पचाया है, तैयार है भोजन। वह उसने ले लिया, सीधा का सीधा शरीर मे लीन हो जायेगा। बहुत छोटे पाचन-यत्र की जरूरत है।

बडे मजे की बात है कि शेर चौबीस घंटे मे एक बार भोजन करता है। काफी है। बन्दर शाकाहारी है, देखा है आपने उसको ' दिन भर चबाता रहता है। उसकी इन्टेस्टाइन बहुत लम्बी है। उसको दिन भर भोजन चाहिए, इसलिए वह दिन भर चबाता रहेगा।

आदमी को भी बहुत मात्रा मे एक बार खाने की बजाय, छोटी-छोटी मात्रा मे बहुत बार खाना उचित है। वह बन्दर का वशज है।

जितना शाकाहारी हो भोजन उतना कम कामोत्तेजक है। जितना मांसाहारी हो उतना अधिक कामोत्तेजक होता जायेगा।

दूध मांसाहार का हिस्सा है। दूध मांसाहार है; क्योंकि माँ के खून और मास से ही निर्मित होता है। शुद्धतम् मासाहार है। इसलिए जैनी, जो अपने को कहते हैं कि हम गैर-मासाहारी हैं, उन्हे कहना नही चाहिए, जब तक वे दूध न छोड़ दें।

'क्वेकर' (एक धार्मिक सम्प्रदाय) ज्यादा शुद्ध शाकाहारी है, क्योंकि वे दूध नही लेते। वे कहते हैं कि दूध 'एनिमल फुड' है। वह नही लिया जा सकता। आप कहेगे, लेकिन दूध हमारे लिए तो पवित्रम है, पूर्ण आहार है, सब कुछ उससे

मिल जाता है, लेकिन वह बच्चे के लिए और वह भी उसकी अपनी मा का; दूसरे की माँ का दूध खतरनाक है। और बाद की उम्र में तो फिर दूध, मलाई और घी और ये सब और उपद्रव हैं—दूध से निकलते हुए। मतलब दूध को हम और भी कठिन करते चले जाते हैं—जब मलाई बना लेते हैं, फिर मक्खन बना लेते हैं, फिर घी बना लेते हैं—तो घी शुद्धतम् काम-वासना हो जाती है। यह सब अप्राकृतिक है और आदमी इनको लिये चला जाता है। निश्चित ही उसका आहार फिर उसके आचरण को प्रभावित करता है।

तो महावीर ने कहा है: सम्यक् आहार, शाकाहारी आहार, बहुत पौष्टिक नही, केवल उतना जितना शरीर को चलाता है, सम्यक् रूप से सहयोगी है—उस साधक के लिए, जो अपनी तरफ आना शुरू हुआ।

शक्ति की जरूरत है, दूसरे की तरफ जाने के लिए; शाति की जरूरत है, स्वय की तरफ आने के लिए। अब्रह्मचारी कामुक-शक्ति के उपाय खोजेगा। कैसे शक्ति बढ जाए, शक्ति-वर्धक दवाइयाँ लेता रहेगा—कैसे शक्ति भर जाये। ब्रह्मचर्य का साधक कैसे शक्ति शात बन जाए, इसकी चेष्टा करता रहता है। जब शक्ति शांति बनती है, तो भीतर बहती है और जब शांति शक्ति बन जाती है, तो बाहर बहना शुरू हो जाती है।

आज इतना ही, पाँच मिनट रुके, कीर्तन करें।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
८ सितम्बर, १९७२

पांचवाँ प्रवचन

ब्रह्मचर्य-सूत्र : २

सद्दे रुवे य गंधे य, रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए।।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्ख,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो।।

देवदाणव गन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं।।

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए।
सिद्धासिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्तितहाऽवरे।।

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार के काम-गुणों को भिक्षु सदा के लिए त्याग दें।

देवलोक सहित समस्त संसार के शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुख का मूल काम-मार्गों की वासना ही है। जो साधक इस संबंध में वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुखों से छूट जाता है।

जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव हैं, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हो गये हैं, वर्तमान में हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे।

● पहले एक प्रश्न ।

एक मित्र ने पूछा है । यदि काम-वासना केवल जैविक, 'बायलॉजिकल' है, तब तो तन्त्र की पद्धति ही ठीक होगी । यदि मात्र आदतन, 'हैबिचुअल' है, तो महावीर की विधि से श्रेष्ठ ओर कुछ नही हो सकता । कामवासना जैविक है या आदतन है ?

दोनो है, इसीलिए जटिलता है । ऊर्जा तो जैविक है, 'बायलॉजिकल' है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति बडी मात्रा मे आदत पर निर्भर है ।

पशु और आदमी मे जो बडे से बडा अन्तर है, वह यही है कि आदमी के साथ सभी कुछ स्वतत्र हो जाता है । आदमी के साथ कामवासना की जैविक-ऊर्जा भी स्वतत्र अभिव्यक्तियाँ लेनी शुरू कर देती है ।

पशु की आदत भी 'बायलॉजिकल' है, इसलिए पशुओ मे 'सेक्सुअल परव्हर्सन', काम-विकृतियाँ दिखाई नही पडती । जैसे पशुओ मे समलिंगी-यौन, 'होमोसैक्सुअॅलिटी' नही पायी जाती, उन पशुओं को छोड कर, जो अजायब-घरो मे रहते हैं या आदमियों के पास रहते हैं । पशु यह सोच भी नहीं सकते अपनी निसर्ग अवस्था मे कि पुरुष पुरुष के प्रति कामातुर हो सकता है । या स्त्री-स्त्री के प्रति कामातुर हो सकती है । लेकिन एक पुरुष एक पुरुष के प्रेम मे पड जाता है, एक स्त्री स्त्री के प्रेम मे पड जाती है, और यह मात्रा बढती ही जाती है ।

किन्से ने वर्षो के अध्ययन के बाद अमेरिका मे जो रिपोर्ट दी है, वह यह है कि कम से कम साठ प्रतिशत लोग एकाध बार तो जरूर ही समलिंगी-यौन का व्यवहार करते हैं । और करीब-करीब पच्चीस प्रतिशत लोग जीवन भर समलिंगी-यौन मे उत्सुक होते हैं—यह बहुत बडी घटना है ।

स्त्री का पुरुष के प्रति आकर्षण और, पुरुष का स्त्री के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है, लेकिन पुरुष का पुरुष के प्रति और स्त्री का स्त्री के प्रति आकर्षण

अस्वाभाविक है। आदमी जड़ आदतो से मुक्त हो गया है। आदमी 'इन्स्टिक्ट' से (उसकी जो निसर्ग के द्वारा दी गई आदते हैं, उनसे) ऊपर उठ सकता है। वह बदलाहट कर सकता है। उसकी जो ऊर्जा है, वह नये मार्गों पर बह सकती है।

ब्रह्मचर्य पशुओ के लिए अस्वाभाविक है, आदमी के लिए नही। आदमी चाहे तो ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो सकता है, लेकिन कोई पशु ब्रह्मचर्य को उपलब्ध नही हो सकता; क्योकि पशु की कोई स्वतन्त्रता नही है—ऊर्जा को रूपान्तरित करने की, पर आदमी अपनी ऊर्जा को रूपान्तरित करने को स्वतत्र है।

तन्त्र और योग, दोनो ही मनुष्य की काम-ऊर्जा को रूपान्तरित करना चाहते हैं। यह रूपान्तरण दो तरह से हो सकता है; या तो काम-उर्जा के गहन अनुभवो मे जाया जाये—होश-पूर्वक या फिर सारी आदत बदल दी जाये, ताकि काम-ऊर्जा नई आदत को पकड कर उर्ध्वगामी हो जाये। रूपान्तरण सदा ही अति से होता है, 'एक्सट्रीम' मे होता है।

अगर आप एक पहाड से कूदना चाहते हैं, तो आपको किनारे से ही कूदना पडेगा। आप पहाड के मध्य से नही कूद सकते। वही से आप कूद सकते हैं, जहाँ से खाईं निकट है।

जीवन मे भी छलाँग अति से होती है, मध्य से कोई छलाँग नही हो सकती। छोर से ही आदमी कूद सकता है।

काम-उर्जा की दो अतियाँ हैं, या तो काम-ऊर्जा मे इतने समग्र-भाव से उतर जाये व्यक्ति कि छोर पर पहुँच जाये काम के अनुभव के, तो वहाँ से छलाँग हो सकती है। या फिर इतना अस्पर्शित रहे कि काम के अनुभव मे प्रवेश ही न करे, द्वार पर ही खड़ा रहे, तो वहाँ से भी छलाँग हो सकती है। मध्य से कोई छलाँग नही हो सकती। सिर्फ बुद्ध ने कहा है कि 'मध्य' मार्ग है। महावीर मध्य को मार्ग नही कहते। तन्त्र भी मध्य को मार्ग नही कहता। सिर्फ बुद्ध ने कहा है कि 'मध्य' मार्ग है। अगर बुद्ध की बात को भी हम ठीक से समझ ले, तो वे मध्य को इतनी अति तक ले जाते हैं कि मध्य मध्य नही रह जाता, अति हो जाता है। वे कहते हैं, इंच भर बाएँ भी नही, इंच भर दायें भी नही, बिलकुल मध्य। बिलकुल मध्य का मतलब है नई अति। अगर कोई बिलकुल मध्य में रहने की कोशिश करे, तो वह नये छोर को उपलब्ध हो जाता है।

जैसा मैंने कल कहा अगर पानी को हम शून्य डिग्री के नीचे ले जायें तो वह बर्फ बन जाता है और छलाग लग जाती है। अगर हम पानी को सौ डिग्री

गर्मी तक ले जायें, तो वह भाप बन जाता है और छलांग लग जाती है। लेकिन कुनकुना पानी कभी छलाँग नही ले सकता, न इस तरफ, न उस तरफ वह मध्य मे है।

अधिकतर लोग कुनकुने पानी की तरह हैं—ल्यूक वार्म। न वे बर्फ बन सकते हैं, न वे भाप बन सकते हैं। वे छोर पर नही हैं कही, जहाँ से छलांग हो सके। प्रत्येक व्यक्ति को एक छोर पर जाना पड़ेगा, एक अति पर जाना पडेगा।

योग और तंत्र—ये दो अतियां हैं। योग अभिव्यक्ति को बदलता है, तंत्र अनुभूति को बदलता है। दोनों तरफ से यात्रा हो सकती है।

इन मित्र ने कहा है : अगर तंत्र थोडे ही लोगों के लिए है, तो आप इसकी चर्चा नही करते, तो अच्छा था; क्योंकि चर्चा करना खतरनाक हो सकता है।

जो चीज खतरनाक हो, उसकी चर्चा ठीक से कर लेनी चाहिए। खतरे से बचने का एक ही उपाय है कि हम उसे जानते हो, दूसरा कोई उपाय नहीं है। लेकिन, जब मैं कहता हूँ कि तंत्र बहुत थोड़े लोगों के लिए है, तो आप यह मत समझ लेना कि योग बहुत ज्यादा लोगो के लिए है। बहुत थोडे ही लोग छलांग लेते हैं—चाहे योग से, चाहे तंत्र से। अधिकतर लोग कुनकुने ही रहते हैं जीवन भर—न कभी उबलते, न कभी ठडे होते। यह जो 'मिडियाकर', मध्य मे रहनेवाला बडा वर्ग है, यह कोई छलाँग नही लेता। और यह छलांग ले भी नही सकता। दोनो छोरों से छलाँग होती है, लेकिन छोर पर हमेशा थोडे से लोग ही पहुँच पाते हैं। छोर पर पहुँचने का अर्थ है, जहाँ बहुत-कुछ त्यागना पडता है।

ध्यान रहे, किसी भी छोर पर जाना हो, तो कुछ त्यागना पडता है। अगर तंत्र की तरफ जाना हो, तो भी बहुत-कुछ त्यागना पडता है। अगर योग की तरफ जाना हो, तो भी बहुत-कुछ त्यागना पडता है। अलग-अलग चीजें त्यागनी पडती हैं, लेकिन त्यागना तो पडता ही है। छोर पर पहुँचने का मतलब है कि मध्य मे रहने की जो सुविधा है, वह त्यागनी पडती है। मध्य में कभी कोई खतरा नही है। वह जो सुरक्षा है, वह त्यागनी पड़ती है।

जैसे-जैसे आदमी छोर पर जाता है, वैसे-वैसे खतरे के करीब आता है। जहाँ परिवर्तन हो सकता है, वहाँ खतरा भी होता है। जहां विस्फोट होगा, जहाँ क्रांति होगी, वहाँ हम खतरे के करीब पहुँच रहे हैं। इसलिए अधिक लोग भीड़ के बीच में जीते हैं। खतरे से सुरक्षा रहती है, दोनों ही खतरनाक हैं। लेकिन

जिन्दगी केवल वे ही लोग अनुभव कर पाते हैं, जो असुरक्षा में उतरने की हिम्मत रखते हैं।

तंत्र भी साहस है, योग भी। महावीर भी कोई बहुत लोग नही हो पाते। वह भी आसान नही है, आसान कुछ भी नही है। आसान है, सिर्फ क्रमश. मरते जाना। जीना तो कठिन है। कठिनाई असुरक्षा मे उतरने की है, अज्ञात में उतरने की है।

कुछ लोग तत्र से पहुँच सकते हैं, कुछ लोग योग से पहुँच सकते हैं। यह व्यक्ति को खोज करनी पडती है कि वह किस मार्ग से पहुँच सकता है। लेकिन कुछ सूचनाएँ दी जा सकती हैं अपने अचेतन को थोड़ा टटोलना चाहिए। अगर अचेतन ऐसा कहता है कि तत्र तो बडा मजेदार होगा; कि इसमे तो कुछ छोडना भी नही, कि इसमे तो भोग ही भोग है, यही रास्ता ठीक है, तो समझना कि यह रास्ता आपके लिए ठीक नही है या आप अपने को धोखा दे रहे हैं।

हर आदमी अपनी अचेतन वृत्ति को थोडे से ही निरीक्षण से जाँच सकता है। बडी जटिल बात नही है। भीतरी रस आपको पता ही रहता है कि आप किसलिए कर रहे हैं। अपने को धोखा देना बहुत कठिन है, असभव है। थोडा सा होश रखे, तो आपको जाहिर रहेगा कि आप यह किसलिए कर रहे हैं। अगर आपको रस मालूम पड रहा हो तत्र मे, तो तंत्र आपके लिए मार्ग नही है। अगर आपको योग मे रस मालूम पड रहा हो, तो योग भी आपके लिए मार्ग नही है।

कुछ लोगो को योग मे रस मालूम पडता है। आत्म-पीडक, खुद को सताने वाले लोग, जिनको मनोवैज्ञानिक 'मैसोचिस्ट' कहते हैं, जो अपने को सताने मे मजा लेते हैं—ऐसे लोगो को योग मे बडा रस मालूम पड़ता है। उपवास मे, तप मे, धूप मे खडे होने मे, नग्न होने मे—उन्हे बडा रस मालूम पडता है। किसी भी तरह उन्हे अपने आपको सताने मे रस मालूम पडता है।

अगर आपको अपने आपको सताने में रस मालूम पड रहा हो, तो आप समझना कि योग आपके लिए मार्ग नही है। योग आपके लिए बीमारी है। अगर आपको भोग मे रस मालूम पड रहा हो, इसलिए तत्र के बहाने आप भोग मे उतर रहे हो, तो तत्र आपके लिए खतरनाक है, बीमारी है।

एक बात ठीक से समझ लेनी चाहिए कि चित्त की अस्वस्थता को किसी भी चीज से सहारा देना खतरनाक है। फिर रस न पड़ रहा हो, क्या उपाय

है ? कैसे हम जानें कि इसमे हमे रस नही पड़ रहा है ? एक बात ध्यान में रखनी जरूरी है कि जब भी हम किसी मार्ग से किसी अन्त की तरफ जा रहे हो, तो अन्त में रस होना चाहिए, मार्ग मे रस नही होना चाहिए।

आप एक मजिल पर जा रहे हैं, एक रास्ते से तो, आपको मजिल मे रस होना चाहिए, रास्ते मे रस नहीं होना चाहिए। अगर आपको रास्ते मे रस है, इसीलिए मजिल को आपने चुन लिया है कि रास्ता सुखद है, सुन्दर छाया है, वृक्ष हैं, फूल हैं, इसलिए इस मजिल को चुन लें, तो खतरा है। रास्ता कभी मत चुने, मजिल चुनें, और मजिल के अनुकूल रास्ता चुने। रास्ते मे बहुत रस न ले। रास्ते मे जो रस लेगा, वह अटक जायेगा। हम सारे लोग रास्ते मे रस लेते हैं। हम रास्ता ही ऐसा चुनते हैं।

फ्रायड ने कहा है कि आदमी इतना कुशल है कि वह सब तरह के 'रेशनलाइजेशन' कर लेता है, सब तरह की तर्कबद्ध व्यवस्था कर लेता है। वह जो चुनना चाहता है, वही चुनता है और चारो तरफ तर्क का आवरण खडा कर लेता है, और अपने को समझा लेता है कि यह मैंने किसी अन्तर्वृत्ति के कारण नही, किसी वासना के कारण नही, यह मैंने बडे विवेक-पूर्वक चुना है—यह धोखा बहुत आसान है, लेकिन अगर कोई सजग हो, तो इसे तोडना कठिन नही है। हम हमेशा ही जान सकते हैं, देख सकते हैं कि भीतर दो तल तो नही है। दो तल का मतलब यह होता है कि ऊपर से आप कुछ और समझा रहे हैं अपने को, लेकिन भीतर से बात कुछ और है।

एक आदमी उपवास कर रहा है, और उपर से समझा रहा है कि यह साधना है। लेकिन उसे जाचना चाहिए, कही उसे खुद को भूखा मारने मे किसी तरह का ग्रहित रस तो नही आ रहा है।

ऐसे लोग हैं जो खुद को सताने मे रस लेते हैं। जब तक वे अपने को न सताएँ, उन्हे किसी तरह का आनन्द नही आता। खुद को सताने में उन्हे ऐसे ही मजा आने लगता है, जैसे कुछ लोगो को दूसरो को सताने मे मजा आता है। वह खुद के साथ एक फासला कर लेते हैं।

मेसोक एक बड़ा लेखक हुआ। वह जब तक अपने को कोडे न मार ले, रोज कांटे न चुभा ले, तब तक उसे रस ही न आए। इसलिए उसी के नाम पर 'मैसोकिज्म', आत्म-पीडन के सिद्धान्त का निर्माण हो गया।

कोई आदमी कांटे बिछाकर उस पर लेटा हुआ है, वह कितना ही कहे कि हम साधना कर रहे हैं, लेकिन कांटों पर लेटने मे उसे यह जांच करनी चाहिए

कि कहीं कुल रस इतना ही तो नही है कि मैं अपने को सता सकता हूँ।

जब आप अपने को सताते हैं, तो आपको लगता है कि आप अपने मालिक हो गए। जब आप अपने को सताते हैं, तो आपको लगता है कि अब ये शरीर आपके उपर मालिक नही रहा। इस सताने मे अगर भीतरी सुख मिलने लगे, जैसे कि कोई खाज खुजलाता है और सुख मिलता है। ऐसा इस सताने में भी सुख मिलने लगे, तो समझना कि आप 'पैथॉलॉजिकल', रुग्ण दिशाओं मे यात्रा कर रहे हैं।

यही तंत्र के बाबत भी सच है। आदमी कह सकता है कि मैं तो सिर्फ कामवासना मे उतर रहा हूँ, ताकि कामवासना से मुक्त हो सकूँ। लेकिन, यह दूसरो को धोखा देने मे कोई अडचन नही है। पर खुद तो वह जानता ही रहेगा कि सच मे कामवासना से मुक्त होने के लिए उतर रहा हूँ या यह सिर्फ एक बहाना है, एक 'एक्सक्यूज' है। खुद के सामने यह निरीक्षण सदा बना रहे, तो आज नही कल थोडी बहुत भूलचूक करके आदमी उस रास्ते पर आ जाता है, जो मंजिल तक पहुँचाने वाला है।

कौन सा रास्ता आपके लिए मंजिल तक पहुँचाने वाला है, आपके अतिरिक्त इसका निर्णय करना दूसरो को कठिन होगा। आप अगर अपने को धोखा ही देते चले जाएँ, तो आपको भी बहुत अडचन होगी। और जो अपने को धोखा देने मे लगा है, उसका धर्म से अभी कोई संबंध नही है, साधना से अभी उसका कोई जोड नही बैठा है।

आदत भी तोडी जा सकती है, अनुभूति भी बदली जा सकती है—यह दो छोर हैं।

ऐसा समझें कि यह एक बिजली का बल्ब जल रहा है। यहाँ अँधेरा करना हो, तो दो उपाय हैं; या तो बिजली बल्ब तक न आने दी जाए, बटन बन्द कर दी जाए, तो अँधेरा हो जायेगा, या बटन चालू भी रहे और बल्ब तोड दिया जाए, तो भी अँधेरा हो जायेगा।

तन्त्र का प्रयोग, वह जो भीतर ऊर्जा बह रही है, भीतर, उसको बदलने का है। महावीर का प्रयोग, वह जो बाहर अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया, उसे तोड़ देने का है। दोनो से पहुँचा जा सका है। लेकिन जब भी एक मार्ग की कोई बात करेगा, तो दूसरे मार्ग के विपरीत उसे बोलना पड़ता है, अन्यथा समझाना बिलकुल कठिन और असम्भव हो जाये। अगर तन्त्र पढ़ेंगे, तो लगेगा

कि महावीर जैसा व्यक्ति कभी भी नही पहुँच सकता। अगर महावीर को पढ़ेंगे, तो लगेगा कि तान्त्रिक कभी नही पहुँचे होगे। जो जिस मार्ग की बात कर रहा है, वह उस मार्ग को पूरा स्पष्ट कर रहा है।

सभी मार्ग अपने आप मे पूरे हैं और सभी मार्गों से पहुँचा जा सकता है। लेकिन ऐसा लगता है कि विपरीत से कैसे पहुँचा जा सकता है।

● अब महावीर का यह सूत्र हम समझें।

'शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाच प्रकार के काम-गुणों को भिक्षु सदा के लिए त्याग दें।'

तन्त्र कहता है—समस्त इद्रियो का पूरा अनुभव, और महावीर कहते हैं—समस्त इद्रियो का अवरोध, समस्त इद्रियो का निषेध।

कामवासना सिर्फ कामवासना ही नही है, और कामेन्द्रिय सिर्फ कामेन्द्रिय ही नही है, सभी इद्रियाँ कामेन्द्रियाँ हैं।

जब आप किसी के शरीर को हाथ से छूते हैं, तभी छूते है—ऐसा नही। जब आप किसी को देखते हैं, तब भी छूते हैं; तब आप आँख से छूते हैं। आँख भी छूती है किसी के शरीर को और हाथ भी छूता है। और जब किसी को आपकी आवाज प्रीतिकर और मधुर लगती है, उत्तेजित लगती है, तब कान भी छूता है। और जब पास से गुजर जाते किसी की शरीर की गध आन्दोलित कर जाती है, तो नाक भी छूती है।

हाथ बहुत स्थूल रूप से छूते हैं, आँख बहुत सूक्ष्म रूप से छूती है और जननेन्द्रिय गहनतम् स्पर्श करती है, लेकिन सभी स्पर्श हैं; स्पर्श सभी इद्रियाँ करती है।

महावीर कहते हैं : अगर वासना से पूरी तरह छूटना है, तो स्पर्श की जो कामना है अनेक-अनेक रूपो मे, वह सभी त्याग देनी चाहिए। आँख से भी भोग न हो, कान से भी भोग न हो, स्वाद से भी भोग न हो। भोग की वृत्ति इद्रियों के द्वार से बाहर यात्रा न करें। क्योकि जब आप किसी को देखना चाहते हैं, तो कामवासना शुरू हो गई। किसी की आवाज सुनना चाहते हैं, तो कामवासना शुरू हो गई।

कामवासना 'यौन' ही नही है—यह ख्याल मे ले लें।

जिसने यह समझा हो कि यौन ही कामवासना है, वह गलती मे पड़ेगा। यौन तो उसकी चरम निष्पत्ति है, लेकिन यात्रा का प्रारम्भ तो दूसरी इंद्रियों

से ही शुरू हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आँख जब देखना चाहें, तब भीतर से ध्यान को आँख से हटा लेना। आँख को देखने मत देना। भीतर जो रस है देखने का, उसे हटा लेना—यह सम्भव है, इसकी पूरी साधना है।

आप एक फूल को देख रहे हैं। फूल सुन्दर है ···

आप बडे हैरान होंगे जानकर कि जहाँ-जहाँ सौन्दर्य दिखाई पडता है, वहाँ-वहाँ यौन उपस्थित होता है।

···फूल है क्या ? वृक्ष का यौन है, वृक्ष का 'सेक्स' है। कोयल गीत गा रही है, गीत कान को मधुर लगता है, लेकिन कोयल का गीत है क्या ? कोयल का यौन है। मोर नाच रहा है, उसके पख आकाश मे छाता बन कर फैल गये हैं, इन्द्र-धनुष बना दिया है, सुन्दर लगता है, लेकिन मोर के पख हैं क्या ? यौन है।

जहाँ-जहाँ आपने सौन्दर्य देखा है, वहाँ-वहाँ योन छिपा है।

जब आप किसी स्त्री के चेहरे की प्रशसा करते हैं, तो मन मे थोडा संकोच भी होता है कि प्रशंसा करें, न करें। लेकिन, जब आप कहते हैं कि कितना सुन्दर मोर है, तब आपको जरा भी ख्याल नही होता कि भेद कुछ भी नही है। वह जो मोर पख फैलाकर नाच रहा है, वह यौन-आकर्षण का निमन्त्रण है। वह जो कोयल कुहुक रही है, वह साथी की तलाश है। वह जो फूल सुगन्ध फेंक रहा है, और खिल गया है, आकाश में, वह निमन्त्रण है कि उस फूल में छिपे जो वीर्य-कण हैं, मधु-मक्खियाँ आएँ, तितलियाँ आयें और उन वीर्य-कणों को ले जायें और छितरा दें दूसरे फूलों पर।

अगर हम चारो तरफ जगत् मे गहरी खोज करें, तो जहाँ-जहाँ हमे सौन्दर्य का अनुभव होता है, वहाँ-वहाँ छिपी हुई कामवासना होगी।

सुगन्ध अच्छी लगती है, लेकिन आपको अदाज नहीं होगा (बायोलॉजिस्ट कहते हैं) कि सुगन्ध का जो बोध है, वह यौन से जुडा है।

पशु गन्ध से ही आकर्षित होते हैं; इसलिए नर और मादा पशु एक दूसरे की योनि की गन्ध लेते हुए दिखाई पडते हैं। वे गध से आकर्षित होते हैं। गध ही निर्णायक है। जब पशु मादाएँ कामातुर होती हैं तो उनकी योनि से विशेष गन्ध फैलनी शुरू हो जाती है। वह गन्ध निमन्त्रण है। वह गन्ध दूर तक फैल जाती है और नर को आकर्षित करती है। जैसे ही वह गन्ध मिलती है, नर आकर्षित हो जाता है।

आदमी भी गन्ध का बहुत उपयोग करता है। स्त्रियाँ जानती हैं कि गन्ध कीमती है और गन्ध आकर्षण निर्मित कर लेती है। गन्ध का, आदमी दो तरह

से उपयोग करता है। एक तो आकर्षित करने के लिए, एक शरीर की गन्ध को छिपाने के लिए। क्योंकि शरीर की गन्ध भी यौन-निमन्त्रण है। इसलिए उसे छिपाना जरूरी है।

सम्भोग के क्षण मे स्त्री-पुरुष के शरीरो की गन्ध बदल जाती है, क्रोध के क्षण मे स्त्री-पुरुष के शरीरो की गन्ध बदल जाती है, प्रेम के क्षण मे स्त्री-पुरुषों के शरीरों की गन्ध बदल जाती है। आपके शरीर मे एक सी गन्ध नही रहती चौबीस घण्टे। आपका मन बदलता है, तो शरीर की गन्ध बदल जाती है।

गन्ध है, स्वाद है, रस है, ध्वनि है—ये सभी कामवासना से जुड़े हुए हैं। अगर हम ऐसा समझें तो कुछ कठिनाई न होगी कि जननेन्द्रिय केन्द्रीय इन्द्रीय है और सारी इन्द्रियाँ उसके उपाग हैं, उसकी शाखाएँ हैं। जैसे जननेन्द्रिय ने आँख को निर्मित किया कि खोजो मेरे लिए रूप। जैसे जननेन्द्रिय ने कान को निर्मित किया है, कि खोजो मेरे लिए ध्वनि। जैसे जननेन्द्रिय ने सारी इन्द्रियो को निर्मित किया है और वे उसकी द्वार हैं, जहाँ से वह जगत् मे प्रवेश करती है, जहाँ से वह जगत् मे तलाश करती है, जहाँ से वह जगत् मे खोजती हैं।

कामवासना इन्द्रियो के द्वार से जगत् मे फैलती है। हर इन्द्रिय कामेन्द्रिय है—यह, महावीर की बात ठीक से ख्याल में ले लेनी जरूरी है। इसलिए महावीर कहते हैं वह जो साधना मे लीन हुआ है साधक, वह समस्त इन्द्रियो से अपने ध्यान को हटा ले। अगर समस्त इन्द्रियो से ध्यान को हटा दिया जाये, तो कामेन्द्रियो का नब्बे प्रतिशत द्वार अवरुद्ध हो जाता है। वह बाहर नहीं बह सकती है।

आप थोडा सोचे कि यदि आपकी आँख बन्द हो, तो सौन्दर्य का कितना अर्थ समाप्त हो जाये।······

अन्धा आदमी भी सौन्दर्य का अनुभव करता है, लेकिन हाथ से छूकर ही कर पाता है। और हाथ से जो छूएगा, उसके सौन्दर्य का हिसाब बदल जायेगा, आँख से देखे हुए सौन्दर्य की बात और है।

······आपकी सारी इन्द्रियाँ बन्द हो गई हों, तो आपके लिए सौन्दर्य का क्या अर्थ होगा? कोई भी अर्थ नही रह जायेगा। सारा अर्थ इन्द्रियों का अनुदान है।

महावीर कहते हैं अपने को सिकोड़ लेना, केन्द्र पर रोक लेना, किसी इन्द्रिय से बाहर नहीं जाना। इन्द्रियाँ जबरदस्ती किसी को बाहर नही ले जाती,

हम जाना चाहते हैं, इसलिए जाते हैं। जब हम नही जाना चाहते, तो इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जाती हैं।

आपके घर में आग लग गई है, एक सुन्दर स्त्री आपके सामने से निकलती है, तो आपको वह बिलकुल दिखाई नही पडती। आँख आपकी देखेगी, आँख का काम देखना है, लेकिन आप आँख के पीछे मौजूद नही हैं अभी, ध्यान मकान में लगी आग की तरफ चला गया है, इसलिए कोई दिखाई नहीं पड़ेगा। कोई सुन्दर गीत गा रहा हो, तो सुनाई नही पड़ेगा। कोई आकर चारो तरफ गुलाब की सुगन्ध छिडक दे, तो आपकी नाक को पता नही चलेगा··· क्या हुआ ?

सारा ध्यान मकान मे लगी आग की तरफ आकर्षित हो गया। आग इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई कि ध्यान बँट नही सकता और इन्द्रियों की तरफ जा नही सकता।

महावीर कहते हैं · जिसे ब्रह्मचर्य इतना महत्त्वपूर्ण हो गया कि वही उसकी मुक्ति का मार्ग है, ऐसी प्रतीति हो रही हो—उसे कठिन नही होगा कि वह अपने ध्यान को इन्द्रियो से अलग कर ले। हमे कठिन होगा, बहुत कठिन होगा, क्योकि इन्द्रियाँ ही हमारा जीवन हैं। इन्द्रियो के अतिरिक्त हमारा कोई अनुभव नही है। जो हमने जाना है, जो हमने जिया है, वह इन्द्रियो से ही जाना है और जिया है और बडा अद्‌भुत है इन्द्रियो का लोभ। क्योंकि इन्द्रियो से जो हम जानते हैं, वह स्वप्नवत् है।

फूल को देखा है आपने ? आप देखते क्या है ? वैज्ञानिक से पूछें या महावीर से पूछें—फूल मे आप देखते क्या हैं ? फूल को तो देख नही सकता कोई आदमी, क्योंकि फूल कभी आँख के भीतर जाता नही। फिर आप देखते क्या हैं ?

फूल से सूरज की किरणें आती हैं लौटकर, वे किरणें आप की आँख पर पड़ती हैं। वे किरणें भीतर भी नही जा सकती, सिर्फ आँख की सतह को स्पर्श करती हैं। आँख को सतह के भीतर जो रासायनिक द्रव्य है, वे उन किरणो से सचालित हो जाते हैं। वे रासायनिक द्रव्य, जो आपकी आँखों के पीछे जमे हुए तन्तुओ का जाल है, उसको कम्पित करते हैं, वे कम्पन आप तक पहुँचते हैं। उन्हीं कम्पनो को आपने देखा है।

इसलिए तो एक बडी अद्‌भुत घटना घटती है। एक नग्न स्त्री को आप देखें, तो जैसे तन्तु कँपते हैं, वैसे एक नग्न स्त्री का चित्र देख के भी कँपते हैं।

इसलिए तो 'पोरनोग्राफी,' अश्लील साहित्य का इतना मूल्य है। क्योंकि तन्तु तो उसी तरह हिलने लगते हैं, मजा उसी तरह आने लगता है, बल्कि सच तो यह है कि नग्न स्त्री को देख कर उतना मजा कभी नही आता, जितना नग्न स्त्री के चित्र को देख कर आता है। उसके कई कारण हैं।

स्त्री की वास्तविक मौजूदगी आपके ध्यान में बाधा बनती है। चित्र में कोई मौजूद नही होता। आप अकेले होते हैं। ध्यानस्थ हो जाते हैं। और भीतर आपको रस आने लगता है। उतना ही रस आने लगता है। शायद ज्यादा भी आने लगता है, क्योंकि वास्तविक स्त्री के साथ कल्पना का उपाय नहीं रह जाता। वास्तविक स्त्री सामने मौजूद हो, तो कल्पना करने का कोई उपाय नही है। लेकिन चित्र आपको कल्पना देता है। और चित्र कहता है कि जब चित्र इतना सुन्दर है, तो वास्तविक स्त्री कितनी सुन्दर होगी! और आपकी कल्पना के पख फैल जाते हैं। इसलिए जो लोग चित्र मे रस लेने लगते हैं, उनको वास्तविक स्त्री फीकी मालूम पड़ने लगती है।

स्त्रियां बहुत होशियार है। उन्होने चित्रों मे कभी रस नही लिया। वास्तिविक पुरुष के प्रेम मे भी वह आँख बन्द कर लेती हैं, क्योंकि कल्पना वास्तविक से सदा ज्यादा सुन्दर है। स्त्रियाँ होशियार है। आप उन्हे आलिंगन मे ले, तो वे आँख बद कर लेंगी। आँख बन्द करने का मतलब यह है कि अब आप वास्तविक पुरुष कम, काल्पनिक देवता ज्यादा हो गये। अब उनके भीतर एक कल्पना का देव खडा है। इसलिए पुरुष जितनी जल्दी स्त्रियो से ऊब जाते हैं, स्त्रियाँ उतनी जल्दी पुरुषों से नही ऊबती—यह बडे मजे की बात है।

फ्रायड ने गहन विश्लेषणो से यह कहा है कि स्त्री और पुरुष हमेशा परिपूरक हैं हर चीज मे। फ्रायड ने दो शब्दों का उपयोग किया है। एक को वह कहता है—'व्होयूर', जो देखने मे उत्सुक हैं। पुरुष को वह कहता है, 'व्होयूर', जो देखने मे उत्सुक है। स्त्री को वह कहता है—'एक्जिबीशनिस्ट', जो दिखाने में उत्सुक है। दोनो परिपूरक हैं। क्योकि कोई दिखाने वाला चाहिए तब देखने वाले को कोई रस हो और कोई देखने वाला चाहिए, तब दिखाने वाले को रस होगा।

स्त्री पुरुष सब दिशाओं मे परिपूरक हैं। इसलिए पुरुष सदा चाहता है कि प्रेम अँधेरे मे न हो, प्रकाश मे हो। स्त्री सदा चाहती है कि प्रेम अंधेरे मे हो, प्रकाश मे न हो। पुरुष देखना चाहता है, स्त्री देखना नही चाहती। इसलिए पुरुषों ने नग्न स्त्रियो के बहुत चित्र निर्मित किये, लेकिन स्त्रियों ने नग्न पुरुषों

में कोई रस लिया ही नही कभी। स्त्री को थोडी परेशानी ही होती है नग्न पुरुष को देख कर। कोई सुख नही मिलता। लेकिन पुरुष के सामने स्त्री कपड़े भी पहने खड़ी हो, तो कल्पना में वह उसे नग्न करना शुरू कर देता है।

यह जो हमारे चित्त की कल्पना है, जब हम कल्पना करते हैं, तब तो कल्पना होती है। जब हम वास्तविक कुछ अनुभव करते हैं, तब भी कल्पना से ज्यादा क्या होता है ! एक फूल को देखें, स्त्री को देखे या पुरुष को देखें, आप को भीतर मिलता क्या है ! वास्तविक तो कुछ भी नही मिलता। कुछ कम्पन उपलब्ध होते हैं। उन्ही कम्पनो के लोक को हम ससार कहते हैं।

जब आपको अच्छी सुगन्ध मालूम पडती है, तो होता क्या है ! कम्पन, 'वाइब्रेशन्स'। जब आप को अच्छा स्वाद आता है, तो होता क्या है जीभ मे ! कम्पन, 'वाइब्रेशन्स'।

हमारा सारा सुख 'वाइब्रेशन्स' है। और बड़ मजे की बात है कि अब यह 'वाइब्रेशन' बिना किसी बाहरी वास्तविक चीज के पैदा किये जा सकते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं आप के मस्तिष्क में एक 'इलेक्ट्रोड' लगाया जा सकता है। जिस तरह सुन्दर स्त्री को देख कर आप के मन के तन्तु कँपते हैं, उसी तरह बिजली से कँपाये जा सकते हैं। वैज्ञानिक कहते है, जब वे तन्तु बिजली से कँपेंगे, तो आप को वही मजा आना शुरू हो जायेगा, जो सुन्दर स्त्री को देख कर आता है।

अभी एक वैज्ञानिक साल्टर ने चूहो पर बहुत से प्रयोग किये। उसका एक प्रयोग बहुत हैरानी का है। कभी न कभी आदमी को उस प्रयोग से बहुत कुछ सीखना पडेगा। उसने अध्ययन किया कि एक चूहे को चूही को देख कर जब सुख मिलना शुरू होता है तो उसके मस्तिष्क में क्या होता है। कौन से कम्पन होते हैं। सारे कम्पन उसने अध्ययन किये वर्षो तक। फिर उन कम्पनो की सूक्ष्मतम् विधि उसने खोज ली। बिजली से उन कम्पनो को पैदा करने का उपाय निर्मित कर लिया। फिर एक चूहे को 'इलोक्ट्रोड' लगा दिया। न केवल 'इलोक्ट्रोड' लगा दिया बल्कि चूहे के पजे के पास बिजली का बटन भी लगा दिया कि जब भी वह चाहे उन कम्पनो को, बटन को दबा दे। बटन दबाने से उसके भीतर वही कम्पन शुरू हो जायें और उसे वही मजा आने लगे, जो मजा मादा के साथ सम्भोग मे आता है।

आप जानकर हैरान होंगे कि चूहे ने फिर खाना-पीना बिलकुल छोड़ दिया। मादाएँ आस-पास घूमती रहीं, उनमें भी उसने रस छोड़ दिया। फिर

तो वह एक ही काम करता रहा बटन को दबाना। चौबीस घंटे चूहा सोया नहीं। उसने हजारों दफे बटन दबाया। वह जब तक बिलकुल थक कर चूर होकर गिर नही गया, तब तक वह एक ही काम करता रहा बटन दबाने का। जैसे ही वह बटन दबाता भीतर कम्पन शुरू हो जाते। वही कम्पन जो उसको सम्भोग में होते थे।

सम्भोग में आप को भी क्या होता है ! कुछ 'वाइब्रेशन्स,' कुछ कम्पनो के सिवाय कुछ भी नही होता। वह जो कम्पन है, अगर बिजली के बटन से पैदा हो जायें, तो आपको पता लगेगा कि आप किस लोक मे जी रहे हैं। वह चूहा ही बटन दबाकर जी रहा है, ऐसा मत सोचना। आप भी उन्ही बटनो को दबा कर जी रहे हैं। बटन आप की प्राकृतिक है, चूहे की कृत्रिम थी। आज नही कल आदमी अपने लिए भी कृत्रिम बटन बना लेगा। और मैं जानता हूँ कि जिस दिन आदमी ने अपने आन्तरिक कम्पनो को पैदा करने के छोटे उपाय कर लिये, उस दिन स्त्री-पुरुष के बीच कोई रस नही रह जायेगा। क्योकि तब आप ज्यादा बेहतर ढग से उन्ही कम्पनो को पैदा कर सकते हैं। तब दूसरे पर निर्भर रहने की कोई जरूरत नही। अपने खीसे मे एक छोटी सी बैटरी लिये आप चल सकते हैं। जब आप का मन हो आप बटन दबा लें और भीतर आपको सम्भोग के कम्पन शुरू हो जाये। और जो बात बैटरी से हो सके, और ज्यादा सुगमता से हो सके और कभी भी हो सके, उसके लिए कौन पति पत्नी का उपद्रव लेने जाता है !

साल्टर की खोज भविष्य के लिए बडी महत्वपूर्ण सिद्ध होने वाली है। पर मैं आपसे इसलिए साल्टर की खोज की बात कर रहा हूँ, ताकि महावीर को समझ सकें। महावीर कहते हैं किस बचपन मे उलझे हो। जो भी तुम अनुभव कर रहे हो सुख, वह सिर्फ छोटे से कम्पन हैं। उन कम्पनो का क्या मूल्य है ! स्वप्नवत्।

और आदमी जन्मों-जन्मों, जीवन-जीवन उन्ही कम्पनों मे अपने को गँवा देता है। उन्ही मे अपने को खो देता है। कोई स्वाद के लिए जीता है। कोई सुगंध के लिए जीता है। कोई रूप के लिए जीता है। कोई ध्वनि के लिए जीता है। लेकिन क्या यह जीना है? क्या हम कुछ कम्पनो से तृप्त हो जायेंगे? होता तो यह है कि जितना हम पुनरुक्त करते हैं उन कम्पनो को, उतनी ऊब बढ़ती चली जाती है। फंसते भी जाते हैं। आदत भी बनती जाती है। ऊबते भी चले जाते हैं। कुछ मिलता भी मालूम नहीं पड़ता। और फिर भी एक मजबूरी,

एक 'ऑब्सेशन' के कारण हम वही करते चले जाते हैं, जिससे कुछ मिलता दिखाई नहीं पड़ता। धीरे-धीरे सब कम्पन बोथले हो जाते हैं। फिर उनसे कुछ भी पैदा नही होता। उन कम्पनो को न करे, तो उदासी मालूम पड़ती है, खालीपन, 'एम्पटीनेस' मालूम पडता है। इसलिए करना भी पड़ता है।

महावीर कहते हैं : जो व्यक्ति कम्पनो मे उलझा है, वह ससार में उलझा है। इन कम्पनों से ऊपर उठे बिना कोई व्यक्ति आत्मा को उपलब्ध नहीं होता। कैसे ऊपर उठेंगे ? तो वे कहते हैं : 'शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार के काम गुणों को भिक्षु सदा के लिए त्याग दें।'

क्या करेंगे त्याग में आप ? क्या पानी न पीयेंगे ? क्या भोजन न करेंगे ? क्या आखे न खोलेंगे ?

रास्ते पर चलेंगे, तो आँख खोलनी पड़ेगी। भोजन करेंगे, तो स्वाद आयेगा। कोई गीत गायेगा, कोई मधुर आवाज होगी, तो कान सुनेंगे। त्याग कैसे करेंगे ?

त्याग का एक ही गहन अर्थ है कि जब भी कुछ सुनाई पडे, स्वाद मे आए, दिखाई पडे, तो ध्यान को उससे तोड लेना। भीतर ध्यान को तोड लेना। आँखें चाहे देखें, पर तुम मत देखना। जीभ भले स्वाद ले, पर तुम स्वाद मत लेना।

जनक को किसी सन्यासी ने पूछा कि आप इस महल मे सदियो के बीच इतने वैभव में रह कर किस प्रकार ज्ञानी हैं, तो जनक ने कहा कुछ दिन रुको, समय पर उत्तर मिल जायेगा। (और उत्तर समय पर ही मिल सकते हैं। समय के पहले दिये गये उत्तर किसी अर्थ के नही होते)।

सन्यासी रुका—एक दिन, दो दिन, तीन दिन। चौथे दिन सुबह ही सुबह भोजन के लिए संन्यासी आ रहा था कि (जनक खुद बैठ कर उसे भोजन कराते थे।) सिपाहियो की एक टुकडी ने आकर सन्यासी को घेर लिया और संन्यासी को कहा कि महाराज ने कहा है कि आज साँझ आपको सूली पर चढ़ा दिया जायेगा।

संन्यासी ने पूछा लेकिन मेरा अपराध ? मेरा कसूर ?

सिपाहियो ने कहा कि वह आप महाराज से पूछ लेना। हमे इतनी ही आज्ञा है।

फिर वे उसे लेकर भोजन के लिए आये। वह भोजन के लिए थाली पर बैठा। महाराज पंखा झलते रहे और वह भोजन करता रहा। लेकिन उस दिन स्वाद नहीं आया उसे क्योंकि साँझ मौत थी, इसलिए ध्यान हट गया।

भोजन के बाद जनक ने पूछा कि सब ठीक तो था! कोई कमी तो नहीं थी?

उसने कहा, क्या ठीक था! क्या कमी न थी!

सम्राट ने कहा : रसोईये ने अभी-अभी खबर दी है कि वह नमक डालना भूल गया था, क्या आप को पता नहीं चला?

उस सन्यासी ने कहा कि कुछ भी पता नहीं चला—भोजन किया भी या नहीं किया। ऐसा लगता है, जैसे कोई···स्वप्न···साँझ···मौत···पूछना चाहता हूँ कि क्या हमारा कसूर!

जनक ने कहा : कोई कसूर नहीं और न कोई मौत होने को है। इतना ही कहना था कि अगर मौत का स्मरण बना रहे, तो इन्द्रियाँ भोगों मे रह कर भी दूर हट जाती हैं।

तब जीभ पर कम्पन होते हैं, लेकिन स्वाद नहीं आता। तब कान पर कम्पन होते हैं, लेकिन रस पैदा नहीं होता।

रस पैदा होता है कम्पन और ध्यान के जोड से।

जीभ पर स्वाद आता है, कम्पन पैदा होता है। आत्मा ध्यान भेजती है जीभ तक, दोनो का जोड होता है—तब रस पैदा होता है।

आँख देखती है रूप को, कम्पन होते हैं। भीतर से आत्मा ध्यान को भेजती है, कम्पन और ध्यान का मेल होता है, तब सौन्दर्य का बोध होता है—तब रस पैदा होता है।

रस दो चीजो का जोड है बाहर से आये कम्पन और भीतर से आए ध्यान। अगर ध्यान हट जाये कम्पन से, तो रस विलीन हो जाता है। इसी को महावीर ने त्याग कहा है। यह त्याग अत्यन्त भीतरी घटना है। इस त्याग के दो रूप हैं : जो व्यर्थ के कम्पन हों, उन्हे छोड़ ही देना उचित है। जो अनिवार्य कम्पन हो, उनसे ध्यान को अलग कर लेना चाहिये। तो धीरे-धीरे, धीरे-धीरे इन्द्रियाँ अलग और आत्मा अलग हो जाती है। जब सब जगह से ध्यान का रस विलीन हो जाता है, तो हमे पता चलता है कि शरीर अलग और मैं अलग हूँ। हमें पता नहीं चलता कि शरीर अलग और मैं अलग हूँ—इसका एक ही कारण

है कि हमारा ध्यान निरन्तर ही बाहर से आये हुए कम्पनो से जुड जाता है। उस जोड के कारण ही हम शरीर से जुडे हैं। वह जोड़ टूट जाये, तो हम शरीर से टूट जाते हैं।

आत्म-अनुभव, रस-परित्याग के बिना सभव नहीं है।

'देव-लोक सहित समस्त ससार के शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुख का मूल काम-भोगो की वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्ध मे वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुखों से छूट जाता है'।

हमारा जानना कुछ और है। हमारा जानना यह है कि समस्त दुखो का मूल इन्द्रियो का आनन्द है। आप ने कोई ऐसा सुख जाना है, जो इन्द्रियो के अतिरिक्त जाना हो ? नही जाना होगा। सभी सुखो का मूल हमे इन्द्रिया मालूम पड़ती हैं। कभी भोजन मे कुछ आनन्द आ जाता है। कभी आँख देख लेती है किसी दृश्य को। (जरूरी नही कि वह दृश्य स्त्री-पुरुष का हो। वह कश्मीर का हो, डल झील का हो, उससे कोई फर्क नही पडता)। आँख देख लेती है किसी झील को। आख देख लेती है किसी चाँद को। रस आ जाता है। सुख आ जाता है।

आपने कभी कोई ऐसा सुख जाना है, जो इन्द्रियो के बिना आपको आया हो ? ऐसे सुख का आपको अनुभव हो जाये, तो उसी को आनन्द महावीर ने कहा है। लेकिन हमारा ऐसा कोई अनुभव नही है। महावीर कहते है, समस्त दुखो का मूल वासना है और हम सोचते है कि समस्त सुखो का आधार है, तो थोडा सोचना पडेगा।

आपने कोई ऐसा दुख जाना है, जो इन्द्रियो के बिना आप को मिला हो ? न आपने ऐसा कोई सुख जाना है, जो इन्द्रियो के बिना मिला हो, न ऐसा कोई दुख जाना है, जो इन्द्रियो के बिना मिला हो। महावीर कहते हैं कि इन्द्रियो के बिना भी एक सुख मिल सकता है, जिसका नाम आनन्द है। इन्द्रियों के बिना कोई दुख नही मिल सकता, इसलिए उसका कोई नाम नही है। आनन्द के विपरीत कोई नाम नही है।

इन्द्रियो का सुख भ्रान्ति है। इन्द्रियो का दुख ही वास्तविकता है। फिर जिसे हम सुख कहते हैं, उसके कारण ही हमे दुख मिलता है। आज स्वाद में सुख मिलता है, अगर यह स्वाद कल न मिले, तो दुख मिलेगा। अगर यह स्वाद

कल भी मिले, परसों भी मिले, तो भी दुख मिलेगा। स्वाद न मिले, तो पीड़ा अनुभव होगी पाने की। स्वाद मिलता रहे, तो बोथला हो जायेगा, ऊब पैदा हो जायेगी। इसलिए रोज जिनको अच्छा भोजन मिलता है, उनका स्वाद खो जाता है, उनको फिर स्वाद नही आता। जिनको अच्छे बिस्तर पर रोज सोने को मिलता है, उन्हे फिर बिस्तर का पता चलना बन्द हो जाता है।

जो भी आपके पास है, उसका आपको पता नहीं चलता। सुख अगर मिलता रहे, तो विलीन हो जाता है। न मिले, तो दुख देता है। सुख हर हालत मे दुख देता है। मिले तो, न मिले तो। जिसे हम सुख कहते हैं, वह दुख के लिए एक द्वार ही है। उससे बचने का कोई उपाय ही नही है। जो सुख की तरफ आकर्षित हुआ, वह दुख मे गिरेगा।

दुख दो तरह के हो सकते हैं, मिलने का दुख हो सकता है और न मिलने का दुख हो सकता है। ज्यादा से ज्यादा हम दुख बदल सकते हैं। इससे ज्यादा ससार में कोई उपाय नही है। एक दुख को छोड कर हम दूसरे दुख पर जा सकते हैं। एक दुख को छोड कर दूसरे दुख के जाने मे बीच में जो थोडा अन्तराल पडता है, उसे ही लोग सुख कहते हैं। जितनी देर को वे दुख मे नही होते, उतनी देर को सुख कहते हैं। हमारा सुख नकारात्मक है 'नेगेटिव' है।

इसलिए महावीर कहते हैं, समस्त दुखों का मूल इन्द्रियाँ हैं। जब तक हमे यह दिखाई न पड जाये, तब तक हम इन्द्रियो से ऊपर उठने की चेष्टा में भी सलग्न न होगे। अगर हमे यही दिखाई पडता रहे कि समस्त सुखों का मूल इन्द्रियाँ हैं, तो स्वभावतः हम अपने ससार को फैलाये चले जाएँगे।

पुनर्जन्म का एक ही मूल कारण है कि इन्द्रियाँ सुख का आधार है। मोक्ष का एक ही कारण है कि इन्द्रियाँ दुख का कारण है।

तो हम अपने सुख की थोडी तलाश करे। जब भी आपको सुख मिले, तो आप थोडी खोज करना। पहले तो यह देखना कि यह सुख क्या है? जैसे ही आप देखेंगे निन्यानबे प्रतिशत सुख तिरोहित हो जायेगा। जिसे आप प्रेम करते हैं, उसका हाथ अपने हाथ मे लेकर, आँख बन्द करके जरा ध्यान करना कि क्या सुख मिल रहा है, तो सिर्फ हाथ में हाथ रह जायेगा। थोडा और ध्यान करेंगे, तो हाथ मे सिर्फ वजन रह जायेगा। और थोड़ा ध्यान करेंगे, तो सिर्फ पसीना हाथ मे छूट जायेगा।

कौन सा सुख मिल रहा था उसको, जरा गौर से देखना ! जब मुंह में भोजन डाला और रस आ रहा हो, स्वाद मालूम पड रहा हो, तब जरा आँख भी बन्द कर लेना और उस पर ध्यान करना कि कौन सा सुख मिल रहा है ! निन्यानबे प्रतिशत सुख तत्काल तिरोहित हो जायेगा। थोडी देर में आप पायेंगे कि मुँह सिर्फ एक यात्रिक काम कर रहा है चबाने का। जीभ एक यात्रिक काम कर रही है खबर देने का कि कौन सा भोजन ले जाने योग्य है और कौन सा भोजन ले जाने योग्य नही है।

स्वाद का जीवन के लिए इतना ही उपयोग है कि कहीं जहर न खा लिया जाये। कही कडवी चीज न खा ली जाये। कही कुछ व्यर्थ न भीतर चला जाये। जीभ खबर दे रही है, कान खबर दे रहे है, आँखें खबर दे रही हैं—ये जीवन 'सरवाइवल मेजर' है, बचने के उपाय है। इससे ज्यादा मूल्य खतरनाक है। सुख ज्यादा मूल्य देने की बात है।

इसे ठीक से जो खोज करेगा अपने भीतर, वह पायेगा कि जब सुख होता है, तब कुछ होता नही, सिर्फ एक सम्मोहित ख्याल होता है, सिर्फ एक कल्पना होती है।

आपको कोई एक चमकदार पत्थर लाकर दे और कहे कि बहुमूल्य हीरा है और आपको भरोसा हो जाये, तो उस रात आप सो न सकेंगे इतने सुख से भर जाएँगे। सुबह पता चले कि वह पत्थर का ही टुकडा है, हीरा नही है—सिर्फ काच है चमकता हुआ, तो आपका सब सुख तिरोहित हो जायेगा। रात जो सुख आपने लिया था, वह हीरे के कारण नही था, वह सुख आपकी मान्यता के कारण था, क्योकि वह हीरा तो था ही नही। वह सुख आपका 'प्रोजेक्शन' था, आपका प्रक्षेप था। आपने एक धारणा हीरे पर फैला ली, और वह धारणा आपको सुख दे गई। जिस स्त्री मे आपको सौन्दर्य दिखता है, जिस पुरुष में आपको सौन्दर्य दिखता है, जहाँ आपको रस दिखता है, वहाँ फैली हुई आपकी धारणा है। उस धारणा के कारण ही सारा उपद्रव है।

इस धारणा को ही ठीक से देख ले कोई व्यक्ति, तो सब सुख तिरोहित हो जाता है और तब दुख का एक सागर दिखाई पडता है, तब वास्तविकता दिखाई पडती है—सुख की छाया के नीचे छिपी हुई कि हम केवल दुख झेल रहे हैं, अनेक-अनेक प्रकार के दुख झेल रहे हैं—अभाव के, भाव के, होने के, न होने के, गरीबी के, समृद्ध के, यश के, अपयश के—न मालूम कितने दुख झेल रहे हैं।

इतना दुख का यह उद्‌घाटन देखकर पश्चिम में लोगों को लगा कि ये महावीर, ये बुद्ध, ये सब दुखवादी हैं। ये क्यो इतना दुख को, घाव को उघाड़ते हैं?

अच्छा हो कि घाव हो, तो पलस्तर करके ढांक देना चाहिए। गन्दी नाली हो, तो थोड़ी सी सुगन्ध छिडक कर फूल लगा देना चाहिये।

···यह क्यो सारे फूलों को उघाड कर भीतर की पीडा को, भीतर की दुर्गन्ध को बाहर लाना चाहते है? ये बडे खतरनाक मालूम पडते हैं! ये तो जीवन को नष्ट कर देंगे! ये तो जीवन के प्रति एक विरक्ति, जीवन के प्रति एक अलगाव पैदा कर देंगे!

लेकिन नही, महावीर और बुद्ध का वैसा प्रयोजन नही है। वे चाहते हैं, जो सत्य है, वह दिखाई पड जाये। जीवन की जो भ्राति है वह टूट जाये, तो शायद हम किसी और गहरे जीवन की खोज मे जा सकें। वह जो हमने ढांक-ढांक कर एक झूठा जीवन बना रखा है, उसकी पर्त-पर्त उखड जानी चाहिए। वह जो हमने झूठे मुखौटे लगा रखे हैं, वह जो झूठी धारणाएँ अपने चारो तरफ फैला रखी हैं, वे सब गिर जानी चाहिएँ। वे गिर जाएँ, तो शायद हमारी जीवन-ऊर्जा व्यर्थ के कामो मे संलग्न न रहे और सार्थक की खोज पर निकल जाये।

इसलिए महावीर कहते हैं कि 'जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है', इन्द्रियों से अपने को खींच लेता है भीतर, तोड देता है रस— 'उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं।

महावीर और बुद्ध पहले व्यक्ति है मनुष्य जाति के इतिहास मे, (निश्चित ही महावीर पहले व्यक्ति है, क्योंकि बुद्ध महावीर से थोडे बाद मे पैदा हुए।) जिन्होने कहा कि ऐसा क्षण भी है मनुष्य की चेतना का, जब देवता भी उसे नमस्कार करते हैं। अन्यथा दुनिया के सारे धर्म मानते हैं कि मनुष्य सदा देवताओ को नमस्कार करते है।

'देवता मनुष्य को नमस्कार करते है'—इससे ज्यादा मनुष्य के प्रति महिमा की बात कुछ और नही हो सकती। महावीर ने कहा कि ऐसा भी क्षण है मनुष्य के जीवन मे, जब देवता उसे नमस्कार करते हैं। इसका क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ हुआ कि देवता भ्राति मे हैं। चेतना जब पूरी जागती है मनुष्य की और सुख का भ्रम टूट जाता है, तो स्वर्ग का भ्रम भी टूट जाता है।

देवता स्वर्ग के वासी हैं—उसका अर्थ यह है, सुख के वासी हैं। देवता इन्द्रियों मे ही जीते हैं। बडा मजा है, इसलिए हमने 'इन्द्र' नाम दिया है—

देवताओं के सम्राट को। वे इन्द्रियाँ ही इन्द्रियाँ हैं, इसलिए इन्द्र नाम है। देवता सुख मे ही जीते हैं। देवता का अर्थ ही है, जो सुख मे ही जी रहा है। लेकिन, इसका तो मतलब यह हुआ कि महावीर के हिसाब से कि जो इन्द्रियो में और सुख मे जी रहा है, वह बडी गहन भ्राति मे जी रहा है। वह एक लम्बे स्वप्न मे डूबा है। वह स्वप्न सुखद होगा, प्रीतिकर होगा, दुखद न होगा। लेकिन एक लम्बा स्वप्न होगा। अगर महावीर को ठीक से हम समझें, तो नर्क एक 'नाइट मेयर', एक दुख-स्वप्न है—लम्बा दुख-स्वप्न है। स्वर्ग एक सुख-स्वप्न है—एक लम्बा और अच्छा सपना।

इसलिए महावीर ने कहा है कि देवता को भी मोक्ष पाना हो, तो उसे वापस मनुष्य के जन्म मे आ जाना पडता है। मनुष्य एक चौराहा है। देवता तक को मोक्ष पाना हो, तो मनुष्य तक वापस लौट आना पडता है। मनुष्य के अतिरिक्त मुक्त होने का कोई उपाय नही है। लेकिन जरूरी नही है कि कोई मनुष्य होने से ही मुक्त हो जाए। मनुष्य होने से केवल मुक्ति की सम्भावना है। अगर आप स्वप्न मे डूबे रहते हैं, तो आप उस अवसर को खो देते हैं।

मनुष्य का अर्थ है : जहाँ हम जाग सकते हैं जहाँ हम चाहे, तो इन्द्रियो से अपने को तोड ले सकते हैं। जहाँ हम चाहे, तो रस समाप्त हो सकता है और चेतना रस-मुक्त हो सकती है। इस स्थिति को महावीर ने वीतराग कहा है। चेतना जब ऐसी स्थिति मे होती है, तो उसका बाहर कोई भी रस नही रह जाता। अब बाहर जाने की कोई भी आकाक्षा शेष न रही। किसी से कुछ मिल सकता है, यह भाव ही गिर गया। कही कोई भाग-दौड ही न रही, कोई प्रार्थना न रही, कोई अभीप्सा न रही—चेतना की इस अवस्था को महावीर कहते हैं—वीतराग।

जो वीतराग है, वह शारीरिक और मानसिक सभी दुखो से छूट जाता है।

'यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है'।

यह शब्द 'जिनोपदिष्ट' थोडा समझ लेने जैसा है।

हिन्दू कहते हैं : वेद ईश्वर के वचन है, इसलिए सत्य हैं। मुसलमान कहते है कि कुरान ईश्वर का सन्देश है, इसलिए सत्य है। ईसाई कहते हैं कि बाईबल ईश्वर के निजी सन्देशवाहक, उनके अपने बेटे जीसस के वचन हैं—ईश्वर से आया हुआ सन्देश है आदमी के लिए, इसलिए सत्य है।

लेकिन महावीर एकदम अशास्त्रीय हैं। वे किसी शास्त्र को प्रमाण नहीं मानते। वे वेद को प्रमाण नहीं मानते। इसीलिए हिन्दुओ ने तो महावीर को नास्तिक कहा। क्योंकि जो वेद को न माने, वह नास्तिक।

महावीर जैसे परम आस्तिक को भी नास्तिक कहना पड़ा; क्योकि वेद के प्रति उनकी कोई श्रद्धा नही है। शास्त्र के प्रति उनकी कोई श्रद्धा नही है। उनकी श्रद्धा अजीब है, अनूठी है। उनकी श्रद्धा उस आदमी मे है, जिसने अपनी इन्द्रियो को जीत लिया हो, उसके वचन मे।

जिनोपदिष्ट का अर्थ होता है : उस आदमी का वचन, जिसने अपनी इन्द्रियो को जीत लिया है। कोई परमात्मा नही, कोई ऊपरी शक्ति नही, बल्कि उस व्यक्ति की शक्ति ही परम-प्रमाण है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है। इसलिए महावीर कहते हैं : 'जिनोपदिष्ट'—जिसने अपने को जीता हो।

जिनका अर्थ होता है : जिसने अपने को जीता है। जिसकी सारी इन्द्रियों की गुलामी टूट गई हो। जो अपने भीतर स्वतत्र हो गया हो। जो अपने भीतर मुक्त हो गया हो—ऐसे व्यक्ति के वचन का मूल्य है। देवताओ के वचन का, महावीर कहते हैं : कोई मूल्य नही, क्योकि वे अभी बासना से ग्रस्त हैं।

अगर हम वेद के देवताओं को देखें, तो इन्द्र को फुसला भी ले सकते हैं—जरा सी खुशामद और स्तुति से राजी कर ले सकते हैं। नाराज भी हो सकता है इन्द्र, अगर आप ठीक-ठीक प्रार्थना उपासना न करें—नियम से आहर-स्तुति न करें तो नाराज भी हो सकता है। अगर हम यहूदी ईश्वर को देखें, तो वह खतरनाक बातें कहता हुआ मालूम पडता है कि अगर मुझे नही माना, तो मैं तुम्हे नष्ट कर दूँगा—आग मे जला दूँगा।

महावीर कहते हैं कि इन वचनो का क्या मूल्य हो सकता है! वे कहते हैं : वही चेतना परम शास्त्र है, जिसने अपनी इन्द्रियो को जीत लिया हो—उसकी बात ही भरोसे योग्य है।

क्यों?

जो अभी इन्द्रियो के धोखे मे पडा है, उसकी बात का कुछ भी भरोसा नही। जो अभी इन्द्रियों के सपने से नही जाग सका, उसकी बात का कुछ भी भरोसा नही। महावीर को ज्ञात है, उस समय जो भी देवताओं की चारों

तरफ चर्चा थी उनमे, महावीर को कोई देवता स्तुति के योग्य नहीं लगा; क्योकि बडी अजीब कहानियाँ हैं।

कहानी है कि ब्रह्मा ने पृथ्वी को बनाया अर्थात् पृथ्वी ब्रह्मा की बेटी हुई। और बेटी को देखकर ब्रह्मा एकदम कामातुर हो गये और बेटी के पीछे कामातुर होकर भागे। बेटी घबरा गई, तो वह गाय बन गई, तो ब्रह्मा बैल हो गये और गाय के पीछे भागे।

महावीर को बडी कठिनाई मालूम पडेगी कि ऐसे ब्रह्मा के वचन का क्या मूल्य हो सकता है ! साधारण पिता भी अपने को रोकता है और ब्रह्मा अपने को रोक न सके। कहानी मे मूल्य तो बहुत है, पर मूल्य मनोवैज्ञानिक है।

फ्रायड ने कहा है कि हर पिता के मन मे अपनी जवान बेटी को भोगने की कामना कही न कही सरक उठती है, क्योकि जवान बेटी को देखकर फिर एक बार उसको अपनी पत्नी (जब जवान थी) का स्मरण सदा हो आता है।

यह कहानी तो बडी मनोवैज्ञानिक है कि अगर ब्रह्मा ने एक बेटी को पैदा किया और वह इतनी सुन्दर थी कि ब्रह्मा खुद आकर्पित हो गये, तो यह बात बताती है कि बाप भी बेटी के प्रति कामातुर हो सकता है। ब्रह्मा तक हो गये ! लेकिन महावीर के लिए इसमे दूसरी सूचना है। वह सूचना यह है कि जो देवता कामातुर है, उनकी स्तुति का कोई भी अर्थ न रहा। इसलिए महावीर बडे हिम्मतवर आदमी है। वे कहते हैं जब कोई व्यक्ति इस वितरागता को उपलब्ध होता है, तो देवता उसके चरणो मे सिर रख देते है।—यही बात कष्ट-पूर्ण लगी हिन्दू-मन को।

कहानिया हैं · जब महावीर ज्ञान को उपलब्ध हुए, तो इन्द्र और ब्रह्मा सबने उनके चरणो मे सिर रख दिये। यह बात बहुत कठिन मालूम पडती है।

बुद्ध जब ज्ञान को उपलब्ध हुए, तो सारा देवलोक उतरा और उनके चरणो मे साष्टाग लेट गया।

हिन्दू-मन को चोट लगी कि जिन देवताओ की हम पूजा करते, प्रार्थना करते, वे इस गौतम बुद्ध के चरणो मे, इस वर्धमान महावीर के चरणो मे आकर सिर रख दें—यह बात ही बडी अपवित्र मालूम पडती है। लेकिन महावीर और बुद्ध को हम समझे, तो इस बात की बडी महिमा है। मनुष्य को पहली दफा देवताओ को ऊपर रखने का प्रयास बड़ा गहन-प्रयास है। इस बात मे, मनुष्य को पहली दफा वासना के परम छुटकारे की तरफ इशारा है।

महावीर कहते हैं : देवता भी तुम हो जाओ। स्वर्ग भी तुम्हारे हाथ में आ जाये। और अगर इन्द्रियाँ तुम्हारी, तुम्हारे नियत्रण में नही हैं, और तुम उनके मालिक नही हो, तो तुम गुलाम हो। कीड़े-मकोडे जैसे ही गुलाम हो। कीडा-मकोड़ा भी क्यो कीड़ा-मकोडा है ? क्योंकि इन्द्रियो का गुलाम है। और देवता भी कीडा-मकोड़ा है, क्योंकि वह भी इन्द्रियो का गुलाम है।

आदमी जाग सकता है। देवता नही जाग सकता। क्योंकि सुख मे जागना बहुत मुश्किल है। दुख में जागना आसान है। सुख में नीद सघन हो जाती है। दुख मे नीद टूट जाती है। पीडा हो तो निखारती है। सुख हो तो सब धुंधला धुधला कर जाती है। सुख मे जग[illegible] लग जाता है। दुख में आदमी प्रखर होता है।

यह बहुत मजे की बात है कि सुखी परिवारों मे प्रखर-चेतनाएँ मुश्किल से पैदा हो पाती हैं। प्रखर-बुद्धि, प्रखर-प्रतिभा, अगर सब सुख हो, तो क्षीण हो जाती मालूम पडती है। जग लग जाता है। कुछ करने जैसा नहीं लगता। रॉकफेलर के घर मे लडका पैदा हो, तो सब पहले से ही मौजूद होता है। कुछ करने जैसा नही मालूम पडता। पाने को कुछ दिखाई नही पडता। जब तक कि रॉकफेलर के लडके मे बुद्ध या महावीर की चेतना न हो कि इस ससार में पाने योग्य कुछ नही, तो चलो दूसरे ससार को पाने निकल पड़े।

दुनियाँ में अधिकतम प्रतिभाएँ सघर्षशील घरों से आती हैं, दुख से आती हैं। दुख निखारता है, उत्तजित करता है, चुनौती देता है। देवता सो जाते हैं। क्योंकि वहाँ सुख ही सुख है—कल्पवृक्ष हैं, अप्सराएँ हैं, यौवन है, सुगन्ध है।

इन्द्रियो की जो वासना है, वह परिपूर्ण रूप से तृप्त हो—ऐसी, स्वर्ग की हमारी धारणा है। इन्द्रियो की कोई वासना तृप्त न हो, दुख ही दुख भर जाये—ऐसी, हमारी नर्क की धारणा है। लेकिन, महावीर अगर यह कहते हैं कि दुख मे आदमी जागता है, इसलिए मनुष्य देवता के भी पार जा सकता है, तब तो नर्क मे और भी जाग जाना चाहिये, क्योकि नर्क मे और भी सघन दुख है।

लेकिन, एक बड़ी गहरी बात है कि अगर पूर-पूरा सुख हो, तो भी आदमी नहीं जाग पाता। अगर एक कदम दुख ही दुख हो, तो भी आदमी नही जाग पाता। दुख ही दुख हो, तो भी चेतना दब जाती है। जहाँ सुख और दुख दोनो के अनुभव होते हैं, वहाँ चेतना सदा जगी रहती है। सुख ही सुख हो, तो भी

मन सो जाता है और दुख ही दुख हो, तो भी मन सो जाता है। सघर्ष तो वहाँ पैदा होता है, जहां दोनों हों, तुलना हो, चुनाव हो।

एक बडे मजे की बात है, और वह मनुष्य के इतिहास से भी साबित होती है कि जब तक कोई समाज बिलकुल ही गरीब रहता है, तब तक बगावत नहीं करता। हजारो साल से दुनिया गरीब थी, लेकिन बगावत नही होती थी। शायद हम सोचते होगे कि इसलिए बगावत नही होती थी कि लोग बहुत सुखी थे। नही, सुख का कोई अनुभव ही नही था। दुख शाश्वत था, इसलिए बगावत नही होती थी। अब बगावत सारी दुनिया मे हो रही है। और बगावत वही होती है, जहाँ आदमी को दोनो अनुभव शुरू हो जाते हैं—सुख के भी और दुख के भी। तब वह और सुख पाना चाहता है। तब वह पूरा सुख पाना चाहता है। तब वह बगावत करता है।

दुखी आदमी, बिलकुल दुखी आदमी बगावत नही करता। ऐसा दुखी आदमी बगावत करता है, जिसे सुख की आशा मालूम पडने लगती है। नही तो बगावत नही होती। दुनिया मे जितने बगावती स्वर पैदा होते हैं, वे सब मध्य-वर्ग से जाते हैं। चाहे मार्क्स हो और चाहे एन्जिल्स हो, चाहे लेनिन हो और चाहे माओ हो, और चाहे स्टैलिन हो—ये सब मध्य-वर्गीय बेटे हैं।

मध्य-वर्ग का मतलब है जो दुख भी जानता है और सुख भी जानता है। जिसकी एक टाग गरीबी मे उलझी है और एक हाथ अमीरी तक पहुँच गया है। मध्य वर्ग का अर्थ है . जो दोनो के बीच मे अटका है। जो जानता है कि एक धक्का लगे तो मैं गरीब हो जाऊँ और अगर एक मौका लग जाये, तो अभी मैं अमीर हो जाऊँ।

जो बीच मे है, वह बगावत का ख्याल देता है दुनिया को। यह ख्याल देता है कि सुख मिल सकता है। सुख पाया जा सकता है। सुख हाथ के भीतर मालूम पडता है। मिल न गया हो, लेकिन सम्भावना निकट मालूम पडती है। करीब-करीब मनुष्य स्वर्ग और नर्क के बीच मे मध्य-वर्गीय है। देवता हैं ऊपर, भूत-प्रेत हैं नीचे और बीच मे है मनुष्य। मनुष्य का एक पैर दुख मे खडा रहता है और एक हाथ सुख को छूता रहता है।

महावीर कहते हैं कि मनुष्य सक्रमण की अवस्था है, 'ट्रान्जीटरी' अवस्था है और जहाँ सक्रमण है, वहाँ क्राति हो सकती है। जहां सक्रमण है, वहाँ बदलाहट हो सकती है। नीचे है नर्क, ऊपर है स्वर्ग, बीच मे है मनुष्य। मनुष्य

चाहे तो नर्क मे गिरे, चाहे तो स्वर्ग में, और चाहे तो दोनों से छूट जाये। नर्क का पैर भी बाहर खींच ले और स्वर्ग का हाथ भी नीचे खीच ले, बीच में खडा हो जाये।

महावीर कहते हैं . इस आदमी के चरणों में देवता भी गिर जाते हैं। लेकिन कब आप नर्क का पैर खीचे पायेंगे ?

महावीर कहते हैं जब तक तुम्हारा एक हाथ स्वर्ग को पकड़ता है, तब तक तुम्हारा एक पैर नर्क मे रहेगा। वह स्वर्ग पकडने की चेष्टा से ही नर्क पैदा हो रहा है। सुख पाने की आकांक्षा ही दुख बन रही है। स्वर्ग की अभीप्सा ही नर्क का कारण बन रही है। जब तुम एक हाथ स्वर्ग से नीचे खीच लोगे, तब तुम अचानक पाओगे कि तुम्हारा नीचे का पैर भी नर्क से मुक्त हो गया। वह उस बढ़े हुए हाथ का ही दूसरा अग था।

महावीर ने कहा है स्वर्ग मत चाहना, क्योकि स्वर्ग की चाहना, नर्क की चाहना है। इसलिए महावीर ने एक नया शब्द गढा। हिन्दू-विचार मे पहले उसके लिए कोई जगह न थी। हिन्दू-विचार स्वर्ग और नर्क मे सोचता था। महावीर ने एक नया शब्द दिया, 'मोक्ष'। मोक्ष का अर्थ है . न स्वर्ग, न नर्क—दोनो से छुटकारा।

अगर वैदिक-ऋषियो की प्रार्थना देखें, तो वे प्रार्थना कर रहे हैं—स्वर्ग की, सुख की। महावीर की अगर हम धारणा समझें, तो वे स्वर्ग की और सुख की कामना नही कर रहे हैं। महावीर कहते हैं कि सुख और स्वर्ग की कामना ही तो दुख और नर्क का आधार है। वैदिक ऋषि गाता है कि मैं कैसे दुख से मुक्त हो जाऊँ और सुख को पा लूँ ? और महावीर कहते हैं कि मैं कैसे सुख और दुख दोनों से मुक्त हो जाऊँ ? यह बडी मनोवैज्ञानिक खोज है। यह अन्वेषण गहरा है।

महावीर मोक्ष की बात करते हैं। बुद्ध निर्वाण की बात करते हैं। वह बात द्वन्द्व के बाहर ले जानेवाली बात है। कैसे दोनो के पार हो जायें! यह जो ब्रह्मचर्य है, यह जो यात्रा-पथ है—दोनो के बाहर हो जाने का, यह जो ऊर्जा को भीतर ले जाना है, ताकि सुख और दुख दोनो से छुटकारा हो जाए—यह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है।

'इसके द्वारा पूर्वकाल मे अनेक जीव सिद्ध हो गए, वर्तमान में हो रहे हैं; और भविष्य मे होंगे'।

महावीर कहते हैं : यह शाश्वत मार्ग है। इस विधि से पहले लोग जिन

हुए, महावीर कहते हैं : आज भी हो रहे हैं। महावीर कहते हैं · और भविष्य मे भी होते रहेंगे। यह मार्ग सदा ही सहयोगी रहेगा।

लेकिन हम बडे अद्भुत लोग हैं। महावीर के साधु-सन्यासी भी लोगो को समझाते हैं कि पन्चम-काल है। इसमे कोई मुक्त नही हो सकता। जैसा हिन्दू मानते हैं, कलि-काल है, कलयुग है। ऐसा जैन मानते हैं, पन्चम-काल है। इसमे कोई मुक्त नही हो सकता। इससे हमको राहत भी मिलती है कि जब कोई हो नही सकता, तो हम भी अगर न हुए तो कोई हर्ज नही। इससे साधु-सन्यासियो को भी सुख रहता है, क्योकि आप उनसे भी नही पूछ सकते कि आप मुक्त हुए ! नही, पचम काल है, इसलिए कोई मुक्त नही हो सकता।

महावीर की ऐसी दृष्टि हो नही सकती ! क्योकि महावीर कहते हैं कि चेतना कभी भी मुक्त हो सकती है, समय का कोई बन्धन नही है। इसलिए वे कहते हैं यह मार्ग शाश्वत है। पीछे भी लोग मुक्त हुए और आज भी हो रहे हैं। महावीर कहते हैं और भविष्य मे भी होते रहेंगे। जो भी इस मार्ग पर जाएगा, वह मुक्त हो जाएगा। इस मार्ग पर जो जाने की कुंजी है, जो 'सीक्रेट की' है, वह इतनी ही है कि हम सुख और दुख दोनो को छोडने को राजी हो जाएँ। इन्द्रियाँ हमे जो सवाद देती है, उनके साथ हमारा ध्यान जुडकर रस निर्माण न करे। यह रस बिखर जाए भीतर, तो शरीर और आत्मा अलग-अलग हो जाते हैं। सेतु गिर जाता है, सम्बन्ध टूट जाता है।

और जिस दिन हम जान लेते है कि मैं अलग हूँ इस शरीर से, ध्यान अलग है इन्द्रियों से, चेतना अलग है—पार्थिव आवरण से, तो उसी दिन नर्क और स्वर्ग दोनो विलीन हो जाते है। वे दोनो स्वप्न थे, उस दिन हम पहली बार अपने भीतर छिपी हुई आत्यन्तिक स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं।

महावीर इस अवस्था को सिद्ध-अवस्था कहते है। सिद्ध का अर्थ है—वह चेतना, जो अपनी सम्भावना की परिपूर्णता को उपलब्ध हो गई। जो हो सकती थी, हो गई। जो खिल सकता था फूल, पूरा खिल गया। इसकी कोई निर्भरता बाहर न रही। वह सब भाँति स्वतन्त्र हो गई। इसका सारा आनन्द अब भीतर से आता है। आन्तरिक निर्झर बन गया है। अब इसका कोई आनन्द बाहर से नही आता। और जिसका कोई आनन्द बाहर से नही आता, उसके लिए कोई भी दुख नही है।

आज इतना ही। पाँच मिनट रुके, कीर्तन मे भाग ले और फिर जाएँ।

●

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
९ सितम्बर, १९७२

छठवाँ प्रवचन

अपरिग्रह-सूत्र

•

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इय वुत्त महेसिणा ॥

लोहस्सेस अणुप्फोसो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहिकामे, गिही पव्वइए न से ॥

प्राणिमात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों के रखने को परिग्रह नहीं बतलाया है। लेकिन इन सामग्रियों में आसक्ति, ममता व मूर्छा रखना ही परिग्रह है, ऐसा उन महर्षि ने बताया है।

संग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो संग्रह करने की वृत्ति रखते हैं, वे गृहस्थ हैं, साधु नहीं।

•

● पहले एक प्रश्न।

एक मित्र ने पूछा है कि रस-परित्याग का क्या अर्थ है। क्या रस-परित्याग का यही अर्थ है कि किसी भी इन्द्रिय-जनित कम्पन से ध्यान न जुडे। फिर तो रस-त्यागी को आँख, कान वगैरह बन्द करके ही चलना उचित होगा, अन्धे, बहरे, गूंगे सर्वश्रेष्ठ-त्यागी सिद्ध होगे! क्या यही महावीर और आपका ख्याल है।

रस-परित्याग का अर्थ अन्धापन, बहरापन नही है, लेकिन बहुत लोगो ने वैसा अर्थ लिया है। ध्यान को इन्द्रियो से तोडना तो कठिन है पर इन्द्रियो को तोड देना बहुत आसान है। आँख जो देखती है, उससे रस को छोडना तो कठिन है, आँख को फोड देना बहुत कठिन नही है। किन्ही ने तो आँखें फोड ही ली है और किन्ही ने धघली कर ली हैं। आँख बन्द करके चलने से कुछ भी न होगा, क्योकि आँख बन्द करने की जो वृत्ति पैदा हो रही है, वह जिस भय से पैदा हो रही है, वह भय त्याग नहीं है।

मन के नियम बहुत अद्‌भुत हैं। जिससे हम भयभीत होते हैं, उससे हम बहुत गहरे मे प्रभावित भी होते हैं। अगर मैं सौन्दर्य को देख कर आँख बन्द कर लूँ, तो वह भी सौन्दर्य से प्रभावित होना है। उससे यह पता नही चलता कि मैं सौन्दर्य की जो वासना है, उससे मुक्त हो गया। उससे इतना ही पता चलता है कि सौंदर्य की वासना भरपूर है और मैं इतना भयभीत हूँ अपनी वासना से कि भय के कारण मैंने आँख बन्द कर ली है, लेकिन जिस भय से आँख बन्द कर ली है, वह आँख के भीतर चलता ही रहेगा। आवश्यक नही है हम बाहर से ही देखें, तभी रूप दिखाई पड़े।

अगर रस भीतर मौजूद है, तो रस भीतर से भी रूप को निर्मित कर लेता है। स्वप्न निर्मित हो जाते हैं, कल्पना निर्मित हो जाती है, और बाहर तो जगत् इतना सुन्दर कभी भी नही है, जितना हम भीतर निर्मित कर सकते हैं। जो स्वप्न का जगत् है, वह हमारे हाथ मे है। अगर रस मौजूद हो और आँख

फोड डाली जाये, तो हम सपने देखने लगेंगे, और सपने बाहर के संसार से ज्यादा प्रीतिकर हैं, क्योंकि बाहर का ससार तो बाधा भी डालता है, पर सपने हमारे हाथ के खेल हैं; हम जितना सुन्दर बना सके, बना ले, और हम जितनी देर उन्हे टिकाना चाहे, टिका ले। फिर वे सपने की प्रतिमाएँ किसी भी तरह का अवरोध उपस्थित नही करती।

बहुत लोग ससार से भयभीत होकर स्वप्न के ससार मे प्रविष्ट हो जाते हैं। जिसको स्वप्न के ससार मे प्रविष्ट होना हो, उन्हे आँखे बन्द कर लेना बडा सहयोगी होगा, क्योकि खुली-आँख सपना देखना बडा मुश्किल है; लेकिन इससे रस विलीन नही होगा, रस और प्रगाढ हो कर प्रकट होगा।

आपके दिन उतने रसपूर्ण नही हैं, जितनी आपकी राते रसपूर्ण हैं; और आपकी जागृति उतनी रसपूर्ण नही है, जितने आपके स्वप्न रस पूर्ण हैं। स्वप्न मे आपका मन उन्मुक्त होकर अपने ससार का निर्माण कर लेता है। स्वप्न मे हम सभी सृष्टा हो जाते हैं और अपनी कल्पना का लोक निर्मित कर लेते हैं। बाहर का जगत् थोडी बहुत बाधा भी डालता होगा, वह बाधा भी नष्ट हो जाती है।

रस परित्याग का अर्थ—इन्द्रियो को नष्ट कर देना नही—इन्द्रियो और चेतना के बीच जो सम्बन्ध है, जो बहाव है, जो मूर्छा है—उसे क्षीण कर लेना।

इन्द्रियाँ खबर देती हैं, खबरे उपयोगी हैं। इन्द्रियाँ सूचानाएँ लाती है, सवेदनाएँ लाती हैं—बाहर के जगत् की, वे अत्यन्त जरूरी हैं। उन इन्द्रियो से लाई गई सूचनाओ, सवेदनाओ पर मन की जो गहरी, भीतरी आसक्ति है, वह जो मन का रस है, वह जो मन का ध्यान है, जो मन का उन इन्द्रियो से लाई गई खबरो मे डूब जाना है, खो जाना है—वही खतरा है।

मन अगर खोए न, चेतना अगर इन्द्रियो की लाई हुई सूचनाओ मे डूबे न, मालिक बनी रहे, तो त्याग है।

इसे हम ऐसा समझें। इन्द्रियाँ जब मालिक होती है चेतना की, और चेतना जब अनुसरण करती है इन्द्रियो का, तो भोग है और जब चेतना मालिक होती इन्द्रियो की, और जब इन्द्रियाँ अनुसरण करती हैं चेतना का, तो त्याग है।

मैं मालिक बना रहूँ, इन्द्रियाँ मेरी मालिक न हो जायें, इन्द्रियाँ जहाँ मुझे ले जाना चाहे, वहाँ खीचने न लगे, मैं जहाँ जाना चाहूँ, जा सकूँ, और मैं

जहाँ जाना चाहूँ, वहाँ जाने वाले रास्ते पर इन्द्रियाँ मेरी सहयोगी हों, रास्ता मुझे देखना हो, तो आँख देखे; ध्वनि मुझे सुननी हो, तो कान सुने, मुझे जो करना हो, इन्द्रियाँ उसमे मुझे सहयोगी हो जायें, इन्स्ट्रूमेन्टल हों—यही उनका उपयोग है।

हमारी इन्द्रियो से हमारा जो सम्बन्ध है, वह मालिक का है या गुलाम का, इस पर ही सभी कुछ निर्भर करता है। मेरा हाथ, जो मैं उठाना चाहूँ वही उठाये, तो मैं त्यागी हूँ; और मेरा हाथ अगर मुझसे कहने लगे कि ये उठाना ही पडेगा, और मुझे उठाना पडे, तो मैं भोगी हूँ। मेरी आँख, जो मैं देखना चाहूँ, वही देखे तो मैं त्यागी हूँ, और मेरी ये आँखें ही मुझे सुझाने लगे कि ये देखो, ये देखना ही पडेगा, इसे देखे बिना नही जाया जा सकता तो मैं भोगी हूँ।

भोग और त्याग का इतना ही अर्थ है—इन्द्रियाँ मालिक हैं, या चेतना मालिक है ? चेतना मालिक है, तो रस विलीन हो जाता है। इसका अर्थ यह नही कि इन्द्रियाँ विलीन हो जाती हैं, बल्कि सच तो उल्टी बात है, इन्द्रियाँ परिशुद्ध हो जाती है; इसलिए महावीर की आँखे जितनी निर्मलता से देखती हैं, आपकी आँखे नही देख सकती, इसलिए महावीर को अन्धा नही कहते, दृष्टा कहते हैं। आँख वाला कहते हैं।

बुद्ध के हाथ जितना छूते हैं, उतना आपके हाथ नही छू सकते। नही छू सकते इसलिए कि भीतर का जो मालिक है, वह बेहोश है। नौकर मालिक हो गये है। भीतर की जो बेहोशी है, वह सवेदना को पूरा गहरा नही होने देती, पूरा शुद्ध नही होने देती।

बुद्ध की आँखें 'ट्रान्सपेरेन्ट' (पारदर्शी) हैं। आप की आँखो मे धुआँ है। वह धुआँ आपकी गुलामी से पैदा हुआ है। अगर ठीक से हम समझें, तो हम अन्धे हैं, आँखे होते हुए भी। क्योकि भीतर जा देख सकता था आँखों से, वह मूर्छित है, सोया हुआ है। बुद्ध या महावीर जागे हुए हैं, अमूर्छित हैं।

आँख सिर्फ बीच का काम करती है, मालकियत का नही। आँख अपनी तरफ से कुछ जोडती नही, आँख अपनी तरफ से कोई व्याख्या नही करती। भीतर जो है, वह देखता है।

आप अपनी खिडकी पर खडे होकर बाहर की सडक देख रहे हैं। खिडकी भी अगर इसे देखने मे कुछ अनुदान करने लगे, तो कठिनाई होगी। फिर आप

वह न देख पायेंगे, जो है, वह देखने लगेंगे, जो खिडकी दिखाना चाहती है। लेकिन खिडकी कोई बाधा नही डालती, खिडकी सिर्फ राह है, जहाँ से आप बाहर झाँकते हैं।

आँख भी, बुद्ध और महावीर के लिए सिर्फ एक मार्ग है, जहाँ से वे बाहर झाँकते हैं। आँख सुझाती नही—क्या देखो ? आँख कहती नही—ऐसा देखो, ऐसा मत देखो। आँख, सिर्फ शुद्ध मार्ग है।

महावीर जितनी निर्दोषता से देखते है, हम नही देख पाते। महावीर अगर आपका हाथ, अपने हाथ मे ले, तो वे आपको ही छू लेगे। (जब हम एक दूसरे का हाथ लेते हैं, तो सिर्फ हड्डी, मास ही स्पर्श हो पाता है।) छू लेगे आपको ही, क्योकि बीच मे कोई वासना का वेग नही है। कोई वासना का बुखार नही है। सब शान्त है। हाथ सिर्फ छूने का ही काम करता है। इस हाथ की अपनी तरफ से कोई आकाक्षा, कोई वासना नही है, तो महावीर इस हाथ के द्वारा आपके भीतर तक को स्पर्श कर लेंगे।

इन्द्रियाँ महावीर और बुद्ध की अत्यन्त निर्मल हो गई हैं। वे शुद्ध हो गई हैं। वे उतना ही काम करती हैं, जितना करना जरूरी है। अपनी तरफ से वे कुछ भी जोडती नही।

हमारी सारी इन्द्रियाँ विक्षिप्त हैं, और विक्षिप्त होगी ही, क्योकि जब मालिक मूर्छित है, तो नौकर सम्यक् नही हो सकते। जब एक रथ का सारथी सो गया हो, तो घोडे कही भी दौडने लगे, यह स्वाभाविक है, और उन सारे घोडो के बीच कोई ताल-मेल न रह जाए, यह भी स्वाभाविक है।

हमारी इन्द्रियो के बीच कोई ताल-मेल नही है। भोगी की सभी इन्द्रियाँ उसे विपरीत दिशाओ मे खीचती रहती है। आख कुछ देखना चाहती है, कान कुछ सुनना चाहते हैं, हाथ कुछ और छूना चाहते हैं, इन सबके बीच विरोध है, बडा 'कन्ट्राडिक्शन' है। जीवन मे बडी विसगतिया पैदा होती हैं।

जैसे आप एक स्त्री के प्रेम मे पड गये है, एक पुरुष के प्रेम मे पड गये हैं, आपने कभी ख्याल नही किया होगा कि सभी प्रेम इतनी कठिनाई मे क्यो ले जाते हैं, और सभी प्रेम अन्तत दुख क्यो बन जाते हैं ?

उसका कारण है कि किसी का चेहरा आपको सुन्दर लगा तो यह आँख का रस है। अगर आँख बहुत प्रभावी सिद्ध हो जाये, तो आप प्रेम मे पड जायेंगे, लेकिन कल उसके शरीर की गन्ध आपको अच्छी नही लगी, तो नाक इन्कार

करने लगेगी। आप उसके शरीर को छूते हैं, लेकिन उसके शरीर की उष्मा आपको, आपके हाथ को अच्छी नही लगती, तो हाथ इन्कार करने लगेंगे।

इन्द्रियो के बीच कोई ताल-मेल नहीं है, इसलिए प्रेम विसंवाद हो जाता है। एक इन्द्रिय के आधार पर आदमी चुन लेता है, बाकी इन्द्रियाँ धीरे-धीरे अपना अपना स्वर देना शुरू करती हैं और तब एक ही व्यक्ति के प्रति एक इन्द्रिय अच्छा अनुभव करती है, दूसरी इन्द्रिय बुरा अनुभव करती है और मन मे हजार विचार एक ही व्यक्ति के प्रति हो जाते हैं।

हममे से अधिक लोग आँख की बात मान कर चलते हैं। आँख बडी प्रभावी हो गई है। हमारे चुनाव मे नब्बे प्रतिशत आँख काम करती है। हम आँख की मान लेते हैं, दूसरी इन्द्रियो की हम कोई फिक्र नही करते, आज नही कल कठिनाई शुरू हो जाती है, क्योकि दूसरी इन्द्रियाँ भी 'असर्ट' करना शुरू करती हैं, अपने वक्तव्य देना शुरू करती हैं।

आँख की गुलामी मानने को कान राजी नही हैं, इसलिए आँख ने कितना ही कहा हो कि चेहरा सुन्दर है, इस कारण वाणी को कान मान लेगा कि सुन्दर है, यह आवश्यक नही है। आँख की आवाज को, आँख की मालकियत को, नाक मानने को राजी नही है। आँख ने कहा हो शरीर सुन्दर है, लेकिन नाक तो कहेगी कि शरीर से जो गन्ध आती है, वह अप्रीतिकर है।

एक ही व्यक्ति के प्रति पाचो इद्रियो के अलग-अलग वक्तव्य जटिलता पैदा करते हैं। यह जो जटिलता है, केवल उसी व्यक्ति में नही होती, जिसका भीतर मालिक जगा होता हो।

पाँचो इन्द्रियो को जोड़ने वाला एक केन्द्र भी होता है। हमारे भीतर कोई केन्द्र नही है। हमारी हर इन्द्रिय मालकियत जाहिर करती है, और हर इन्द्रिय का वक्तव्य आखिरी है। कोई दूसरी इन्द्रिय उसके वक्तव्य को काट नही सकती। हम सभी इन्द्रियो के वक्तव्य इकट्ठे करके एक विसगतियो का ढेर हो जाते हैं।

हमारे भीतर—जिसे हम प्रेम करते हैं, उसके प्रति घृणा भी होती है। एक इन्द्रिय प्रेम करती है, एक घृणा करती है; और हम इसमे कभी ताल-मेल नही बिठा पाते। ज्यादा से ज्यादा हम यही करते है कि हम हर इन्द्रिय को 'रोटेशन' में मौका देते रहते हैं। हमारी इन्द्रियाँ 'रोटरी-क्लब' की सदस्य हैं।

कभी आँख को मौका देते हैं, तो वह मालकियत कर लेती है। कभी कान को मौका देते हैं, तो वह मालकियत कर लेता है, लेकिन इनके बीच कभी कोई

ताल-मेल निर्मित नही हो पाता, कोई संगति, कोई सामजस्य, कोई संगीत पैदा नही हो पाता, इसलिए जीवन हमारा एक दुख हो जाता है।

जब भीतर का मालिक जगता है, तो वही संगति है, वही ताल-मेल है, वही 'हारमॅनी' है। सारथी जग गया, लगाम हाथ मे आ गई और सारे घोड़े, सारी इन्द्रियाँ एक साथ चलने लगी, उनकी गति मे एक लय आ गई—एक दिशा, एक आयाम आ गया।

मूर्छित मनुष्य इन्द्रियो के द्वारा अलग-अलग रास्तो पर खींचा जाता है। जैसे एक ही बैलगाडी अलग-अलग रास्ते पर चारो तरफ जुते हुए बैलो से खीची जा रही हो। यात्रा नही हो पाती, सब अस्थि-पंजर ढीले हो जाते हैं। कुछ परिणाम नही निकलता। जीवन निष्पत्तिहीन हो जाता है, निष्कर्ष-रहित हो जाता है।

रस-परित्याग का अर्थ है इन्द्रियों की मालकियत का परित्याग—इन्द्रियों का परित्याग नही। आँख नही फोड लेनी, कान नही फोड देना, वह तो मूढता है, हालाँकि वह आसान है। आँख फोडने मे क्या कठिनाई है? जरा सा जिद्दी स्वभाव चाहिए, जोश चाहिए, हठवादिता चाहिये, आँख फोडी जा सकती है। सोच विचार नही चाहिए, आँख आसानी से फोडी जा सकती है, लेकिन रस इतनी आसानी से नही छोडा जा सकता।

रस-परित्याग लम्बा सघर्ष है—बारीक है, 'डेलीकेट' है, सूक्ष्म है और नाजुक है। आँख तो एक बार मे फोडी जा सकती है, लेकिन रस धीरे-धीरे छोड़ा जा सकता है इसलिए त्यागियो को आसान दिखा, आँख का फोड लेना। कुछ हिम्मतवर है, जो इकट्ठी फोड लेते हैं, कुछ उतने हिम्मतवर नहीं हैं, तो धीरे-धीरे फोड लेते हैं। कुछ उतने भी हिम्मतवर नही, तो आँख फोडते नही, सिर्फ आँख बन्द करके जीने लगते हैं, लेकिन यह हल नही है। इसका यह भी अर्थ नही है कि आप नाहक ही आँख खोलकर जिएँ।

अधिकतम लोग नाहक आँख खोल कर जीते है। रास्ते पर जा रहे हैं, तो दीवारो पर लगे पोस्टर भी उनको पढ़ने ही पडते हैं। जिससे कोई प्रयोजन न था, जिसमे कोई अर्थ न था, जिस पोस्टर को हजार दफे पढ़ चुके थे, आज फिर उसको पढ़ेंगे।

हमारी आँख पर हमारा कोई भी वश नही मालूम होता, इसलिए ऐसा हो रहा है। लेकिन उस पोस्टर को पढ़ लेना, सिर्फ पढ लेना ही नही है, वह आपके भीतर भी जा रहा है और आपके जीवन को प्रभावित करेगा। ऐसा

कुछ भी नही है, जो आप भीतर ले जाते हैं और जो आपको प्रभावित न करता हो। आँख से पोस्टर पढ़ना आँख का भोजन है। वह भी आपके भीतर जा रहा है।

शकर ने इन सबको आहार कहा है। कान से जो सुनते हैं, वह कान का भोजन है। मुंह से जो लेते हैं, वह मुंह का भोजन है। आँख से जो देखते हैं, वह आँख का भोजन है। इसका यह भी मतलब नही है कि आप व्यर्थ ही आँख खोल कर चलते रहे, कि व्यर्थ ही कान खोल कर बाजार के बीच मे बैठ जाएँ। होश रखना जरूरी है।

जो सार्थक है, उपादेय है, उसे ही भीतर जाने दे। जो निरर्थक है, निर्-उपादेय है, घातक है, उसे भीतर न जाने दें।

चुनाव जरूरी है। और चुनाव के साथ मालकियत निर्मित होती है। कौन चुने लेकिन ? आँख मे आपके पास चुनने की कोई क्षमता नही है। आँख देख सकती है, कान सुन सकता है, चुनेगा कौन ? आप ? लेकिन आप को तो कोई पता नही है ! आप तो कही हैं ही नही। इसलिए जिन्दगी मे कोई चुनाव नही है।

आप कुछ भी पढते हैं, कुछ भी सुनते हैं, कुछ भी देखते हैं, वह सब आपके भीतर जा रहा है और आपको कचरे का एक ढेर बना रहा है। अगर आपके मन को उघाडा जा सके, तो कचरे का एक ढेर मिलेगा ! कुछ भी इकट्ठा कर लिया है ! इकट्ठा करते वक्त सोचा भी नही !

आप अपने घर मे एक चीज लाने मे जितना विचार करते हैं—कि ले जानी या नही, जगह घर मे है या नही, कहा रखेंगे ? क्या करेंगे—उतना भी विचार, मन के भीतर ले जाने मे आप नही करते। जगह है भीतर ?—यह भी कभी नही सोचते। जो ले जा रहे हैं, वह ले जाने योग्य है—यह भी कभी नही सोचते।

कभी आपने किसी आदमी से कहा है कि अब बातचीत बन्द कर दे, मेरे भीतर मत डालें कभी नही कहा है। कुछ भी कोई आपके भीतर डाल सकता है। आप कोई टोकरी हैं कचरे की, कि कुछ भी कोई डाल सकता है ! आपके घर मे पडोसी कचरा फेंके, तो आप पुलिस मे रिपोर्ट कर देंगे और पडोसी आपकी खोपडी मे रोज कचरा फेंकता है, आपने कभी कोई रिपोर्ट नही की, बल्कि एक दिन न फेके, तो आपको लगता है दिन खाली-खाली जा रहा है··· आओ फेको—नही, हमे होश ही नही है कि हम भीतर क्या ले जा रहे हैं।

आँख न फोडनी उचित है और न जरूरत से ज्यादा खोलनी उचित है। इसलिए महावीर ने तो कहा है कि साधु इतना देखकर चले, जितना आवश्यक है। आँख चार फीट देखे चलते वक्त भिक्षु की। अगर चार फीट देखे तो इसका मतलब हुआ आपको नाक का अग्र हिस्सा दिखाई पडता रहेगा, बस। आँख झुकी होगी, चार फीट देखेगी।

महावीर ने कहा है चलने के लिए चार फीट देखना काफी है, फिर आगे बढ जाते हैं, चार फीट फिर दिखाई पडने लगता है, इतना काफी है। कोई दूर का आकाश चलने के लिए देखना आवश्यक नही है। उतना देखें, जितना जरूरी हो। उतना सुने, जितना जरूरी हो। उतना बोले जितना जरूरी हो। तो इसके परिणाम होगे।

इसके दो परिणाम होगे . एक तो व्यर्थ आपके भीतर इकट्ठा नही होगा, यह आपकी शक्ति क्षीण करता है। दूसरा, आपकी शक्ति बचेगी, वह शक्ति ही आपको उर्ध्वगमन के लिए मार्ग बनने वाली है, उसी शक्ति के सहारे आप अन्तर की यात्रा पर निकलेंगे।

हम तो करीब-करीब 'एक्जॉस्टेड' हैं, खतम हैं। कुछ बचता नही साँझ होते-होते। दिन भर मे सब चुक जाता है। साँझ हम चुके चुकाए हैं, चली हुई कारतूस की तरह अपने बिस्तर पर गिर जाते है, मगर रात भर भी हम शक्ति को इकट्ठा नही कर रहे हैं, खर्च कर रहे है। इसलिए मजे की घटना घटती है—लोग थके हुए बिस्तर मे जाते हैं और सुबह थके हुए उठते हैं। रात भी सपने चल रहे हैं और हम थक रहे हैं। हमारी जिन्दगी एक लम्बी थकान बन जाती है, एक शान्ति का सचयन नही। और जहाँ शक्ति नही है, वहाँ कुछ भी नही हो सकता।

व्यर्थ इकट्ठा न करे, हमारे भीतर 'स्पेस', खाली जगह चाहिए। जिस आदमी के भीतर आकाश नही है, उस आदमी का आत्मा से कोई सम्बन्ध नही हो सकता। जिस आदमी के भीतर आकाश नही है, वह उस परमात्मा के अतिथि को निमत्रण भी नही भेज सकता। उसके भीतर वह मेहमान आ जाये, तो ठहराने की जगह भी नही है।

भीतरी आकाश, 'इनर-स्पेश', धर्म की अनिवार्य खोज है। हम जिसे बुला रहे है, जिसे पुकार रहे हैं, जिसे खोज रहे हैं, उसके लायक हमारे भीतर जगह होनी चाहिए, स्थान होना चाहिए। वहाँ रिक्तता बिलकुल नही है, आप भरे हुए हैं, ठसाठस भरे हुए हैं।

आप कहते हैं कि परमात्मा सर्व-शक्तिमान है; मगर आपके भीतर घुसने की उसकी भी सामर्थ्य नही। जगह ही नहीं है वहाँ। शायद इसीलिए आप अपने भीतर नही जा पाते, बाहर घूमते रहते हैं। वहाँ तो जगह चाहिए। वहाँ आपने क्या भर रखा है, यह कभी आपने सोचा।

कभी दस मिनट बैठ जाएँ और एक कागज पर जो आपके मन के भीतर चलता हो, उसको लिख डाले, तब आपको पता चलेगा कि आपने क्या भीतर भर रखा है! कही कोई फिल्म की कडी आ जाएगी, कही पड़ोसी के कुत्ते का भौकना आ जायेगा। कही रास्ते पर सुनी हुई कोई बात आ जायेगी। पता नही क्या-क्या कचरा वहाँ सब इकट्ठा है!

इस पर शक्ति व्यय हो रही है—चाहे आप फिल्म की एक कडी दुहराते हो और चाहे आप प्रभु का स्मरण करते हो। एक शब्द का भी भीतर उच्चारण, शक्ति का ह्रास है, फिर उसका आप क्या उपयोग कर रहे हैं, यह आप पर निर्भर है। अगर व्यर्थ ही खोते चले जा रहे हैं, तो जीवन के आखिर मे अगर आप पायें कि आप सिर्फ खो गये, आपने कुछ पाया नही, तो इसमे आश्चर्य नही है।

हमारी मृत्यु अक्सर हमे उस जगह पहुँचा देती है, जहाँ अवसर था, शक्ति थी, लेकिन हम उसे फेकते रहे, कुछ सृजन नही हो पाया। हमारी मृत्यु एक लम्बे विध्वंस का अन्त होती है। एक लम्बे आत्मघात का अन्त। एक सृजनात्मक, एक 'क्रिऐटिव' घटना नही।

महावीर की सारी उत्सुकता इसमे है कि भीतर एक सृजन हो जाये : वह सृजन ही आत्मा है।

● इस सूत्र को हम समझें।

'प्राणीमात्र के सरक्षक ज्ञातपुत्र ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों के रखने को परिग्रह नहीं बतलाया है'।

महावीर ने नही कहा है कि आप के पास कुछ चीजे है, तो आप परिग्रही है। महावीर ने यह भी नही कहा है कि आप सभी चीजे छोडकर खडे हो गये, तो आप अपरिग्रही हो गये।

वस्तुएँ हैं, इससे कोई गार्ह्स्थ्य नही होता, और वस्तुएँ नही हैं, इससे कोई साधु नही होता। लेकिन अधिक साधु यही करते रहते है। उनके पास कितनी कम वस्तुएँ हैं, इससे वे सोचते है कि साधुता हो गई। साधुता या गार्ह्स्थ्य महावीर के लिए आतरिक घटना है। वे कहते हैं : सामग्रियो मे आसक्ति, ममता और मूर्छा रखना ही परिग्रह है।

मूर्छा परिग्रह है। बेहोशी परिग्रह है। बेहोशी का क्या मतलब है? होश का क्या मतलब है?

जब आप किसी चीज के लिए जीने लगते हैं, तब बेहोशी शुरू हो जाती है। एक आदमी धन के लिए जीता है, तो बेहोश है। वह कहता है कि मेरी जिन्दगी इसलिए है कि धन इकट्ठा करना। धन मेरे लिए है ऐसा नही; धन किसी और काम के लिए है, ऐसा भी नही—मैं धन के लिए हूँ। मुझे धन इकट्ठा करना है। मैं एक मशीन हूँ, एक फैक्टरी हूँ।

जब एक आदमी वस्तुओ को अपने से ऊपर रख लेता है, और जब एक आदमी कहने लगता है कि मै वस्तुओ के लिए जी रहा हूँ, वस्तुएँ ही सब कुछ है—मेरे जीवन का लक्ष्य, साध्य—तब मूर्छा है। लेकिन हम सारे लोग इसी तरह जीते हैं। छोटी सी चीज खो जाए, तो ऐसा लगता है कि आत्मा खो गई। कभी आपने ख्याल किया उस चीज का कितना ही कम मूल्य क्यो न हो, रात नीद नही आती! चिन्ता भीतर मन मे चलती रहती है—दिनो तक पीछा करती है।

बच्चों जैसी हमारी हालत है! एक बच्चे की गुडिया टूट जाए, तो रोता है, छाती पीटता है। मुश्किल हो जाता है, उसे ये स्वीकार करना कि गुडिया अब नही रही। उसकी आँखो मे आँसू भर-भर आते हैं। लेकिन यह बच्चे की ही बात होती, तो क्षम्य थी; बूढो की भी यही बात है। यह बडे मजे की बात है कि जिसके होने से कभी कोई सुख न मिला हो, अगर वह खो जाए—तो उसके खोने से दुख मिलता है।

आपके पास कोई चीज है, जब तक वह थी, तब तक आपको उससे कोई सुख नही मिला। आपकी तिजोरी मे एक सोने की ईट रखी है, उससे आपको कोई सुख नही मिला। ऐसा कभी नही हुआ कि उसकी वजह से आप नाचे हो, आनन्दित हुए हो—ऐसा कभी नही हुआ, लेकिन आज ईट चोरी चली गई, तो आप छाती पीट कर रो रहे हैं। जिस ईंट से कभी कोई खुशी नही मिली, उस ईट के लिए रोने का क्या अर्थ है! जो ईंट तिजोरी मे रखी थी, वह सोने की थी कि पत्थर की थी इससे क्या फर्क पडता है! कोई फर्क नही पडता—छाती पर वजन ही रखना है, तो सोने का रख लो कि पत्थर का रख लो।

महावीर कहते हैं · वस्तुएँ हमसे ज्यादा मूल्यवान हो जाएँ, तो मूर्छा है।

रस्किन ने कहा : 'धनी' आदमी तब होता है, जब वह धन को दान कर पाता है, नही तो गरीब ही होता है। रस्किन का मतलब यह है कि आप धनी उसी दिन हैं, जिस दिन धन को आप छोड पाते हैं; अगर नही छोड पाते, तो आप गरीब ही हैं। पकड गरीबी का लक्षण है और छोडना मालकियत का लक्षण है। अगर किसी चीज को आप छोड पाते हैं, तो समझना कि आप उसके मालिक हैं; और अगर किसी चीज को आप केवल पकड ही पाते हैं, तो आप भूल कर मत समझना कि आप उसके मालिक हैं। इसका तो बडा अजीब मतलब हुआ। इसका मतलब हुआ कि जो चीजे आप किसी को बाँट देते है, उनके आप मालिक हैं, और जो चीजें आप पकड कर बैठे रहते हैं, उनके आप मालिक नही हैं।

दान मालकियत है क्योकि जो आदमी दे सकता है, वह यह बता रहा है कि वस्तु मुझसे नीची है—मुझसे ऊपर नही। मैं दे सकता हूँ। देना मेरे हाथ मे है। जो व्यक्ति देकर प्रसन्न हो सकता है, उसकी मूर्छा टूट गई। जो व्यक्ति केवल लेकर ही प्रसन्न होता है और देकर दुखी हो जाता है, वह मूर्छित है। त्याग का ऐसा है अर्थ।

त्याग का अर्थ है, दान की अनन्त क्षमता—देने की क्षमता। जितना बडा हम दे पाते हैं, जितना ज्यादा हम दे पाते हैं, उतने ही हम मालिक होते चले जाते हैं। इसलिए महावीर ने सब दे दिया। महावीर ने कुछ भी नही बचाया। जो भी उनके पास था, सब देकर वे नग्न होकर चले गये। इस सब देने मे, सिर्फ एक आन्तरिक मालकियत की उद्घोषणा है। इस देने की याद भी नही रखी कि मैने कितना दे दिया। अगर याद भी रखे कोई, तो उसका मतलब हुआ कि वस्तुओ की पकड जारी है। अगर कोई कहे कि मैंने इतना दान कर दिया—इसे दोहराए······

···एक मित्र मेरे पास आए थे। पर्चा भी छपाए हुए हैं वे; कि एक लाख रुपया उन्होने दान किया हुआ है! उन्होने मुझसे कहा कि मैं अब तक एक लाख रुपया दान कर चुका हूँ! नही, उनकी पत्नी ने मुझसे कहा कि मेरे पति लाख रुपया दान कर चुके हैं। उन्होने पत्नी की तरफ बडी हैरानी से देखा और कहा कि पर्चा पुराना है; अब तक एक लाख दस हजार···!

····एक पैसा दान नही हो सका इस सज्जन से। एक लाख दस हजार इनके अकाउण्ट मे अब भी उसी भाँति हैं, जैसे पहले थे—उसी तरह गिनती मे

हैं। यह भला कह रहे हों कि दान कर दिया है, लेकिन दान हो नही पाया, क्योंकि जो दान याद रह जाए, वह दान नही है।

सुना है मैंने, मुल्ला नसरुद्दीन के घर कोई मेहमान आया हुआ है। बहुत पुराना मित्र है और मुल्ला उसे खिलाए चले जा रहे हैं। कोई बहुत बढिया मिठाई बनाई है, बार-बार आग्रह कर रहे हैं, तो उस मित्र ने कहा कि बस अब रहने दें, तीन बार तो मैं ले ही चुका हूँ। मुल्ला ने कहा कि छोडो भी; ले तो तुम छः बार चुके हो, लेकिन गिन कौन रहा है ?

फिक्र छोडो, ले तो तुम छः बार चुके हो, लेकिन गिन कौन रहा है ? आदमी का मन ऐसा है ! गिन भी रहा है और सोचता है कि गिन कौन रहा है ! त्याग अक्सर ऐसे ही चलता है। आदमी कहता है छोड दिया, और दूसरी तरफ से पकड लेता है, गिनती किये चला जाता है, फिर भी सोचता है, गिन कौन रहा है ? पैसा तो मिट्टी है; लेकिन एक लाख दस हजार मैंने दान कर दिया ! मिट्टी के दान को कोई याद रखता है ? दान तो हम तभी याद रखते हैं, जब सोने का होता है, अगर मिट्टी ही है, तो फिर याददास्त की कोई जरूरत नही।

दान की कोई स्मृति नही होती, सिर्फ चोरी की स्मृति होती है। चोरी को याद रखना पडता है। और अगर दान भी याद रहे, तो चोरी के ही समान हो जाता है। अर्थ क्या है ? अर्थ इतना ही है कि हम इस भाँति सम्मोहित हो सकते हैं, 'हिप्नोटाइज्ड' हो सकते हैं वस्तुओ से कि हमारी आत्मा वस्तुओ मे प्रवेश कर जाये।

एक कार सरसराती रास्ते से गुजर जाती है, कार तो गुजर जाती है, हवा के झोके के साथ आपकी आत्मा भी कार के साथ बह जाती है। उसकी छवि आँख मे रह जाती है। वह सपनों मे प्रवेश कर जाती है। मन मे एक ही बात घूमने लगती है। उस रग की वैसी गाडी पकड लेती है। इसे अगर हम विज्ञान की भाषा में समझें, तो यह 'हिप्नोटिज्म' है, यह सम्मोहन है। आप उस कार के रग से, रूप से, आकृति से सम्मोहित हो गए हैं। अब आपके चित्त मे एक प्रतिमा बन गई है, वह प्रतिमा जब तक न मिल जाए, आप दुखी होंगे।

हम वस्तुओ से सम्मोहित होते हैं। व्यक्तियो से ही होते हो, तो भी ठीक है, हम वस्तुओ से भी सम्मोहित होते हैं। देख लेते हैं एक आदमी का कमीज— रंग पकड लेता है; रूप पकड लेता है। आपकी आत्मा बह गई आप के बाहर

और कमीज से जाकर जुड गई। अपने से बाहर बह जाना और किसी से जुड जाना, और फिर ऐसा अनुभव करना कि उसके मिले बिना सुख न होगा, यह सम्मोहन का लक्षण है। जहाँ-जहाँ हम सम्मोहित होते हैं वहाँ-वहाँ लगता है, इसके बिना अब सुख न होगा। जब भी आपको लगे कि इसके बिना सुख न होगा, तब आप समझ लेना कि आप 'हिप्नोटाइज्ड' हो गए, आप सम्मोहित हो गए।

सम्मोहन करने के लिए, कोई आपकी आँखो मे झांक कर घण्टे भर तक देखना आवश्यक नहीं है। सम्मोहित करने के लिए आपको किसी टेबल पर लिटा कर, किसी मैक्सकोली को या किसी को आपको बेहोश करना आवश्यक नही है। आप चौबीस घण्टे सम्मोहित हो रहे हैं, और चारो तरफ उपाय किए गए हैं, आपको सम्मोहित करने के, क्योकि सारा व्यवसाय जीवन का, सम्मोहन पर खडा है।

आपके ख्याल मे नही है, सारी 'एडवरटाइजमेट' की कला सम्मोहन पर खडी है। वह आपको सम्मोहित कर रही है। रोज रेडिओ आप से कह रहा है—यही सिगरेट, यही साबुन, यही टुथपेस्ट श्रेष्टतम है। बस, इसको कहे चला जा रहा है। अखबार मे रोज बडे-बडे अक्षरो मे आप यही पढ रहे हैं। रास्ते पर निकलते हैं, 'पोस्टर' भी यही कहता है और इस सबको कहने के और सम्मोहित करने के सारे उपाय किये जाते हैं, क्योंकि अगर कोई इतना ही कहे कि बिनाका टूथ-पेस्ट सबसे अच्छा है, तो मन मे बहुत गहरा नही जाता, लेकिन पास मे एक खूबसूरत अभिनेत्री को भी खडा कर दिया जाय, तो मन में ज्यादा जाता है। अब बिनाका अभिनेत्री का सहारा लेकर मन की गहराइयो मे चला जाता है। अभिनेत्री मुस्कराती हो, उसके झूठे सही, लेकिन मोतियो जैसे चमकते दाँत पकड लेते हैं मन को। बिनाका गौण हो जाता है, अभिनेत्री प्रमुख हो जाती है।

अभिनेत्री का सहज सम्मोहन है; क्योकि सेक्स का सहज सम्मोहन है, वासना, कामवासना का सहज सम्मोहन है, इसलिए आज दुनिया में कोई भी चीज बेचनी हो, तो बिना स्त्री के सहारे के बेचना मुश्किल है, या बिना पुरुष के सहारे के बेचना मुश्किल है।

सम्मोहित करने के लिए, काम-अवष्टि करना जरूरी है। अगर अभिनेत्री नग्न खडी हो, तो आपको पता नही होगा (अब वैज्ञानिक कहते हैं) कि आपकी आँखो की जो पुतली है, वह तत्काल बड़ी हो जाती है। जब नग्न स्त्री

को आप देखते हैं, और आप कुछ भी करें, वह नॉन-वालेन्टरी है; आपके हाथ में नहीं है मामला, आप कितना ही संयम साधें और कुछ भी करे, आप की पुतली को बड़ा होने से नही रोक सकते आप; जब आप नग्न चित्र देखते हैं, तब आँख की पुतली तत्काल बडी हो जाती है। क्यो ? क्योकि आपके भीतर की आसक्ति पूरी तरह देखना चाहती है। तो आँख का जो लेंस है, वह बड़ा हो जाता है, ताकि पूरा चित्र भीतर चला जाए।

जो मैक्सफोली आपकी आखो मे पाँच मिनट देखकर करता है, वही नग्न स्त्री बिना आपकी तरफ देखे कर देती है। आँख की पुतली बडी हो जाती है। चित्र तत्काल भीतर चला जाता है, जैसे कमरे के लैंस से चित्र भीतर चला जाता है। उस स्त्री के साथ, बिनाका टूथपेस्ट भी भीतर चला जाता है। कण्डीसनिंग हो जाती है। अगर रोज-रोज ये होता रहा, तो जब भी आप सुन्दर स्त्री के सम्बन्ध मे सोचेंगे, आपके भीतर बिनाका भी आवाज लगायेगा, और एक दिन आप जब दुकान पर जाकर कहेंगे कि बिनाका टूथपेस्ट दे दे, तो आप बिनाका टूथपेस्ट नही माँग रहे हैं, आप अनजाने, अचेतन मन से, बिनाका से साथ जो स्मृति जुड गई है स्त्री की, वह माँग रहे हैं। यह सम्मोहन है।

यह सम्मोहन हजार तरह से चलता है। चारो तरफ चलता है और ऐसा नही कि कोई जान के विज्ञापन से आपको सम्मोहित करता है। यह तो अब होश की बात हो गई; अब विज्ञापन-दाता समझ गया है कि आपको कैसे पकडना है। मन के नियम, पकडने के जाहिर हो गये है। लेकिन इससे कोई फर्क नही पडता। नियम जाहिर नही थे, तब भी आदमी वस्तुओं से सम्मोहित हो रहा था। हम सदा ही वस्तुओ से सम्मोहित होते रहे है। इस सम्मोहन का नाम मूर्छा है।

मूर्छा का अर्थ है—कोई वस्तु इस भाँति आपको पकड ले कि मन मे ये भाव पैदा हो जाये कि इसके बिना अब कोई सुख नही मिल सकता। महावीर कहते हैं जिस आदमी को ऐसा भाव पैदा हो गया, उसको दुख ही मिलेगा। जब तक वस्तु न मिलेगी, तब तक लगेगा इसके बिना सुख नही मिल सकता। और जब वस्तु मिल जायेगी, तो वस्तु के कारण नहीं दिखाई पड रहा था कि सुख मिलेगा कि नही मिलेगा; यह आपका सम्मोहन था। वस्तु के मिलते ही टूट जायेगा।

इसे ठीक से समझ लें।

सम्मोहन तभी तक रह सकता है, जब तक आपके हाथ में वस्तु न हो। आपको लगे कि कोहिनूर हीरा मेरे पास हो, तो मैं जगत् का सबसे सुखी आदमी हो जाऊंगा, लेकिन जब तक आपके हाथ मे कोहिनूर हीरा नही है, तभी तक ये सम्मोहन काम कर सकता है। कोहिनूर हीरा आपके हाथ में आ जाये, तो सम्मोहन नही बचेगा, क्योकि कोहिनूर हीरा हाथ मे आ जायेगा और सुख का कोई पता नही चलेगा; तो सम्मोहन तत्काल टूट जायेगा। सम्मोहन टूटेगा, तो दुख शुरू हो जायेगा; और जितनी बडी अपेक्षा बाँधी थी सुख की, उतने ही बडे दुख के गर्त मे गिर जाएँगे। अपेक्षा के अनुकूल दुख होता है, ठीक उसी अनुपात मे। अगर आपने सोचा था कि कोहिनूर के मिलते ही मोक्ष मिल जायेगा, तो फिर कोहिनूर के मिलते ही आपसे बडा दुखी आदमी दुनिया में दूसरा नही होगा, इसलिए धनी आदमी दुखी हो जाता है। गरीब आदमी इतना दुखी नही होता। यह जरा अजीब लगेगी मेरी बात।

गरीब आदमी कष्ट मे होता है, दुख में नही होता। अमीर आदमी कष्ट मे नही होता, दुख मे होता है। कष्ट का मतलब है—अभाव और दुख का मतलब है—भाव। कष्ट हम उस चीज से उठाते हैं, जो हमे नही मिली है; जिसमे हमे आशा है कि मिल जाये, तो सुख मिलेगा, इसलिए गरीब आदमी हमेशा आशा मे होता है, सुख मिलेगा। आज नही कल, कल नही परसों, इस जन्म मे नही अगले जन्म मे; मगर सुख मिलेगा। यह आशा उसके भीतर एक थिरकन बनी रहती है। कितना ही कष्ट हो, अभाव हो, वह झेल लेता है—इस आशा के सहारे कि आज है कष्ट, कल होगा सुख, आज को गुजार देना है। कल की आशा उसे खीचे चली जाती है। फिर एक दिन यही आदमी अमीर हो जाता है।

अमीर का मतलब जो-जो उसने सोचा था अपनी आशा में, वह सब हाथ मे आ जाता है। इस जगत् मे इससे बडी कोई दुर्घटना नही है, जब आशा आपके हाथ मे आ जाती है, तब तत्क्षण सब फ्रस्ट्रेशन हो जाता है, सब विषाद हो जाता है, क्योकि इतनी आशाएँ बाँधी थी, इतने लम्बे-लम्बे सपने देखे थे, वे सब तिरोहित हो जाते हैं। हाथ मे कोहिनूर आ जाता है, सिर्फ पत्थर का एक टुकड़ा मालूम पड़ता है। सब आशाएँ खो जाती हैं; अब क्या होगा?

अमीर आदमी इस दुख में पड़ जाता है कि अब क्या होगा! अब क्या करना है? कोई आशा नही दिखाई पड़ती आगे।

धन बड़े विषाद में गिरा देता है—कष्ट मे नही, दुख में गिरा देता है। इसलिए दुख जो है, वह समृद्ध आदमी का लक्षण है। कष्ट जो है, वह गरीब आदमी का लक्षण है। कष्ट और दुख, भाषा-कोष में भला उनका एक ही अर्थ लिखा हो, जीवन के कोष मे उनका बिलकुल विपरीत अर्थ है; और मजा यह है कि कष्ट कभी इतना कष्टपूर्ण नही है, जितना दुख, क्योंकि दुख आन्तरिक हताशा है और कष्ट बाहरी अभाव है, लेकिन भीतर आशा भरी रहती है।

आपको पता नही है कि आप खोज रहे हैं कि ईश्वर का दर्शन हो जाये। ईश्वर का दर्शन हो जाये किसी दिन तो उससे बडा दुख फिर आपको कभी न होगा। अगर आपने सारी आशाएँ इसी पर बाँध रखी है कि ईश्वर का दर्शन हो जाये··।

समझ लो कि किसी दिन ईश्वर आपसे मजाक कर दे, (ऐसे वह कभी ऐसा करता नही) और मोर-मुकुट बाँध कर बाँसुरी बजाता हुआ आपके सामने खडा हो जाये, तो थोडी-बहुत देर देखिएगा, फिर! फिर क्या करिएगा ? फिर करने को क्या है! फिर आप उससे कहेंगे कि आप तिरोधान हो जाओ। अब आप फिर पहले जैसे लुप्त हो जाओ, ताकि हम खोजेंगे।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि ईश्वर को खोजा मैंने बहुत-बहुत जन्मो तक। कभी किसी दूर तारे के किनारे उसकी झलक दिखाई पडी; लेकिन जब तक मैं अपनी धीमी सी गति से चलता-चलता वहाँ तक पहुँचा, तब तक वह दूर निकल गया था, कही और जा चुका था। कभी किसी सूरज के पास उसकी छाया दिखी और मैं जन्मो-जन्मो उसको खोजता रहा। खोज बड़ी आनन्दपूर्ण थी, क्योंकि सदा वह दिखाई पडता था कि कहीं है।

फासला था। फासला पूरा हो सकता था। फिर एक दिन बड़ी मुश्किल हो गयी। मैं उसके द्वार पर पहुँच गया, जहाँ तख्ती लगी थी कि भगवान यही रहता है। चित्त बडा प्रसन्न हुआ। छलाग लगा कर, सीढ़ियाँ चढ़ गया। हाथ मे साकल लेकर ठोकने जाता ही था दरवाजे पर···।

पुराने किस्म का दरवाजा होगा, कॉलबेल नहीं रही होगी। रवीन्द्रनाथ ने कविता लिखी है। उसको काफी समय हो गया है। कॉलबेल होती, तो वे मुश्किल मे पड जाते, क्योंकि वह एकदम से बज जाती···।

साकल हाथ मे लेकर ठोकने ही जाता था, मुझे ख्याल आया कि अगर आवाज मैंने कर दी और दरवाजा खुल गया, और ईश्वर सामने खड़ा हो गया,

तो फिर ! फिर क्या करियेगा ? फिर तो सब अन्त हो गया : फिर तो मरण ही रह गया हाथ में। फिर तो खोज न बची; क्योकि कोई आशा न बची। फिर कोई भविष्य न बचा; क्योकि कुछ पाने को न बचा।

ईश्वर को पाने के बाद और क्या पाइयेगा ? फिर मैं क्या करूँगा ? फिर मेरा अस्तित्व क्या होगा ? सारा अस्तित्व तो तनाव है—आशा का, आकाक्षा का, भविष्य का। जब कोई भविष्य नही, कोई आशा नहीं, कोई तनाव नही, तो फिर मैं क्या करूँगा ? मेरे होने का क्या प्रयोजन है ? फिर मैं होऊँगा भी कैसे ? वह होना तो बहुत बदतर हो जायेगा।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है, धीमे से छोड दी मैंने वह सांकल; कि कही आवाज हो ही न पाये। पैर के जूते निकाल कर हाथ मे ले लिये; कही सीढियो से उतरते वक्त पग-ध्वनि सुनाई न पडे; और जो मैं भागा हूँ उस दरवाजे से, तो फिर मैंने लौट कर नही देखा। हालांकि अब भी मैं फिर ईश्वर को खोज रहा हूँ, और मुझे पता है कि उसका घर कहाँ है। उस जगह को भर छोड कर, सब जगह खोजता हूँ।

बहुत मनोवैज्ञानिक है, सार्थक है, बात अर्थ-पूर्ण है। आप जहाँ-जहाँ सम्मोहन रखते है, सम्मोहन का अर्थ—जहाँ-जहाँ आप सोचते हैं कि सुख छिपा है, वहाँ-वहाँ पहुँच कर दुखी होगे, क्योकि वह आप की आशा थी, जगत् का अस्तित्व नही था। वह जगत् का आश्वासन नही था, आपकी कामना थी। वह आपने ही सोचा था। वह आपने ही कल्पित किया था। वह सुख आपने आरोपित किया था। दूर-दूर रहना, उसके पास मत जाना; नही तो वह नष्ट हो जायेगा। जितने पास जायेंगे, उतनी मुसीबत होने लगेगी।

इन्द्र-धनुष जैसा है सुख। पास जाये तो खो जाता है, दूर रहे, तो बहुत बहुत रंगीन दिखाई पडता है।

महावीर कहते हैं इस मूर्छा को मैं परिग्रह कहता हूँ। यह जो वस्तुओं में सुख रखने की और खोजने की चेष्टा है, इसे मूर्छा कहता हूँ। पहले हम वस्तुओ मे अपनी आत्मा को रख देते हैं, फिर उसको खोजने निकल जाते हैं। जब वस्तु मिल जाती है, तो आत्मा को पाते नही, वस्तु हाथ मे रह जाती है, तब हम छाती पीटकर रोते हैं। थोडी-बहुत देर रोना होता है, फिर तत्काल हम किसी दूसरी वस्तु में आत्मा को रख लेते हैं। वस्तुओं का कोई अन्त नही है; इसलिए जीवन की यात्रा का भी कोई अन्त नही है। चलती जाती है यात्रा। आज यहाँ, कल वहाँ।

बच्चो की पुरानी कहानियों में आपने पढा होगा कि सम्राट अपनी आत्मा को पक्षियों मे छिपा देते थे। कोई तोते मे अपनी आत्मा को रख देता है। जब तक तोता न मारा जाये, तब तक सम्राट नही मरता। सम्राट रखते हों, न रखते हो, लेकिन यह कहानी बडी प्रतीकात्मक है। हम सब भी अपनी आत्मा को वस्तुओ मे रख देते हैं। जब तक हम उन वस्तुओ को पा न लें, तब तक जिन्दगी बडे मजे से चलती है। उन वस्तुओ को पाते ही, आत्मा उन वस्तुओं से खिसक जाती है। नष्ट हो जाती है। तब जिन्दगी मुश्किल मे पड़ जाती है।

यह जो मुसीबत है, यह एक आत्म-सम्मोहन, 'ऑटो-हिप्नोसिस' का परिणाम है। इसको महावीर ने मूर्च्छा कहा है। कैसे इसे तोडें ? वस्तुओं से कैसे मुक्त हो ? इसका यह मतलब नही कि महावीर को प्यास लगेगी, तो पानी नही पियेंगे। महावीर पानी के प्रति मूर्च्छित नही है। वे ऐसा नही सोचते कि पानी पीने से प्यास मिट जायेगी। वे जानते हैं कि प्यास तो फिर दो घडी बाद पैदा हो जायेगी। पानी प्यास को थोड़ी देर 'पोस्टपोन' करता है, स्थगित करता है। वह यह नही सोचते कि खाना खाने से पेट भर जायेगा। खाना खाने से पेट का जो गैर भरा-पन है, वह थोडी देर के लिए सरक जायेगा। इसका यह मतलब नही कि वे पेट को खाली रखते हैं या पानी नही पीते। वे पानी भी पीते हैं। पेट को जब जरूरत होती है, तो भोजन भी देते हैं। लेकिन उनका कोई सम्मोहन नही होता कि पानी स्वर्ग ले जायेगा।

हम सब ऐसी हालत मे है, जैसे एक आदमी रेगिस्तान मे पडा हो, प्यासा तडप रहा हो। उस वक्त उसको ऐसा लगता है कि अगर पानी मिल जाए, तो सब मिल गया। हमारी हालत ऐसी है कि हम सोच रहे हैं, अगर पानी मिल जाये, तो सब मिल गया।

एक मित्र एक राज्य के मिनिस्टर हैं। वह मेरे पास आते थे। मुझसे आकर बोले कि मुझे सिर्फ नीद आ जाये, तो मुझे स्वर्ग मिल गया, और कुछ नही चाहिए। मैं आपके पास न आत्मा जानने आया, न परमात्मा की खोज के लिए आया, मैं तो सिर्फ एक ही आशा से आया हूँ कि मुझे नीद आ जाये, तो मुझे सब मिल गया। मैंने उन्हे कुछ श्वास के ध्यान के प्रयोग बताये। मैंने कहा यह तो मिल जायेगा, कोई तकलीफ नही है। उन्होने कहा : बस, अगर मुझे यह मिल जाय, तो मुझे और कुछ भी नही चाहिये।

यह रेगिस्तान में पड़े हुए आदमी की हालत है कि पानी मिल जाये, तो सब मिल जाये; और आप सबको पानी मिला हुआ है। कुछ नही मिलता,

पानी मिलने से, लेकिन रेगिस्तान मे ऐसा लगता है कि पानी मिल जाये, तो सब मिल जाये। रेगिस्तान पानी के प्रति इतना बड़ा सम्मोहन पैदा कर देता है कि वह पड़ा हुआ आदमी सोच भी नही सकता कि पानी के मिलने के बाद दुनिया मे कुछ और भी पाने को चीज रह जायेगी।

उन मित्र ने कुछ दिन ध्यान का प्रयोग किया, उनको नीद आ गई। महीने भर बाद वह आये, और आकर बोले कि नीद तो आने लगी और कुछ भी नही हुआ।

मैंने, जब वह पहले आये थे, तो टेप कर लिया था। मैंने टेप लगवाया और उन्हें कहा कि सुनिये, आप कहते थे नीद मिल जाये, तो सब मिल जाये। नीद मिल जाये, तो न मुझे ईश्वर चाहिए, न आत्मा चाहिए, और अब जब नीद मिल गई है, तो आप कहते हैं कि नीद तो मिल गई, और कुछ भी नही मिला।

उन्होने मुझे धन्यवाद तक नही दिया। स्वर्ग वगैरह तो दूर, बल्कि मुझे उनकी बात सुनकर ऐसा लगा कि मुझसे कोई अपराध हो गया है। उन्होने कहा, नीद तो मिल गई और कुछ भी नही मिला। वह मुझसे शिकायत करने आये हैं, ऐसा उनका भाव कि और कुछ भी नहीं मिला।

मैंने उनसे पूछा, और क्या चाहिए ? जिस दिन वह भी मिल जायेगा, आप ऐसा आकर कहेगे, ईश्वर तो मिल गया है और कुछ भी नही मिला।

वह 'और' है क्या ? वह 'और' कब मिलेगा ? वह 'और' कही है नही। वह हटता हुआ क्षितिज है, 'होरिझन' है। जो भी चीज मिल जाती है, उससे हट जाता है। वह आगे निकल जाता है। हम कहते हैं—'वह'। 'वह'—कुछ है नही। 'वह'—हमारा सम्मोहन है, जो आगे खिसक जाता है।

हम वस्तुओं मे नही जीते, हम उस 'और' के सम्मोहन मे जीते हैं। 'वह' मिल जाये, तो सब मिल जाये। जब 'वह' मिल जाता है, तो हमारा 'और' और आगे सरक जाता है। आकाश छूता दिखता है जमीन को, उसे हम क्षितिज कहते हैं। कही छूता नही आकाश जमीन को, लेकिन दिखता है छूता हुआ। आँख से ही देखने से कुछ सच नही होता दुनिया मे। लोग कहते हैं : हम तो प्रत्यक्ष को मानते हैं। वह आकाश प्रत्यक्ष छूता दिखाई पडता है जमीन को। आँखें भी बड़ा धोखा देती हैं। जाएँ खोजने उस क्षितिज को, आगे बढ़ेंगे, क्षितिज भी आगे बढता जायेगा। पूरी जमीन का चक्कर लगा आएँ, कही जमीन आकाश को छूती हुई न मिलेगी। लेकिन कही भी खडे रहे, तो आगे

आकाश छूता हुआ दिखाई पडता रहेगा। वह है—'और'। क्षितिज कही छूता नही। कही भी मनुष्य की वासना तृप्ति को नही छूती। कही भी आकाश पृथ्वी को नही छूता। वासना आगे बढती है, तृप्ति आगे हट जाती है—'और'। और ये 'और' कभी नही मिलता।

इसे महावीर मूर्च्छा कहते है। मूर्च्छा परिग्रह है। वस्तुओ का होना नही, वस्तुओ में स्वर्ग का दिखाई देना। मकान का होना परिग्रह नहीं है, लेकिन मकान मे अगर किसी को मोक्ष दिखाई पड रहा है, तो परिग्रह है। धन परिग्रह नही है, लेकिन धन मे अगर दिखाई पड रहा है परमात्मा, तो परिग्रह है। धन, धन है; मगर बडे मजे के लोग हैं—हम सब। या तो हम कहते हैं, धन परमात्मा है या तो हम कहते हैं, धन मिट्टी है। लेकिन 'धन' धन है, ऐसा कोई कहनेवाला नही मिलता।

'धन' सिर्फ धन है, न मिट्टी, न परमात्मा। धन को हम शिखर पर रखते हैं, वह झूठ है। और जब हम झूठ से परेशान हो जाते हैं, तो हम दूसरा झूठ पैदा करते हैं कि धन मिट्टी है। धन मिट्टी भी नही है। धन, सिर्फ धन है। वस्तुएँ जो हैं, वही हैं। लेकिन हम कुछ न कुछ करेगे। या तो स्वर्ग से जोडेगे, या तो नर्क से जोडेंगे। हम नर्क से क्यो जोडना चाहते हैं ? स्वर्ग से जोड जोड के जब हम ऊब जाते हैं, और कोई स्वर्ग नही पाते, तो क्रोध में हम नर्क से जोडना शुरू कर देते हैं · जिसको हम पहले कहते थे—स्वर्ग, वह जब नही मिलता, तब हम अपने को समझाने के लिए कहने लगते हैं कि वह तो नर्क है, पाने योग्य नही है। पहले हम कहते थे कि धन मिल जायेगा, तो सब कुछ मिल जायेगा। अब हम कहते हैं, धन मे क्या रखा है ! हाथ का मैल है, मिट्टी है, मगर यह भी तरकीबें है मन की। धन, सिर्फ धन है।

धन-विनिमय का साधन है। मिट्टी विनिमय का साधन नही है। उससे चीजें बदली जा सकती हैं, मिट्टी से नही बदली जा सकती। वह चीजो के बदलने का उपयोगी माध्यम है। ठीक है। उतना काफी है। उससे ज्यादा आशा रखना गलत है। आशा जब हार जाती है, तो हम नीचे गिरा कर देखना शुरू करते हैं। हम दूसरी अति पर हट जाते हैं। एक अति से दूसरी अति पर जाना बहुत आसान है, लेकिन वस्तु के सत्य पर रुक जाना बहुत कठिन है।

धन, सिर्फ धन है, उपयोगी है। न उसमे स्वर्ग है, न उसमें नर्क है। हाँ, जो उसमे स्वर्ग देखेगा, उसे उसमे नर्क मिलेगा। जो उसमें नर्क देखने की

कोशिश कर रहा है, उसे भीतर कहीं न कही अभी भी उसमे स्वर्ग दिखाई पड़ रहा है। जो वही देख लेता है, जो धन है, उतना जितना है, उसकी मूर्छा टूट जाती है।

महावीर का अति जोर सम्यक् बोध पर है, 'राइट अण्डरस्टैंडिंग' पर है—हर चीज को वह जैसी है, वैसा ही जान लेना। इंच भर अपने मन को व जोडना। इंच भर अपनी आकाक्षाओ, आशाओ को स्थापित न करना—जो जितना है, जैसा है, उतना ही जान लेना। अपने 'प्रोजेक्शन', अपने प्रक्षेप सयुक्त न करना। लेकिन हम नही बच सकते। किसी को हम कहेंगे कि सुन्दर है, किसी को हम कहेगे कि कुरूप है। किसी को कहेगे मित्र है; किसी को हम कहेगे कि शत्रु है। और जब हम यह वक्तव्य देते हैं, तब हमने आकाक्षाएँ जोडनी शुरू कर दी।

मित्र जब आप किसी को कहते हैं, तो क्या मतलब है आपका? आपका मतलब है कि इससे कुछ अपेक्षाएँ पूरी हो सकती हैं। मित्र है, मुसीबत मे काम पडेगा। मित्र है, इससे हम आशा रख सकते हैं कि कल ऐसा करेगा। शत्रु से भी आपकी आशाएँ हैं कि वह क्या-क्या करेगा। विपरीत आशाएँ हैं। आप में बाधा डालेगा। लेकिन आपने कुछ जोड़ दी आशाएँ।

जब आपने किसी को कहा—मित्र, तो आपने आशाएँ जोड ली। जब आपने किसी को कहा—शत्रु, तो आपने आशाएँ जोड़ ली। आप सम्मोहन के जगत् मे प्रवेश गये। जब आपने अ को अ कहा, ब को ब कहा। न मित्र को मित्र कहा, न शत्रु को शत्रु कहा—जब आपने जो है, उतना ही जाना, उसमें कुछ अपनी तरफ से भविष्य न जोड़ा, तो आप मूर्छा के बाहर हो गये।

मूर्छा के बाहर होने की तीन विधियाँ हैं, तीन सूत्र हैं।

एक—वस्तुओ को उनके तथ्य मे देखना, आशाओ मे नहीं।

दो—वस्तुओ को कभी भी साध्य न समझना, साधन समझना।

तीन—स्वय की मालकियत कभी भी वस्तुओ के मरुस्थल मे न खो जाएँ, इसके लिए सचेत रहना।

'सामग्रियों मे आसक्ति ममता व मूर्छा रखना ही परिग्रह है, ऐसा उन महर्षि ने बताया है। सग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है।'

बाहर हम जो भी करते हैं, वह भीतर की झलक है। बाहर का हमारा सारा व्यवहार हमारे अन्तस् का फैलाव है। आप बाहर जो भी करते हैं, वह

आपके भीतर की खबर देता है। जरा सी भी बात आप बाहर करते हैं, वह भीतर की खबर देती है। आप बैठे हैं; या बैठे-बैठे टाँग भी हिला रहे हैं कुर्सी पर, तो वह आपके भीतर की खबर दे रहा है, क्योंकि टाँग ऐसे नहीं हिलती, उसे हिलाना पडता है। आप हिला रहे हैं। आपको पता भी न हो; पता हो जाए, तो तत्काल टाँग रुक जाएगी। लेकिन हिल रही थी, और आपको पता चला, तो रुक भी गई। इसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब हुआ कि आपके भीतर बहुत कुछ चल रहा है, जिसका आपको पता नही, और आपके भीतर बहुत कुछ हो रहा है, जो बाहर भी प्रकट हो रहा है, लेकिन आपको पता नही है। इसलिए बडे मजे की घटना घटती है।

दूसरो के दोष हमे जल्दी दिखाई पड जाते हैं। अपने दोष मुश्किल से दिखाई पडते हैं; क्योकि खुद के दोष अचेतन चलते रहते हैं। ऐसा कोई जानकर नही करता कि अपने दोष नही देखना चाहता, लेकिन खुद के दोष इतने अचेतन हो गये होते हैं, इतने हम आदी होते हैं कि दिखाई नही पडता। दूसरे के तत्काल दिखाई पड जाते हैं, क्योकि दूसरा सामने खडा होता है। फिर अपने दोषो के साथ हमारे लगाव होते हैं, मूर्छाएँ होती हैं, अन्धापन होता है। दूसरे के दोष के प्रति हम शुद्ध निरीक्षक होते हैं।

इसलिए ध्यान रखना आपके सम्बन्ध मे दूसरे जो कहे, उसे बहुत गौर से सोचना। जल्दी उसे इन्कार मत कर देना, क्योकि बहुत मौको पर वे सही होगे। अपने सम्बन्ध मे आप जो मानते चले आये हैं, उसको जल्दी स्वीकार मत कर लेना। अपने सम्बन्ध मे, अपनी जो धारणा हो, उस पर बहुत सोच-विचार करना, बहुत कठोरता से, और दूसरे आपके बाबत को जो कहते हो, उस पर बहुत विनम्रता से, जल्दबाजी किये बिना, सोच-विचार करना। अक्सर दूसरे सही पाये जाएँगे और आप गलत पाए जाओगे, क्योकि आपको अपने होने का अधिक हिस्सा अचेतन है। आपको पता ही नही कि आप क्या कर रहे हैं।

यह जो हमारी स्थिति है, इसमे प्रतिपल हमारा जो भीतर है, वह बाहर आ रहा है। हमारे द्वार पर उसकी झलक दिखाई पडती है।

एक आदमी धन सग्रह करता है। धन मूल्यवान नही है। धन न हो, तो आप 'पोस्टल स्टेम्प' इकट्ठे कर सकते हैं। उसमे कोई अडचन नहीं पड़ती। वही काम हो जायेगा। सिगरेट की डिब्बियाँ इकट्ठी कर सकते हैं, वही काम हो जायेगा। कई दफा हमें लगता है कि बडी 'इनोसेन्ट हॉबी' है—बडी निर्दोष

कि पोस्टल-स्टेम्प' इकट्ठा करता है। सवाल यह नहीं कि आप क्या इकट्ठा करते हैं; सवाल यह है कि आप इकट्ठा करते हैं। भीतर कही कोई चीज खालीपन अनुभव कर रही है, उसको आप भरते चले जाते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि आप कुछ भी इकट्ठा मत करें। इसका कुल मतलब इतना है कि आप लोभ के कारण इकट्ठा मत करें।

जरूरत और लोभ में बडा फर्क है। बड़े मजे की बात है कि लोभी अक्सर अपनी आवश्यकताएँ पूरी नही कर पाता; क्योकि लोभ के कारण आवश्यकता पूरी करने में जो खर्च करना होता है, वह उसकी हिम्मत के बाहर होता है। अक्सर ऐसा होता है कि एक धनी आदमी है, लेकिन अपनी बिमारी का इलाज नही करता; क्योकि उसमे खर्च करना पडता है। वह खर्च करना उसे कठिन मालूम पडता है, तो यह तो हद हो गई। आवश्यकता के लिए धन उपयोगी हो सकता है, लेकिन इस आदमी के लिए आवश्यकता से भी कोई बडी चीज है। वह भीतर का गड्ढा, लोभ। वहाँ चीजे भरी होनी चाहिए। वहाँ जरा सी भी कोई चीज हट जाए, तो उसे खालीपन लगता है। खालीपन मे बेचैनी मालूम पड़ती है।

धनी अक्सर कजूस हो जाते हैं, गरीब कजूस नही होते। इसका मतलब यह नहीं कि अगर यह गरीब कल अमीर हो जाये, तो कंजूस नही होगा। गरीब कजूस नही होते, उसका कुल कारण इतना है कि भीतर वैसे ही। खाली है। थोडा बचाने से भी कोई फर्क नही पड़ता। खाली तो रहेगे ही इसलिए गरीब आदमी सहज खर्च कर लेता है। अमीर आदमी को लगता है कि सब तो भर गया, जरा सा कोना खाली है, इसको भर लें, तो तृप्ति हो जायेगी। वह कोना कभी नही भरता। वह कोना बडा होता जाता है। एक कोना सदा खाली रह जाता है, क्योंकि हम अपनी आत्मा को वस्तुओ से भर नही सकते, सिर्फ धोखा दे सकते हैं भरने का। कोई वस्तु भीतर नही जाती, वस्तु तो बाहर रह जाती है। इसलिए भीतर के खालीपन को भर नही सकती।

यह भीतर का खालीपन, महावीर कहते हैं, यह लोभ है। जब एक आदमी बाहर सग्रह करता है, तो इतनी खबर देता है कि भीतर खाली है। वह खालीपन गड्ढे की तरह पुकारता है कि भरो। वह लोभ है। इस लोभ को हम हजार ढग दे सकते हैं। इस लोभ को कोई आदमी धन से भर सकता है। कोई आदमी ज्ञान से भर सकता है, कोई आदमी त्याग से भर सकता है। बडा मुश्किल होगा मामला, क्योंकि हम त्यागी को कभी लोभी नहीं कहते।

आपने चार उपवास किये, फिर सोचा कि आठ कर लें, तो पुण्य और ज्यादा होगा; तो यह लोभ है। चार करने वाला सोचता है कि अगले साल आठ कर लूं, तो क्या फर्क हुआ ? चार लाख जिसके पास हो, वह सोचता है, अगले साल आठ लाख हो जायेंगे। गणित में कहाँ भेद है ? इस वर्ष आपने इतनी तपश्चर्या की, सोचते हैं अगले वर्ष दुगुनी कर लें। कहाँ भेद है ?

ज्यादा और ज्यादा, लोभ की मांग है। त्याग से भी कोई अपने को भर सकता है, धन से भी भर सकता है, ज्ञान से भी भर सकता है। और जान लूं, और जान लूं—तो उससे भी भराव शुरू हो जायेगा।

महावीर कहते हैं बाहर की सग्रह अन्दर के लोभ की झलक है। सग्रह को छोड़कर भाग जाने से लोभ नही मिटेगा।

आईने मे आपका चेहरा दिखाई पड रहा है। कुरूप है, तो कुरूप दिखाई पड रहा है। एक डडा उठा के मारे आईना तोड दें झलक नदारद हो जायेगी। लेकिन आप नदारद नही हो जायेंगे, और आपका कुरूप चेहरा भी नदारद नही हो जायेगा; सिर्फ झलक नदारद हो जायेगी।

मेरे भीतर लोभ है। मैं धन इकट्ठा कर रहा हूँ। धन दर्पण है। समझ मे आ गया मुझे कि धन का सग्रह लोभ है। धन छोडकर मैं भाग गया। दर्पण मैंने तोड़ दिया। जब भी मैं वही का वही हूँ। सिर्फ झलक टूट गई।

ये समझ लेना कि महावीर कहते हैं, बाहर का सग्रह अन्दर के लोभ की झलक है। झलक को तोडने से लोभ नही टूटेगा। सिर्फ झलक दिखाई पड़नी बन्द हो जायेगी।

मैं भाग गया जगल मे। अब मैं तपश्चर्या कर रहा हूँ, त्याग कर रहा हूँ, और जब मैं त्याग का संग्रह कर रहा हूँ। आदमी मैं वही हूँ। इससे फर्क नही पड़ता। घर छोड़कर चला जाऊँगा आश्रम। घर के मुकदमे नही लड़ूंगा, तो आश्रम के मुकदमे लड़ूंगा। लेकिन अदालत जाऊँगा। इससे कोई फर्क नहीं पडता।

मेरा मकान, मेरा बेटा, मेरी पत्नी, मेरा पति इनको छोड़ दूंगा, तो कहूँगा मेरा धर्म, मेरा शास्त्र, मेरा वेद, मेरे महावीर, मेरे बुद्ध। इससे कोई फर्क नही पडता। लाठियां उठ जायेंगी और सिर खुल जायेंगे।

एक मित्र मुझे मिलने आये थे। उनकी पत्नी धार्मिक है, जैसे कि लोग धार्मिक होते हैं। मुझसे पूछने लगे, यहाँ पास मे कोई जैन मन्दिर है ? मेरी

पत्नी बिना नमस्कार किये भोजन नहीं करती। तो मैंने कहा कि यहाँ बहुत जैन-मन्दिर हैं। चले जाएँ; जो भी जैन-मन्दिर मिले, नमस्कार करा दें। वे गये। एक मित्र को मैंने साथ कर दिया कि उनको किसी जैन-मन्दिर पहुँचा दें। उस बेचारे को क्या पता कि जैन-मन्दिर में भी बड़े फर्क होते हैं। मित्र थे दिगम्बर, वे ले गया श्वेताम्बर मन्दिर मे। उसने बता दिया कि यह रहा मन्दिर। आप अन्दर जाकर नमस्कार कर लें, लेकिन वह देवी उदास होकर वही सीढियों पर बैठ गई। उसने कहा कि यह हमारा मन्दिर नही है। ये हमारे महावीर नही हैं। हमे तो दिगम्बर मन्दिर ले चलो। ये तो श्वेताम्बर मन्दिर है। वह सज्जन अब तक यही सोचते रहे थे कि जैन-मन्दिर, यानी जैन-मन्दिर। उनको कभी ख्याल न था कि इसमे भी, महावीर मे भी 'टाइप', प्रकार होते हैं।

उस स्त्री ने उस मन्दिर मे जाकर नमस्कार करने से इन्कार कर दिया। वे उनके महावीर नही है। ऐसे मन्दिर हैं जैनियो के, जहाँ सुबह से दस बजे तक महावीर श्वेताम्बर रहते हैं, दस के बाद दिगम्बर हो जाते हैं। दस बजे तक श्वेताम्बर नमस्कार करते हैं, दस के बाद दिगम्बर नमस्कार करते हैं।

आदमी गुड्डा-गुडियों के खेलों के ऊपर कभी नही उठ पाता। मुकदमे चलते हैं, क्योंकि अगर दस से साढे दस बजे तक, महावीर अगर श्वेताम्बर ही रह गए, तो ये जो दूसरे उपासक हैं, वे लट्ठ लेकर खडे हो जाएँगे। न मालूम कितने जैनियो के मन्दिरो पर पुलिस ने ताला डाल रखा है। भक्त तय नही कर पाते। महावीर ताले मे बन्द हैं; क्योंकि भक्त नही तय कर पाते कि कैसे बाँटें! कैसे आधा-आधा करें! फिर मेरे महावीर, मेरे बुद्ध और मेरे राम और मेरे कृष्ण। मगर वह मेरा खडा ही रहता है। ममता खड़ी रहती है, मूर्छा खडी रहती है। आदमी झलक को तोड दे, इससे कुछ फर्क नही पडता, जब तक आदमी अपने भीतर की स्थिति को न बदले।

दर्पणो को मिटाने मे कोई भी सार नही है। दर्पण बडे मित्र हैं, झलक देते हैं, आपकी खबर देते हैं। अच्छा होगा दर्पणो को रहने दे। भीतर जो कुरूपता है, उसे मिटाएँ। तो दर्पण, जिस दिन कुरूपता नही होगी भीतर, उस दिन बता देंगे कि अब आप सुन्दर हो गए। अब भीतर लोभ नही है।

धन छोडने से कोई प्रयोजन हल नहीं होता, लोभ छोडने से प्रयोजन हल होता है। लोभ बड़ी अलग बात है और एक आन्तरिक क्रान्ति है। लोभ कब छूटता है? लोभ है क्यों?

लोभ है इसलिए, कि हम भीतर खाली हैं। अर्थहीन, एम्पटी, रिक्त कुछ भी वहाँ नहीं हैं। इसीलिए लोभ हैं। किसी भी चीज से भर दें, यह बात बुरी नही है। भरने की कठिनाई खडी हो जाती है। जिन चीजों से हम भरने जाते हैं, वे भीतर जा नही सकती। क्या है जो भीतर जा सकता है? उसकी खोज करनी चाहिए। या कही ऐसा तो नही है कि भीतर हम खाली हैं ही नही। यह हमारा ख्याल ही है। और यह ख्याल इसलिए है कि हम भीतर कभी गये नही। हमने ठीक जाँच-पडताल नही की। या यह ख्याल इसलिए है कि बाहर के जगत् मे खालीपन का जो अर्थ होता है, भीतर के जगत् मे वही नही होता।

एक कमरा खाली है। लाओत्से ने कहा है, एक कमरा खाली है, तो हम कहते हैं, खाली है। लेकिन लाओत्से कहता है, तुम ऐसा भी तो कह सकते हो कमरा अपने से भरा है। किसी चीज से नही भरा, अपने से भरा है। तुम ऐसा भी कह सकते हो कि कमरा खालीपन से भरा है। खालीपन भी एक भरावट है, लेकिन जो फर्नीचर को ही भरावट समझते हैं, उनको कमरा खाली दिखाई पडेगा। खाली दिखाई पडने का कारण यह नही कि कमरा खाली है, खाली दिखाई पडने का कारण यह है कि आपके भरेपन की परिभाषा दूसरी है। हमने अब तक चीजो को ही भरापन समझा है। आत्मा मे कोई चीज नही है, इसलिए हमको आत्मा खाली दिखाई पडती है। फिर हम चीजो से ही भरते चले जाते हैं। फिर लोभ का पागलपन पैदा हो जाता है, कभी कोई भराव पैदा नही होता।

महावीर कहते हैं कि भीतर जाग कर जो देख ले, वह पाता है कि आत्मा तो भरी ही है। अपने से भरी है, किसी और से नही। जिस दिन उसका भरापन हमे पता चलता है, उस दिन लोभ तिरोहित हो जाता है, क्योकि फिर भरने की कोई जरूरत नही रह जाती। जिस दिन लोभ हट जाता है, उस दिन सग्रह की पागल दौड समाप्त हो जाती है।

यह जो सग्रह करने की वृत्ति रखते हैं, ऐसे लोग ग्राहंस्थ्य हैं—साधु नही, फिर यह वृत्ति कुछ भी हो। किसी चीज का आप सग्रह करते हैं, इससे भेद नहीं पडता। आप सग्रह करते हैं, तो आप ग्राहंस्थ्य हैं। अगर आप सग्रह नही करते हैं, तो आप साधु हैं। इसलिए साधु या ग्राहंस्थ्य होना ऊपरी घटना नही है, बड़ी आन्तरिक क्रान्ति है।

'मैंने सुना है, एस्किमो परिवार मे एक रिवाज है। एक फ्रेंच यात्री जब पहली दफा, ध्रुवीय देशों में गया, तो उसे कुछ पता नही था। बहुत गरीब हैं एस्किमो। गरीब से गरीब हैं। लेकिन उनसे सम्पन्न आदमी मिलना भी शायद बहुत मुश्किल है। उसे फ्रेंच लेखक ने लिखा है कि मैंने उनसे ज्यादा समृद्ध लोग नही देखे। पता उसे कैसे चला ? जिस घर मे भी वह ठहरा, फ्रेंच आदतो के कारण उसे कुछ पता नही था कि वहाँ का रिवाज क्या है। किसी एस्किमो को उसने कह दिया कि तुम्हारे जूते तो खूबसूरत हैं। उसने तत्काल जूते भेट कर दिए। उस एस्किमो के पास दूसरी जोडी नहीं है बर्फीली जगह है। नगे पैर चलना जीवन को जोखम मे डालना है, लेकिन यह सवाल नही है। दो-चार दिन बाद उसे बडी हैरानी हुई कि वह जिससे भी कुछ कह दे कि यह चीज वडी अच्छी है, वह तत्काल उसे भेंट कर देता था। तब उसे पता चला कि एस्किमो मानते है कि जो चीज किसी को पसन्द आ गई, वह उसकी हो गई। उसने पूछा ऐसा मानने के कारण क्या हैं ? तो जिस वृद्ध से उसने पूछा, उस वृद्ध ने कहा . इसके दो कारण हैं एक तो चीज किसी की नही है। चीजें हैं। दूसरा इसके मानने का कारण है कि जिसके पास हैं, उसके लिए तो अब व्यर्थ हो गई और जिसके पास नही हैं वह सम्मोहित हो रहा है। अगर उसे न मिले, तो उसका सम्मोहन लम्बा हो जाएगा, इसलिए उसे तत्काल दे देना जरूरी है। ताकि उसका सम्मोहन टूट जाए। और तीसरा कारण यह है कि जिस चीज के हम मालिक हैं, उसकी मालकियत का मौका तभी आता है, जब हम किसी को देते हैं। नही तो कोई मौका नही आता।

चीजो का होना आपको ग्राहस्थ्य नही बनाता, चीजो का पकडना 'क्लिंगिंग' आपको ग्रहस्थ बनाता है। ये एस्किमो सन्यासी हैं, साधु हैं। जिसे हम साधु कहते हैं; अगर उसके भीतर झाके, तो वहाँ मौजूद रहता है, बना रहता है— तो फिर वह ग्राहस्थ्य है। बाहर से आप क्या हैं, यह बहुत मूल्य का नही है। भीतर से आप क्या है, यही मूल्य का है। लेकिन भीतर से आप क्या हैं, ये आपके अतिरिक्त कौन जानेगा ? कैसे जानेगा ? इसलिए सदा अपने भीतर पर एक आँख रखनी चाहिए, निरीक्षण की, कि मैं भीतर क्या हूँ। चीज को पकड़ता हूँ ? चीज मूल्यवान है बहुत ? चीज न होगी, तो मैं मर जाऊँगा ? मिट

आऊँगा ? मैं चीजो का एक जोड हूँ, तो मैं एक ग्राहंस्थ्य हूँ ! फिर भागकर जगल में जाने से कुछ भी न होगा। फिर इस ग्राहंस्थ्य होने की भीतरी व्यवस्था को तोड़ना पडेगा।

संन्यासी होना एक आन्तरिक क्रांति है। ये भीतर घटित हो जाए, तो फिर बाहर वस्तुएँ हो या न हो, गौण है।

महावीर ने मूर्छा को परिग्रह कहा है। अमूर्च्छा को सन्यास कहा है। महावीर का जो सूत्र है : जो सोता है, वह असाधु है। सुत्ता अमुनि। जो जागता है, वह साधु है। असुत्ता मुनि ! जो सोया नही है, जागा हुआ है, वह साधु है।

भीतरी जागरण साधुता है। भीतरी बेहोशी असाधुता है।

आज इतना ही। कीर्तन मे सम्मिलित हो, फिर जायें।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१० सितम्बर, १९७२

सातवां प्रवचन

अरात्रि भोजन-सूत्र

•

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइय सव्वं, मणसा वि न पत्थए ।।
पाणिवह - मुसावाया--
दत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राइभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ।।

सूर्योदय के पहले और सूर्यास्त के बाद श्रेयार्थी को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिए ।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से जो जीव विरत रहता है, वह निराश्रव अर्थात् निर्दोष हो जाता है ।

•

सूत्र के पहले एक प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है : पाने योग्य चीज अधिक मात्रा में पाने की चेष्टा करना भी क्या लोभ है ? अधिक धन प्राप्त करके अधिक दान करने को आप क्या कहेगे ?

काम, क्रोधादि शत्रुओ मे आमतौर से लोभ के प्रति हमने थोड़ा अन्याय किया है। क्रोध और मोह से भी अधिक : अनिष्टकारी है लोभ। लोभ के सम्बन्ध मे थोडी बाते ख्याल मे ले लेना जरूरी हैं। काम, क्रोध और मोह, लोभ के मुकाबले कुछ भी नही हैं। लोभ बहुत गहरी घटना है।

छोटे बच्चे के भीतर काम नही होता, पर लोभ होता है। काम तो आयेगा बाद मे, लेकिन लोभ जन्म के साथ होता है।

क्रोध प्रासगिक है। जब परिस्थिति प्रतिकूल होती है, तब उठता है। लेकिन परिस्थिति प्रतिकूल ही इसलिए मालूम पडती है कि लोभ भीतर है।

क्रोध लोभ का अनुसग है। अगर भीतर लोभ न हो, तो क्रोध नहीं होगा। जब आपके लोभ मे कोई बाधा डालता है, तो आपमे क्रोध पैदा होता है। जब आपके लोभ मे कोई सहयोगी नही होता, विरोधी हो जाता है तब आपमे क्रोध पैदा होता है।

लोभ ही क्रोध के मूल में है। गहरे देखें तो काम का, वासना का विस्तार भी, लोभ का ही विस्तार है। 'बायोलॉजिस्ट', जीवशास्त्री कहते हैं कि मनुष्य की मृत्यु व्यक्ति की तरह निश्चित है, लेकिन व्यक्ति मरना नही चाहता। अमरता भी एक लोभ है—मैं रहूँ सदा, मैं कभी मिट न जाऊँ। लेकिन इस शरीर को हम मिटते देखते हैं। अब तक कोई उपाय नही हुआ इस शरीर को बचाने का।

जीवशास्त्री कहते हैं—इसलिए मनुष्य कामवासना को पकड़ता है कि मैं नही बचूंगा, तो कोई हर्ज नहीं, पर मेरा कोई बचेगा—मेरा यह शरीर नष्ट हो जाएगा, लेकिन इस शरीर के जीवाणु किसी और में जीवित रहेगे।

पुत्र की इच्छा, अमरता की ही इच्छा है। मेरा कोई हिस्सा जीता रहे, बना रहे—यह भी लोभ है।

काम, लोभ का विस्तार है। क्रोध, काम और लोभ के मार्ग मे आए अवरोध से पैदा हुई वितृष्णा है। मोह—जहाँ-जहाँ लोभ रुक जाता है, जिस-जिस पर लोभ रुक जाता है—उसका नाम है।

समझ ले, क्रोध है बाधा, मोह है सहयोग। जो मेरे लोभ मे बाधा डालता है, उस पर मुझे क्रोध आता है। जो मेरे लोभ मे सहयोगी बनता है, उस पर मुझे मोह आता है—वह मेरा लगता है, उस पर ममता जगती है।

क्रोध, मोह और काम गहरे मे 'ग्रीड,' लोभ के ही विस्तार हैं। जिस व्यक्ति का लोभ गिर जाता है, उसके ये तीनो—जिनको हम शत्रु कहते है, ये भी गिर जाते है।

लोभ के बिना क्रोध नही हो सकता। हाँ, यह हो सकता है कि क्रोध के बिना भी लोभ रहे, पर यह असम्भव है कि क्रोध के बिना कामवासना हो। लेकिन कामवासना के बिना भी लोभ हो सकता है।

ब्रह्मचर्य मे भी लोभ हो सकता है। मैं, और ब्रह्मचारी—और ब्रह्मचारी हो जाऊँगा—यह भी लोभ का हिस्सा हो सकता है।

आत्मा मे भी लोभ हो सकता है और परमात्मा में भी लोभ हो सकता है। अक्सर ऐसा होता है कि लोभी अपने लोभ के लिए, जब ससार हाथ से छूटने लगता है, तो दूसरे लोभ की चीजों को पकडना शुरू कर देता है। जो यहाँ धन को पकडता था, वह वहाँ धर्म को पकडने लगता है; लेकिन पकड वही है, लोभ का भाव वही है—ससार खो गया कोई हर्ज नही, पर स्वर्ग न खो जाए; यहाँ यश न मिला, प्रतिष्ठा न मिली, कोई हर्ज नही, पर उस लोक मे कहीं आनन्द न खो जाए। कही ऐसा न हो कि ये ससार तो खो ही दिया, दूसरा ससार भी न खो जाए—ऐसा लोभ पकडता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अधिक लोग बूढे होकर धार्मिक होने शुरू हो जाते हैं—लोभ के कारण। जवान आदमी से मौत जरा दूर होती है, अभी दूसरे लोक की इतनी चिंता नही होती; अभी आशा होती है कि यही पा लें, जो पाने योग्य है—यही कर लेंगे इकट्ठा। लेकिन मौत जब करीब आने लगती है, तो हाथ-पैर शिथिल होने लगते हैं और ससार पर पकड ढीली होने लगती है इन्द्रियो की। तो भीतर का लोभ कहता है कि यह ससार तो गया ही, अब

दूसरे को मत छोड देना—माया मिली न राम—कहीं ऐसा भी न हो कि माया भी गयी और राम भी गए—तो अब राम को जोर से पकड लो।

इसलिए बूढ़े लोग मन्दिरो-मस्जिदो की तरफ यात्रा करने लगते हैं। तीर्थ-यात्रियो को देखें—बूढे लोग तीर्थ की यात्रा करने लगते हैं। ये वही लोग हैं, जिन्होने जवानी में तीर्थ के विपरीत यात्रा की है।

कार्ल गुस्ताव जुग ने, इस सदी के बडे से बडे मनोचिकित्सक ने कहा है कि मानसिक रूप से रुग्ण व्यक्तियो मे, जिन लोगो की मैंने चिकित्सा की है, उनमे अधिकतम लोग चालीस वर्ष के ऊपर थे। और उनकी निरन्तर चिकित्सा के बाद मेरा यह निष्कर्ष है कि उनकी बीमारी का एक ही कारण था कि पश्चिम मे धर्म खो गया है। चालीस साल के बाद आदमी को धर्म की वैसी ही जरूरत है, जुग ने कहा, जैसे जवान आदमी को विवाह की। जवान को जैसे कामवासना चाहिए, वैसे बूढे को धर्म वासना चाहिए।

जुग ने कहा है कि अधिक लोगो की परेशानी यह है कि उनको धर्म नही मिल रहा है। इसलिए पूर्व मे कम लोग पागल होते हैं और पश्चिम मे ज्यादा। पूर्व मे जवान आदमी भला पागल हो जाए, पर बूढ़ा आदमी पागल नही होता। पश्चिम मे जवान आदमी पागल नही होता, बूढा आदमी पागल हो जाता है। जैसे-जैसे जवानी हटती है, वैसे-वैसे रिक्तता आती है। यौवन की वासना खो जाती है और बुढापे की वासना को कोई जगह नही मिलती। मन बेचैन और व्यथित हो जाता है।

पूर्व का बूढा सोचता है कि आत्मा अमर है—इससे उसे आश्वासन होता है। पूर्व का बूढा सोचता है कि माला जप रहे हैं, राम-नाम ले रहे हैं, इसलिए स्वर्ग निश्चित है—इससे उसे सान्त्वना मिलती है। पश्चिम के बूढे को कोई भी सान्त्वना नही रही। पश्चिम का बूढा बड़े कष्ट में है, बड़ी पीड़ा मे है, आगे सिवाय मौत के उसे कुछ भी दिखाई नही पडता—उस पार।

उस पार लोभ को कोई मौका नही—जवानी के लोभ के विषय खो गये और बुढापे के लोभ के लिए कोई 'ऑबजेक्ट', कोई विषय नहीं मिल रहे हैं। मौत का तो लोभ हो नही सकता, अमरता का हो सकता है। बूढा आदमी शरीर का क्या लोभ करेगा! शरीर तो खो रहा है, हाथ से खिसक रहा है, तो शरीर के ऊपर—पार कोई चीज हो, तो लोभ करे।

लोभ अद्‌भुत है। लोभ विषय बदल ले सकता है। धन ही पर लोभ हो, ऐसा आवश्यक नही—लोभ किसी भी चीज पर हो सकता है। वासना छूट जाये काम की, तो लोभ मोक्ष की वासना बन जाता है।

तो लोभ की गहराई हम समझ लें, क्योंकि लोभ के साथ न्याय नही हुआ है। जिन्होंने भी समझा है लोभ को, उन्होने उसे मूल मे पाया है। ग्रीड मूल है। लोभ शब्द से हमे समझ मे नही आता, क्योकि सुन-सुन कर हम बहरे हो गये हैं। इस शब्द मे हमे बहुत ज्यादा दिखाई नही पड़ता।

लोभ का मतलब है कि भीतर मैं खाली हूँ और मुझे अपने को भरना है, और यह खालीपन ऐसा है कि भरा नही जा सकता। यह खालीपन हमारा स्वभाव है, खाली होना हमारा स्वभाव है। भरने की वासना लोभ है। इसलिए लोभ सदा असफल होगा—कितना ही सफल हो जाये, तब भी असफल रहेगा। हम अपने को भर न पायेंगे—चाहे धन से, चाहे पद से, यश से, ज्ञान से, त्याग से, व्रत से, नियम से, साधना से—इन सबसे भी भरते रहे, तो भी अपने को न भर पायेंगे।

भीतर विराट शून्य है, इस विराट शून्य का नाम ही आत्मा है। जब तक कोई व्यक्ति शून्य होने को राजी नही हो जाता, तब तक उसे आत्मा का कोई दर्शन नही होता।

लोभ हमे शून्य नही होने देता, और लोभ हमे भटकाये रखता है, दौडाए रखता है। और जब तक हम भीतर शून्य न हो जाये, तब तक स्वय का कोई साक्षात्कार नही होता। क्योकि शून्य होना ही स्वय होना है।

जब मैं भरा हूँ, तो मैं किसी और चीज से भरा हूँ—इसे ठीक से समझ ले।

भरने का मतलब ही किसी और चीज से भरे होना है। हम कहते है, बरतन भरा है। बरतन भरा है—इसका मतलब है किसी और चीज से भरा है। अगर बरतन स्वय है, तो खाली होगा, भरा नही हो सकता। हम कहते हैं, मकान भरा है—इसका मतलब है किसी और चीज से भरा है। अगर मकान स्वय है, तो खाली होगा, भरा नही हो सकता। हम कहते है, आकाश बादलो से भरा है—इसका मतलब है कि बादल कुछ और हैं। जब बादल न होगे, तब आकाश स्वय होगा।

भराव सदा पराये से होता है, स्वय का कोई भराव नही होता। जब भी आप स्वय होगे—शून्य होगे, और जब भी भरे होंगे—किसी 'और' से भरे होंगे, वह 'और'—धन हो, प्रेम हो, मित्र हो, शत्रु हो, ससार हो, मोक्ष हो—इससे कोई फर्क नही पड़ता—'दि अदर' वह हमेशा दूसरा होगा, जिससे आप भरते हैं।

जिसको भरना है, वह दूसरे से भरेगा। जिसको खाली होना है, वह स्वय हो सकता है। इसका मतलब हुआ : लोभ, स्वय को भरने की आकाक्षा है। अलोभ स्वयं के खालीपन मे जीने का साहस है। इसलिए लोभ भयकर है, लोभ ही हमारा ससार है—मैं सोचता हूँ कि किसी चीज से अपने को भर लूं, मुझे ऐसा लगता है कि भरे बिना मैं चैन मे नही हूँ।

आप अकेले मे कभी चैन मे नही होते हैं। हर आदमी तलाश कर रहा है साथी की, मित्र की, क्लब की, सभा की, समाज की। हर आदमी खोज कर रहा है दूसरे की। अकेला होने को कोई राजी नही। अपने साथ किसी को भी चैन नही मिलता।

और बडे मजेदार हैं हम लोग!

हम खुद अपने साथ चैन नही पाते और सोचते हैं कि दूसरे हमारे साथ चैन पाये! हम खुद अपने को अकेले मे बर्दास्त नही कर पाते और हम सोचते है कि दूसरे हमे न केवल बर्दास्त करे, बल्कि अहोभाव माने! हम खुद अपने साथ रहने को राजी नही हैं, लेकिन हम चाहते हैं, दूसरे समझे कि हमारा साथ उनके लिए स्वर्ग है।

अकेला आदमी भागता है, जल्दी किसी से मिलने को।

मार्क ट्वैन ने मजाक मे एक बहुत बढ़िया बात कही है। मार्क ट्वैन बीमार था। किसी मित्र ने पूछा कि ट्वैन तुम स्वर्ग जाना चाहोगे कि नर्क। मार्क ट्वैन ने कहा कि इसी चिन्तन मे मैं भी पडा हूँ। लेकिन बडी दुविधा है, फॉर क्लाइमेट हेवेन इज बेस्ट, बट फॉर कम्पनी हैल इज बेटर (अगर सिर्फ स्वास्थ्य सुधार करना हो, तो स्वर्ग मे आब-हवा बहुत अच्छी है, लेकिन वहाँ 'कम्पनी' (सग) बिल्कुल नही है)।

महावीर स्वामी बगल मे बैठे हों आपके तो भी 'कम्पनी' नही होगी। 'कम्पनी' चाहिये तो नर्क ठीक है। वहाँ शानदार रगीले लोग है—वहाँ 'कम्पनी' है, चर्चा है, मजाक है, बातचीत है।

ट्वैन ने तो मजाक मे कहा था, लेकिन बात मे थोडी सच्चाई है। इसे दूसरे पहलू से देखे, तो यह मजाक गम्भीर हो जाता है। असल मे जो लोग भी भीतर नर्क मे हैं, वे हमेशा 'कम्पनी' की खोज मे होते हैं। जो लोग भीतर खुद से दुखी हैं, वे साथी खोजते हैं। जो भीतर आनन्दित है, वह अपना साथी काफी है। उसे किसी और के साथ की कोई जरूरत नही।

सुना है मैंने इकहार्ट के बाबत, जो एक ईसाई फकीर हुआ है। पश्चिम में जो थोड़े से कीमती आदमी हुए हैं, महावीर और बुद्ध की हैसियत के, उनमे से वह एक है। इकहार्ट अकेला बैठा है। एक मित्र रास्ते से गुजरता था, उसने सोचा—बेचारा अकेला बैठा है, ऊब गया होगा। वह मित्र आया और उसने आकर कहा कि आप अकेले बैठे है, मैंने सोचा, जाता तो हूँ जरूरी काम से, लेकिन थोडा साथ दे दूँ—'टू गिव यू कम्पनी'।

इकहार्ट ने कहा—हे परमात्मा ! 'आइ वाज अप टु नाऊ विथ मी, यू मेड मी एलोन'। (अब तक मैं अपने साथ था, तुमने आकर मुझे अकेला कर दिया।) तुम्हारी बडी कृपा होगी, अगर तुम यह अपनी 'कम्पनी' कही और ले जाओ, तुम किसी और को साथ दो, हम अपने साथ मे काफी हैं, पर्याप्त हैं।

जो अपने भीतर सोचता है कि अपर्याप्त हूँ, वह दूसरे का साथ खोजता है।

लोभ अपने से अतृप्ति है। लोभ का मतलब है—मैं अपने से राजी नही हूँ—कुछ और चाहिये राजी होने के लिए, और जो अपने से राजी नही है, उसे कुछ भी मिल जाये, वह कभी राजी नही हो सकता। क्योंकि जो भी मिल जाये, वह मुझसे दूर ही रहेगा, मेरे निकट तो मै ही हूँ। कितनी ही सुन्दर पत्नी खोज ले कोई, फासला रहेगा, और कितना ही अच्छा मकान बना ले कोई, फासला रहेगा, और कितना ही धन का अम्बार लग जाये, फासला रहेगा। मेरे पास मेरे अतिरिक्त कोई भी नही आ सकता। मैं अपने साथ तो रहूँगा ही—धन हो कि गरीबी, साथी हो कि अकेलापन—मैं अपने साथ तो रहूँगा ही, और अगर मैं अपने से ही राजी नही हूँ, तो मैं जगत् मे कभी भी राजी नही हो सकता।

लोभ का मतलब है, अपने से राजी न होना। किसी और से राजी होने की कोशिश है, लोभ। जब कोई इस कोशिश मे सफलता दे देता है, तो मोह बन जाता है। तब हम कहते हैं, इसके बिना मैं नही जी सकता—यह है मोह। कहते हैं अगर यह हट गया, तो मेरी जिन्दगी बेकार है—यह है मोह। फिर कोई बाधा डालता है और इस लोभ की खोज मे अवरोध बन जाता है, तो क्रोध उठता है कि मिटा डालूंगा इसे। जिससे मोह बनता है, अगर वह मिट जाये, तो हम कहते हैं कि उसके बिना मैं जी न सकूंगा और जिससे हमारा क्रोध बनता है, तो हम कहते हैं कि जब तक यह है, तब तक मैं जी न सकूंगा।

मोह और क्रोध, विपरीत पहलू हैं, एक ही घटना के। और यह जो लोभ है हमारे भीतर, दूसरे की तलाश का—उसमे हमारी शक्तियो का जो नियोजन है, उसका नाम काम है, उसका नाम 'सेक्स' है।

हमारे भीतर जो जीवन की ऊर्जा है, जब वह दूसरे की तलाश मे निकल जाती है, तो काम बन जाती है। यह मजे की बात है और थोडी दुरुह भी। हमें ख्याल मे नही आता है कि जब एक आदमी धन का दिवाना होता है, तो धन की दिवानगी उसके लिए वैसे ही काम-वासना होती है, जैसे कोई स्त्री का दिवाना हो। वह रुपये को हाथ मे रख कर वैसे ही देखता है, जैसे कोई सुन्दर चेहरे को देखें। तिजोरी को वह वैसे ही प्रेम से खोलता है, जैसे कोई अपनी प्रेयसी को प्रेम से बिठाए। रात सपने मे उसे प्रेयसी नही आती, तिजोरी आती है। यह धन जो है, इसके लिए 'सेक्स ऑब्जेक्ट' है। यह धन के साथ मैथुन-रत है।

जो आदमी धन का दिवाना होता है, वह किसी को प्रेम नही कर सकता। इसलिए धन का दिवाना पत्नी को प्रेम नहीं कर सकता, बच्चो को प्रेम नहीं कर सकता। सभी प्रेम बड़े ईर्ष्यालु हैं। अगर धन से प्रेम हो गया, तो धन दूसरे से प्रेम नही होने देगा। प्रेम 'जेलस' है, धन ने अगर पकड़ लिया, तो प्रेम नही होने देगा।

फैराडे नामक वैज्ञानिक को कोई पूछता था कि तुमने विवाह क्यो नही किया! उसने कहा कि जिस दिन विज्ञान से विवाह कर लिया, उस दिन से सौतेली पत्नी घर मे लाने की हिम्मत फिर मैंने न जुटाई।

अक्सर—वैज्ञानिक हो, चित्रकार हो, कवि हो, सगीतज्ञ हों—पत्नी से बचते हैं, नही बचते, तो पछताते हैं। पछताना पड़ेगा, क्योकि दो पत्नी ?....

मुल्ला नसरुद्दीन से उसका बेटा पूछ रहा है कि पिताजी कानून ने दो विवाह पर रोक क्यो लगा रखी है! तो नसरुद्दीन ने कहा कि जो अपनी रक्षा खुद नही कर सकते, कानून को उनकी रक्षा करनी पड़ती है। एक ही पत्नी काफी है। मगर आदमी कमजोर है, दो, चार, दस इकट्ठी कर ले सकता है। कानून को उसकी रक्षा करनी पडती है। तुम ऐसी भूल मत करना।

अक्सर, जिनको किसी खोज मे लीन होना है, वे विवाह से बच जाते हैं। क्योकि वह खोज ही उनके लिए 'सेक्स ऑब्जेक्ट' है। उसका और कोई कारण नही है। जो सगीत का दिवाना है, उसके लिए सगीत प्रेयसी है। जो काव्य का दिवाना है, कविता उसकी प्रेयसी है। अब दूसरी पत्नी कठिनाई खडी कर देगी। और पत्नियाँ इसे भली भाँति जानती हैं। कभी-कभी ऐसी भूल-चूक हो जाती है कि कोई कवि शादी कर लेता है, तो पत्नी के बर्दाश्त के बाहर हो जाता है कि वह उसके सामने कविता बैठ के लिखे। पत्नी मौजूद हो और पति कविता लिखे, तो पत्नी छीनकर फेंक देगी उसकी कविता।

वैज्ञानिकों के हाथ से उनके उपकरण छीन लिये हैं। दार्शनिकों के हाथ से उनके शास्त्र छीन लिये हैं। हमे हैरानी लगती है कि आखिर यह पत्नी को क्या हो रहा है। अगर सुकरात अपनी किताब पढ रहा है तो ये झिनथोपे सुकरात की पत्नी उसे किताब पढ़ने क्यो नही देती !

हमें लगता है कि पागल औरत है। पागल नहीं है, वह। जाने-अनजाने वह समझ गई है कि किताब ज्यादा महत्त्वपूर्ण है सुकरात के लिए—पत्नी के बजाय। पत्नी मौजूद है और पति अखबार पढ रहा है, तो बात साफ है कि वहाँ महत्त्वपूर्ण कौन है ! अगर पत्नी अखबार को छीन कर फाडकर फेंक देती है, तो पत्नी की अन्त.प्रज्ञा उसको ठीक-ठीक दिशा दे रही है—वह ठीक समझ रही है।

जो व्यक्ति जिसमे लीन हो जाता है, वही उसके लिए कामविषय हो जाता है। लीनता, काम-विषय का लक्षण है। इससे कोई फर्क नही पडता कि आपकी लीनता पुरुष और स्त्री के प्रति ही हो। आपकी लीनता किसी भी चीज के प्रति हो जाये, तो जो सम्बन्ध है, वह काम का है।

लोभ काम की ही यात्रा पर निकल जाता है—फिर चाहे धन हो, चाहे यश हो, चाहे पद हो, चाहे पुण्य हो—इससे कोई फर्क नही पडता।

लोभ का एक ही लक्षण है—अपने से बाहर जाना। दूसरे की खोज। दूसरे के बिना जीना मुश्किल। दूसरा स्वय से ज्यादा महत्वपूर्ण है। दूसरे की महिमा ज्यादा और स्वय की महिमा गौण है। और जिसकी स्वय की महिमा गौण है, वह कही भी भटके भिखारी ही रहेगा।

इसलिए लोभी सदा भिखारी है। सम्राट हो जाए, तो भी उसका भिक्षा-पात्र खाली ही रहता है। और फिर लोभ से पैदा होती है सारी सततियाँ—क्रोध की, मोह की।

इसलिए लोभ को पाप का मूल कहा है।

मित्र ने पूछा है कि ज्यादा धन कमाकर ज्यादा दान करने को आप क्या कहेगे ?

धन से लोभ का सम्बन्ध नही है। दान से भी लोभ का सम्बन्ध नही है। लोभ का सम्बन्ध ज्यादा से है। ज्यादा धन कमाने वाला, ज्यादा मे अटका है। कल ये ज्यादा दान भी कर सकता है, तब भी ज्यादा मे ही अटका होगा।

दान अच्छा है, लेकिन प्रायश्चित की तरह। और उसका कोई विधायक मूल्य नही है। जैसे माफी माँगना अच्छा है, लेकिन उसका यह मतलब नही कि

ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे माफी माँगनी पडे; कि पहले गाली देना चाहिये, फिर माफी माँग लेनी चाहिये; क्योकि माफी माँगना बहुत अच्छा है। माफी माँगना अच्छा है, लेकिन प्रायश्चित्त की तरह।

माफी कोई पुण्य नही है। माफी केवल पाप का प्रायश्चित है।

दान कोई पुण्य नही है। वह जो इकट्ठा किया था धन, केवल उसका प्रायश्चित है। दान की कोई विधायकता नही है, कोई पॉजिटिविटी नही है दान की। इसलिए जो कहते है कि खूब दान करो, अगर उनका मतलब यह है कि पहले खूब धन इकट्ठा करो और फिर दान करो, तो यह चालाक तरकीब है उनकी कि पहले खूब पाप करो और फिर पुण्य करो।

एक पादरी अपने स्कूल के बच्चो से पूछ रहा था। उसने बहुत समझाया था बच्चो को कि मुक्ति के लिए क्या आवश्यक है—सालवेशन के लिए, छुटकारे के लिए—समझाया था कि जीसस की प्रार्थना, पूजा, भगवान् का स्मरण, यह सब जरूरी है, जिसको मुक्त होना है। फिर उसने सब समझाने के बाद पूछा कि मुक्त होने के लिए सबसे जरूरी चीज क्या है। एक छोटे से बच्चे ने हाथ उठाया, हाथ हिलाया, वह पादरी बहुत खुश हुआ। वह बच्चा खडा हुआ। पादरी ने पूछा : 'क्या है सबसे जरूरी चीज ?' उस बच्चे ने कहा : 'पाप करना'।

जब तक पाप न करो, छूटना किससे है ? छुटकारे का क्या अर्थ है ? छुटकारे के लिए पाप करना पहली जरूरत है। दान के लिए, धन इकट्ठा करना पहली जरूरत है। लेकिन यह जाल समझने जैसा है।

जो आदमी ज्यादा धन इकट्ठा कर रहा है, वह दान कर कैसे पायेगा ! ज्यादा पर जितना उसका जोर होगा, उतना ही छोड़ना मुश्किल होगा; क्योकि ज्यादा को पकडने की आदत हो जायेगी। तो वह दान कर सकता है, अगर यह दान 'इनव्हेस्टमेट' हो। अगर उसको यह पक्का भरोसा हो जाये कि जितना मैं देता हूँ, उससे ज्यादा मुझे मिलेगा। वह दान कर सकता है, अगर उसे पक्का हो जाये कि यहाँ देता हूँ, और वहाँ स्वर्ग मे मिलेगा।

आजकल दान करने मे लोग उतने तत्पर नही दिखाई पड़ते—उसका कारण, स्वर्ग संदिग्ध हो गया है। और कोई कारण नही है। और उतना भरोसा अब नही रहा साफ-साफ की है भी।

अगर पुराने लोग दानी थे, तो आप यह मत समझना कि आपसे कम लोभी थे ! उनका स्वर्ग सुनिश्चित था। उसमे कोई शक की बात ही नही थी। यहां देना और वहाँ लेना नगद था। उसमे कही कोई उधारी का मामला

न था। अब सब गडबड है। यहाँ हाथ से जाता हुआ नगद मालूम पडता है। वहाँ स्वर्ग में नगद मिलता हुआ मालूम नही पडता।

जिन्होने दान किये हैं, पुराने लोगो ने, लोभ के कारण ही किये हैं, लोभ के विपरीत नही।

लोभ के विपरीत दान बडी और बात है; लोभ के कारण दान और बात है।

क्या फर्क होगा दोनो मे ?

फर्क यह होगा कि ज्यादा मौजूद नही रहेगा दान मे।

अगर यह लगता है कि ज्यादा दान करू, तो क्यों लगता है !

ताकि ज्यादा पा लूँ।

यह ज्यादा की दौड़ क्या है ?

यही दौड कल थी कि ज्यादा धन इकट्ठा करूँ, अब वही दौड है कि ज्यादा दान करूँ।

क्यो ? तुम ज्यादा के बिना क्यो नही हो सकते हो ?

यह बुखार ज्यादा का आवश्यक नही है। जब कोई व्यक्ति ज्यादा से मुक्त हो जाता है, तो उसका लोभ शान्त हो जाता है।

तो जिन्होने वस्तुत. दान किया है, उन्होने कुछ पाने के लिए दान नही किया है। वह सिर्फ प्रायश्चित है। जो व्यर्थ इकट्ठा कर लिया था, वह वापस लौटा दिया है दान से। आगे कोई पुण्य मिलने वाला नही है। दान पीछे के किये गये पाप का निपटारा है। यह सिर्फ हिसाब साफ कर लेना है, और कुछ भी नही।

मित्र ने पूछा है—पाने योग्य चीज को अधिकतर मात्रा मे पाने की चेष्टा मे भी क्या लोभ है ?

असल मे पाने योग्य क्या है ? जो पाने योग्य है, वह भीतर पहले से ही मिला हुआ है। उसका कोई लोभ नही किया जा सकता। और जो भी हम पाने योग्य मानते हैं, वह पाने योग्य नही होता। लोभ पहले आ जाता है, इसलिए पाने योग्य मालूम पड़ता है।

इसे थोडा ठीक से समझ लें

हम कहते हैं—जो पाने योग्य है, उसके लोभ मे क्या हर्ज है ! लेकिन वह पाने योग्य होता ही इसलिए है कि लोभ ने पकड लिया है। नही तो पाने योग्य नही होता।

जो चीज आपको पाने योग्य लगती है, वह आपके पड़ोसी को पाने योग्य नही लगती। पडोसी का लोभ कही और है, आपका लोभ कही और है— यही फर्क है।

कोई चीज अपने आप मे पाने योग्य नही है। जिस दिन आपका लोभ उस चीज से जुड जाता है, वह पाने योग्य दिखाई पड़ने लगती है। जब तक उस चीज में लोभ नही जुडा था, तब तक वह पाने योग्य नही थी। पाने योग्य का मतलब ही यह है कि लोभ जुड़ गया। तब एक 'विसियस सर्कल' (दुष्ट-चक्र) पैदा हो जाता है। लोभ पहले जुड गया, इसलिए चीज पाने योग्य मालूम पडती है। और फिर हम कहते हैं कि जो पाने योग्य है, उसके लोभ मे हर्ज क्या है! यह लोभ जो है, यह धोखा दे रहा है।

इसे दूसरे ढग से समझें, तो आसान हो जायेगा।

हम कहते है, सुन्दर व्यक्ति पाने योग्य मालूम पडता है। लेकिन वह सुन्दर ही क्यो मालूम पडता है ? आप जब कहते हैं कि फला व्यक्ति सुन्दर है, तो आप सोचते हैं, कि सौन्दर्य कोई गुण है, जो वहाँ व्यक्ति मे मौजूद है। लेकिन मनसविद् कहते हैं, जिसको आप पाना चाहते हैं, वह आप को सुन्दर दिखाई पडने लगता है।

जो आज हमे सुन्दर दिखाई पडता है, जरूरी नही कि कल भी सुन्दर दिखाई पडे। जो हमे सुन्दर दिखाई पड़ता है, वह हमारी मन की तरकीब है। हम कहते हैं सुन्दर है, इसलिए हम पाना चाहते है। असलियत और है। हम पाना चाहते हैं, इसलिए वह सुन्दर दिखाई पडता है। हमारी चाह पहले है। और जहाँ हमारी चाह जुड जाती है, वही सौन्दर्य दिखाई पडने लगता है। जहाँ हमारा लोभ जुड जाता वही पाने योग्य मालूम पडने लगता है।

पाने योग्य क्या है ?

पाने योग्य केवल वही है, जो मिला ही हुआ है। जिसे पाने की कोई जरूरत ही नही है। जिसे पाने की जरूरत है, वह पाने योग्य ही नही है।

यह 'कन्ट्राडिक्टरी' मालूम पडेगा, विरोधी मालूम पड़ेगा कि जो पाने योग्य मालूम पडता है, वह पाने योग्य है ही नहीं।

क्योंकि वह पराया है, इसलिए उसे पाना पडेगा। और जिसे भी हम पा लेंगे, उसे छोडना पडेगा।

ससार का अर्थ इतना ही है कि कितना ही पाओ, उसे छोडना ही पड़ेगा। सिर्फ एक चीज मुझसे नही छीनी जा सकती, वह मेरा होना है। उसे मैंने कभी

पाया नहीं, वह मुझे मिला ही हुआ है—'ऑलरेडी गिवन'। जब भी मैंने जाना, वह मुझे मिला हुआ है। उसे मैंने कभी पाया नही, बाकी जो भी चीजें मैंने पा ली है, वह सब छीन जायेगी।

जो पाया जाता है, वह छिन जाता है। क्योकि वह हमारा नही है, इसीलिए तो पाना पडता है। एक दिन वह छिन जाता है, जो हमारा नही है। जो मेरा है, उसे मैंने कभी पाया नही। वह तो मैं ही हूँ।

धर्म की दृष्टि मे पाने योग्य सिर्फ एक ही बात है। और वह है, स्वय का स्वरूप। उसको हम आत्मा कहे, परमात्मा कहे, मोक्ष कहे—यह शब्दो का भेद है। बाकी कोई भी चीज पाने योग्य नही है।

लोभ दिखाता है कि यह पाने योग्य है। लोभ दिखा देता है, तो वासना दौड पडती है, सफलता मिल जाती है, तो मोह बन जाता है, असफलता मिल जाती है, तो क्रोध बन जाता है।

इसलिए लोभ अधर्म का मूल है।

अब सूत्र।

● 'सूर्योदय के पहले और सूर्यास्त के बाद श्रेयार्थी को सभी प्रकार के भोजन, पान आदि की मन से भी इच्छा नही करनी चाहिये'।

इस सम्बन्ध मे थोड़ा विचारणीय है। क्योकि महावीर को मानने वालो ने इस सूत्र को बुरी तरह से विकृत कर दिया है। जैनो की धारणा केवल इतनी ही रह गई है कि रात्रि मे भोजन करने से हिंसा होती है, इसलिए नही करना चाहिए। तो यह बडा गौण हिस्सा है, यह मूल हिस्सा नही है। और अगर यही सच है, तो अब रात्रि भोजन करने मे कोई अडचन नही होनी चाहिये। क्योकि महावीर के वक्त मे न बिजली थी, न प्रकाश था—जो आज है। अगर महावीर ने इसीलिये कहा था (जैसे कि जैन-साधु समझाते रहते हैं।) कि रात्री मे भोजन करने से हिंसा होती है, तो अब इस सूत्र की कोई सार्थकता नही है। अब तो बिजली का प्रकाश है, जो दिन से भी ज्यादा हो सकता है। अब तो इसमे कोई अडचन नही है। अगर यही कारण है, तब तो यह परिस्थितिगत बात थी और अब इसका कोई मूल्य नही रह जाता है। लेकिन यही कारण नही है, पर इसका आन्तरिक मूल्य कायम रहेगा। उस मूल्य को हम समझें।

सूर्योदय के साथ ही जीवन फैलता है। सुबह होती है, तो सोये हुए पक्षी जग जाते हैं, सोए हुये पौधे जग जाते हैं, फूल खिलने लगते हैं, पक्षी गीत गाने लगते हैं, आकाश मे उड़ान शुरू हो जाती है—सारा जीवन फैलने लगता है।

सूर्योदय का अर्थ सिर्फ सूरज का निकलना नही, जीवन का जागना, जीवन का फैलना भी है। सूर्यास्त का अर्थ है—जीवन का सिकुड़ना, विश्राम मे लीन हो जाना।

दिन जागरण है, रात्रि निद्रा है। दिन फैलाव है, रात्रि विश्राम है। दिन श्रम है, रात्रि श्रम से वापस लौट आना है।

सूर्योदय की इस घटना को समझने से ख्याल मे आयेगा कि रात्रि-भोजन के लिए महावीर का निषेध क्यो है।

भोजन है जीवन का फैलाव।

सूर्योदय के साथ भोजन की सार्थकता है, क्योकि शक्ति की जरूरत है। लेकिन सूर्यास्त के बाद भोजन की जरा भी आवश्यकता नही है। सूर्यास्त के बाद किया गया भोजन बाधा बनता है—सिकुड़ाव में, विश्राम मे, क्योकि भोजन भी एक श्रम है।

आप भोजन ले लेते हैं, तो आप सोचते हैं कि काम समाप्त हो गया। इधर गले के नीचे भोजन गया और उधर आप समझे कि काम समाप्त हुआ। गले तक तो काम शुरू ही नही होता। गले के नीचे ही काम शुरू होता है।

भोजन लेने का अर्थ होता है—शरीर को भीतरी श्रम मे लगा देना, अब शरीर का रोआँ-रोआँ भोजन को पचाने मे लग जायेगा।

अगर आपकी निद्रा क्षीण हो गई है, रात विश्राम नही मिलता, नीद नही मालूम पडती, करवट ही करवट बदलनी पडती है, स्वप्न ही स्वप्न आते हैं, तो उसमे अस्सी प्रतिशत कारण शरीर को दिया गया काम है, जो कि रात मे नही दिया जाना चाहिये और भोजन लेने का अर्थ है, शरीर को श्रम देना।

जब सूरज उगता है, तो 'ऑक्सीजन' की, प्राणवायु की मात्रा बढ़ती है। प्राणवायु जरूरी है श्रम करने के लिए। जब रात्रि आती है, तो सूर्य डूब जाता है और प्राणवायु का औसत गिर जाता है। 'कार्बन-डाई-ऑक्साइड' की, कार्बन द्वि औषद् की मात्रा बढ़ जाती है, जो कि विश्राम के लिए जरूरी है। 'आक्सीजन' जरूरी है भोजन को पचाने के लिए, कार्बन द्वि औषद् के साथ भोजन मुश्किल से पचेगा।

मनोवैज्ञानिक अब कहते हैं कि हमारे अधिकतर दुख-स्वप्नो का कारण हमारे पेट मे पडा हुआ भोजन है। हमारी निद्रा की जो अस्त-व्यस्तता है, अराजकता है, इसका कारण पेट में पड़ा हुआ भोजन है। आपके सपने अधिक

मात्रा मे आपके भोजन से पैदा हुए हैं। आपका पेट परेशान है, काम में लीन है। पूरा दिन चुक गया, काम का समय बीत गया और अब भी आपका पेट काम में लीन है।

हम बड़े अद्भुत लोग हैं ! हमारा असली भोजन रात मे ही होता है। दिन भर हम काम चला लेते हैं—असली भोजन, बडा भोजन, 'डिनर', वह हम रात मे लेते हैं। इससे ज्यादा दुष्टता शरीर के साथ दूसरी नही हो सकती। इसलिए अगर महावीर ने रात्रि-भोजन को हिंसा कहा है, तो मैं कहता हूँ कीडे-मकोडो के मरने के कारण नही, अपने साथ हिंसा करने के कारण कहा है। वह आत्म-हिंसा है, आप अपने शरीर के साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं।

भोजन की जरूरत है। सुबह सूर्य के उगने के साथ जीवन की आवश्यकता है, शक्ति की आवश्यकता है, क्योकि श्रम होगा, इसलिए शक्ति चाहिये, विश्राम के लिए शक्ति नही चाहिए। पेट साझ होते-होते मुक्त हो जाये भोजन से, तो रात्रि मे निद्रा शान्त होगी, मौन होगी, गहरी होगी। निद्रा एक सुख होगा और सुबह आप ताजे उठेंगे। रात्रि भर भी आपके पेट को श्रम करना पडे, तो सुबह आप थके-माँदे उठेंगे।

आपने ख्याल किया होगा कि जैसे ही पेट मे भोजन पड जाता है, वैसे ही आपका मस्तिष्क ढीला हो जाता है ! इसलिए भोजन के बाद नीद सताने लगती है। लगता है, लेट जाओ। लेट जाने का मतलब है कि कुछ मत करो अब। क्योकि अब शरीर की सारी ऊर्जा भोजन को पचाने मे लग जायेगी। मस्तिष्क बहुत दूर है पेट से। जैसे ही भोजन पेट मे पडता है वैसे ही मस्तिष्क की सारी ऊर्जा भोजन को पचाने पेट मे आ जाती है, आँख झपकने लगती है और नीद मालूम होने लगती है। इसलिए जिसने दिन को उपवास किया हो, उसे रात को नींद नही आती। क्योकि सारी ऊर्जा मस्तिष्क की तरफ दौडती रहती है।

···जैसे ही आप पेट भर लेते हैं, तत्काल नीद मालूम होने लगती है। नींद इसलिए मालूम होने लगती है कि मस्तिष्क के पास जो ऊर्जा थी, वह पेट ने ले ली।

पेट स्थूल है। पेट पहली जरूरत है। मस्तिष्क विलास है, 'लक्जरी' है। जब पेट के पास ज्यादा ऊर्जा होती है, तब वह मस्तिष्क को दे देता है, अन्यथा पेट मे ही मस्तिष्क की ऊर्जा घूमती रहती है।

महावीर ने कहा है—दिन है श्रम और रात्रि है विश्राम। ध्यान भी विश्राम है। पूरी रात्रि विश्राम बन सकती है, अगर थोड़ा सा भोजन के साथ समझ

का उपयोग किया जाए। अगर रात्रि पेट में भोजन पडा हो, तो रात्रि ध्यान नही बन सकती, निद्रा ही रह जाएगी। निद्रा भी उखडी-उखडी, गहरी नही।

आदमी साठ साल तक जिये, तो बीस साल सोता है। बीस साल बडा लम्बा वक्त है। और हम सारे लोग यह कहते सुन पाये गये हैं कि कब करें ध्यान, समय नही है! महावीर कहते हैं यह बीस साल ध्यान मे बदले जा सकते हैं। यह जो रात्रि की निद्रा है, (जब आप कुछ भी नहीं कर रहे हैं) उसे ध्यान मे बदला जा सकता है।

ध्यान श्रम नही है। ध्यान विश्राम है। इसलिए ध्यान का नींद से बडा गहरा सम्बन्ध है। और नीद ध्यान मे रूपान्तरित हो जाती है। लेकिन नीद ध्यान मे तभी रूपान्तरित हो सकती है, जब पेट ऊर्जा न माँग रहा हो—जब पेट माँग न कर रहा हो कि शक्ति मुझे चाहिए पचाने के लिए, जब पेट शान्त हो और ऊर्जा मस्तिष्क मे हो। इस ऊर्जा को ध्यान मे बदला जा सकता है। अगर इसको ध्यान मे न बदला जाए, तो यह ऊर्जा नीद को तोडने वाली हो जाएगी, जैसे कि आम उपवास करने वालो मे होती है। अगर ध्यान मे बदल जाये यह ऊर्जा, तो नीद को बाधा नही देगी, नीद अपने तल पर चलती रहेगी और एक नया आयाम, एक नया 'डायमेन्शन' ऊर्जा का शुरू हो जाएगा—ध्यान।

कृष्ण ने कहा है कि योगी रात सोकर भी सोता नही है। महावीर ने भी कहा है कि शरीर ही सोता है, चेतना नही सोती। यह एक भीतरी कीमिया है। इस कीमिया के तीन हिस्से हैं। अगर ऊर्जा पेट मे जाये, तो मस्तिष्क मे नही जाती—पहली बात। अगर ऊर्जा मस्तिष्क मे जाए और ध्यान न बनाई जाए, तो नीद असम्भव हो जाएगी—दूसरी बात और तीसरी बात ऊर्जा पेट में न जाये, मस्तिष्क मे जाये और मस्तिष्क मे ध्यान की यात्रा पर निकल जाये, तो मस्तिष्क सो सकेगा और ऊर्जा ध्यान बन जाएगी।

योगी रात मे सोता नही, इसका यह मतलब नही कि योगी का शरीर नही सोता। शरीर भली भाँति सोता है, आपसे ज्यादा अच्छी तरह सोता है। शायद योगी ही इस अर्थ में ठीक से सोता है। लेकिन फिर भी नही सोता, भीतर कोई जागता रहता है। वह जो ऊर्जा पेट के काम नही आ रही है, वह जो ऊर्जा मस्तिष्क के काम नही आ रही है, वही ऊर्जा बूंद-बूंद ध्यान में टपकती रहती है, और भीतर एक जागरण की ज्योति जलनी शुरू हो जाती है।

रात्रि से ज्यादा सम्यक्-अवसर ध्यान के लिए दूसरा नही है। इसलिए महावीर ने कहा है कि रात्रि भोजन उचित नही है।

जैन-साधुओ की बाते बहुत बचकानी लगती हैं। उनकी बातें सुनकर ऐसा लगता है कि 'एब्सर्ड' है, उनका दिमाग खराब है। 'रात्रि-भोजन नही करना'—इसे ऐसा नियम बना लिया है, जैसे इसके बिना मोक्ष न हो सकेगा। उनकी बात बड़ी टुच्ची मालूम पडती है—कहाँ मोक्ष और कहाँ रात्रि-भोजन! रात्रि भोजन छोड दिया, तो मुक्ति हो गई! इतना सस्ता है मोक्ष?

बीच के सूत्र खो गए हैं, जिनकी वजह से अडचन है। बीच की सीढ़ियाँ खो गई हैं। वह सीढो है—ध्यान के लिए रात्रि का सबसे ज्यादा सम्यक्-अवसर होना।

सूर्य के डूबते ही समस्त अस्तित्व विश्राम मे चला जाता है। सूर्य डूबने के साथ हमे भी विश्राम मे चले जाना चाहिए। हमे सूरज के साथ यात्रा करनी चाहिए। शरीर भी विश्राम मे जाना चाहिए और मन भी विश्राम मे जाना चाहिए।

मन के विश्राम का नाम ध्यान है और शरीर के विश्राम का नाम निद्रा है। आप का मन अगर विश्राम मे नही जाता, तो आप ध्यान मे नही जा सकते। लेकिन जिनका शरीर ही विश्राम मे नही जाता, उनका मन कैसे विश्राम मे जा सकेगा।

महावीर ने कहा—'रात्रि-भोजन बिलकुल नही'। इसका रात्रि से सम्बन्ध नहीं है, इसका आप से सम्बन्ध है, ध्यान से सम्बन्ध है।

जैनी कहते हैं कि रात्रि-भोजन बिलकुल नही, इसलिए वे शाम को ठूँस-ठूँस कर खा लेते हैं। देखते जाते है कि सूरज तो नही डूब रहा और खाते भी जाते है।

एक घर मे मै ठहरा हुआ था। जो मेरे अतिथेय थे वे मेरे साथ खाना खाने बैठे। कमरे मे भीतर अँधेरा उतरने लगा, तो उन्होने जल्दी से अपनी थाली ली और कहा कि मैं बाहर जाकर भोजन करता हूँ। मैंने पूछा कि क्या हुआ! तो उन्होने कहा कि अभी जरा रोशनी है। कमरे से बाहर उन्होने जल्दी-जल्दी भोजन कर लिया।

बड़े मजे की बात है कि कभी-कभी हम सूत्रो का पालन करने मे, सूत्रो का जो मूल है, उसकी हत्या कर देते हैं। जिस आदमी ने जल्दी-जल्दी भोजन किया है, उसकी रात बडी बेचैन गुजरेगी। क्योकि जल्दी-जल्दी भोजन करने का मतलब है कि भोजन कचरे की तरह पेट मे डाल दिया गया—बिना चबाए।

अब पेट को ज्यादा अड़चन होगी भोजन पचाने में। इससे तो बेहतर था अँधेरे में बैठ कर ठीक से चबा लिया होता; क्योंकि पेट के पास दाँत नही हैं, दाँत का काम मुंह मे ही हो सकता है। फिर पेट को इसे पचाने में अथक कष्ट झेलना पड़ेगा और रात्रि और मुश्किल हो जाएगी।

समझ हाथ में न हो और सूत्र हो, तो ऐसे ही अन्धापन पैदा होता है। फिर चूंकि रात भर भोजन नही करना है, इसलिए खूब कर लेना है! रात पानी नही पीना है, इसलिए सूरज डूबते-डूबते खूब पानी पी लेना है! यह हत्या हो गई मूल सूत्र की। लेकिन यह होगी। क्योकि हमारा कुल ख्याल इतना है कि रात्रि-भोजन छूट गया, तो सब कुछ मिल गया। उसके पीछे के पूरे विज्ञान का कोई बोध नही है।

रात्रि-भोजन जिसे छोडना हो, उसे पूरी जीवन-चर्या बदलनी पड़ेगी। इतना आसान नही है रात्रि-भोजन को छोड देना। रात्रि-भोजन तो कोई भी छोड़ सकता है, लेकिन पूरी जीवन-चर्या बदलनी पडेगी।

महावीर ने तो साधक के लिए एक बार भोजन को कहा है। क्योंकि एक बार भोजन लिया गया हो, तो उसके पचने में छ से आठ घण्टे लगते हैं। दोपहर मे अगर भोजन ले लिया हो, तो ही रात्रि-भोजन से बचा जा सकता है, नहीं तो नही बचा जा सकता। इसका मतलब यह हुआ कि ग्यारह बजे जो भोजन लिया है, वह साँझ सूरज के डूबते-डूबते पच जाएगा, पेट में नही रह जाएगा, पचाने की कोई क्रिया जारी नही रहेगी और रात को आसानी से सोया जा सकेगा। और अगर, सिर्फ इतनी ही मान्यता है, तो रात में नींद मुश्किल हो जाएगी; और जब नींद मुश्किल होगी, तो भोजन के बाबत ही चिन्तन चलेगा।

जो उपवास करता है, वह रात भर भोजन करता है। भोजन का मजा लेना हो, तो उपवास करना चाहिए। फिर ऐसा रस भोजन में आता है, जैसा कभी आया ही नही। ऐसी-ऐसी चीजें याद आती हैं, जो कई जमाने हुए भूल गई थी। मन बड़ा ताजा हो जाता है। जब व्रत चलते हैं, तो कई लोगों का मन भोजन के प्रति बड़ा ताजा हो जाता है। आठ-दस दिन के बाद जब व्रत छूटेंगे, तब वे जेलखाने से छूटे हुए कैदियों की भाँति अपने चौको में प्रवेश कर जाएँगे। योजना अभी से तैयार हो रही है उनके मन में कि क्या-क्या करना है।

महावीर आदमी को भोजन से छुडाना चाहते हैं। जैनों को जितना भोजन से बँधा मैं देखता हूँ, किसी और को नही देखता। सूत्र की हत्या हो जाती है, समझ की कमी से।

भोजन महत्वपूर्ण नही है और न रात्रि महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण है—शरीर की ऊर्जा का सन्तुलन, शरीर की ऊर्जा का रूपान्तरण—वह 'अल्केमी,' वह कीमिया।

महावीर निश्चित ही मनुष्य के शरीर मे गहरे उतरे हैं। कम लोग इतने गहरे गये हैं। उन्होने ठीक जड पकड ली है कि कहाँ से जड़ें शुरू होती हैं। शरीर का काम शुरू हो जाता है भोजन से, और शरीर चाहता है कि भोजन के पास रुके रहो, क्योकि शरीर का काम भोजन से पूरा हो जाता है। उसकी और कोई जरूरत नही है।

भोजन से जो ऊपर न उठ सके, वह शरीर से भी ऊपर न उठ सकेगा। शरीर अर्थात् भोजन। आपका शरीर है क्या ? भोजन का सग्रह है। आपने जो भोजन किया—उसका, आपकी माँ ने, आपके पिता ने, जो भोजन किया—उसका, उनके माता पिता ने भोजन किया—उसका, आपका शरीर जो है, वह भोजन का एक लम्बा सार-निचोड है। इसलिए भोजन के प्रति इतना आकर्षण स्वाभाविक है, क्योकि वह हमारे शरीर का मूल आधार है, उससे ही शरीर चल रहा है। अब सवाल यह है कि हमे शरीर को ही अगर चलाते रहना है, भोजन को ही अगर करते और निकालते रहना है, सिर्फ यही काम करते रहना है, तो हम शरीर के ऊपर कभी न उठ सकेगे।

यूनान मे लोग भोजन के टेबल पर, जैसे आप सीके रखते हैं, दाँत साफ करने के लिए, वैसे वे पक्षियो के पख रखते थे। भोजन कर लिया फिर गले मे पख फिराया और 'वोमिट' कर दी और फिर भोजन कर लिया। मेहमान को अगर आपने दो-चार दफे उल्टी न करवायी, तो आपने ठीक स्वागत नही किया। मेहमान के लिए वे पक्षी का बडा पख रखते थे और दो आदमी पास खड़े रहते थे; जल्दी से मेहमान का भोजन उगलवाने के लिए। जब वह कहता कि बस, अब और नही, तो जल्दी से वे बरतन ले आयेगे और पख चला देंगे उसके गले में और उसे 'वोमिट' करवा देंगे।

सम्राट नीरो ने दो डॉक्टर रख छोड़े थे, जो दिन मे उसे आठ दफा उल्टियाँ करवाते थे, ताकि वह और भोजन कर सके। मगर आप क्या कह रहे

हैं ? आप न पंखा चला रहे हैं गले मे और न आपने डॉक्टर रख छोड़े हैं, लेकिन आप भी वही कर रहे हैं कि डालो-निकालो, डालो-निकालो ।

आप सिर्फ एक यन्त्र हैं, जिसमे भोजन डाला और निकाला जाता है । एक वृत्त है—जब निकल जाये, तो फिर डाल लो, जब डल जाये, तो फिर निकलने की प्रतिक्षा करो ।

आप जिन्दगी भर भोजन डालने और निकालने का एक क्रम हैं । यही है जीवन । अगर इस ऊर्जा मे से कुछ ऊर्जा मुक्त नही होती और ऊपर नहीं जाती, तो आपको शरीर के अतिरिक्त किसी चीज का कभी अनुभव नही होगा ।

महावीर भोजन के शत्रु नही हैं, भोजन के दुश्मन नही हैं, जैसे कि उनके साधु हो गये है ।

केवल भोजन ही जीवन नही है । भोजन के पार जीवन का विस्तार भी है—महावीर इसके उद्घाटक हैं ।

रात्रि-भोजन न करने पर महावीर का बहुत आग्रह है । यह आग्रह इस बात की सूचना है कि यह मामला सिर्फ भोजन का नही है, यह मामला किसी भीतरी गहरी क्रान्ति का मामला है ।

'सूर्योदय के पहले और सूर्योदय के बाद श्रेयार्थी को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नही करनी चाहिये ।'

यह भी जोड़ा है साथ में कि 'मन से भी इच्छा नही करनी चाहिए ।' भोजन आपने किया या नही किया, यह उतना महत्वपूर्ण नही है, जितना यह कि मन से भी इच्छा नही करनी चाहिये । मैं तो कहूँगा कि अगर कर लेने से मन की इच्छा मिटती हो, तो करना बेहतर है । अगर न करने से मन की इच्छा बढ़ती हो, तो खतरनाक है । अगर थोड़ा सा भोजन पेट मे डालने से रात भर भोजन करने की मन की वासना क्षीण होती हो, तो बेहतर है—बजाय उपवासे रहने के । रात भर मन भोजन के आस पास घूमे, वह ज्यादा खतरनाक है ।

महावीर कहते हैं कि रात्रि-भोजन तो करना ही नही है, रात्रि मन में वासना भी न उठे भोजन की, यह कैसे होगा ? यह हमें मुश्किल मालूम पड़ता है ।

भोजन न करे, यह कोई बड़ी कठिन बात नही है । उपवास कोई भी कर सकता है । थोड़ा जिद्दी स्वभाव हो, तो और आसान मामला है ।

अभी पर्युषण चलता है, तो जो बच्चे जिद्दी हैं, वे भी उपवास कर लेंगे। उनके माँ-बाप समझते हैं कि उनका बच्चा बड़ा धार्मिक है। पर यह बच्चा धार्मिक नहीं है। यह बच्चा उपद्रवी है और पीछे सतायेगा। यह बच्चा जिद्दी है, बहुत अहकारी है और देखता है कि बडे उपवास कर रहे हैं, तो सोचता है हम भी करके दिखा दें। और उसे जितना समझाते हैं कि मत करो बेटे—तुम अभी छोटे हो, बडे होकर करना—उतना ही उसका अहकार मजबूत होता है कि अच्छा ! अगर छोटे हैं, तो करके दिखा देते हैं।

यह बच्चा आज नही कल उपद्रवी सिद्ध होने वाला है। जरूरी नहीं है कि साधु हो जाये, तो उपद्रवी नही होगा। अधिकतर साधु तो उपद्रवी होते ही हैं। उपद्रव का मतलब ही इतना है कि अहकार से रस मिलना शुरू हो गया।

आप भी थोडे अहकारी हों, तो बराबर भोजन छोड सकते हैं। भोजन छोडने मे क्या अड़चन है ! लेकिन मन की वासना कैसे छूटेगी ? वह जो मन रात को दौडेगा भोजन की तरफ, उसका क्या करियेगा ? उसको कैसे रोकियेगा ? उसे रोका नही जा सकता।

जब तक आप मन की ऊर्जा को नई दिशा मे प्रवाहित न कर दें, तब तक वह उन्ही दिशाओ मे दौड़ेगा जिन दिशाओ मे दौडने की उसकी आदत है। पेट कहेगा भूख लगी है, तो मन पेट की तरफ दौडेगा। गला कहेगा कि प्यास लगी है, तो मन गले की तरफ दौडेगा। मन का काम ही यही है कि शरीर मे कहाँ क्या हो रहा है, इससे आपको सूचित रखे।

एक ही उपाय है कि मन किसी और आयाम मे नियोजित हो जाये कि उसे पता ही न चले कि पेट को भूख लगी है या गले को प्यास लगी है, तो इसका नाम ही ध्यान है। शरीर को मन भूल जाये, तो फिर उसे भूख-प्यास का पता नही चलता।

घर मे आग लग गई हो, तो फिर आपको पता ही नही चलता कि भूख लगी है। अभी आप बिलकुल सुस्त होकर बैठे थे कि कदम उठाये नही उठता था और जब घर मे आग लग गई है, तो आप ऐसे दौड रहे हैं, जैसे कि गलती हो गई कि आपको ओलम्पिक क्यों न भेजा गया ! सारी ताकत लगा दी है आपने। मिल्खासिंह अब आपसे जीत नही सकता दौड में !

मैंने सुना है मिल्खासिंह के सम्बन्ध में कि एक रात उसके घर में चोर घुसे। विश्व विजेता दौडाक था—मिल्खासिंह और उसके घर में चोर घुसे,

तो वह जोश में आ गया और चोरो के पीछे भागा। पुलिस स्टेशन पहुँच गया। जाकर इन्सपेक्टर से पूछा कि चोर कहाँ हैं, मैं उनके ठीक पीछे था !

चोर तो वहां कोई थे नही, इन्सपेक्टर ने कहा 'कहाँ के चोर, आप अकेले दौडे चले आ रहे हैं !'

मिल्खा सिंह ने कहा कि गलती हो गई, 'आइ मस्ट हैव ओवर टेकेन थेम ।' रास्ते मे मैं भूल गया कि मैं चोरों का पीछा कर रहा हूँ, मैं समझा कि दौड चल रही है।

आपका मस्तिष्क अगर नियोजित हो जाये तो, फिर सब भूल जाता है। चित्त एकाग्र हो जाये कही भी, तो शेष सब विस्मृत हो जाता है। क्योंकि स्मरण के लिए चित्त का सस्पर्श जरूरी है। पैर मे दर्द हो रहा हैं, लेकिन चित्त पैर तक जाये तो ही पता चलता है। पेट मे भूख लगी है लेकिन चित्त पेट तक जाये, तो ही पता चलता है। पेट को कभी पता नही चलता भूख लगने का। पता तो चित्त को ही चलता है। लेकिन चित्त पेट तक जाये, तो ही पता चलता है। अगर चित्त और कही चला जाये, तो फिर पेट तक नही जा सकता।

...घर मे आग लगी है, तो चित्त वहाँ चला गया। एक धारा मे चित्त बह जाये, तो शेष सारा जगत् अनुपस्थित हो जाता है।

काशी के नरेश के पेट का 'ऑपरेशन' होना था, तो उन्होने कहा कि मैं बेहोशी की कोई दवा नही लूंगा। डॉक्टरो ने कहा—'लेकिन ऑपरेशन होगा कैसे? बेहोश तो करना ही पडेगा।' तो नरेश ने कहा : 'मुझे बेहोश करने की कोई जरूरत नही है, बस मुझे गीता पढने दी जाये। मैं गीता पढ़ता रहूँगा और तुम पेट का ऑपरेशन कर डालना।'

डॉक्टर बडे चिन्तित हुए कि बडा असम्भव मामला दिखता है—कैसे गीता पढने मे चित्त इतना एकाग्र हो पायेगा ? अगर ऑपरेशन नही करते हैं, तो नरेश मरेगा। अगर करते हैं, तो बचने की एक सम्भावना भी है !

कोई उपाय नही था इसलिए ऑपरेशन किया गया। काशी नरेश गीता पढते रहे और उनके पेट का ऑपरेशन किया गया। यह पहला बड़ा ऑपरेशन था, जो बिना किसी अनेस्थेसिया के, बिना किसी बेहोशी की दवा से किया गया। डॉक्टर तो चकित हो गये। उन्होने कहा कि यह तो चमत्कार है। नरेश ने कहा—कोई भी चमत्कार नही है, क्योकि पेट तक मेरी चेतना का जाना जरूरी है, तभी तो मुझे पता चलेगा कि वहाँ दर्द हो रहा है। जब मेरी चेतना गीता की तरफ जा रही है, तो फिर दर्द का पता नहीं चलता।

ध्यान की तरफ जाये बिना रात्रि-भोजन से बचने का कोई अर्थ नही है। तब उपवास का भी कोई अर्थ नही हैं। अनशन उपवास नही है। उपवास शब्द का अर्थ होता है : आत्मा के निकट होना। आत्मा के पास होने का अर्थ ही ध्यान है। जो ध्यान नही कर सकता, वह उपवास भी नही कर सकता।

इसलिए मैं नही कहता कि उपवास की फिक्र करो। पहले ध्यान की फिक्र करो। ध्यान जिसे आता है, उसका अनशन उपवास बन जाता है। जिसे ध्यान नही आता, उसका उपवास सिर्फ भूख-हडताल है—अपने ही खिलाफ, उससे कोई आनन्द उत्पन्न होने वाला नही है। इसलिए महावीर ने इतना जोर दिया है।

क्या करे ? कैसे मन ध्यान बन जाये ? कहाँ मन को ले जायें ?

मन को धीरे-धीरे शरीर से हटाने का अभ्यास करना पडता है। कभी प्रयोग करें तो ख्याल मे आना शुरू हो जायेगा।

खड़े है, तो आँख बन्द कर लें और बाएँ पैर के अगूठे तक मन को जाने दे। दाएँ पैर को बिलकुल भूल जाये। सारी चेतना बाएँ पैर मे घूमने लगेगी। जब बाएँ पैर मे चेतना घूमने लगे तो फिर हटा ले वहाँ से और चेतना को दाएँ पैर मे ले जाएँ। फिर बाएँ पैर को बिलकुल भूल जाएँ और दाएँ पैर मे चेतना को घूमने दे।

यह कठिन नही है। इसे हर अग पर बदले, तो आपको फौरन एक बात का पता चल जायेगा कि चेतना भी एक प्रवाह है आपके भीतर, और जहाँ आप ले जाना चाहते हैं इसे, वहाँ जा सकता है, और जहाँ से आप हटाना चाहते है, वहाँ से हट सकता है। कभी आपने इसका अभ्यास नही किया। इसलिए आप के ख्याल मे नही है।

आपका शरीर जहाँ चाहता है, आपकी चेतना वहाँ चली जाती है। आप जहाँ चाहते है, वहाँ नही जाती। क्योकि आपने उसका कभी कोई अभ्यास नही किया। भूख लगती है, तो चेतना तत्काल पेट मे चली जाती है। वह आप से आज्ञा नही लेती कि पेट की तरफ जाऊँ या नही। वह चली जाती है, आप कुछ कर नही पाते। क्योंकि आपने कभी यह सोचा ही नही अब तक कि चेतना का प्रवाह, मेरी 'इन्टेन्शन,' मेरी अभीप्सा पर निर्भर है। इसका कभी कोई प्रयोग करें।

रात बिस्तर पर पड़े हैं, सारी चेतना को पैर के अगूठे पर ले जाएँ। सब भूल जाएँ, सिर्फ अगूठा रह जाए। ले जाएँ भीतर···भीतर···भीतर···जैसे

आपकी आत्मा अगूठे मे ठहर गई। बहुत लाभ होगा इससे और नीद भी तत्काल आ जाएगी। क्योकि मस्तिष्क से अंगूठा बहुत दूर है। जब सारी चेतना वहाँ पहुँच जाएगी, तो मस्तिष्क खाली हो जाएगा। आप एकदम गहरी नींद मे गिर जाएँ।

चेतना को थोडा हटाना सीखें। आँखे बन्द कर लें। कही भी एक बिन्दु पर चेतना को थिर करने की कोशिश करें। तो जिस बिन्दु पर आप चेतना को ले जाएँगे, वही प्रकाश पैदा हो जाएगा।

आँख बन्द कर ले और सोचे कि सारी चेतना हृदय पर आ गई है। 'इन्टेन्शनली,' अभिप्राय से सारी चेतना को हृदय पर ले आएँ, तो आप अचानक पाएँगे कि हृदय के पास धीमा सा प्रकाश होना शुरू हो गया है।

चेतना को बदलने के ये प्रयोग करते रहे। कभी भी कर सकते है, इसमे कोई अडचन नही है। कुर्सी पर खाली बैठे हैं, ट्रेन मे, बस मे, कार मे—कहीं भी कर सकते हैं। कही कोई अलग समय निकालने की जरूरत नही है। धीरे-धीरे आपको लगेगा कि आपकी मास्टरी हो गई। मास्टरी वैसे ही, जैसे कोई कार की 'ड्राइविंग' का मास्टर होता है। ऐसे ही चेतना की 'ड्राइविंग' भी सीखनी पडती है।

एक आदमी साइकिल चलाना सीखता है। आप भी साइकिल चलाना जानते हैं। लेकिन अब कोई बता नही सका कि साइकिल कैसे चलाई जाती है! चलाकर बता सकते हैं आप, लेकिन कैसे चलाई जाती है? क्या है ट्रिक? क्या है सीक्रेट? यह अभी तक कोई बता नही सका।

सीक्रेट सूक्ष्म है, अभ्यास से आ जाता है, लेकिन ख्याल मे नही है। साइकिल चलाना एक बडी दुर्लभ घटना है। क्योकि पूरे समय 'ग्रेविटेशन' आपको गिराने की कोशिश कर रहा है। जमीन आपको पटकने की कोशिश कर रही है। दो चक्को पर सीधे आप खड़े हैं, लेकिन प्रतिपल गति आप इतनी रख रहे हैं कि इसके पहले कि आपको इस जमीन का 'ग्रेविटेशन' गिराए, आप आगे हट जाते हैं। इसके पहले कि वहाँ का गुरुत्वाकर्षण आपको पटके, आप आगे हट जाते हैं। गति और गुरुत्वाकर्षण के बीच में आप एक सन्तुलन बनाए हुए हैं। इसके पहले कि बाएँ तरफ का गुरुत्वाकर्षण आपको गिराए, आप दाएँ झुक गए। इसके पहले कि दाएँ गिरें, बाएँ झुक गए। एक गहन सतुलन साइकिल पर चल रहा है।

पहली दफे आप साइकिल क्यो नही चला पाते ? बिठा दिया आपको और धक्का दे दिया, चला लें ! क्योंकि दुबारा भी कुछ ज्यादा नहीं करेंगे, आप अभी से ही कर सकते हैं—यही । अभी भय है । और पता नही कि क्या होगा ! उस भय के कारण आप गिर जाते हैं। दो चार दफा गिरकर, दो चार दफा धक्के खा कर अकल आ जाती है । आप साइकिल चलाने लगते हैं ।

चेतना एक भीतरी नियन्त्रण है, एक सन्तुलन है । अपने शरीर में चेतना को गतिमान करना सीखें । तीन महीने के निरन्तर अभ्यास से आप समर्थ हो जाएँगे कि जहाँ चाहे चेतना को ले जाएँ । फिर अगर आपके बाएँ हाथ में दर्द हो रहा है, तो आप चेतना को दाएँ हाथ मे ले जाएँ, दर्द विलीन हो जाएगा । आपके पैर मे काँटा गड़ गया है, आप चेतना को पैर से हटा लें, तो भीतर काँटा विलीन हो जाएगा ।

जिस दिन आपको यह समझ आ जाए, उसी दिन अनशन उपवास बन सकता है, उसके पहले नही । उसके पहले भूखे मरते रहे, उससे कुछ होनेवाला नही है। खुद को सताने मे भले ही कुछ मजा आए। या कोई जुलूस-यात्रा वगैरह आपकी निकाल दें, तो बात अलग ।

नासमझ मिल जाते हैं, शोभा-यात्रा निकालने वाले । उसका कारण है कि ये सब म्युचुअल मामले हैं। कल जब वे नासमझी करेंगे, तब आप उनकी यात्रा मे सम्मिलित हो जाना । आदमी इसलिए यात्राओ मे सम्मिलित हो जाता है ताकि कल जब उसकी शोभा-यात्रा निकलेगी तब दूसरे सम्मिलित हों ।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन अपनी पत्नी से कह रहा था कि नही, आज मैं जाऊँगा ही नही । मुल्ला नसरुद्दीन के मित्र की पत्नी मर गई है, तो नसरुद्दीन कहता है कि आज मैं नही जाऊँगा, तो उसकी पत्नी कहती है—क्या आप पागल हो गये हैं ! जाना ही पड़ेगा ।

नसरुद्दीन ने कहा कि तीन दफे मौका दे चुका है मुझे, तीन पत्नियाँ मर चुकी है उसकी । मैंने उसे अब तक एक भी अवसर नही दिया है । ऐसे बड़ी हीनता मालूम पडती है । हमने अब तक कोई मौका ही नही दिया और वह है कि दिये चला जा रहा है ।

पारस्परिक म्युचुअल है सब लेन-देन का हिसाब है । यहाँ सब लेन-देन का हिसाब है । यहाँ सारा खेल लेन-देन पर टिका हुआ है ।

तो नासमझ आपको मिल जाएँगे आपके जुलूस में जाने को । क्योंकि वह भी आशा लगाए बैठे हैं कि कभी न कभी आप भी उनके जुलूस में जाएँगे ।

शायद इस प्रकार कुछ रस आ जाए, तो बात अलग, लेकिन आपका अनशन ही रहेगा, उपवास नही बन सकता। उपवास तो एक भीतरी विज्ञान है। इस विज्ञान का पहला सूत्र है—चेतना को शरीर के अन्य अगो मे प्रवाहित करने की क्षमता—सचेतन, स्वेच्छा से। जब यह क्षमता आ जाती है तो फिर चेतना को शरीर के बाहर ले जाने की दूसरी प्रक्रिया है। जब शरीर के बाहर चेतना जाने लगती है, तभी भूख-प्यास, दुख-पीडा का कोई पता नही चलता।

महावीर कहते हैं—'हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से जो जीव रिक्त रहता है, वह निराश्रव अर्थात् निर्दोष हो जाता है।'

निराश्रव महावीर का अपना शब्द है और बडा कीमती है। आश्रव महावीर कहते हैं उन द्वारो को जिनसे हमारे भीतर बाहर से चीजें आती हैं। आश्रव अर्थात् आना, निराश्रव अर्थात् बाहर से हमारे भीतर कुछ भी नही आता। अब हम अपने मे आप्त-काम हैं, अब हम अपने मे पूरे हैं। अब कोई माँग न रही बाहर। अब सारा ससार इस क्षण बिल्कुल खो जाये, तो ऐसा ही लगेगा, जैसे एक स्वप्न समाप्त हुआ। इससे कोई अन्तर नही पड़ेगा, इससे कोई भेद नही पडेगा।

निराश्रव का अर्थ है कि बाहर से आने का जो भी यात्रा पथ था, वह समाप्त हो गया। किसी यात्री को हम भीतर नही बुलाते। अब हमारे भीतर कोई भी नही आता—न धन, न प्रेम, न घृणा, न क्रोध—अब कुछ भी भीतर हम नही आने देते। न मित्र, न शत्रु—अब कोई हमारे भीतर प्रवेश नही करता। अब हम अपने मे पूरे हैं लेकिन हम तो आश्रव मे ही जीते हैं! पूरे वक्त बाहर से हमे कुछ चाहिये!

एक आदमी आ जाता है और आपसे कहता है कि बडे सुन्दर हैं आप, तो आपका चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। फूल खिल जाते हैं, पक्षी उडने लगते हैं भीतर। लोगों की आँखों मे आप खोजते रहते हैं कि लोग आपको सुन्दर कह रहे हैं कि नहीं। अगर कोई आपकी तरफ ध्यान नही देता है, तो आपका चित्त बडा उदास हो जाता है।

मैं एक 'यूनिवर्सिटी' में था। वहाँ कुछ लडकियाँ आकर मुझे शिकायत करती थीं कि किसी ने कंकड मार दिया! किसी ने धक्का मार दिया! मैंने उनसे कहा कि मारने भी दो! अगर कोई धक्का न मारे, कोई कंकड न मारे, तो भी मुसीबत! तो भी चित्त उदास होता है।

जिस लड़की को कोई भी कंकड़ नही मारता 'यूनिवर्सिटी' मे उसके कष्ट का आपको पता है ? वह कष्ट, जिसको कंकड़ मारे जाते हैं, उससे बहुत ज्यादा है । सच तो यह है कि जिस लड़की ने आकर मुझसे शिकायत की है कि मुझे फलाँ लड़के ने कंकड़ मारा, कि उस प्रोफेसर तक ने मुझे धक्का दे दिया, वह असल मे, इसको कहने मे रस भी ले रही है ! उस रस का उसे पता नही है, भीतर उसे मजा भी आ रहा है ।

इसलिए जब कोई आकर बताता है कि रास्ते मे भीड का बडा धक्का पडा, तो उसकी आँखो मे चमक देखें । अगर भीड़ धक्का न मारती, कोई देखता ही नही कि आप थे भी, कि आप थी भी तो, तो उदासी चित्त को पकड लेती है । कोई ध्यान नही दे रहा ।

हम पूरे समय बाहर से जी रहे है कि बाहर कौन क्या कर रहा है—यह हमारा 'आश्रव' चित्त है । सिर्फ बाहर के सहारे ही हमारा अस्तित्व है । सब सहारे खीच लो, तो हम ऐसे गिर पडेगे, जैसे कि खेत मे खडा हुआ झूठा पुतला गिर जाये ।

नास्तिक यही कहता है कि तुम्हारे भीतर कुछ है नही, जो बाहर से आया है, वही है । तुम भीतर कुछ भी नही हो, सिर्फ बाहर के जोड हो ।

चार्वाक ने यही कहा है । यही उसका निवेदन है कि तुम बाहर के ही जोड हो । तुम्हारे शरीर में जो खून दौड रहा है, वह बाहर से आया है । तुम्हारा जो जीव-कोष है, सेल है, वह बाहर से आया है । तुम्हारी हड्डी, मास-मज्जा, सब बाहर से आई है । तुम जो भी हो, सब बाहर से आया हुआ है । भीतर तो तुम कुछ भी नही हो । भीतर होने जैसी कोई बात ही नही है, 'धेर इज नो इनरनेस ।' सब कुछ बाहर से आया हुआ है । भीतर झूठा शब्द है ।

इसलिए चार्वाक कहता है बाहर से सब चीजे अलग कर लो, तो भीतर कुछ नही बचता । हालत वैसी ही हो जाती है, जैसे प्याज के छिलके निकालते जाओ, तो आखिर मे कुछ हाथ नही आता ।

प्याज हाथ मे नहीं आता । प्याज छिलको का जोडा था ।

चार्वाक कहता है, तुम भी सिर्फ एक जोडा हो । बाहर का सब हटा लें और तुम खो जाओगे ।

तुम्हारी आत्मा वगैरह कुछ भी नही, सिर्फ एक जोड है, 'एक कम्पाउण्ड' है ।

महावीर इसके विपरीत हैं, वे कहते है कि तुम भीतर भी कुछ हो । तुम्हारा भीतरी होना भी तत्व है ।

लेकिन इस भीतरी तत्व को तुम जानोगे कैसे ?

तुम तभी जान पाओगे, जब तुम बाहर से सब लेना बद कर दो। शरीर तो बाहर से लेगा ही।

इसलिए महावीर कहते है, शरीर का कोई भीतरीपन नही है। शरीर का सब कुछ बाहरी है। मन भी बाहर से ही लेता है।

महावीर कहते हैं, शरीर से ऊपर उठो। चेतना को शरीर से पूरा हटा लो। मन को जो बाहर से मिलता है—विचार, क्रोध, लोभ, मोह। जो-जो बाहर से मन को प्रभावित करता है, आदोलित करता है, वहाँ से भी चेतना को हटा लो। हटाते जाओ चेतना को उस समय तक, जब तक कि तुम्हे कुछ भी दिखाई पडे कि यह बाहर का है।

इसको महावीर ने भेद-विज्ञान कहा है—'द साइन्स ऑफ डिस्क्रिमिनेशन।' तुम अपने को उससे तोडते चले जाओ, जो भी पराया मालूम पड़ता है, बाहर से आया मालूम पडता है। एक दिन ऐसा आयेगा कि बाहर से आया हुआ कुछ भी न बचेगा, तुम 'अनाश्रव' हो जाओगे, तुम्हारे भीतर कुछ भी बाहर से आया हुआ न होगा। उसी दिन अगर तुम बचते हो, तो समझना कि आत्मा है। अगर उम दिन नही बचे तो समझना आत्मा नही है।

आदमी के भीतर अगर आत्मा है, तो उसे जानने का एक ही उपाय है कि बाहर से जो भी मिला है, उसका त्याग कर दिया जाये। जिस दिन मैं ही भीतर रह जाऊँ और मैं कह सकूँ कि यह मेरी माँ से नही आया है, मेरे पिता से नहीं आया, समाज से नही आया, शिक्षा से नही आया—यह किसी ने मुझे नही दिया, यह मेरा भीतरीपन है, यह मेरा अन्तस् है, उसी दिन समझना कि मैंने आत्मा पा ली।

अनाश्रव मार्ग है—हटा देने का उसे, जो बाहर से आया है।

हम जोड हैं, बाहर के और भीतर के। चार्वाक या नास्तिक कहते हैं कि हम सिर्फ बाहर के जोड़ हैं।

महावीर कहते हैं, हम बाहर और भीतर दोनो के जोड है।

जो बाहर से आया हुआ है, उसके सग्रह का नाम शरीर है और जो बाहर से नही आया हुआ है, उसका नाम आत्मा है। लेकिन उस आत्मा को खोजना पड़ेगा, क्योकि हम बाहर मे ही जी रहे हैं। हमे उसका कोई पता नही है।

हम कहते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं कि आत्मा है, पर यह शब्द कोरा आकाश मे खो जाता है, धुएँ की तरह, इसका कोई बहुत अर्थ नही है। इसका अर्थ तो

केवल बस उसी को हो सकता है, जिसने अपने भीतर-बाहर का सब छोड़ दिया चेतना से; हटा ली चेतना सब तरफ से और उस बिन्दु पर पहुँच के खड़ा हो गया कि कह सके कि यह बाहर से आया हुआ नही है।

बुद्ध घर लौटे बारह वर्ष के बाद, तो पिता ने कहा कि माफ कर सकता हूँ तुम्हे; अभी भी लौट आओ।

बुद्ध ने कहा कि आप थोड़ा मुझे गौर से देखे ! मैं वही नही हूँ, जो आपके घर से गया था। जो आपके घर से गया था, वह केवल काया थी, बाहर का था। अब मैं उसे जानकर लौटा हूँ, जो भीतर का है, जो काया नहीं है। अब मैं और ही हूँ।

लेकिन पिता क्रोध मे थे, जैसे कि अक्सर पिता होते हैं।

पिता, और पुत्र पर क्रोध मे न हो, यह जरा असम्भावना है !

असम्भावना इसलिए है कि पिता की आकाक्षायें पुत्र पर टिकी रहती हैं और दुनिया मे कौन किसकी आकांक्षा पूरी कर सकता है।

अपनी ही आकाक्षा कोई पूरी नही कर पाता, दूसरे की कोई कैसे करेगा !

और पिता की सब आकांक्षाएँ पुत्र पर टिकी रहती हैं, वह पूरी नही होती।

सभी पिता क्रोध मे होते हैं। पिता होने का मतलब ही क्रोध मे होना है।

और जो भी पुत्र हुआ उसे कुपुत्र होने की तैयारी रखनी ही चाहिये, कोई उपाय नही है। बुद्ध जैसा पुत्र भी पिता को कुपुत्र लगता है।

बुद्ध के पिता ने कहा कि हमारे घर मे कभी कोई भीक्षा-पात्र लेकर नही घूमा है। छोडो ये भिक्षा-पात्र, तुम सम्राट के बेटे हो। यह सारा राज्य तुम्हारा है। मत करो नष्ट मेरे वश को। यह क्या लगा रखा है, हटाओ यह सब !

बुद्ध ने कहा आप मुझे पहचान नही पा रहे हैं। आप जरा क्रोध को कम करें, आँख को धुएँ से मुक्त करें, देखें तो कौन सामने खड़ा है। स्वभावत पिता और नाराज हो गये होगे।

पिता ने कहा, क्या मैं तुम्हे नहीं पहचानता ? मेरी हड्डी, मांस-मज्जा तू है। मेरा खून तेरी नसो मे बह रहा है और मैं तुझे नही पहचानता ?

बुद्ध ने कहा कि जो हड्डी, मांस-मज्जा है, अगर मैं वही हूँ, तो आप मुझे भली-भाँति पहचानते हैं, लेकिन अब मैं जान कर लौटा हूँ कि वह मैं वह नहीं हूँ। और मैं आपसे कहता हूँ कि मैं आपके द्वारा पैदा जरूर हुआ हूँ, लेकिन आप से पैदा नहीं हुआ। आप एक रास्ते से ज्यादा नही थे, जिस पर से मैं गुजरा हूँ।

जो भी बाहर दिखाई पडता है, वह आपका है। लेकिन मेरे भीतर वह भी है, जो आपको दिखाई नही पड़ता और मुझे दिखाई पडता है, वह आपका नहीं है।

इस बिन्दु का नाम ही आत्मा है।

लेकिन अनाश्रव हुए बिना इसका कोई अनुभव नही है।

इसलिए महावीर कहते हैं : जो अनाश्रव हो जाता है, वह निर्दोष हो जाता है।

सब दोष बाहर से आए हुए हैं। और निर्दोषता भीतरी घटना है।

सब दोष शरीर के सग के कारण हैं।

महावीर यह निरन्तर कहते हैं कि अगर हम नील-मणि को पानी मे डाल दे, तो सारा पानी नीला हो जाता है। नीला होता नही सिर्फ दिखाई पड़ने लगता है। मणि को बाहर कर लें, तो पानी का रग खो जाता है। मणि को भीतर डाल दें, तो पानी फिर नीला हो जाता है, सग दोष के कारण।

महावीर कहते हैं, सिर्फ सग दोष के कारण पानी नीला दिखाई पड़ने लगता है।

आत्मा पर वस्तुत कोई दोष लगते नही। आत्मा कभी दोषी होती नही, आत्मा का होना निर्दोष है। वह 'इनोसेन्ट' है ही, लेकिन शरीर के सग-साथ के कारण शरीर का रग उस पर पड़ जाता है। शरीर की वजह से रंग उसको घेर लेते हैं। शरीर की वजह से लगता है कि मेरी सीमा है, शरीर की वजह से लगता है कि बीमार हुआ। शरीर की वजह से लगता है कि भूख लगी। शरीर की वजह से लगता है कि सिर मे दर्द हो रहा है। शरीर की वजह से सब कुछ पकड लेता है।

आत्मा जैसे-जैसे शरीर को अपने से अलग जानती है, वैसे-वैसे निर्दोषिता का अनुभव करने लगती है। सब सग-दोष है, न शरीर दोषी है, न आत्मा दोषी है। दोनो के सग-साथ मे एक दूसरे पर छाया पड़ती है और संग-दोष हो जाता है।

आज इतना ही।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
११ सितम्बर, १९७२

आठवाँ प्रवचन

विनय-सूत्र

●

आणा - निद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए ।
इंगिया-ऽऽगारसपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥
अह पन्नरसहि ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥
अप्पं च अहिक्खिवई, पबन्धं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयई, सुयं लद्धं न मज्जई ॥
नय पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।
अपियस्साऽवि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥
कलहडमरवज्जिए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥

जो मनुष्य गुरु की आज्ञा पालता हो, उनके पास रहता हो, गुरु के इंगितों को ठीक-ठीक समझता हो तथा कार्य-विशेष में गुरु की शारीरिक अथवा मौखिक मुद्राओं को ठीक-ठीक समझ लेता हो, वह मनुष्य विनय-सम्पन्न कहलाता है ।

निम्नलिखित पन्द्रह लक्षणों से मनुष्य सुविनीत कहलाता है : उद्धत न हो, नम्र हो; चपल न हो, स्थिर हो; मायावी न हो, सरल हो; कुतूहली न हो, गम्भीर हो; किसी का तिरस्कार न करता हो; क्रोध को अधिक देर टिकने देता न हो; मित्रों के प्रति पूरा सद्भाव रखता हो; शास्त्रों से ज्ञान पाकर गर्व न करता हो; किसी के दोषों का भण्डा-फोड़ न करता हो; मित्रों पर क्रोधित न होता हो; अप्रिय मित्र की भी पीठ-पीछे भलाई ही गाता हो; किसी प्रकार का झगड़ा-फसाद न करता हो; बुद्धिमान हो; अभिजात अर्थात् कुलीन हो; आँख की शर्म रखने वाला एवं स्थिरवृत्ति हो ।

●

पहले एक प्रश्न।

एक मित्र ने पूछा है, 'कल के सूत्र में कहे गये श्रेयार्थी का क्या अर्थ है? क्या श्रेयार्थी और साधक एक ही हैं?'

श्रेयार्थी शब्द बहुत अर्थपूर्ण है। इस देश ने दो तरह के लोग माने हैं; एक को कहा है . प्रेयार्थी—जो प्रिय की तलाश मे है और दूसरे को कहा है · श्रेयार्थी—जो श्रेय की तलाश मे है।

दो ही तरह के लोग हैं जगत् मे। एक वे, जो प्रिय की खोज करते हैं। जो प्रीतिकर है, वही उनके जीवन का लक्ष्य है। लेकिन अनन्त-अनन्त काल तक प्रीतिकर की खोज की जाए, तो भी प्रीतिकर मिलता नही; या जब मिल जाता है, तो अप्रीतिकर सिद्ध होता है। जब तक नही मिलता, तब तक प्रीतिकर की सभावना बनी रहती है और मिलते ही जो प्रीतिकर मालूम होता था, वह विलीन हो जाता है, तिरोहित हो जाता है। प्रीतिकर की ओर चलते हैं तो आशा बनी रहती है और पा लेते हैं, तो आशा खण्डित हो जाती है; 'डिसइल्यूजनमेन्ट' के अतिरिक्त, सब भ्रमों के टूट जाने के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं लगता।

प्रेयार्थी इन्द्रियों की मान कर चलता है; जो इन्द्रियों को प्रीतिकर है उसे खोजने निकल पड़ता है।

श्रेयार्थी की खोज बिलकुल अलग है। वह यह नहीं कहता कि 'जो प्रीतिकर है उसे खोजूंगा।' वह कहता है, 'जो श्रेयस्कर है, जो ठीक है, जो सत्य है, जो शिव है उसे खोजूंगा; चाहे वह अप्रीतिकर ही क्यों न आज मालूम पड़े।'

यह बड़े मजे की बात है और जीवन की गहनतम पहेलियों में से एक कि जो प्रीतिकर को खोजने निकलता है, वह अप्रीतिकर को उपलब्ध होता है। जो सुख को खोजने निकलता है, वह दुख में उतर जाता है। जो स्वर्ग की आकांक्षा

रखता है, वह नर्क का द्वार खोल देता है। यह हमारा निरन्तर सभी का अनुभव है, दूसरी घटना ही अनिवार्यरूपेण घटती है।

श्रेयार्थी हम उसे कहते हैं, जो प्रीतिकर को खोजने नही निकलता, जो यह सोचता ही नही कि प्रीतिकर है या अप्रीतिकर है, सुखद है या दुखद है; वह उसे खोजने निकलता है, जो सत्य है।

श्रेयार्थी की खोज पहले अप्रीतिकर होती है, श्रेयार्थी के पहले कदम दुख मे पडते हैं, उन्ही का नाम तप है।

तप का अर्थ है—श्रेय की खोज मे जो प्रथम ही दुख का मिलन होता है। होगा ही। क्योकि इन्द्रियाँ इनकार करेगी। इन्द्रियाँ कहेगी कि यह प्रीतिकर नही है, छोडो इसे। अगर फिर भी आपने श्रेयस्कर को पकडना चाहा, तो इन्द्रियाँ दुख उत्पन्न करेगी। वे कहेगी कि 'यह दुखद है, छोडो इसे, सुखद कहीं और है।'

इन्द्रियो के द्वारा खडा किया गया उत्पात ही तप बन जाता है।

तप का अर्थ है कि इन्द्रियाँ अपने मार्ग से नही हटना चाहती और अगर आप किसी नये मार्ग को खोजते है, जो इन्द्रियो के लिए प्रीतिकर नही है, तो इन्द्रियाँ बगावत करेंगी। वह बगावत दुख है। इसलिए श्रेय की खोज मे पहले दुख मिलेगा, लेकिन जैसे-जैसे खोज बढती है, दुख क्षीण होता चला जाता है।

दुख क्षीण होता है, इसका अर्थ है कि इन्द्रियाँ धीरे-धीरे···धीरे-धीरे नये मार्ग पर चेतना का अनुगमन करने लगती हैं और जिस दिन इन्द्रियाँ चेतना का पूरा अनुगमन करने लगती है, उसी दिन सुख का अनुभव होता है।

श्रेयार्थी की खोज मे पहले दुख है और पीछे आनन्द है; प्रेयार्थी की खोज मे पहले सुख का आभास है और पीछे दुख है। इन्द्रियो की मान कर जो चलता है वह पहले सुख पाता हुआ मालूम पडता है, पीछे दुख मे उतर जाता है; इन्द्रियो की मालकियत करके जो चलता है उसे पहले दुख मालूम पड़ता है, पीछे दुख आनन्द मे बदल जाता है।

श्रेयार्थी का अर्थ है जिसने जीवन के इस रहस्य को समझ लिया कि जो खोजो वह नही मिलता, जिसे खोजने निकलो वह हाथ से खो जाता है, जिसे पकडना चाहो वह छूट जाता है, अगर सुख खोजते हो तो सुख नही मिलेगा, इतना निश्चित है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति दुख के लिए राजी हो जाये, और दुख के लिए स्वय को तत्पर कर ले और दुख के प्रति वह जो सहज विरोध है मन का उसे छोड दे, तो सुख मिल जाता है।

ऐसा क्यो होता होगा ? ऐसा होने का कारण क्या होगा ? होना तो यही चाहिये नियमानुसार कि हम जो खोजें, वह मिल जाये; होना तो यही चाहिये कि जो हम न खोजें, वह न मिले।

ऐसा क्यो है ? इसे थोडा हम समझ लें।

इन्द्रियाँ अपना रस रखती हैं। आँख सुख पाती है कुछ देखने मे। अगर रूप दिखाई पडे, तो आँख आनन्दित होती है। लेकिन, अगर वही रूप निरन्तर दिखाई पडने लगे, तो आनन्द क्रमश खोता चला जाता है; क्योकि जो चीज निरन्तर उपलब्ध होती है वह देखने योग्य नही रह जाती। दर्शनीय तो वही है जो कभी-कभी (आकस्मिक, मुश्किल से) दिखाई पड़ता हो।

आप जाते हैं कश्मीर, तो डल झील आपको सुखद मालूम पडती है, लेकिन वह जो आप जी नौका खे रहा है उसे डल झील दिखाई ही नही पडती; और कई बार उसे हैरानी भी होती है कि लोग कैसे पागल हैं जो इतनी दूर-दूर से इम डल झील को देखने आते हैं।

इन्द्रियाँ नवीन आघात मे सुख पाती हैं। आघात, जब सुनिश्चित पुराना पड जाता है, तो उबानेवाला हो जाता है। आज जो भोजन आप ने किया है, वह सुखद है, कल भी वही, परसों भी वही, तो दुखद हो जायेगा।

इन्द्रियों के सभी सुख दुख बन जाते हैं। किसी से आपका प्रेम हो तो लगता है कि चौबीस घण्टे उसके पास बैठे रहे। भूल कर भी मत बैठना, क्योकि चौबीस घण्टे उसके पास बैठे रहे तो, आज नही कल यह उबानेवाला हो जाने वाला है; और आज नही कल ऐसा होगा कि कैसे छुटकारा हो? इन्द्रियाँ जो कहती थी, पास बैठे रहो, वही इन्द्रियाँ कहेगी, 'भाग जाओ, दूर निकल जाओ।'

जो पुराना पड़ जाता है, इन्द्रियो का उसमे रस खो जाता है। पुराने के साथ ऊब पैदा हो जाती है। इसलिए इन्द्रियाँ आज जिसे प्रीतिकर कहती हैं, कल उसी को अप्रीतिकर कहने लगती है।

इन्द्रियो की तलाश मे प्रीति से प्रारम्भ होता है और अप्रीति पर अन्त होता है। यह प्रेयार्थी का स्वभाव हुआ। इससे ठीक विपरीत स्थिति श्रेयार्थी की है। श्रेयार्थी जो परिवर्तनशील है उसकी खोज नही करता, जो नया है उसकी खोज नही करता, श्रेयार्थी तो उसकी खोज कर रहा है जो शाश्वत है, जो सदा है।

प्रेयार्थी नये की खोज कर रहा है—नया 'सेनसेशन'। नई सवेदना, नया सुख। श्रेयार्थी खोज कर रहा है न नये की, न पुराने की; क्योंकि श्रेयार्थी जानता है

कि जो नया है क्षण भर बाद पुराना हो जायेगा। जो भी नया है, वह पुराना होगा ही। जिसको हम आज पुराना कह रहे हैं, कल वह भी नया था। सब नया पुराना हो जाता है। नये मे सुख था, पुराने में दुख हो जाता है। नये के कारण सुख था, तो पुराने के कारण दुख हो जाता है।

श्रेयार्थी उसकी खोज कर रहा है जो सदा है, शाश्वत है, नित्य है, वह नया और पुराना नही है, बस है। इन्द्रियाँ उसकी तलाश मे कोई रस नही लेती। इन्द्रियो को नए का सुख है। इसलिए जब कोई श्रेय की खोज मे निकलता है तो इन्द्रियाँ मार्ग मे बाधा बन जाती हैं। वे कहती है, 'कहाँ व्यर्थ की खोज पर जा रहे हो ! सुख वहाँ नही है, सुख नये मे है।'

श्रेयार्थी इन्द्रियो की इस आवाज पर ध्यान नहीं देता, वह खोज मे लगा रहता है। जो सत्य है उसके प्रारम्भ मे दुख मालूम पडता है। धीरे-धीरे इन्द्रियाँ बगावत छोड देती है। जिस दिन इन्द्रियो की बगावत छूट जाती है, उसी दिन शाश्वत से सम्बन्ध जुडना शुरू हो जाता है। इन्द्रियाँ जिस दिन बीच से हट जाती है, उसी दिन 'जो सदा है' उससे हमारा पहला सम्बन्ध होता है। वह सम्बन्ध, बुद्ध ने कहा है, 'सदा ही सुखदायी है'। महा-सुखदाई है, क्योकि वह कभी पुराना नही पडता, क्योकि वह कभी नया नही था। वह सनातन है।

श्रेयार्थी का अर्थ है . जो सत्य की, शाश्वत की तलाश मे लगा है; साधक ही उसका अर्थ है।

प्रेयार्थी हम सब हैं, और अगर हम कभी श्रेय की खोज मे भी जाते है तो प्रिय के लिए जाते हैं, अगर हम कभी सत्य को खोजते हैं तो इसीलिए कि स्वर्ग मिल जाये। अगर हम कभी ध्यान करने बैठते हैं तो इसीलिए कि सुख मिल जाए। जो व्यक्ति सुख के लिए सत्य की खोज कर रहा है तो वह अभी श्रेयार्थी नही है, वह अभी प्रेयार्थी है, अगर परमात्मा का दर्शन भी कोई इसलिए खोज रहा है कि आँखो को तृप्ति हो जायेगी तो वह श्रेयार्थी नही है, प्रेयार्थी है। और प्रेयार्थी दुख पाएगा, परमात्मा भी मिल जाए तो भी दुख पाएगा; मोक्ष भी मिल जाए तो भी दुख पाएगा, क्या मिलता है, इससे सम्बन्ध नही है।

प्रेयार्थी का जो ढग है जीवन को देखने का वह दुख मे उतारने वाला है; श्रेयार्थी का जो ढग है जीवन को देखने का वह आनन्द मे उतारने वाला है। सुख को खोजेंगे, दुख पाएँगे। सुख को खोजनेवाला मन ही दुख का निर्माता है। जितनी करेंगे अपेक्षा, उतनी ही पीड़ा मे उतर जाएगे।

क्योंकि अपेक्षा ही पीडा का मार्ग है इसलिए नहीं करेंगे अपेक्षा, नही बाधेंगे आशा; उसकी ही तलाश करेंगे, 'जो हैं'।

यह तलाश कठोर, 'आर्डुअस', दुर्गम है, क्योकि हम वह नही जानना चाहते जो है। हम वह जानना चाहते हैं, जो हमारी इन्द्रियाँ कहती हैं, 'होना चाहिए'। इसलिए हम सत्य के ऊपर इन्द्रियो का एक मोह आवरण डाले रहते हैं। हम यह नही जानना चाहते, क्या है? हम जानना चाहते हैं वही, जो होना चाहिए।

अगर मैं किसी व्यक्ति को देखता हूँ, तो मैं उसको नही देखता, जो कि वह है। मैं वही देखता हूँ, जो कि वह होना चाहिए। इसी से झंझट खडी होती है। आप मुझे मिलते हैं, आपको मैं नही देखता। मैं आपमें उस सौन्दर्य को देख लेता हूँ, जो मेरी इन्द्रियाँ चाहती हैं कि हो, वह सत्य नही है। आपकी आँखों मे वह काव्य देख लेता हूँ, जो वहाँ नही है, लेकिन मेरी मनोवासना देखना चाहती है, कि हो।

कल वह काव्य तिरोहित हो जायेगा, परिचय से टूट जायेगा, जानकारी से, पहचान से, आँखें साधारण आँखें हो जायेगी और तब मैं पछताऊँगा कि धोखा हो गया। लेकिन किसी ने मुझे धोखा दिया नही, धोखा मैंने खाया है। मैंने वह देखना ही नही चाहा, जो था, मैंने वह देख लिया जो होना चाहिए।

मैंने अपना सपना आप मे देख लिया। अब यह सपना टूटेगा। सपने टूटने के लिए ही होते हैं। और जब वास्तविकता उघड कर सामने आएगी, तो लगेगा कि मैं किसी धोखे मे डाल दिया गया। और तब हमारी इन्द्रियाँ कहती हैं कि धोखा दूसरे ने दिया। जहाँ काव्य नही था, वहाँ काव्य दिखलाया, जहाँ सौन्दर्य नही था वहाँ सौन्दर्य दिखलाया।

दूसरा आपको धोखा नही दे रहा है। इस जगत् मे सब धोखे अपने हैं। हम धोखा खाना चाहते हैं। हम धोखा निर्मित करते हैं। हम दूसरे के ऊपर धोखे को खड़ा करके, धोखा खा लेते हैं। फिर धोखे टूट जाते हैं, और तब दुख है।

श्रेयार्थी का अर्थ है। जो है, वही मैं जानूंगा। कुछ भी मैं जोड़ूंगा नही। वह जो है, 'धेट व्हिच इज,' उसको उघाड लूंगा, उसको खोल लूंगा, उसको नग्न देख लूंगा—जैसा है; उसमें जरा भी अपनी वासना, अपनी कामना, अपनी

आकाक्षा नही जोड़ूँगा। कोई सपना नही डालूँगा। सत्य को वैसे देख लूँगा, जैसा है। फिर कोई दुख होने वाला नही है। क्योकि सत्य सदा वैसा ही रहेगा। सपने बदल जाते हैं, सत्य सदा वैसा ही रहता है।

किसी मे आप मित्र देखते हैं, किसी मे शत्रु देखते हैं। वे सब आपके सपने हैं। किसी मे सौन्दर्य, किसी मे कुरूपता, वे सब आपके सपने हैं। जो है, उसे जो देखने लगता है, उसके लिए इस जगत् मे फिर कोई दुख नहीं है, क्योंकि, जो है, वह कभी भी बदलता नही।

अब हम सूत्र को ले।

इस सूत्र मे उतरने के पहले कुछ बुनियादी बाते समझ लेनी जरूरी हैं।

पहली बात : गुरु की धारणा मौलिक रूप से भारतीय है। दुनिया मे शिक्षक हुए हैं, गुरु नही। शिक्षक साधारण सी बात है, गुरु बडी असाधारण घटना है। शिक्षक और गुरु का शाब्दिक अर्थ एक है, लेकिन अनुभूति का अर्थ बिलकुल भिन्न है। शिक्षक से हम वह सीखते हैं, जो वह जानता है, गुरु से हम वह सीखते हैं, जो वह है। शिक्षक से हम जानकारी लेते हैं, गुरु से जीवन। शिक्षक से हमारा सम्बन्ध बौद्धिक है, गुरु से आत्मगत। शिक्षक से हमारा सम्बन्ध आशिक है, गुरु से पूर्ण।

गुरु की धारणा मौलिक रूप से पूर्वीय है; पूर्वीय ही नही, भारतीय है। गुरु जैसा शब्द दुनिया की किसी भाषा नही है, शिक्षक, 'टीचर', अध्यापक 'मास्टर' आदि शब्द हैं, लेकिन गुरु जैसा कोई भी शब्द नही है। गुरु के साथ हमारे अभिप्राय भी भिन्न हैं।

दूसरी बात : शिक्षक से हमारा सम्बन्ध व्यवसायिक है, गुरु से हमारा सम्बन्ध व्यवसायिक नही है।

आप किसी शिक्षक के पास कुछ सीखने जाते है···ठीक है, लेद-देन की बात है, आप उससे कुछ सीख लेते हैं, कुछ उसे भेंट कर देते हैं, बात समाप्त हो जाती है—यह व्यवसाय है।

एक शिक्षक से आप कुछ सीखते हैं, सीखने के बदले मे उसे कुछ दे देते हैं, बात समाप्त हो जाती है। गुरु से जो हम सीखते हैं, उसके बदले मे कुछ भी नही दिया जा सकता। कोई उपाय देने का नहीं है, क्योकि जो गुरु देता है, उसका कोई मूल्य नही है। जो गुरु देता है उसे चुकाने का कोई उपाय नही है, उसे वापस करने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि शिक्षक देता है : सूचनाएँ, जानकारियाँ, 'इनफार्मेशन' और गुरु देता है : अनुभव।

शिक्षक जो जानकारी देता है, जरूरी नही कि वह जानकारी उसका अनुभव हो—आवश्यक नहीं। जो शिक्षक आपको नीति-शास्त्र पढ़ाता है और बताता है कि 'शुभ क्या है, अशुभ क्या है ? नीति क्या है, अनीति क्या है ?' जरूरी नही कि वह शुभ का आचरण करता हो। वह सिर्फ शिक्षक है, वह सिर्फ सूचन करता है। गुरु जो कहता है, वह सूचन नही है, वह उसके जीवन का आविर्भाव है।

हम बुद्ध को, महावीर को, कृष्ण को गुरु कहते हैं। गुरु का अर्थ यह है कि वे जो कह रहे हैं, वह उन्होंने जाना ही नही, जिया भी है। जानने वाले तो बहुत गुरु हैं। वह गाँव-गाँव मे हैं। 'यूनिवर्सिटीज' उनसे भरी हुई हैं। वे शिक्षक हैं, गुरु नही। जो कुछ जाना गया है, वह उन्होंने सग्रहित किया है; उसे वह आपको दे रहे है। वे केवल माध्यम हैं। उनके पास अपना कोई उत्स, अपना कोई स्रोत नही है। वे उधार हैं। वे जो भी दे रहे हैं, उन्होने कही से पाया है। उन्हे किसी और ने दिया है।

शिक्षक बीच के सेतु हैं, जिनसे जानकारियाँ यात्राएँ करती हैं। एक पीढी मरती है, तो जो भी वह पीढी जानती है, दूसरी पीढ़ी को दे जाती है। इस देने के क्रम मे शिक्षक बीच का काम करता है, बीच की कडी का काम करता है। अगर बीच मे शिक्षक न हो तो पुरानी पीढ़ी नई पीढी को सिखा नही सकती कि उसने क्या जाना। पुरानी पीढ़ी ने जो भी अनुभव किया है, जो भी जाना है, जो भी उघाडा है, जो भी ज्ञान अर्जित किया है, शिक्षक उसे नई पीढी को सौंपने का काम करता है।

गुरु, जो पुरानी पीढी ने जाना है, उसको सौपने का काम नही करता। जो स्वय उसने अनुभव किया है, और यह जो स्वयं अनुभव किया है, इसे सूचना की तरह सौंपने का कोई भी उपाय नही है। इसे तो जीवन के रूपान्तरण के माध्यम से ही दिया जा सकता है।

एक शिक्षक के पास से हम ज्ञानी होकर लौटते हैं, ज्यादा जानकर लौटते है, 'लरनेड' होकर लौटते हैं; एक गुरु के पास से हम रूपान्तरित होकर लौटते हैं, पुराना आदमी मर जाता है, नये का जन्म होता है। गुरु के पास जब हम जाते हैं, तो हम वही नही लौट सकते हैं···अगर गुरु के पास गये हों ! गुरु के पास जाना कठिन मामला है। लेकिन, अगर हम गुरु के पास गये हो, तो जो जाता है, वह फिर कभी वापस नहीं लौटता। दूसरा वापस लौटता है।

शिक्षक के पास जब हम जाते हैं (और जाना बहुत आसान है।) तो हम वही लौटते हैं, जो हम गये थे, बल्कि थोड़े से और समृद्ध होकर लौटते हैं; थोड़ा सा और जानकर लौटते हैं। हम जो थे, उसी मे शिक्षक जोड़ देता है। हम जो थे उसी मे थोडा रगरूप लगा देता है, वस्त्र ओढ़ा देता है। हम जो थे, और शिक्षक के द्वारा जो हम निर्मित होते है—इन दोनों के बीच में कोई 'डिस्कन्टीन्यूटी', कोई 'गैप', कोई खाली जगह नही होती है।

गुरु के पास जब हम जाते हैं, तो हम जो गये थे वह और आदमी था। और जो हम लौटते है वह और आदमी होता है। गुरु हममे जोड़ता नहीं, हमे मिटाता है और नया निर्मित करता है। गुरु हमको ही सँवारता नही, हमें मिटाता है और नया जीवन देता है। गुरु के पास जाने के बाद, हमारे अतीत मे और हमारे भविष्य मे एक 'गैप', एक अन्तराल हो जाता है। लौटकर आप देखेंगे, तो अपनी ही कथा ऐसी लगेगी कि किसी और की कहानी है—अगर गुरु के पास गये हों। अगर शिक्षक के पास गये तो अपनी कथा अपनी ही कथा है: बीच मे कोई खाली जगह नही हैं, जहाँ चीजे टूट गई हों, जहाँ आपका पुराना रूप बिखर गया हो और नये का जन्म हुआ हो।

इसलिए हमने इस मुल्क मे एक शब्द खोजा था, वह था द्विज। द्विज का अर्थ है 'ट्वाइस बॉर्न', दोबारा जन्मा हुआ। दोबारा जन्मा हुआ आदमी वही है जिसे गुरु मिल गया, नही तो दोबारा जन्मा हुआ आदमी नही है।

एक बार मां-बाप जन्म देते हैं, वह शरीर का जन्म है। एक जन्म गुरु के निकट घटित होता है, वह आत्मा का जन्म है। जब वह जन्म घटित होता है, तो आदमी द्विज हो जाता है। उसके पहले आदमी इक जन्मा है। उसके बाद दोहरा जन्म होता है, 'ट्वाइस बॉर्न' हो जाता है।

गुरु के लिए हमने जैसी श्रद्धा की धारणा बनाई है, उसे पश्चिम के लोग जब सुनते हैं, तो भरोसा नही कर पाते कि ऐसी श्रद्धा की क्या जरूरत है! जब किसी व्यक्ति से सीखना है, तो सीखा जा सकता है। ऐसा उसके चरणों में सिर रख कर मिट जाने की क्या जरूरत है! और उनका कहना भी ठीक है; सीखना ही है तो चरणो में सिर रखने की कोई भी जरूरत नही है। अगर सीखना है, तो सिर और सिर का सम्बन्ध होगा; चरणो और सिर के सम्बन्धो की क्या जरूरत है?

लेकिन, हमारी गुरु की धारणा कुछ और है। यह सीर्फ सीखना नहीं है। यह सिर्फ बौद्धिक आदान-प्रदान नही है। यह संवाद बुद्धि का नही है, दो सिरों

का नही है; क्योंकि जो गहन अनुभव है, बुद्धि तो उनको अभिव्यक्त भी नहीं कर पाती। जो गहन अनुभव है, उनका सम्बन्ध तो हृदय से हो पाता है, बुद्धि से नहीं हो पाता। जो क्षुद्र बातें हैं, वे कही जा सकती हैं शब्दों में। जो विराट से सम्बन्धित हैं—गहन से, ऊँचाई से, अनन्त गहराइयो से—वे शब्दों मे कही नही जा सकती, लेकिन प्रेम में अभिव्यक्त की जा सकती हैं।

तो, गुरु और शिष्य के बीच जो सम्बन्ध है, वह गहन प्रेम का है। शिक्षक और विद्यार्थी के बीच जो सम्बन्ध है, वह लेन-देन का है, व्यावसायिक है, बौद्धिक है। गुरु और शिष्य के बीच का जो सम्बन्ध है, वह हार्दिक है।

ध्यान रहे, जब बुद्धि लेती-देती है, तो यह समतल पर घटित होता है, जब हृदय लेता-देता है, तो यह समतल पर घटित नही होता। हृदय को लेना हो, तो उसे पात्र की तरह खुला हुआ नीचे हो जाना पडता है, क्योकि पानी नीचे की तरफ बहता है। जब हृदय को लेना हो, वर्षा हो रही हो, तो पात्र को नीचे रख देना पडता है। पानी पात्र मे भर जाये, इसलिए पात्र को उस धारा के नीचे होना चाहिए, जहाँ से लेना है।

इसलिए पश्चिम मे शिक्षक और विद्यार्थी के बीच कोई 'रेस्पेक्ट', कोई समादर की बात नही है, और अगर कोई समादर है, तो औपचारिक है; और अगर कोई समादर है, तो कक्षा के भीतर है—बाहर तो कोई सवाल नहीं है। पश्चिम में शिक्षक और विद्यार्थी का सम्बन्ध एक खण्ड सम्बन्ध है, पूर्व में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध एक अखण्ड सम्बन्ध है।

यह जो हृदय का लेन-देन है, इसमे शिष्य तो पूरी तरह झुक जाना जरूरी है। शिष्य का अर्थ ही है, जो झुक गया; हृदय के पात्र को जिसने चरणों मे रख दिया। इसलिए इस लेन-देन मे श्रद्धा अनिवार्य अग हो गई। श्रद्धा का केवल इतना ही अर्थ है कि जिससे हम ले रहे हैं, उससे हम पूरा लेने को राजी हैं; उसमें हम कोई जाँच-पडताल न करेगे।

इसका यह मतलब नही है कि जाँच-पडताल की मनाही है। इसका केवल इतना ही मतलब है कि खूब जाँच-पडताल कर लेना, जितनी जाँच-पड़ताल करनी हो, कर लेना; लेकिन जब जाँच-पडताल पूरी हो जाये और गुरु के करीब पहुँच जाओ और चुन लो कि यह रहा गुरु, तो फिर जाँच-पडताल बन्द कर देना, पात्र को नीचे रख लेना और अब सब द्वार खुले छोड़ देना, ताकि गुरु सब मार्गों में प्रविष्ट हो जाए।

जाँच-पडताल की मनाही नही है, लेकिन उनकी सीमा है। खोज लेना पहले, गुरु की खोज कर लेना जितना बन सके, लेकिन जब खोज पूरी हो जाये और लगे की यह आदमी रहा, तो फिर खोज बन्द कर देना और खोल देना अपने हृदय को।

शिष्य, इसलिए अलग शब्द है; उसका अर्थ विद्यार्थी नही है। शिष्य विद्यार्थी नही है, विद्या नही सीख रहा है। शिष्य जीवन सीख रहा है, और जीवन सीखने का मार्ग शिष्य के लिए विनय है।'

यह सूत्र, विनय-सूत्र है। इसमे महावीर ने कहा है 'जो मनुष्य गुरु की आज्ञा पालता हो, उनके पास रहता हो, गुरु के इगित को ठीक-ठीक समझता हो तथा कार्य विशेष मे गुरु की शारीरिक अथवा मौखिक मुद्राओ को ठीक-ठीक समझ लेता हो, वह मनुष्य विनय-सम्पन्न कहलाता है।'

शिष्य का लक्षण है · 'विनय', 'ह्यूमिलिटी', 'हम्बलनेस', झुका हुआ होना, समर्पित भाव।

इन शब्दो को हम एक-एक करके समझ ले।

'जो गुरु की आज्ञा पालता हो'।

गुरु कहे बैठ जाओ तो बैठ जाए, गुरु कहे खडे हो जाओ तो खडा हो जाए—यह आज्ञापालन नही है। आज्ञापालन का अर्थ तो है, जहाँ आपकी बुद्धि इनकार करती हो—वहाँ पालन।

सुना है मैंने, बायजीद अपने गुरु के पास गया, तो गुरु ने पूछा, "निश्चित ही तुम आ गए हो मेरे पास, तो वस्त्र उतार दो, नग्न हो जाओ, जूता हाथ में ले लो, अपने सिर पर मारो, और पूरे गाँव का चक्कर लगा आओ"।

और भी लोग वहा मौजूद थे। उनमे से एक आदमी के बरदाश्त के बाहर हुआ, उसने कहा, 'यह क्या मामला है! कोई अध्यात्म सीखने आया है कि पागल होने'? लेकिन बायजीद ने वस्त्र उतारने शुरू कर दिये। उस आदमी ने बायजीद को कहा, 'ठहरो भी, पागल तो नही हो!' और बायजीद के गुरु को कहा, कि यह आप क्या करवा रहे हैं? बायजीद की गाँव मे प्रतिष्ठा है, क्यों उसकी प्रतिष्ठा धूल मे मिलाते हैं?'

बायजीद नग्न हो गया। उसने हाथ मे जूता उठा लिया और गाँव के चक्कर पर निकल गया। वह अपने को जूता मारता जा रहा है। गाँव में भीड़ इकट्ठी हो गई है। 'क्या पागल हो गया है बायजीद?' लोग हँस रहे हैं। लोग

मजाक उड़ा रहे हैं। किसी के समक्ष मे नही आ रहा कि 'क्या हो गया है, बायजीद को !'

वह पूरे गाँव का चक्कर लगाकर, अपनी सारी प्रतिष्ठा को धूल मे मिला कर, मिट्टी होकर, वापस लौट आया।

गुरु ने उसे छाती से लगा लिया और गुरु ने कहा, "बायजीद, अब तुझे कोई भी आज्ञा न दूंगा, पहचान हो गई, अब काम की बात शुरू हो सकती है।"

आज्ञा पालन का अर्थ है—जो 'एब्सर्ड' मालूम पडे, जिसमें कोई संगति मालूम न पडे—उसका पालन, क्योकि जिसमे सगति मालूम पडे, आप मत सोचना कि आपने आज्ञा मानी, आपने अपनी बुद्धि को माना।

अगर मैं आपसे कहूँ कि दो और दो चार होते हैं, यह मेरी आज्ञा है और आप कहें कि बिलकुल ठीक, मानते है आपकी आज्ञा—दो और दो चार होते हैं, तो आप मुझे नहीं मान रहे हैं, आप अपनी बुद्धि को मान रहे हैं; और मैं आपसे कहूँ कि दो और दो पाँच होते हैं, और आप कहें कि बिलकुल ठीक, दो और दो पाँच होते है, तो आपने आज्ञा मानी।

बाइबल मे एक घटना है। एक पिता को आज्ञा हुई कि वह जाकर अपने बेटे को फलां-फलां वृक्ष के नीचे काट कर बलिदान कर दे। उसने अपने बेटे को उठाया, फरसा लिया और जगल की तरफ चल दिया।

सोरेन किर्केगार्ड ने इस घटना पर बडे महत्वपूर्ण काम किये है। उसे लगा कि यह बात तो बिलकुल फिजूल है। सोरेन किर्केगार्ड कहता है, उस पिता को यह तो सोचना ही चाहिए था कि कही यह आज्ञा मजाक तो नहीहै। यह तो सोचना ही चाहिए था कि कही यह आज्ञा अनैतिक कृत्य तो नहीं कि पिता बेटे की हत्या कर दे। कुछ तो विचारना था। लेकिन उसने कुछ न विचारा, फरसा उठाया और बेटे को लेकर चल पडा।

हमे भी लगेगा कि यह जरूरत से ज्यादा है, कि यह तो अन्धापन है, और यह तो मूढता है, लेकिन किर्केगार्ड भी कहता है कि यह सारा परिक्षण पहले कर लेना चाहिए। एक बार परिक्षण पूरा हो जाए, तो फिर छोड देनी चाहिए सारी बात। अगर परिक्षण सदा ही जारी रखना है, तो गुरु और शिष्य का सम्बन्ध कभी भी निर्मित नही हो सकता, और वह सम्बन्ध निर्मित होना महत्वपूर्ण है।

फरसा उठ गया था और गला कट जाने के करीब था कि वक्त पर खबर आ गई कि हत्या नही करनी है।

वापस लौट आया पिता अपने बेटे को लेकर, लेकिन अपनी तरफ से वह हत्या करने की आखिरी सीमा तक पहुँच गया था।

यह घटना तो सूचक है। शायद ही कोई गुरु आपको कहे कि जाकर बेटे की हत्या कर आएँ। लेकिन इस घटना मे मूल्य सिर्फ इतना है कि अगर ऐसा भी हो, तो आज्ञा-पालन ही शिष्य का लक्षण है। पर सूत्र के पहले ही हिस्से मे, आज्ञा को इतना मूल्यवान महावीर क्यों कह रहे हैं ?

क्योकि जैसे-जैसे आप भीतर प्रवेश करेंगे, वैसे-वैसे आपकी समझ क्षीण होने लगेगी, वहाँ काम नही पडेगी; और अगर आप यही भरोसा मानकर चलते हैं कि मैं अपनी बुद्धि से ही चलूंगा, तो बाहर की दुनिया तो ठीक, भीतर की दुनिया मे प्रवेश न हो सकेगा। भीतर तो घडी-घडी ऐसे मौके आयेंगे, जब गुरु कहेगा कि 'मरो' और तब आपकी बुद्धि बिलकुल इनकार करेगी, कि मत मरो। अगर ध्यान की थोडी भी गहराई बढेगी, तो लगेगा कि मौत घट जाएगी। जब भी ध्यान गहरा होगा, तो मौत का अनुभव होगा; ऐसा लगेगा कि मरे।

गुरु कहेगा 'मरो, बढो, मरोगे ही ना, मर जाना'। तब आपकी बुद्धि कहेगी, 'यह क्या हो रहा है'। वह कहेगी, 'आगे कदम नही बढाया जाता'।

बेटे की हत्या करना इतना कठिन नही है, जितना तब, जब खुद के मरने की भीतर घडी आए।

बेटा तो फिर भी दूर है, और बेटे की हत्या करने वाले बाप भी मिल जायेंगे। (ऐसे तो आप थोडी बहुत हत्या करते ही हैं, लेकिन वह अलग बात है।) बाप की हत्या करने वाले बेटे भी मिल जाएँगे। (एक सीमा पर सभी बेटे बाप से छुटकारा चाहते हैं, लेकिन वह बात अलग है।)

···आदमी जब अपनी ही हत्या पर उतरने की स्थिति मे आ जाता है, और जब ध्यान मे ऐसी घड़ी आ जाती है कि 'शरीर छूट तो नही जाएगा, साँस बन्द तो नही हो जायेगी,' तब आपकी बुद्धि किसी भी उपयोग की नही रह जाती। वहाँ आपका कोई अनुभव काम नही पड़ता। वहाँ गुरु कहता है कि 'ठीक है, हो जाने दो बन्द साँस'। उस वक्त क्या करियेगा ? अगर आज्ञा मानने की आदत न बन गई हो, अगर गुरु के साथ असगत में भी उतरने की तैयारी न हो गई हो, तो आप वापस लौट आएँगे; आप भाग जाएँगे। उस

वक्त तो मृत्यु को एक किनारे रख कर, गुरु जो कहता है, उसे मानना ही ठीक होगा।

और बडे मजे की बात है कि आप मरेंगे नहीं, बल्कि ध्यान मे जो मृत्यु घटेगी, उससे ही आप पहली दफा जीवन का स्वाद, जीवन का अनुभव कर पाएँगे। लेकिन उसके लिए आपकी बुद्धि कोई भी तो सहारा नही दे सकती। बुद्धि तो उसके लिए ही सहारा दे सकती है, जिसके सम्बन्ध में वह जानती हो। और यह उसने कभी जाना नही है।

यह मामला तो ठीक ऐसा ही है कि एक बेटा आपका हाथ पकड़ लेता है और फिर फिक्र छोड़ देता है, सोचता है, 'ठीक है, बाप साथ है, चिन्ता नही है'। और यदि जंगल मे शेर भी चारों तरफ भटक रहे हों, तो बेटा गुनगुनाता हुआ, गीत गाता हुआ, बाप का हाथ पकडकर चलता है। बाप के हाथ मे हाथ है, बात खतम हो गई। अगर बाप उससे कह दे, 'ये सामने जो शेर आ रहा है, इससे गले मिल लो', तो बेटा गले मिल लेगा।

आज्ञा का अर्थ है—साधना में ऐसी असंगत घटनाएँ घटेंगी, जिनके लिए बुद्धि तर्क नही खोज पाती। तब कठिनाइयाँ शुरू होती है। तब सदेह पकड़ना शुरू होता है। तब लगता है कि भाग जाएँ इस आदमी से, बच जाएँ इस आदमी से। तब बुद्धि बहुत-बहुत उपाय करेगी कि 'यह आदमी गलत है, इसकी बात मत मानो'। तब बुद्धि ऐसी पच्चीस बातें खोज लेगी, जिनसे यह सिद्ध हो जाए कि यह आदमी गलत है, इसलिए इसकी यह बात मानना उचित नही है।

इसलिए महावीर कहते हैं : 'जो मनुष्य गुरु की आज्ञा का पालन करता हो, उनके पास रहता हो।'

पास रहना बडी कीमती बात थी। पास रहना एक आंतरिक घटना है। शारीरिक रूप से पास रहने का उपयोग है, लेकिन आत्मिक रूप से, मानसिक रूप से, पास रहने का बहुत उपयोग है। यह जो जीवन की आत्यतिक कला है, इसे सीखना हो तो गुरु के इतने पास होना चाहिए, जितने हम अपने भी पास नही हैं। जैसे कोई आप की छाती मे छुरा भोंके, तो गुरु का स्मरण पहले आये, बाद में अपना कि मैं मर रहा हूँ। यह अर्थ हुआ पास रहने का।

पास रहने का मतलब है, एक आतरिक निकटता, सामीप्य, अपने से भी ज्यादा पास, अपने से भी ज्यादा भरोसा, अपने से भी ज्यादा स्मरण। यह जो

घटना है पास होने की, निकट होने की, यह शारीरिक तल पर भी बडी मूल्य-वान है। इसलिए गुरु के पास शारीरिक रूप से रहने का बडा अर्थ है। अगर हम महावीर के युग मे लौट जाएँ, तो महावीर के साथ दस हजार साधु-साध्वियो का समूह चलता था। महावीर के पास होना ही मूल्य था उसका।

क्या अर्थ है इस पास होने का ?

इस पास होने का एक ही अर्थ है कि मेरे 'मैं' की जो आवाज है, वह धीरे-धीरे कम हो जाए। हम जब भी बोलते हैं, तो 'मैं' हमारा केन्द्र होता है। गुरु के पास रहने का अर्थ है 'मैं' केन्द्र न रह जाए, गुरु केन्द्र हो जाए। महावीर के पास दस हजार साधु-साध्विया हैं। उनका अपना होना कोई भी नही है, महावीर का होना ही सब कुछ है।

बुद्ध एक गाँव के बाहर ठहरे हैं। हजारो भिक्षु-भिक्षुणियाँ उनके पास हैं। गाँव का सम्राट उन्हे मिलने जा रहा है। आम्रकुज के बाहर आकर उसने अपने वजीरो को कहा, 'मुझे शक होता है, कोई धोखा तो नही है ? क्योकि तुम कहते थे कि हजारो लोग वहाँ ठहरे हुए हैं, लेकिन वहाँ तो जरा भी आवाज नही हो रही है। तुम कहते थे बस यह जो आम की कतार है, इसके पीछे वन मे वे लोग ठहरे है, लेकिन वहाँ जरा भी आवाज नही हो रही है, मुझे शक होता है।'

सम्राट ने तलवार बाहर खीच ली और उसने कहा कि 'इसमे कोई षडयन्त्र तो नही है ?'

वजीरो ने कहा, 'आप निश्चित रहें, वहाँ सिर्फ एक ही आदमी बोलता है, बाकी सब चुप हैं। बुद्ध के सिवा वहाँ कोई बोलता ही नहीं। क्योकि बुद्ध नहीं बोल रहे होगे इसलिए जगल मे शान्ति है।'

मगर वह जो सम्राट था, (उसका नाम था—अजातुशत्रु। नाम भी हम बड़े मजेदार देते हैं। अजातशत्रु—अर्थात जिसका कोई शत्रु पैदा न हुआ हो। हालांकि शान्ति मे भी उसे शत्रु दिखाई पडता है—(सन्नाटे में भी !) वह तलवार निकाले ही गया। जब उसने देख लिया कि बुद्ध के पास हजारों भिक्षु चुपचाप बैठे हैं, तब उसने तलवार भीतर की। और उसने पहला प्रश्न यही पूछा, 'इतनी चुप्पी, इतना मौन क्यो है ? इतने लोग हैं, कोई बातचीत नहीं, कोई चर्चा नही ! क्या दिन रात ऐसे ही बीत जाते हैं ?'

बुद्ध ने कहा, 'ये लोग मेरे पास होने के लिए यहाँ है। अगर ये बोलते ही रहे तो ये अपने ही पास होंगे। ये अपने को मिटाने यहाँ आये हैं। ये यहाँ हैं

ही नहीं। बस, इस जंगल में जैसे मैं ही हूँ और ये सब मिटे हुए शून्य हैं। ये अपने को मिटा रहे हैं। जिस दिन ये पूरे बिखर जाएँगे, उसी दिन ही ये मुझे पूरा समझ पाएँगे। और जो मैं इनसे कहना चाहता हूँ, वह इनके मौन मे ही कहा जा सकता है। और अगर मैं शब्द का भी उपयोग करता हूँ, तो यही समझाने के लिए कि वे कैसे मौन हो जाएँ। शब्द का उपयोग करता हूँ, मौन में ले जाने के लिए। फिर मौन का उपयोग करूँगा, सत्य मे ले जाने के लिए। शब्द से सत्य में ले जाने का कोई उपाय नहीं है। शब्द से मौन मे ले जाया जा सकता है।'

बस, शब्द की इतनी ही सार्थकता है कि आप की समझ में आ जाये कि चुप हो जाना है। फिर सत्य मे ले जाया जा सकता है। समीप्य का यही अर्थ है।

सारिपुत्र बुद्ध का खास शिष्य था। जब वह स्वयं बुद्ध हो गया, तो बुद्ध ने उससे कहा, 'सारिपुत्र तू जा और मेरे सदेश को लोगो तक पहुँचा।' सारिपुत्र उठा, नमस्कार करके चलने लगा।

आनन्द बुद्ध का दूसरा प्रमुख शिष्य था। उसे अब तक ज्ञान नही हुआ था। उसने बुद्ध से कहा, 'इस भाँति मुझे कभी दूर मत भेज देना। मेरी प्रार्थना है, इतना ख्याल रखना। कभी मुझे ऐसी आज्ञा मत देना कि दूर चला जाऊँ। मैं तो समीप ही रहना चाहता हूँ।'

बुद्ध ने कहा, 'तू समीप नही है, इसलिए समीप रहना चाहता है; लेकिन सारिपुत्र कही भी रहे, वह मेरे समीप ही रहेगा। बीच का फासला अब कोई फासला नही है।'

सारिपुत्र उठा और चल पड़ा। वह गाँव-गाँव, जगह-जगह सदेश देता रहा। रोज सुबह उठकर वह बुद्ध के चरणों मे सिर रखता—जिस दिशा में बुद्ध होते। उसके शिष्य उससे पूछते, 'सारिपुत्र, अब तो तुम भी स्वयं बुद्ध हो गये हो, अब तुम किसके चरणो मे सिर रखते हो ? अब क्या जरूरत है ?'

सारिपुत्र कहता, 'जिनके कारण मैं मिट सका, जिनके कारण मैं समाप्त हुआ, जिनके कारण मैं शून्य हुआ, उन बुद्ध को सिर झुकाता हूँ।' फिर उसके शिष्य कहते कि 'बुद्ध तो बहुत दूर हैं, सैकडों मील दूर हैं यहाँ से। उनके चरणो मे तुम्हारे किये गये प्रणाम कैसे पहुँचेगे ?' तो सारिपुर कहता, 'अगर वे मुझमे दूर होते, तो उन्हें छोड़कर मैं नही आता। छोड़कर आ सका इसी भरोसे पर कि अब कही भी रहूँ, अब वे मेरे पास हैं।'

एक सम्बन्ध है बाहर का, जो शरीर से होता है। शरीर कितना ही निकट आ जाए, तो भी दूरी बनी रहती है। शरीर के साथ कोई निकटता हो ही नहीं पाती। कितने ही निकट ले आओ, आलिंगन कर लो, एक तो भी फासला बना ही रहता है। दो शरीर कभी भी एक नही हो पाते। हो नही सकते, क्योंकि शरीर का होना ही पार्थक्य है। फिर एक और आतरिक सामिप्य है। सारिपुत्र उसी की बात कर रहा है। वह कह रहा कि अब फासले टूट गये हैं। अब कोई स्पेस, अब कोई जगह बीच मे नही है। अब मैं नही हूँ, बुद्ध ही है।

इससे भी ज्यादा मजेदार घटना घटी है। कहते हैं, महाकाश्यप अपने ही पैर छू लेता था। लोगो को बहुत अजीब लगता होगा। महाकाश्यप बुद्ध का दूसरा शिष्य था, और शायद उनके सारे शिष्यो मे अद्भुत था। महाकाश्यप अपने ही पैर छू लेता था। लोगो ने पूछा, 'यह तुम क्या करते हो ?' वह कहता, 'बुद्ध के चरण छू रहा हूँ।' लोग कहते, 'यह पैर तुम्हारे हैं।' महाकाश्यप कहता कि 'अब उससे इतनी निकटता हो गई है कि अब यह पैर उन्ही के ही है, वे अब भीतर ही है।' महाकाश्यप कहता, 'मैं किसी के भी पैर छूऊँ, बुद्ध के ही पैर हैं।'

इतनी समीपता भी बन सकती है। इस सामीप्य मे ही सवाद है।

इसलिए महावीर कहते हैं 'गुरु के पास रहता हो, उसके निकट होता हो।'

इस निकटता मे भौतिक निकटता ही अतर्निहित नही है, आन्तरिक सामीप्य भी है।

'गुरु के इगितो को ठीक-ठीक समझता हो'।

हम तो गुरु के शब्द को भी ठीक से नही समझ पाते, इगित तो बडी और बात है। इगित का अर्थ है—इशारा, जो कहा नही गया है, फिर भी दिया गया है। शायद इतना बारीक है कि कहने मे टूट जायेगा। इसलिए कहा नही गया है, सिर्फ दिया गया है। शायद इतना सूक्ष्म है कि शब्द उसके सौंदर्य को नष्ट कर दे, स्थूल बना दे।

जो गुरु है, वह धीरे-धीरे शब्दो का सहारा छोड़ता जाता है। जैसे-जैसे शिष्य विनीत होता है, जैसे-जैसे शिष्य झुकता है, वैसे-वैसे गुरु शब्दों का सहारा छोडता जाता है। इगित महत्वपूर्ण हो जाते हैं, इशारे महत्वपूर्ण हो जाते हैं। शब्द भी इशारे हैं—लेकिन बहुत स्थूल, बहुत ऊपरी···।

बुद्ध कैसे चलते हैं, महावीर कैसे बैठते हैं, महावीर कैसे उठते हैं, महावीर कैसे सोते हैं, इन सब मे उनके इंगित हैं।

बुद्ध कैसे हाथ उठाते हैं, कैसे आँख उठाते हैं, कैसे आँखें उनकी झपती हैं, उस सब में उनके इगित हैं। धीरे-धीरे, जो उनके पास है, वह उनके शरीर की भाषा को समझने लगता है।

हमारे भी शरीर की भाषा तो होती है, लेकिन हमें उसका पता नही होता। और अब तो पश्चिम में एक साइस 'किनेटिक्स' निर्मित हो रही है, जो शरीर की भाषा, 'बॉडी लेंग्विज' पर निर्भर है।

हम सब शरीर से भी बोलते हैं। कभी आपने ख्याल न किया होगा कि बच्चे शरीर की भाषा को बिल्कुल ठीक से समझते हैं। धीरे-धीरे जब शब्द सीखने लगते हैं, तो शरीर की भाषा भूल जाते हैं। बच्चों के साथ माँ-बाप को कभी-कभी बड़ा 'स्ट्रेन्ज', बडा विचित्र अनुभव होता है कि माँ मुस्करा रही है चेहरे से लेकिन बच्चा समझ जाता है कि वह क्रोध मे है। माँ थपका रही है, कह रही है, 'खिलौने ले आऊँगी बाजार से' और बडी प्रसन्नता दिखा रही है, जैसे कि बच्चे से बड़ा प्रेम हो, लेकिन बच्चा समझ जाता है कि यह सब धोखा है, क्योकि वह जो कह रही है, वह उसके हाथ की थपकी से पता नही चलता।

बच्चे को माँ जब दूध पिला रही है, तो उसके स्तन का इशारा भी बच्चा समझता है कि इस वक्त वह प्रसन्न है, या नाखुश है, पिलाना चाहती है, कि नही पिलाना चाहती, हट जाना चाहती है, कि पास आना चाहती है, वे सब समझते हैं। क्योंकि पहली भाषा उनके शरीर की भाषा है। वे माँ को देखकर समझते हैं। न अभी वे बोल सकते हैं और न ही माँ जो बोलती है, उसे समझ सकते हैं। लेकिन, माँ के 'जेस्चर', उसकी मुद्राएँ बच्चो के ख्याल में आने लगती हैं। छोटे वच्चो को धोखा नही दिया जा सकता, जब तक कि बच्चे थोड़े बडे न हो जाएँ।

बच्चे पहले 'बॉडी लेंग्विज', शरीर की भाषा सीखते हैं, फिर धीरे-धीरे भाषा आरोपित हो जाती है और शरीर की भाषा भूल जाती है; और तब बड़ी मजेदार घटनाएँ घटती हैं। कभी फिल्म मे ऐसा हो जाता है कि भाषा और भाव-भगिमा का सम्बन्ध टूट जाता है।

एक नाटक मे ऐसा हुआ कि एक आदमी को गोली मारी जानी थी, लेकिन गोली का घोडा अटक गया, मारने वाले ने तो बहुत घोड़ा खीचा, पर गोली नहीं चली। जैसे ही उसने घोडा खीचा, जिसको मारना था, वह धड़ाम से गिर कर मर गया। जब मर चुका और चिल्ला चुका कि हाय मैं मरा, तब घोड़ा छूटा और गोली चली''''सम्बन्ध टूट गया कृत्य में और भाषा मे।

आपको पता नही है कि आपके कृत्य और भाषा मे सम्बन्ध नही होता। आपके ओंठ मुस्कराते हैं और आपकी आँखें कुछ और कहती हैं। आप हाथ से हाथ मिलाते हैं और आपके हाथ के भीतर की उर्जा पीछे हटती है। हाथ आगे बढ़ रहे हैं, उर्जा पीछे हट रही है। आप हाथ मिलाना नही चाहते हैं। जब आप हाथ मिलाना नही चाहते, तो फिर भीतर की ऊर्जा पीछे हट जाती है। और जब आप हाथ मिला रहे हैं और अगर दूसरा आदमी शरीर की भाषा समझता हो, तो फौरन पहचान जायेगा कि हाथ तो मिलाया गया पर ऊर्जा नही मिली, ऊर्जा भीतर खीच ली गई।

क्योकि हम सभी शरीर की भाषा भूल गए हैं, इसलिए पता नही चलता। जरा ख्याल करना अपने कृत्यो मे कि जो आप कर रहे हैं, अगर वह नही करना चाहते, तो भीतर उससे विपरीत हो रहा है, उसी वक्त हो रहा है।

कोई शरीर की भाषा नही जानता; भूल गये है हम सब। शायद भूल जाना जरूरी है। अन्यथा दुनिया मे दोस्ती बनाना और प्रेम करना मुश्किल हो जायेगा। अगर हमे शरीर की भाषा सीधी-सीधी समझ मे आ जाये, तो बड़ा मुश्किल हो जाये। इसलिए हम सबने शब्दो की पर्तें बना ली हैं। उन शब्दो की पर्तों मे हम सब जीते हैं।

जब हम किसी आदमी को कहते हैं कि मैं तुम्हे प्रेम करता हूँ, तो वह बस इतना ही सुनता है, हमारी आँखो की तरफ देखता भी नही कि जब ये शब्द कहे गये, तो आँखों ने भी कुछ कहा अथवा नही! असली 'कन्टेन्ट' आँखो मे हैं, शब्दो मे नही। असली विषय-वस्तु आँखो मे है, शब्दो मे नही। जब ये शब्द कहे गये, तो इस आदमी के रोएँ-रोएँ मे क्या पुलक थी? क्या आनन्द था? इस कहने मे उसके प्राण आनन्दित हुए कि मजबूरी मे उसने कह कर कर्तव्य निभाया।

लेकिन यह जानना शायद खतरनाक है। जैसी हमारी सभ्यता है, समाज है, वह धोखे का एक आडम्बर है। इसलिए हम बच्चो को जल्दी ही ठोक-पीट कर, उनकी जो समझ है, उसके ऊपर आरोपण करके उनकी वास्तविक समझ को नष्ट कर देते हैं।

गुरु के पास रह कर फिर शब्दों की भाषा भूलनी पडती है। फिर शरीर की भाषा सीखनी पडती है, क्योकि जो गहन है, वह शरीर से ही कहा जा सकता है, वह जो गहन है, वह भाव-भंगिमा से ही कहा जा सकता है।

इसलिए भारत में एक पूरे का पूरा मुद्राओ का, 'जेस्चर' का शास्त्र-निर्मित हुआ। अब पश्चिम मे उसकी पुनः खोज हो रही है। जिसको वे शरीर की भाषा कहते हैं, उसे हमने मुद्राओ में काफी गहराई तक खोजा है।

आपने बुद्ध की मूर्तियाँ देखी होगी विभिन्न मुद्राओं में। अगर आप किसी एक खास मुद्रा में बैठ जायें, तो आप हैरान होगे कि आप के भीतर भाव परिवर्तन हो जाता है। आपकी मुद्रा, भीतर भाव-परिवर्तन ले आती है।

आपके भाव परिवर्तन हो, तो आपकी मुद्रा परिवर्तित हो जाती है। जैसे बुद्ध पद्मासन मे बैठे है हाथ पर हाथ रख कर, या महावीर बैठते है पद्मासन मे, वैसे ही आप बैठ जायें, तो आप तत्काल पायेगे कि जो आपके मन की धारा चल रही थी, उसमे विघ्न पड जाता है।

बुद्ध ने अभय, करुणा आदि बहुत सी मुद्राओं की बात की है। अगर उस मुद्रा मे आप खडे हो जाएँ, तो तत्काल आप भीतर पाएँगे कि भाव मे अन्तर पड गया। अगर आप क्रोध की मुद्रा मे खडे हो जाएँ, तो भीतर क्रोध का आवेश आना शुरू हो जाता है।

शरीर और भीतर का जोड है।

गुरु के भीतर सारे धोखे मिट गये हैं। उसके भीतर जो भाव होता है, वह उसके शरीर तक बह जाता है।

इसलिए महावीर कहते हैं कि शिष्य वह है, जो 'गुरु के इंगितों को ठीक-ठीक समझता हो'।

गुरु क्या कह रहा है, इसे ठीक-ठीक समझता हो, शारीरिक इंगितो को भी।

रिंझाई अपने गुरु के पास था, चौबीस घटे रुकने के बाद उसने कहा कि 'आप कुछ सिखायेंगे नही ?' गुरु ने कहा कि 'चौबीस घण्टे मैंने कुछ और किया ही नही, सिवाय सिखाने के'। तो रिंझाई ने कहा, 'एक शब्द भी आप बोले नही !···तो क्या मैं बहरा हूँ जो मुझे सुनाई नही पडा ?···लेकिन अभी आप बोल रहे हैं, तो मैं ठीक से सुन रहा हूँ।'

गुरु ने कहा कि 'मेरा होना ही मेरा बोलना है। तुम जब सुबह मेरे लिए चाय लेकर आये थे, तो मैंने कैसे तुम्हारे हाथ से चाय ग्रहण की थी और मेरी आँखो मे कैसे अनुग्रह के भाव थे, वह तुमने नही देखा। काश ! तुम वह देख लेते, तो जो नही कहा जा सकता, वह मैंने कह दिया था। जब सुबह तुमने

आकर मेरे चरणों में सिर रखा था और नमस्कार किया था, तो मैंने किस भाँति तुम्हारे सिर पर हाथ रख दिया था, काश ! तुम वह समझ लेते, तो सब कुछ समझ मे आ गया होता'।

शास्त्र नही कह सकते, जो एक इशारा कह सकता है।

महावीर कहते हैं कि 'जो गुरु के इंगितो को समझता हो तथा कार्य-विशेष में गुरु की शारीरिक अथवा मौखिक मुद्राओं को ठीक-ठीक समझ लेता हो, वह मनुष्य विनय-सम्पन्न कहलाता है'।

तो, हमारी तो बडी कठिनाई हो जायेगी। हमे तो महावीर चिल्ला-चिल्ला कर, डका बजा-बजा कर कहे कि ऐसा करो, तो भी हमारी समझ मे नही आता। अगर हमारी समझ मे आता भी है, तो वही आता है, जो हम समझना चाहते हैं। वे क्या कहना चाहते हैं, इससे हमारा कोई लेना-देना नही है। हम अपने पर इस बुरी तरह आरूढ हैं, हम अपने आपको इस तरह पकडे हुए हैं कि जो हम समझते है, वह हमारी व्याख्या होती है, हमारा 'इन्टरप्रिटेशन' होता है। महावीर क्या कहते हैं, वह हम नहीं समझते। हम जो समझना चाहते हैं, हम जो समझ सकते हैं, वह हम समझ लेते हैं, और हमारी समझ को हम उनके ऊपर आरोपित करके व्याख्या कर लेते है। फिर हम उसके अनुसार चलते हैं और हम सोचते हैं कि हम महावीर के अनुसार चल रहे हैं।

नही, हम अपने ही अनुसार चलते रहते है।

कभी आपने ख्याल किया है, जब मैं यहाँ बोल रहा हूँ, तो मैं एक ही बात बोल रहा हूँ। लेकिन यहाँ जितने लोग हैं, उतनी बाते समझी जा रही हैं। यहाँ हर आदमी अपने भीतर इन्तजाम कर रहा है—समझ रहा है, सोच रहा है, अपनी बुद्धि को जोड रहा है, अर्थ निकाल रहा है।

मनोवैज्ञानिक कहते है कि हम इतने चालाक हैं कि जो हमारे मतलब का होता है, उसे हम जल्दी से समझ लेते हैं; जो हमारे मतलब का नहीं होता, उसे हम 'बाईपास' कर जाते है, उस पर हम ध्यान ही नही देते। जिसमे हमारा लाभ होता हो, उसे हम तत्काल पकड लेते हैं, जिसमे हमे जरा भी हानि दिखाई पड़ती हो, उसे हम सुनते ही नही, उसे हम गुजार जाते हैं। ऐसा नही कि हम सुन कर उसे गुजार जाते हैं—हम सुनते ही नही, हम उस पर ध्यान ही नही देते, छलाग लगा कर हम आगे बढ जाते हैं।

जो मैं आपसे बोल रहा हूँ, उसमें से पाँच प्रतिशत भी आप सुन लें, यह बहुत कठिन है, उसमें से पाँच प्रतिशत भी वैसा समझ लें, जैसा बोला गया है, यह बहुत कठिन है। आप अपने को मिलाते चले जाते हैं। इसलिए अन्त में आप जो अर्थ निकालते हैं—ध्यान रखें, वह आपका ही है; उसका मुझसे कुछ लेना-देना नही है।

महावीर कहते हैं, 'जो शारीरिक अथवा मौखिक मुद्राओ तक को ठीक-ठीक समझ लेता हो, वह मनुष्य विनय-सम्पन्न कहलाता है'।

वह आदमी विनीत है। वह आदमी 'हम्बल' है। क्या मतलब हुआ विनीत का ?

विनीत का मतलब हुआ कि आप बीच-बीच मे न आते हो। आप अपने को घुमा-घुमा कर बीच मे न ले आते हो। जो कहा जा रहा हो उसी को आप समझ लेते हो—अपने को बीच मे लाये बिना, तो आप शिष्य हैं।

विद्यार्थी को मनाही नही है कि वह अपने को बीच मे न लाए, मजे से लाए, लेकिन शिष्य को मनाही है। विद्यार्थी केवल सूचनाएँ ग्रहण कर रहा है अपने लाभ के लिए। जो उसके लाभ का हो, उसे ग्रहण कर ले; जो उसके लाभ का न हो, उसे छोड दे।

शिक्षक और विद्यार्थी के बीच का सम्बन्ध, लाभ-हानि का है। जो मेरे काम का नही है, वह छोड दूंगा। जो मेरे काम का है, वह मैं चुन लूंगा। यह उचित भी है। लेकिन शिष्य और गुरु के बीच सम्बन्ध, लाभ-हानि का नही है। वह गुरु को पीने आया है। इसमें अगर शिष्य अपने को बीच-बीच मे डालता है, तो जो भी वह निष्कर्ष लेगा, वह उसके अपने होगे। गुरु से उसका कोई सम्बन्ध न होगा।

इसलिए कई बार ऐसा होता है कि गुरु के पास लोग वर्षों रहते हैं और फिर भी गुरु को छुए बिना लौट जाते हैं। वर्षों रहा जा सकता है। वर्ष बडे छोटे हैं, जन्मो रहा जा सकता है। वे अपने को ही सुनते रहते हैं।

विनय का तो बहुत गहरा अर्थ है। विनय का अर्थ है—अपने को सब भाँति छोड़ देना। असल मे विद्यार्थी होना हो, तो अज्ञान शर्त नही है। शिष्य होना हो, तो अज्ञानी होना शर्त है···अपने सारे ज्ञान को तिलांजली दे देना। खाली स्लेट की तरह, खाली कागज की तरह खड़े हो जाना, ताकि गुरु जो लिखे, वही दिखाई पड़े। आपका लिखा हुआ पहले से तैयार हो कागज और फिर गुरु

और लिख दे, तो सब उपद्रव ही हो जायेगा और जो अर्थ निकलेंगे, वे अनर्थ सिद्ध होंगे।

यहाँ अनर्थ घट रहा है। यह हर आदमी पर घट रहा है। हर आदमी एक भीड़ है। उसमे न मालूम कितने विचार हैं। और जब एक विचार उस भीड मे घुमता है, तो वह भीड तत्काल उस विचार को बदलने मे लग जाती है, अपने अनुकूल करने मे लग जाता है। जब तक वह विचार अनुकूल न हो जाये, तब तक आपका पुराना मन बेचैनी अनुभव करता है, जब वह विचार अनुकूल हो जाए, तब आप निश्चित हो जाते हैं।

गुरु के पास जब आप जाते हैं, तो गुरु जो विचार देता है, उसको आपके पूर्व विचारों को अनुकूल नही बनाना है, बल्कि इस विचार के अनुकूल सारे पूर्व विचारो को बनाना है—तब विनय है—चाहे सब टूटता हो, चाहे सब जाता हो।

आपके पास है भी क्या ? हम बडे मजेदार लोग हैं! अपने को बचाने मे लगे रहते है, और कभी यह सोचते ही नही है कि बचाने को है भी क्या ?

मेरे पास लोग आते है, और वे कहते है, 'मेरा विचार तो ऐसा है।' मैं उनसे पूछता हूँ कि 'अगर यह विचार तुम्हे कही ले गया हो, तो मजे मे पकडे रहो, मेरे पास आओ ही मत। 'वे कहते है कि उनका विचार उन्हे कही ले तो नही गया है! तो फिर इस विचार को कृपा करके छोड देना। जो विचार तुम्हे कही नही ले गया, उसी विचार को लेकर तुम मेरे पास भी आते हो, और मै तुमसे जो कहता हूँ, अपने विचार से उसकी भी जांच करते हो, तो मेरा विचार भी तुम्हे कही नही ले जायेगा, अगर तुम निर्णायक ही बने रहोगे ···लेकिन लोग सुनते ही नही!'

मार्क ट्वेन ने एक मजाक की है। वह एक बडा लेखक था, और एक हँसोड आदमी था। और कभी कभी हँसने वाले लोग गहरी बाते कह जाते है, जो कि रोने वाले लाख रोएँ तो नही कह पाते। उदास लोगो से सत्यो का जन्म नही होता, उदास लोगो से बीमारियाँ पैदा होती है।

मार्क ट्वेन ने कहा है कि 'जब कोई अपनी किताब मेरे पास आलोचना के लिए, 'क्रिटिसिज्म' के लिए भेजता है, तो मैं पहले उसकी किताब पढ़ता नही, पहले आलोचना लिखता हूँ, क्योकि किताब पढने से आदमी अगर प्रभावित हो जाये, तो पक्षपात हो जाता है। इसलिए पहले आलोचना लिख देता हूँ और फिर मजे से किताब पढता हूँ।

उसने सलाह दी है कि आलोचक को कभी भी आलोचना करने के पहले किताब नहीं पढ़नी चाहिए; क्योंकि उससे आलोचक का मन अगर प्रभावित हो जाए, तो पक्षपात हो जाता है।

सुना है मैंने कि मुल्ला नसरुद्दीन बुढ़ापे में 'मजिस्ट्रेट' हो गया—जे० पी०। मिल गया होगा किसी स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर उसको जे० पी० होना। पहला ही आदमी आया, पहला ही मुकदमा था। एक पक्ष बोल पाया था कि उसने 'जजमेन्ट' (फैसला) लिखना शुरू किया। कोर्ट के कलर्क ने कहा कि 'महानुभाव यह आप क्या कह रहे हैं? अभी आपने दूसरे पक्ष को तो सुना ही नही।'

नसरुद्दीन ने कहा कि 'अभी मेरा मन साफ है और अगर मैं दोनो को सुन लूँ, तो सब 'कन्फ्यूजन' हो जायेगा। जब मन साफ है, मुझे निर्णय लिख लेने दो, पीछे दूसरे पक्ष को भी सुन लेगे। फिर कुछ गडबड़ होनेवाली नही है।'

हम सब ऐसे ही 'कन्फ्यूजन' मे हैं। और हम किसी की भी नही सुनना चाहते कि कही 'कन्फ्यूजन' न हो जाए। हम अपने को ही सुने चले जाते हैं। जब हम दूसरे को सुन रहे होते हैं, तो भी हम पर्दे की ओट से सुनते हैं। छाँटते रहते हैं कि क्या छोड देना, क्या बचा लेना? · फिर जो बचता है, वह आपका ही चुनाव है।

लोग अपने विचार को पकड़ कर चलते हो, तो गुरु से उनका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता—चाहे वे लाख गुरुओ के पास भटकें, वे अपने ईर्द-गिर्द ही परिक्रमा करते रहते हैं। वे अपने घर को कभी नही छोड पाते, उसके आस-पास ही घूमते रहते हैं।

इसलिए महावीर ने कहा है कि 'मैं उसे विनय-सम्पन्न कहता हूँ, जो गुरु की मुद्राओ तक को वैसा ही समझ लेता हो, जैसी वे हो।' फिर पन्द्रह लक्षण महावीर ने गिनाये। इनमे कुछ महत्वपूर्ण हैं।

'उद्धत न हो।'

'एग्रेसिव' न हो, आक्रमक न हो, क्योंकि जो चित्त से आक्रमक है, वह ग्रहण न कर पायेगा···'रिसेप्टिव' हो, ग्राहक हो, उद्धत न हो।

जब आप उद्धत होते हैं, तब आप दूसरे पर आक्रमण कर रहे हैं।

लोग प्रश्न ले कर आते हैं; उनके प्रश्न ऐसे होते हैं कि जैसे वे प्रश्न न लेकर, एक छुरा ले कर आए हैं। उनके प्रश्न पूछने के लिए नही होते, हमला

करने के लिए होते हैं। प्रश्न कुछ समझने के लिए नही होते, कुछ समझाने के लिए होते हैं।

अगर शिष्य गुरु को समझाने आया हो, तो कुछ भी होने वाला नही है। नदी नाव के ऊपर हो गई, अगर शिष्य गुरु को समझाने आया हो। हालांकि ऐसे शिष्य खोजना मुश्किल है, जो गुरु को समझाने न आते हो। तरकीब से समझाने आते हैं और फिर भी मन मे यह माने चले जाते है कि हम शिष्य हैं।

महावीर कहते हैं कि 'उद्धत न हो, नम्र हो, आक्रमक न हो, ग्राहक हो, कुछ लेने आया हो, चपल न हो, स्थिर हो, क्योकि जितनी चपलता हो, उतना ही ग्रहण करना मुश्किल हो जाता है।'

चपल आदमी का चित्त फूटी बाल्टी जैसा होता है। ग्राहक हो, तो भी किसी काम का नहीं होता। बाल्टी तब तक पानी से भरी हुई दिखाई पडती है, जब तक कि वह पानी मे डूबी रहे, बाल्टी ऊपर निकालो, तो सब पानी गिर जाता है।

चपल चित्त, छेदवाला चित्त है। वह गुरू के पास बैठा हुआ भी हजार जगह हो आयेगा। बैठा है वहाँ, पर न मालूम कहाँ-कहाँ चक्कर काट आयेगा। जितनी देर वह कही और रहा, उतनी देर गु ने जो कहा, वह उसे सुनाई नहीं पडेगा।

'स्थिर हो, मायावी न हो, सरल हो, किसी तरह का धोखा देने की इच्छा मे न हो।

हम सब होते हैं। गुरु के पास जब कोई जाता है, तो वह बताता है कि मैं बिल्कुल ईमानदार हूँ, सच्चा हूँ·· पर नही, जो हो, वही बताना चाहिए, क्योकि गुरु को धोखा देने से वह अपने को ही धोखा देगा। यह तो ऐसा हुआ जैसे कोई डॉक्टर के पास जाए, उसे कंसर हो और कहे कि 'कुछ नही, जरा सी फोडा-फुन्सी है।'

डॉक्टर को हम धोखा नही देते हैं, बीमारी बता देते हैं—वही जो है, तो ही डांक्टर किसी उपयोग का हो पाता है। गुरु भी चिकित्सक है, उसके पास जाकर सब खोल देना जरूरी है, तो ही निदान हो सकता है, लेकिन हम उसके साथ भी वही धोखा चलाये जाते हैं, जो हम दुनिया भर मे चला रहे हैं, उसको भी हम वही दिखाये चले जाते हैं, जो हम नही हैं।

इस प्रकार बदलाहट कभी भी सम्भव न होगी। गुरु के पास तो पूर्ण नग्न—जो हम हैं, जैसे हम हैं—सब उघाड कर रख देने का है, हमें उसमे कुछ

भी छिपाने का नहीं है। इस अछिपाव का अर्थ ही सरलता है।

'कुतूहली न हो, गंभीर हो।'

जिज्ञासा गम्भीर बात है, वह कुतूहल नही है, 'क्यूरिऑसिटी' नही है। 'इन्क्वायरी' और 'क्यूरिऑसिटी' मे फर्क है। बच्चे कुतूहली होते हैं। कुतूहली का आप मतलब समझते हैं ?...कुछ करना नही है पूछकर, पूछने के लिए पूछना है। आ गया ख्याल कि ऐसा क्यों है, तो पूछ लिया; पूछकर जीवन मे कोई अन्तर करना है, यह सवाल नही है।

बच्चों के बडे मजेदार सवाल होते हैं। एक सवाल उन्होंने पूछा, उसका आप उत्तर भी नही दे पाए कि दूसरा सवाल पूछ लिया। आप जब उत्तर दे रहे हैं, तो उन्हे सुनने में कोई रस नही है, उनका रस पूछने में है।

मेरे पास लोग आते हैं, मैं बहुत चकित हुआ! वे कहते हैं कि 'बडा महत्वपूर्ण सवाल आपसे पूछना है।' वे उनका सवाल कह चुकते हैं, तो मैं उनसे पूछता हूँ कि 'पत्नी आपकी ठीक, बच्चे आपके ठीक।' वे कहते हैं, 'बिलकुल ठीक।'...वे सवाल ही भूल गये इतने मे! वे घटे भर जमाने की बातें करके बडे खुश घर वापस लौट जाते हैं। मैं सोचता हूँ, उस सवाल का क्या हुआ, जो बडा महत्वपूर्ण था, जो मेरे इतने से पूछने से कि बच्चे कैसे हैं, समाप्त हो गया, फिर उन्होंने पूछा ही नही!'

कुतूहल था, इसलिए आ गये थे पूछने कि 'ईश्वर हैं या नही ?' मगर इससे कोई मतलब न था, इससे कोई सम्बन्ध न था। यह पूछना भी एक रस दिखलाना था कि 'मैं ईश्वर में उत्सुक हूँ।' यह भी अहकार को तृप्ति देता है कि 'मैं कोई साधारण आदमी नही हूँ, ईश्वर की खोज कर रहा हूँ।'

मार्पा एक गुरु के पास गया—नारोपा के पास, तिब्बत में रिवाज था कि पहले गुरु की सात परिक्रमाएँ की जाएँ, फिर सात बार गुरु के चरण छूएँ जाएँ, सिर रखा जाए चरणो मे, फिर लेटकर साष्टाग प्रणाम किया जाये, फिर प्रश्न निवेदन किया जाए। लेकिन मार्पा सीधे पहुँचा और जाकर गुरु की गर्दन पकड ली और कहा कि 'यह सवाल ...।'

नारोपा ने कहा कि 'मार्पा कुछ तो शिष्टता बरत; यह भी कोई ढग है; परिक्रमा कर, दण्डवत कर, विधि से बैठ, प्रतीक्षा कर, जब मैं तुझसे कहूँ कि पूछ, तब पूछ।'

लेकिन मार्पा ने कहा कि 'जीवन है अल्प और कोई भरोसा नही कि सात परिक्रमाएँ पूरी हो जाएँ ! और अगर मैं बीच मे मर जाऊँ, नारोपा, तो जिम्मेदारी तुम्हारी कि मेरी ?'

तो नारोपा ने कहा कि 'छोड परिक्रमा; पूछ ! परिक्रमा पीछे कर लेना ।'

नारोपा ने कहा है कि 'मार्पा जैसा शिष्य फिर नही आया ।' यह कोई कुतूहल न था, यह तो जीवन का सवाल था। यह कोई कुतूहल नही था। यह ऐसे पूछने नही चला आया था। जिन्दगी दाव पर थी। जब जिन्दगी दाँव पर होती है, तब जिज्ञासा होती है, और जब ऐसी खुजलाहट होती है दिमाग की, तब कुतूहल होता है।

'किसी का तिरस्कार न करता हो ।'

इसलिए नही कि कोई तिरस्कार योग्य लोग नही हैं जगत् मे···काफी हैं, जरूरत से ज्यादा हैं, बल्कि इसलिए कि तिरस्कार करने वाला अपनी ही आत्म-हत्या मे लग जाता है। जब आप किसी का तिरस्कार करते हैं, तो सवाल यह नही कि वह तिरस्कार योग्य था या नही था, सवाल यह है कि किसी का तिरस्कार करने से आप नीचे गिरते हैं। जब आप तिरस्कार करते है किसी का, तो आपकी ऊर्जा ऊचाइयाँ छोड देती है और निचाइयो पर उतर आती है।

यह बहुत मजे की बात है कि जब आप किसी का तिरस्कार करते हैं, तो आपको भीतर उसी के तल पर उतर आना पडता है।

इसीलिए बुद्धिमानो ने कहा है कि मित्र कोई भी चुन लेना, लेकिन शत्रु सोच-समझ कर चुनना; क्योकि आदमी को शत्रु के तल पर उतर आना पड़ता है। अगर दो आदमी जिन्दगी भर लडते रहे, तो आप आखिर मे पाएँगे कि उनके गुण एक जैसे हो जाते हैं, क्योकि जिमसे लडना पडता है, उसके तल पर होना पडता है, नीचे उतरना पडता है।

इसलिए महावीर कहेगे कि अगर प्रशमा बन सके, तो करना, क्योकि प्रशसा मे ऊपर जाना पडता है, निन्दा मे नीचे आना पडता है। यह सवाल नही है कि दूसरा आदमी निन्दा योग्य था, या प्रशसा योग्य था, सवाल यह है कि जब आप प्रशसा करते हैं, तो आप ऊपर उठते हैं, और जब आप निन्दा करते हैं, तो आप नीचे गिरते हैं। वह आदमी कैसा था, यह तो निर्णय करना भी आसान नही है।

महावीर कहते हैं कि 'किसी का तिरस्कार न करता हो, क्रोध को अधिक समय तक न टिकने देता हो ।'

यह नहीं कहते कि 'अक्रोधी हो,' क्योंकि शिष्य से यह जरा ज्यादा अपेक्षा हो जायेगी। वे इतना ही कहते हैं कि 'क्रोध को ज्यादा न टिकने देता हो।' क्रोध आता हो, तो क्षण भर में वह जाग जाता हो, और क्रोध को विसर्जित कर देता हो।

धीरे-धीरे क्रोध नही आएगा, लेकिन वह दूर की बात है। यात्रा के पहले चरण मे क्रोध को अधिक न टिकने देना, इतना ही काफी है।

आपको पता है, आप क्रोध को कितना टिकने देते हैं ?

कुछ ऐसे लोग हैं, जिनके बाप-दादे लडे थे, इसलिए अब तक उनका क्रोध टिका है, अभी तक वे लड रहे हैं; क्योंकि वह दुश्मनी बाप-दादों से चली आ रही है। आज आपको क्रोध हो जाए, तो आप जिन्दगी भर उसको टिकने देते है। क्रोध भीतर बैठा रहता है कि कब मौका मिल जाए और आप बदला ले लें।

क्रोध, अगर एक क्षण मे उठने और खो जाने वाली घटना है, तो पानी का एक बुलबुला है। बहुत चिन्ता की कोई जरूरत नही है। एक लिहाज से अच्छा है।

वे लोग अच्छे होते हैं, जो क्रोध कर लेते हैं और भूल जाते हैं, बजाय उन लोगो के जो क्रोध को दबाए चले जाते हैं। वे लोग खतरनाक हैं। वे आज नही कल कोई उपद्रव करेंगे। उनकी केटली का ढक्कन भी बन्द है और नीचे आग भी जल रही है। विस्फोट होगा। ये किसी की जान लेंगे। उससे कम मे ये मानने वाले नहीं हैं।

एक लिहाज से वह केटली अच्छी है, जिसका ढक्कन खुला है। भाप ज्यादा हो जाती है, ढक्कन थोडा उछल जाता है, भाप बाहर निकल जाती है, केटली अपनी जगह हो जाती है।

हर आदमी एक उबलती हुई केटली है, जिन्दगी की आग उसके नीचे जल रही है। ढक्कन थोडा ढीला रखना अच्छा है। बिलकुल चुस्त मत कर लेना, जैसे संयमी लोग कर लेते हैं। सयमी लोगो का क्रोध जान लेवा हो जाता है··· 'खुद तो मरेंगे दो-चार को आस-पास मार डालेंगे।'

महावीर कहते हैं, 'जिसका ढक्कन थोडा ढीला हो।' भाप ज्यादा होती है, छलाग लगाकर बाहर निकल जाती है, ढक्कन अपनी जगह वापस हो जाता है।

क्रोध बिलकुल न हो, यह अपेक्षा किसी से भी नहीं की जा सकती, यह तो आखिरी बात है; लेकिन क्षण भर टिकता हो, बस इतना भी काफी है।

असल मे क्रोध उतनी बीमारी नहीं है, जितना टिका हुआ क्रोध बीमारी है, क्योकि टिका हुआ क्रोध, भीतर एक स्थायी धुआं हो जाता है।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो क्रोधित नही होते, क्योकि उन्हे क्रोधित होने की जरूरत नही है; वे क्रोधित रहते ही है। उनको होने वगैरह की आवश्यकता नही है, वे हमेशा तैयार ही हैं। वे तलाश कर रहे हैं कि कही खूंटी मिल जाए और वे अपने क्रोध को टांग दे। और खूंटी न मिले, तो भी वह खिडकी-दरवाजे पर कही न कही टागेंगे, निर्मित कर लेंगे खूंटी···। क्रोध निकल जाता हो। क्षण भर आता हो, तो बेहतर है। वैसा आदमी भीतर क्रोध की पर्त निर्मित नही करता, यह बडी महत्व पूर्ण बात है।

महावीर के मुह से यह बात कि क्रोध को अधिक समय तक न टिकने देता हो, बडी महत्वपूर्ण बात है।

'मित्रो के प्रति सद्भाव रखता हो।'

यह बडी हैरानी की बात है, हम कहेगे कि 'मित्रो के प्रति सद्भाव होता ही है।'

नही, यह बिलकुल झूठ है। मित्रो के प्रति सद्भाव रखना बडी कठिन बात है, क्योकि मित्र का मतलब है कि जिसको हम जानते हैं, जिसको हम भली-भाँति पहचानते हैं। जिसको हम नही पहचानते, उसके प्रति सद्भाव आसान है। जिसको हम जानते हैं, उसके प्रति सद्भाव बडा मुश्किल है। मित्रो के प्रति सद्भाव बडा मुश्किल है।

मार्क ट्वेन ने कहा है कि 'हे परमात्मा! शत्रुओ से मैं निपट लूंगा, मित्रो से तू मुझे बचाना।'

मित्र बड़ी अद्भुत चीज है। जिसे हम जानते हैं, जिसका सब कुछ हमे पता है, उसके प्रति कैसे सद्भाव रखे?

अज्ञान मे सद्भाव आसान है, ज्ञान मे मुश्किल हो जाता है। इसलिए जितना कोई हमारे निकट होता हैं, उतना ही वह दूर भी हो जाता है। और हम मित्रो के सम्बन्ध मे भी इधर-उधर की जो बातें करते रहते हैं, वह बताती हैं कि सद्भाव कितना है। पीछे-पीछे हम क्या कहते रहते हैं, उससे पता चलता है कि सद्भाव कितना है।

'शास्त्र से ज्ञान पाकर गर्व न करता हो।'

क्योंकि शास्त्र के ज्ञान का कोई मूल्य ही नही है। इसलिए गर्व व्यर्थ है। और शास्त्रो के ज्ञान से गर्व पैदा होता है, इसलिए विशेष रूप से यह सूचन किया, क्योकि शास्त्रों में जब ज्ञान मिल जाता है, तो लगता है कि मैंने जान जान लिया। अभी किताब मे पढा कि पानी प्यास बुझाता है, पर अभी पानी नही मिला। किताब मे पढा कि मिठाई बडी मीठी होती है, पर अभी स्वाद नही मिला। अभी किताब मे पढ़ा कि सूरज उगता है और प्रकाश ही प्रकाश हो जाता है, लेकिन जिन्दगी अभी अन्धेरे मे है।

तो, 'किताब को पढकर जो गर्व न करता हो।' लेकिन किताब को पढ कर गर्व आ ही जाता है। लगता है कि जान गए। इसलिए आदमी शास्त्री हो और अहंकारी न हो, यह बडा मुश्किल है।

शास्त्र अहंकार के लिए बोझिल बन जाता है; इसलिए पडितों की चाल देखें, पडितो की आँख देखें, उनकी भाव-भगिमा जरा पहचानें, तो वे जमीन पर नही चलते। वे नही चल सकते। जमीन और उनके बीच बड़ा फासला होता है। इसलिए दो पडितो को पास बैठा दें, तो जो घटना दो कुत्तो के बीच घट जाती है, वही उनके बीच घट जाती है।

'क्या हो जाता है ?'

एकदम कुत्तो के गले मे खराश आ जाती है। एकदम भौकना शुरु कर देते हैं। जब तक एक हार न जाये, तब तक दूसरे को शान्ति नही होती। मैंने तो सुना है कि पडित मर कर कुत्ते बिल्लियाँ हो जाते हैं। वही पुरानी आदत, बस भौकते चले जाते हैं।

'क्या हो जाता होगा ? शास्त्र इतना भौकता क्यों है ?'

शास्त्र नही भौकता। शास्त्र से अहकार हासिल हो जाता है। लगता है कि मैं जानता हूँ। और जब ऐसा लगता है कि मैं जानता हूँ, तो फिर और कोई जानता है,—यह मानने को मन नही होता। फिर कोई और भी जानता है, और मुझसे बहुत भिन्न जानता है, तो शत्रुता निर्मित हो जाती है। फिर सिद्ध करना जरूरी हो जाता है कि 'मैं ठीक हूँ।'

पडित सत्य की खोज मे नही होता; 'मैं ठीक हूँ'—इसकी खोज मे होता है।

महावीर कहते हैं कि 'शास्त्रों का ज्ञान पाकर गर्व न करता हो, किसी के दोषों का भंडा-फोड़ न करता हो।'

किसी के दोष पता भी चल जायें, तो उनकी चर्चा का क्या अर्थ ? आपकी चर्चा से उसके दोष न मिट जायेंगे। हो सकता है, बढ़ जायें। अगर आप सच ही चाहते हैं कि उनके दोष मिट जाएँ, तो उन दोषों की सारे जगत् में चर्चा करते रहने से कोई मतलब नही है। लेकिन इस मामले मे हम बडे सृजनात्मक लोग हैं, किसी का जरा भी दोष दिख जाएँ, तो हमारे पास 'मैग्नीफाइंग ग्लास' है, हम इतना बडा करके देखते है कि सारे ब्रह्माण्ड का विस्तार छोटा मालूम पडने लगता है।

सुना है मैंने कि मुल्ला ने अपनी पत्नी को फोन किया। फोन करना पडा क्योकि ऐसी घटना उसके हाथ मे लग गई थी। बताया कि पडोसी अहमद, अपने मित्र रहमान की पत्नी को लेकर भाग गया है, और दोनों के बच्चे सडको पर भीख माँग रहे हैं तथा और भी बहुत सी बातें बताईं।

पत्नी भी रस से भर गई, क्योकि पत्नियो को वियतनाम मे क्या हो रहा है, उससे मतलब नही है, 'पडोसी की पत्नी कहाँ भाग गई ?' यह उनके लिए बडा महत्व पूर्ण है।

पत्नी ने कहा कि 'मुल्ला ! जरा विस्तार मे बताओ।'

मुल्ला ने कहा कि 'विस्तार मे मत ले जाओ मुझे, जितना मैंने सुना है, उसका तीन-गुना मैं बता ही चुका हूँ। और अब विस्तार मे मुझे मत ले जाओ।'

जब किसी का दोष हमे दिखाई पड जाए, तो हम तत्काल उसे बडा कर लेते है, जब दूसरे का दोष बहुत बडा हो जाता है, तो अपने दोष बहुत छोटे दिखाई पडते हैं, तो बडी राहत मिलती है कि 'हम क्या हैं ? हमारे पाप भी क्या है ? दुनिया मे यह-यह घट रहा है चारो तरफ।' तो हम बड़े पुण्यात्मा मालूम पडते हैं।

दूसरे के दोष बडे कर लेने मे अपने दोषो को छोटा कर लेने की तरकीब है। खुद के दोष छोटे करना बुरा नही हैं, लेकिन दूसरे के बड़े करके अपने दोष छोटे करने का ख्याल करना पागलपन है।

लेकिन दो तरकीबे है, या तो खुद के दोष छोटे करें, तो छोटे होते है या फिर पडोसियो के दोष बडे कर लें, तब भी अपने दोष छोटे दिखाई पडने लगते हैं। यह आसान है, क्योकि पडोसियो के दोष बडे करने मे कुछ भी नही करना पड़ता।

महावीर कहते हैं कि 'भडाफोड न करता हो, मित्रों पर क्रोधित न होता हो।'

शत्रुओ पर हमारा उतना क्रोध नही होता, जितना मित्रों पर होता है। इसलिए मित्र की सफलता कोई भी बर्दाश्त नही कर पाता। कैसा मजा है आदमी के मन का ! मित्र जब तकलीफ मे होता है, तो हमें सहानुभूति बताने मे बड़ा मजा आता है; लेकिन मित्र अगर तकलीफ में न हो, सफल होता चला जाए, तब हमे बडी पीडा होती है।

जो आदमी अपने मित्र की सफलता मे सुख न पाता हो, जानना कि मित्रता है ही नही। लेकिन हमे बड़ा मजा आता है। अगर कोई दुखी है, तो हम सवेदना प्रकट करने पहुँच जाते हैं। सवेदना प्रकट करने मे बडा मजा आता है, क्योकि कोई दुखी है, हम दुखी नही है। कभी आपने देखा है ? जब आप सवेदना प्रकट करने जाते हैं, तो भीतर एक हल्का सा रस मिलता है।

किसी के मकान मे आग लग जाए, तो आप की आँख से आँसू गिरने लग जाते है। किसी का मकान आकाश छूने लगे, तब आप के पैरों मे नाच नही आता, तो जरूर इसमे कुछ खतरा है। क्योकि, सच मे ही किसी के मकान में आग लगने से हृदय रोता है, तो उसका मकान जिस दिन गगनचुबी हो जाये, उस दिन पैर नाचने चाहिए, लेकिन गगनचुबी मकान देखकर पैर नाचते नही। मकान मे आग लग जाए तो आँखें रोती है। निश्चित ही, उस रोने के पीछे रस है। इसलिए लोग 'ट्रेजडी,' दुखान्त नाटक और फिल्मो को देख कर इतना मजा पाते है, नही तो दुख दिखाने में इतना मजा क्या !

दुख को देख कर एक राहत मिलती है कि 'हम इतने दुखी नही हैं। अपने मकान अभी भी कायम हैं, कोई आग नही लगी है।' दूसरे को सुखी देखकर अगर हम सुखी होते हैं, तब समझना मित्रता है। मित्रता सूक्ष्म बात है।

महावीर कहते हैं कि मित्रो पर क्रोधित न होता हो। यह भी ध्यान रखना कि शत्रुओ पर क्रोधित होने का अर्थ होता है; क्योकि रोज-रोज होना पड़ता है।

'मित्रों पर क्रोधित न होता हो, अप्रिय मित्र की भी पीठ पीछे भलाई ही गाता हो।'

क्यों आखिर ? यह तो झूठ मालूम होगा न। आप कहेंगे; बिलकुल झूठ की शिक्षा महावीर दे रहे हैं। अप्रिय मित्र की भी पीठ पीछे भलाई गाता हो। पीठ पीछे भले की ही बात करता हो !

नही, झूठ के लिए महावीर नही कह रहे हैं। कोई आदमी इतना बुरा नहीं है कि बिल्कुल बुरा हो, कोई आदमी इतना भला भी नही है कि बिलकुल भला हो। इसलिए चुनाव है। जब आप किसी आदमी की बुराई की चर्चा करते हैं, तो इसका मतलब यह नही कि उस आदमी मे भलाई है ही नही। आपने बुराई चुन ली। जब आप किसी आदमी की भलाई की चर्चा कहते हैं, तब भी यह मतलब नही होता है कि उसमे बुराई है ही नही। आपने भलाई चुन ली।

महावीर कहते हैं, 'ऐसा बुरा आदमी खोजना कठिन है, जिसमे कोई भलाई न हो,' क्योकि बुराइयो को टिकने के लिए भलाइयों की जरूरत है। तो तुम चुनाव करना भलाई की चर्चा का। क्यो आखिर ?

क्योंकि भलाई की जितनी चर्चा की जाए, उतनी खुद के भीतर भलाई की जड़ें गहरी बैठने लगती हैं। बुराई की जितनी चर्चा की जाए, उतनी खुद के भीतर बुराई की जडे गहरी बैठने लगती हैं। हम जिसकी चर्चा करते हैं, अतत· हम वही हो जाते हैं।

लेकिन हम सब बुराई की चर्चा कर रहे है। अगर हम सब अखबार उठाकर देखें, तो पता ही नही चलता कि दुनिया मे कही कोई भलाई भी हो रही है। सब तरफ बुराई हो रही है। सब तरफ चोरी हो रही है। सब तरफ हिंसा हो रही है। अखबार देखकर लगता है कि 'शायद अपने से छोटे पापी जगत् में कोई नही हैं।' यह सब जो हो रहा है चारो तरफ, देखकर चेहरे पर एक रौनक आ जाती है। यह सारी बुराइयाँ आप सचित कर रहे हैं, अपने भीतर। यह सारी बुराई आपके भीतर प्रवेश कर रही है।

अगर हमे एक अच्छी दुनिया बनानी हो और एक अच्छे आदमी को जन्म देना हो, तो भलाई सचित करनी चाहिए। भलाई की फिक्र करनी चाहिए। और जब हम बुराई की चर्चा करते हैं, तो हमे पता नही है कि वह बुराई का संस्कार हम पर निर्मित होता चला जा रहा है।

'यह आदमी चोर है, वह आदमी चोर है, सारी दुनिया चोर है', तो जिस दिन आप चोरी करने जाते हैं, तो भीतर आपको ऐसा नही लगता है कि आप कुछ नया करने जा रहे हैं। 'सभी यही कर रहे हैं'—इस प्रकार चोरी की जड़ मजबूत होती है।

जब आप कहते हैं कि 'फलां आदमी अच्छा है', तो आपके भीतर अच्छे का आधार निर्मित होता है। फिर बुराई करने जाते हैं, तो आपको लगता है कि आप क्या कह रहे हैं। 'दुनिया मे ऐसा कोई भी नही कर रहा है।'

महावीर कहते हैं, 'किसी प्रकार का झगड़ा-फसाद न करता हो।'

झगड़े फसाद की एक वृत्ति होती है। कुछ लोग फसादी होते हैं। फसादी का मतलब यह है कि आप कोई ऐसा कारण ही नहीं दे सकते उन्हें, जिसमे से वे झगड़ा न निकाल लें। वे झगड़ा निकाल ही लेंगे। झगडा निकालने की एक कला है, एक कुशलता है। कुछ लोग उसमें इतने कुशल होते हैं कि वे किसी भी चीज में से झगड़ा निकाल लेते हैं।

मैं अपने एक मित्र को जानता हूँ। उनके पिता बड़े अद्भुत थे। ऐसे कुशल थे जिसका कोई हिसाब नहीं। अगर उनका बेटा नहा-धोकर साफ सुथरे कपड़े पहन कर दुकान पर आ जाए, तो वे ग्राहकों को इकट्ठा कर लेते थे कि 'देखो ! इसका बाप मर गया कमा-कमा कर, और यह मौज उडाता है; हमने कभी साबुन न देखी, आप देवी-देवताओं को लजा रहे हैं।'

मैंने उनके बेटे को कहा कि 'तू एक दिन बिना नहाए पहुँच जा; क्यों उनको बार-बार कष्ट देता है।'

वह पहुँच गया। पिता ने फिर भीड़ इकट्ठी कर ली और कहा कि 'जब मैं मर जाऊँ, तब इस हालत में रहना, अभी मैं जिन्दा हूँ, अभी नहाओ-धोओ अभी ठीक से रहो।'

फिर बहुत प्रयोग किये हमने, सब तरह से प्रयोग किये; लेकिन उनके पिता की कुशलता अपरिसीम थी !

कुछ भी करो उसमे से फसाद निकाला जा सकता है। महावीर कहते हैं, 'झगड़ा-फसाद न करता हो।' नहीं तो सीख न पायेगा। जीवन को बदल न पायेगा। ऊर्जा नष्ट हो जाती है इन मूढताओं में। अपनी ही शक्ति नष्ट होती है किसी और की नहीं।

'बुद्धिमान हो।'

बुद्धिमानी का अर्थ ही है कि झगड़ा-फसाद न करता हो। जीवन ऊर्जा का विध्वंसक उपयोग न करता हो; सृजनात्मक, 'क्रिएटिव' उपयोग करता हो।

'अभिजात्य हो।'

अभिजात्य कीमती शब्द है। 'अरिस्टोक्रेटिव' हो। बड़ा अजीब लगेगा समाजवाद की दुनिया में। 'अरिस्टोक्रेटिव', अभिजात्य ! लेकिन महावीर के

अर्थ में कुलीनता और अभिजात्य का अर्थ है : क्षुद्रता पर ध्यान न देता हो, शालीन हो। क्षुद्रताओं को नजर से बाहर कर देता हो। श्रेष्ठता पर ही ध्यान रखता हो। व्यर्थ को चुनता न हो और दूसरे में श्रेष्ठ होना चाहिए, इसकी तलाश करता हो।

अकुलीन का अर्थ होता है : जो पहले से मान कर बैठा हो कि लोग बुरे हैं। कुलीन का अर्थ है कि जो पहले से मानकर बैठा है कि लोग भले हैं—लोग मूलत. भले हैं, लेकिन कभी-कभी बुरे हो जाते हैं—यह बात और है। अकुलीन का अर्थ है कि लोग बुरे तो हैं ही, कभी-कभी भले हो जाते हैं, यह बात और है।

कुलीन आदमी, अभिजात्य चित्त वाला व्यक्ति, दो दिनों के बीच मे एक रात को देखता है। अकुलीन व्यक्ति दो रात के बीच मे एक दिन को देखता है। कुलीन व्यक्ति फूलो को गिनता है, काटो को नही, और मानता है कि 'जहाँ फूल होते हैं, वहाँ थोड़े काँटे भी होते हैं और उनसे कुछ हर्ज नही होता। काँटे भी फूल की रक्षा करते हैं।'

अकुलीन चित्त पहले काँटो की गिनती करता है और जब वह सब काँटो को गिन लेता है, तो कहता है कि 'एक दो फूल से होता भी क्या है ? जहाँ इतने काँटे हैं, वहाँ एक-दो फूल धोखा है।'

कुलीनता, अकुलीनता नाम हैं, आप क्या चुनते हैं। श्रेष्ठ का दर्शन—अभिजात्य है। अश्रेष्ठ का दर्शन—क्षुद्रता है।

'अभिजात्य हो, आँख की शर्म रखने वाला स्थिर वृत्ति हो।'

मैंने सुना है कि अकबर के तीन पदाधिकारियों ने राज्य को धोखा दिया, राज्य के खजाने को धोखा दिया। पहले पदाधिकारी को अकबर ने बुला कर कहा कि 'तुमसे ऐसी आशा न थी।'

कहते हैं उस आदमी ने उसी दिन साँझ जा कर आत्महत्या कर ली। दूसरे आदमी को साल भर की सजा हुई और तीसरे आदमी को पन्द्रह साल की सजा मिली और सडक पर नग्न खडा करके कोडे लगवाये। मंत्री बड़े चिन्तित हुए, क्योकि जुर्म एक था और सजाएं बहुत भिन्न थी।

अकबर से पूछा मन्त्रियों ने, "कुछ समझ मे नही आता, यह न्याय युक्त

नहीं मालूम होता, तीनो का जुर्म एक था, लेकिन एक को आपने सिर्फ इतना ही कहा कि तुमसे इतनी आशा न थी।"

अकबर ने कहा कि 'वह आँख की शर्मवाला आदमी था, इतना बहुत था, इतना जरूरत से ज्यादा था।

"दूसरे को आपने साल भर की सजा दी ?"

अकबर ने कहा, "वह थोड़ा मोटी चमडी का था।"

"और तीसरे को नग्न करके कोडे लगवाए, और जेल में डलवाया ?"

अकबर ने कहा, "जाकर तीसरे से मिलो, तो तुम्हें समझ में आ जायेगा।"

तीसरे को कोडे के निशान भी नही मिटे थे। वह बड़े मजे में था और उसने कहा कि 'पन्द्रह वर्ष की तो बात है, और जितना मैंने खजाने से मार दिया है, उतना पन्द्रह वर्ष नौकरी करके भी तो नही मिल सकता, और पन्द्रह वर्ष की ही तो बात है, फिर तो मैं बाहर आ जाऊँगा। इतना मार दिया है कि पीढ़ी दर पीढी बच्चे मजा करे, कोई ऐसी चिन्ता की बात नही। फिर यहाँ ऐसी क्या तकलीफ।'

मन्त्री ने कहा, "बडे पागल हो, सडक पर इतने कोड़े खाए !"

उसने कहा, "बदनामी भी हो, तो नाम तो होता है। कौन जानता था पहले ? आज सारी दिल्ली मे अपनी ही चर्चा है।"

आज इतना ही, पाँच मिनट रुकें, कीर्तन करें।

●

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१२ सितम्बर, १९७२

नौवां प्रवचन

चतुरंगीय-सूत्र

•

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

कम्माणं तु पहाणए, आणुपुव्वी कयाई उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययन्ति मणुस्सयं॥

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धु, संवुडे निद्धुणे रयं॥

संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अंगों का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है: मनुष्यत्व, धर्म-श्रवण, श्रद्धा और संयम (साधना के लिए पुरुषार्थ)।

संसार में परिभ्रमण करते-करते जब कभी बहुत काल में पाप कर्मों का वेग क्षीण होता है और उसके फलस्वरूप अन्तरात्मा क्रमशः शुद्धि को प्राप्त करता है; तब कहीं मनुष्य का जन्म मिलता है।

यथार्थ में मनुष्य जन्म उसे ही प्राप्त हुआ जो सद्धर्म का श्रवण कर उस पर श्रद्धा लाता है और तदनुसार पुरुषार्थ कर आस्रव रहित हो अन्तरात्मा पर से समस्त कर्म-रज को झाड़कर फेंक देता है।

●

● पहले एक दो प्रश्न।

एक मित्र ने पूछा है, 'कहीं आपने कहा था कि कोई भी बात, जिसका तुम्हारी बुद्धि और चिन्तन से तालमेल न बैठ सके, उसे मत मानना, उसे छोड़ देना; चाहे वह बात कृष्ण की हो या मेरी हो या किसी की भी हो।'

आपकी बहुत सी बातें प्रीतिकर एवम् श्रेष्ठकर मालूम होती हैं। उनसे जीवन में परिवर्तन करने का यथा-शक्ति प्रयत्न भी करता हूँ, लेकिन शिष्य-भाव सम्पूर्णतय· ग्रहण करने की मेरी क्षमता नहीं है।'

'मैं आपकी सूचनाओं से फायदा उठा रहा हूँ। अगर मेरी कुछ प्रगति हुई, तो किसी दिन कोई प्रार्थना लेकर, अगर शिष्य-भाव से रहित, मैं आपके समक्ष उपस्थित हो जाऊँ, तो क्या आप मेरी सहायता करेंगे या नहीं ?'

'सतयुग में कृष्ण ने कहा था—'मामेकं शरणं व्रज', सब छोड़ कर मेरी शरण में आ जा। इस युग में ऐसा कोई कहे, तो कहाँ तक कार्यक्षम और उचित होगा ?'

इस सम्बन्ध मे दो-चार बातें समझ लेनी साधकों के लिए उपयोगी हैं।

पहली बात तो यह कि अब भी मैं यही कहता हूँ कि जो बात आपकी बुद्धि को उचित मालूम पड़े, आपके विवेक से तालमेल खाए, उसे ही स्वीकार करना, जो बात ताल-मेल न खाये, उसे छोड़ देना, फेंक देना—गुरु की तलाश में भी यह बात लागू है, लेकिन तलाश के बाद यह बात लागू नही है—सब तरह से कोशिश करना, सब तरह से बुद्धि का उपयोग करना—सोचना, समझना, लेकिन जब कोई गुरु आपके विवेक से ताल-मेल खा जाये और आपकी बुद्धि कहने लगे कि मिल गई वह जगह, जहाँ सब छोड़ा जा सकता है, तो फिर रुकना मत—फिर छोड़ देना····लेकिन, अगर कोई यह सोचता हो कि एक बार किसी के प्रति शिष्य भाव लेने पर फिर इंच-इंच अपनी बुद्धि को बीच में लाना ही है तो उसकी कोई भी गति न हो पायेगी; उसकी हालत वैसी हो जायेगी, जैसे

छोटे बच्चे आम की गुठली को जमीन में गाड देते हैं और फिर बार-बार जा कर देखते हैं कि अभी तक अंकुर फूटा कि नही। उनकी गुठली मे कभी भी अंकुर नही फुटेगा। जब गुठली को गाड़ दिया, तो फिर थोडा धैर्य और प्रतीक्षा करनी होगी; बार-बार उखाड़ कर देखने से अंकुरण नही होगा।

तो कृष्ण ने भी जब कहा है—'मामेक शरण व्रज', तो इसका मतलब यह नही है कि तुम बिना सोचे समझे किसी के भी चरणों मे सिर रख देना—पूरी सोच समझ का, सारी बुद्धि का उपयोग कर लेना, लेकिन जब बुद्धि और विवेक कहे कि ठीक वह जगह आ गई, जहां सिर झुकाया जा सकता है, तो फिर सिर झुका लेना।

इन दोनों बातों मे कोई विरोध नहीं है। इन दोनो बातों मे विरोध दिखाई पडता है, लेकिन विरोध है नही। अर्जुन ने भी ऐसे ही सिर नही झुका दिया था, अन्यथा यह सारी गीता पैदा नही हो सकती थी। उसने कृष्ण को सब तरह से परीक्षा कर ली थी; जो भी पूछा जा सकता था, वह उसने पूछ लिया था, तभी वह उनके चरणो में झुका था···लेकिन, अगर कोई यह कहे कि यह खोज जारी ही रखनी है, तो फिर जिज्ञासा तक ही बात रुकी रहेगी और यात्रा कभी शुरू न होगी।

यात्रा शुरू करने का अर्थ यह है, कि जिज्ञासा पूरी हुई। अब हम निर्णय लेते हैं और यात्रा शुरू करते हैं। अन्यथा यात्रा कभी भी नही हो सकती।

तो, एक तो दार्शनिक का जगत् है, वहाँ आप जीवन भर जिज्ञासा जारी रख सकते हैं। धार्मिक का जगत् भिन्न है, वहाँ जिज्ञासा की जगह है, लेकिन प्राथमिक। और जब जिज्ञासा पूरी हो जाती है, तो यात्रा शुरू होती है।

दार्शनिक कभी यात्रा पर नही निकलता, वह सोचता ही रहता है। धार्मिक भी सोचता है, लेकिन यात्रा पर निकलने के लिए ही सोचता है। और अगर यात्रा पर एक-एक कदम करके सोचते ही चले जाना है, तो यात्रा कभी भी नहीं हो पायेगी।

निर्णय के पहले चिन्तन करें और निर्णय के बाद समर्पण।

इन मित्र ने पूछा है कि गुरु पद की आपकी परिभाषा बड़ी अद्भुत और हृदयंगम प्रतीत हुई, लेकिन शिष्य-भाव को सम्पूर्णतया ग्रहण करने की मेरी क्षमता नही है।

सम्पूर्णतया इस बात को ग्रहण करने की क्षमता किसमें है? आदमी का मन बँटा हुआ है। हम सिर्फ एक स्वर को मानकर जीते हैं। सम्पूर्ण स्वर तो

हमारे भीतर अभी पैदा नहीं हो सकता। वह तो होगा ही तब, जब हमारे भीतर मन के सारे खण्ड बिखर जाएँ, अलग हो जाएँ, और एक चेतना का जन्म हो। यह एक चेतना आपके पास अभी है नहीं; इसलिए आप सम्पूर्णतया कोई भी निर्णय नहीं ले सकते। आप जो भी निर्णय लेते हैं, वह प्रतिशत निर्णय होता है। आप तय करते हैं कि इस स्त्री से विवाह करता हूँ; क्या यह सम्पूर्णतया है, सौ प्रतिशत? सत्तर प्रतिशत होगा, साठ प्रतिशत होगा, नब्बे प्रतिशत होगा, लेकिन दस प्रतिशत हिस्सा अभी भी कहता है कि मत करो; पता नहीं क्या स्थिति बने।

आप जब भी कोई निर्णय लेते हैं, तो उसमे कभी आपके पूरे मन का साथ नहीं होता, क्योंकि पूरे मन जैसी कोई चीज ही आपके पास नही है। आपका मन सदा बँटा हुआ है, खण्ड-खण्ड है। इसलिए बुद्धिमान आदमी इसकी प्रतीक्षा नही करता कि जब मेरा सम्पूर्ण मन राजी होगा, तब मैं कुछ करूँगा। हाँ, बुद्धिमान आदमी इतनी जरूर फिक्र करता है कि जिस सम्बन्ध मे मेरा मन अधिक प्रतिशत राजी है, वह मैं करूँगा। पर मैंने इधर यह अनुभव किया है कि अनेक लोग यह सोचकर कि अभी पूरा मन तैयार नही है, इसलिये अल्पमतीय मन के साथ निर्णय कर लेते हैं।

निर्णय तो करना ही पड़ेगा। बिना निर्णय के रहना असम्भव है। एक बात तय है कि आप निर्णय करेंगे—चाहे निषेध का, चाहे विधेय का।

एक सज्जन मेरे पास आये और आकर उन्होंने कहा कि मेरा साठ सत्तर प्रतिशत मन तो संन्यास का है, लेकिन तीस चालीस प्रतिशत मन संन्यास का नही है इसलिए अभी मैं रुकता हूँ। जब मेरा मन पूरा हो जायेगा, तब मैं निर्णय करूँगा।

मैंने उनसे कहा, 'निर्णय तो तुम कर ही रहे हो, पर रुकने का कर रहे हो। और रुकने के बाबत तीस चालीस प्रतिशत मन है, और लेने के बाबत साठ सत्तर प्रतिशत मन है, तो तुम निर्णय अल्पमत के पक्ष में ले रहे हो।'

आप निर्णय लेने से तो रुक ही नहीं सकते। निर्णय तो लेना ही पड़ेगा; उसमें कोई स्वतंत्रता नही है। हाँ, आप इस तरफ या उस तरफ निर्णय ले सकते हैं।

जब एक आदमी कहता है कि मैं अभी संन्यास नहीं ले रहा हूँ, तो वह सोचता है कि मैंने निर्णय अभी नहीं लिया। निर्णय तो ले लिया। यह न लेना,

निर्णय है। और न लेने के लिए तीस चालीस प्रतिशत मन था और लेने के लिए साठ सत्तर प्रतिशत मन था। इस निर्णय को मैं बुद्धिमानी पूर्ण नहीं कहूँगा।

फिर एक और मजे की बात है कि जिसके पक्ष में आप निर्णय ले लेते हैं, उसकी शक्ति बढने लगती है, क्योकि निर्णय समर्थन है। अगर आप तीस प्रतिशत मन के पक्ष में निर्णय लेते हैं कि अभी मैं संन्यास नहीं लूँगा, तो यह निर्णय तीस प्रतिशत को कल साठ प्रतिशत कर देगा और जो आज साठ प्रतिशत मालूम पड़ रहा था, वह कल तीस प्रतिशत हो जायेगा।

तो ध्यान रखना, जब सन्यास लेने का सत्तर प्रतिशत मन हो रहा था, तब आपने सन्यास नही लिया, और जब तीस प्रतिशत सन्यास लेने का मन रह जायेगा, तब आप कैसे लेंगे ? और एक बात तय है कि सौ प्रतिशत मन आपके पास है नही। अगर है, तो निर्णय लेने की कोई जरूरत भी नही है।

सौ प्रतिशत मन का मतलब है कि एक स्वर आप के भीतर पैदा हो गया है। वह एक स्वर अतिम घडी में पैदा होता है, जब समाधि को कोई उपलब्ध होता है। समाधि के पहले आदमी के पास सौ प्रतिशत निर्णय नही होता। छोटी बात हो या बडी, आज सिनेमा देखना है या नही—इसमे भी; और परमात्मा के निकट जाना है या नही—इसमें भी, आप के पास हमेशा बँटा हुआ मन होता है।

इन मित्र ने कहा है, 'सम्पूर्णतया शिष्य-भाव ग्रहण करने की मेरी क्षमता नही है, लेकिन, क्या सम्पूर्णतया शिष्य-भाव से बचने की क्षमता है ?

वह भी नही है।

क्योकि वह कहते हैं, 'किसी दिन मैं आप के पास आऊँ प्रार्थना लेकर, कोई प्रश्न लेकर तो क्या आप मेरी सहायता करेंगे ?'

दूसरे से सहायता माँगने की बात ही बताती है कि सम्पूर्णतया शिष्य भाव से बचना भी आसान नही है, सम्भव नही है। निर्णय आप ले ही रहे हैं। पर यह निर्णय शिष्यत्व के पक्ष मे न लेकर शिष्यत्व के विपरीत ले रहे हैं। क्योंकि शिष्यत्व के पक्ष मे अहंकार को रस नही है, अहकार को कठिनाई है; शिष्यत्व के विपरीत अहंकार को रस है।

उन मित्र से मैं कहना चाहूँगा तथा और सभी से भी कि आप शिष्य-भाव से आएँ, मित्र भाव से आएँ या गुरु भाव से आएँ; मैं आपकी सहायता करूँगा ही, लेकिन आप उस सहायता को ले नही पायेंगे। एक बर्तन नदी से कहे कि मैं

ढक्कन बन्द तेरे भीतर आऊँ तो पानी तू देगी या नहीं, तो नदी कहेगी, पानी मैं दे ही रही हूँ, तुम ढक्कन बन्द करके आओ या खुला करके आओ।

नदी का देना ही काफी नही है, पात्र को लेना भी पड़ता है। शिष्यत्व का मतलब कुल इतना ही है कि पात्र लेने को आया है, उतनी तैयारी है सीखने की, और तो कोई अर्थ नही है शिष्यत्व का।

भाषा बड़ी दिक्कत में डाल देती है, भाषा में ऐसा लगता है कि सवाल ठीक है। "अगर मैं बिना शिष्य-भाव लिये आप के पास आऊँ।"

बिना शिष्य-भाव लिये पास आ कैसे सकते हैं! पास आने का मतलब ही शिष्य-भाव होगा। शरीर के पास आ जायेंगे, लेकिन अन्तस् के पास नही आ पायेंगे; और बिना शिष्य-भाव के आने का अर्थ है कि सीखने की मेरी तैयारी नही है, फिर भी आप मुझे सिखायेंगे या नहीं? मैं खुला नही रहूँगा, फिर भी आप मेरे ऊपर वर्षा करेंगे या नही?

वर्षा क्या करेगी! पात्र ही अगर बन्द हो, उल्टा हो।

बुद्ध ने कहा है: कुछ पात्र वर्षा मे भी खाली रह जाते हैं, क्योंकि वे उल्टे जमीन पर रखे होते हैं।

वर्षा क्या करेगी! झीलें भर जायेंगी, पर छोटा सा पात्र खाली रह जायेगा। पात्र शायद यही सोचेगा कि वर्षा पक्षपातपूर्ण है; मुझे नहीं भर रही है, लेकिन उल्टे पात्र को भरना वर्षा के भी सामर्थ्य के बाहर है।

आज तक कोई भी गुरु उल्टे पात्र में कुछ भी नही डाल सका है। वह सम्भव नहीं है। वह नियम के बाहर है। उल्टे पात्र का मतलब ही यह है कि आप की तैयारी पूरी है कि नही डालने देंगे।

आपकी इच्छा के विपरीत कुछ भी नही डाला जा सकता, और यह उचित भी है कि आपकी इच्छा के विपरीत कुछ भी न डाला जा सके, अन्यथा आपकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाएगी। अगर इच्छा के विपरीत कुछ डाला जा सके, तो आदमी फिर गुलाम होगा। आप की स्वेच्छा आपको खोलती है। आपकी नम्रता आपके पात्र को सीधा रखती है। आपका शिष्य-भाव और आपकी सीखने की आकांक्षा, आप के ग्रहण करने के भाव को बढ़ाती है।

सहायता तो मैं करूँगा ही, लेकिन सहायता होगी कि नही, यह नहीं कहा जा सकता, सहायता पहुँचेगी या नहीं, यह नही कहा जा सकता। सूरज तो निकलेगा ही, लेकिन आपकी आँखें बन्द होगी, तो सूरज आपकी आँखों

को खोल नहीं सकता। आँखे खुली होगी, तो प्रकाश मिल जायेगा; आँखें बन्द होगी, तो प्रकाश नहीं मिलेगा।

इस मित्र को अगर ऐसा कहे, तो ठीक होगा कि वे सूरज से कहें कि अगर मैं बन्द आँखें तुम्हारे पास आऊँ, तो तुम मुझे प्रकाश दोगे कि नहीं! सूरज कहेगा कि प्रकाश तो दिया ही जा रहा है। मेरा होना ही प्रकाश का देना है। उस सम्बन्ध मे कोई शर्त नही है। अगर तुम्हारी आँखें बन्द होंगी, तो प्रकाश तुम तक नही पहुँचेगा। प्रकाश आँख के द्वार पर आकर रुक जायेगा। सहायता बाहर पडी रह जायेगी। वह भीतर तक नही पहुँचेगी। भीतर तक पहुँचने की जो ग्रहणशीलता है, उसी का नाम शिष्यत्व है।

उन मित्र ने पूछा है कि कृष्ण ने कहा था कभी, 'मामेक शरण व्रज'। 'आज कोई कहेगा, तो कार्यक्षम होगा कि नही?'

जिन्हें सीखने की अभीप्सा है, उन्हें सदा ही कार्यक्षम होगा; और जिन्हे सीखने की क्षमता नही है, उन्हे कभी भी कार्यक्षम नही होगा। उस दिन भी कृष्ण अर्जुन से ही कह सके, दुर्योधन से कहने का उस दिन भी कोई उपाय न था।

सतयुग और कलयुग युग नही हैं; आपकी मर्जी के नाम हैं। आप अभी भी सतयुग मे हो सकते है, दुर्योधन तब भी कलयुग मे था। सतयुग और कलयुग व्यक्ति की अपनी वृत्तियों के नाम हैं।

अगर सीखने की क्षमता है, तो कृष्ण का वाक्य आज भी अर्थपूर्ण है, नहीं है क्षमता, तो उस दिन भी अर्थ-पूर्ण नही था। सीखने की क्षमता बड़ी कठिन बात है। सीखने का हमारा मन नही होता। क्योंकि अहंकार को बड़ी चोट लगती है। कल एक मित्र दो विदेशी मित्रों को लेकर मेरे पास आ गये थे। पति-पत्नी थे दोनों और दोनो ईसाई-धर्म के प्रचारक थे। आते ही उन मित्र ने कहा, कि 'आई बीलीव्ह इन द ट्रू गॉड।' 'मेरा सच्चे ईश्वर मे विश्वास है।' मैंने उनसे पूछा. 'कोई झूठा ईश्वर भी होता है?' ईश्वर में विश्वास है—इतना ही कहना काफी है। हर वाक्य के साथ वे बोलते थे, "आई बिलीव्ह इन दिस।' वाक्य ही शुरू होता था, "आई बिलीव्ह इन दिस।" (मेरा इसमें विश्वास है।) मैंने उनसे कहा कि जब आदमी जानता है, तो विश्वास की भाषा नहीं बोलता। कोई नही कहता कि सूरज में मेरा विश्वास है। हाँ, अंधे कह सकते हैं कि सूरज में मेरा विश्वास है।

अज्ञान विश्वास की भाषा बोलता है। विश्वास की भाषा, आस्था की भाषा नहीं है। आस्था बोली नहीं जाती, आस्था की सुगन्ध होती है। जब बोला जाता है, तो उसमें आस्था झलकती है। आस्था को सीधा नहीं बोलना पड़ता।

...मैंने उनसे कहा हर वाक्य में यह कहना कि मेरा यह विश्वास है, बताता है कि भीतर गहरा अविश्वास है, तो वे चौंक गये और उन्होंने अपने चित्त के द्वार बन्द कर लिये। उन्होंने मुझे सुनना बन्द कर दिया। फिर वे जोर-जोर से बोलने लगे, ताकि मैं जो बोल रहा हूँ वह उन्हें सुनाई न पड़े। जब मैं बोलता था, तब वह भी बोलते थे। फिर वे अनर्गल बोलने लगे, क्योंकि जब द्वार कोई बन्द कर लेता है, तो संगतियाँ खो जाती हैं। फिर तो बडी मजेदार बातें हुईं। वे कहने लगे, "ईश्वर प्रेम है।" मैंने उनसे पूछा, "फिर घृणा कौन है?" तो वे कहने लगे, "शैतान है।" तो मैंने पूछा, "शैतान को किसने बनाया?" उन्होंने कहा, "ईश्वर ने।" तो फिर मैंने कहा, "सच्चा पापी कौन है? शैतान घृणा बनाता है, और ईश्वर शैतान को बनाता है। फिर असली 'कलप्रिट', असली उपद्रवी कौन है? फिर तो ईश्वर ही फँसेगा और अगर ईश्वर ही शैतान बनाता है, तो तुम कौन हो शैतान के खिलाफ जाने वाले? और जा कैसे पाओगे?"

मगर नही, फिर तो उन्होंने सुनना-समझना बिल्कुल बन्द कर दिया। उन्होंने होश ही खो दिया।

हम अपने मन को बिल्कुल बन्द कर ले सकते है; और जिन लोगो को भी वहम हो जाता है कि वे जानते हैं, उनका मन बन्द हो जाता है।

शिष्य-भाव का अर्थ है: अज्ञानी के भाव से आना। शिष्य-भाव का अर्थ है कि मैं नही जानता इसलिए सीखने आ रहा हूँ। मित्र-भाव का अर्थ है कि हम भी जानते हैं; तुम भी जानते हो, थोड़ा लेन-देन होगा। गुरु-भाव का अर्थ है तुम नही जानते, मैं जानता हूँ, मै सिखाने आ रहा हूँ।

अहकार को बड़ी कठिनाई होती है सीखने मे। सीखना बड़ा अप्रीतिकर मालूम पड़ता है। इसलिए कृष्ण का वचन ऐसा लगेगा कि इस युग के लिए नही है। लेकिन युग की क्यो चिन्ता करते हैं? असल मे ऐसा लगता होगा कि मेरे लिए नहीं, इसलिए युग की बात उठती है। अगर मेरे लिए नही है, तो फिर मुझे दूसरे से सीखने की बात ही छोड़ देनी चाहिये।

दो ही उपाय हैं: सीखना हो तो शिष्य-भाव से सीखा जा सकता है, न सीखना हो, तो फिर सीखने की बात ही छोड देनी चाहिये। दो में से कोई एक विकल्प है: या तो मैं सीखूंगा ही नही; अपने अज्ञान से राजी रहूँगा, कोशिश करता रहूँगा अपनी, कुछ हो जायेगा, तो हो जायेगा; नही होगा, तो नही होगा; लेकिन दूसरे के पास सीखने नहीं जाऊँगा—यह भी 'ऑनेस्ट' है; यह

भी बात ईमानदारी की है। या फिर जब दूसरे के पास सीखने जाऊँगा, तो फिर सीखने का पूरा भाव लेकर जाऊँगा—यह बात भी ईमानदारी की है। पर हमारे युग की, कलयुग की कोई खूबी है, तो वह है—बेईमानी। बेईमानी का मतलब यह है कि हम दोनो नावो पर पैर रखे हैं। मुझे एक मित्र बार-बार पत्र लिखते हैं कि 'मुझे आपसे सन्यास लेना है, लेकिन आपको मैं गुरु नहीं बना सकता।'

'तो फिर मुझसे सन्यास क्यों लेना है ! गुरु बनाने में क्या तकलीफ आ रही है ? और अगर तकलीफ आ रही है, तो सन्यास क्यों लेना ? खुद को ही सन्यास दे देना चाहिये, किसी से क्यो लेना ? कौन रोकेगा तुम्हें; दे दो अपने को संन्यास।'

लेकिन तब भीतर का खालीपन भी दिखाई पड़ता है, अज्ञान भी दिखाई पडता है, उसको भरने के लिए किसी से सीखना भी है और यह भी स्वीकार नही करना है कि किसी से सीखा है।

स्वीकृति का कोई गुरु को मोह नहीं होता, कि आप स्वीकार करें कि उमसे सीखा। पर स्वीकृति की जिसकी तैयारी नही है, वह सीख नही पाता; यह अडचन है। इसलिए कृष्णमूर्ति का आकर्षण बहुत कीमती हो गया, क्योकि वह आकर्षण हमारी बेईमानी के बडे अनुकूल है।

कृष्णमूर्ति कहते हैं . मैं तुम्हारा गुरु नही, मैं तुम्हें सीखाता नहीं, वह यह भी कहते हैं कि मैं जो बोल रहा हूँ, वह कोई शिक्षा नही है, वह संवाद है। तुम सुननेवाले हो और मैं बोलने वाला हूँ, ऐसा नही। यह संवाद है, हम दोनों का।

कृष्णमूर्ति को लोग चालीस-चालीस साल से सुन रहे हैं। उनकी खोपड़ी मे कृष्णमूर्ति के शब्द भर गये हैं। यह बिलकुल 'ग्रामाफोन रिकॉर्ड' हो गये हैं। वे वही दोहराते हैं, जो कृष्णमूर्ति कहते हैं। सीखे चले जा रहे हैं उनसे और फिर भी यह नहीं कहते कि हमने उनसे कुछ सीखा है।

एक देवी उनसे बहुत कुछ सीख कर कुछ बोलती रहती हैं। बहुत मजेदार घटना घटी कि उन देवी को कृष्णमूर्ति के ही मानने वाले लोग यूरोप और अमेरिका ले गये। उनके ही मानने वाले लोगो ने उनकी छोटी गोष्ठियाँ रखी। वे लोग बड़े हैरान हुए; क्योकि वह देवी बिल्कुल 'ग्रामाफोन रिकॉर्ड' हैं, वह वही बोल रही है, जो कृष्णमूर्ति बोलते हैं।

लेकिन कोई कितना ही 'ग्रामाफोन रिकॉर्ड' हो जाये, 'कार्बन-कॉपी' ही होता है, 'ओरिजिनल' तो हो नहीं सकता; कोई उपाय नही है।

तो जिन मित्रो ने सुना, उन्होंने कहा कि आप ठीक कृष्णमूर्ति की बात कह रही हैं। आप उनका ही प्रचार कर रही हैं, तो उनको बड़ा दुख हुआ। उन्होंने कहा कि मैं उनका प्रचार नहीं कर रही हूँ; यह तो मेरा अनुभव है। उन मित्रों ने कहा कि 'इसमें एक शब्द आपका नही है, यह आपका अनुभव कैसा! चुकता उधार है।'

तो वह कृष्णमूर्ति के पास गई। उन देवी ने ही मुझे सब बताया है। कृष्णमूर्ति से जाकर उन्होने कहा कि 'लोग कहते हैं कि जो भी मैं बोल रही हूँ, वह मैं आप से सीख कर बोल रही हूँ; पर मैं तो अपने भीतरी अनुभव से बोल रही हूँ। आप ही मुझे बताइये कि मैं आप की बात बोल रही हूँ कि अपने भीतरी अनुभव से बोल रही हूँ।'

कृष्णमूर्ति जैसा विनम्र आदमी क्या कहेगा। कृष्णमूर्ति ने कहा, "बिलकुल ठीक है, अगर तुम्हें लगता है कि तुम अपने अनुभव से बोल रही हो, तो बिलकुल ठीक है।'

यह 'सटिफिकेट' हो गया।

अब वह देवी कहती फिरती हैं कि कृष्णमूर्ति ने कहा है कि तुम अपने अनुभव से बोल रही हो।

तुम्हारे अनुभव के लिए भी कृष्णमूर्ति के 'सर्टीफिकेट' की जरूरत है; तभी वह प्रमाणित होता है!

शब्द कृष्णमूर्ति के, प्रमाणपत्र कृष्णमूर्ति का और इतनी विनम्रता भी नही कहने की, कि मैंने आपसे सीखा है।

यह है हमारी बेईमानी।

लेकिन मैं आप से कहता हूँ कि चालीस साल नहीं पचास साल कृष्णमूर्ति को कोई सुनता रहे, जो शिष्य-भाव से सुनने नहीं गया है, वह कुछ भी सीख नहीं पायेगा। शब्द सीख लेगा, पर उनके अन्तस् में कोई क्राति घटित नही होगी। जिसके अन्तस् मे अभी इतनी विनम्रता भी नही है कि जिससे सीखा हो, उसके चरणो में सिर रख सके; चरणों में सिर रखने की बात दूर, जो इतना भी न कह सके कि मैंने किसी से सीखा है—इतना भी जिसका विनम्र भाव नही है, उसके भीतर कोई क्रांति नही हो सकती। उसके चारों तरफ पत्थर जैसी दीवार खड़ी है अहंकार की। उसके भीतर कोई किरण नहीं पहुँच सकती। हाँ, शब्द हो सकते हैं। लेकिन उनसे कोई हृदय रूपान्तरित नही होता।

यह तो उचित है कि गुरु कहे कि मैं तुम्हारा गुरु नही, पर यह उचित नहीं है कि शिष्य कहे कि मैं तुम्हारा शिष्य नही ।

क्यों ?

क्योकि इन दोनो के बीच औचित्य का एक ही कारण है अगर गुरु कहे कि मैं तुम्हारा गुरु हूँ, तो यह भी अहकार की भाषा है; और शिष्य अगर कहे कि मैं तुम्हारा शिष्य नहीं हूँ, तो यह भी अहकार की भाषा है ।

गहरा ताल-मेल तो वहाँ होता है, जहाँ गुरु कहता है कि मै कैसा गुरु और जहाँ शिष्य कहता है कि मैं शिष्य हूँ, वहाँ मिलन होता है । लेकिन हम बेईमान हैं । जब गुरु कहता है कि मैं तुम्हारा गुरु नही, तब वह इतना ही कह रहा है कि मेरा अहकार तुम्हारे ऊपर रखने की कोई भी जरूरत नही है । लेकिन हम बड़े प्रसन्न होते हैं । तब हम कहते हैं कि बिलकुल ठीक है, जब तुम ही गुरु नही हो, तो हम कैसे शिष्य ! बात ही खतम हो गई ।

हम ऐसे गुरु को मानते है, जो चिल्ला कर, हमारी छाती पर खड़े होकर कहे कि 'मैं तुम्हारा गुरु हूँ ।'

वैसा गुरु व्यर्थ है, जो आप से चिल्ला कर कहता है, 'मै तुम्हारा गुरु हूँ ।' जो दूसरे को सिखाने मे भी अपने अहकार का पोषण कर रहा हो, वह गुरु होने के योग्य नही है ।

इसलिए जो गुरु कहे कि 'मैं तुम्हारा गुरु हूँ,' वह गुरु होने के योग्य नही है । जो गुरु कहे, 'मैं तुम्हारा गुरु नही,' वह गुरु होने के योग्य है । लेकिन जो शिष्य कहे कि 'मै शिष्य नही हूँ,' वह शिष्य होने के योग्य नही रह जाता है । जो शिष्य कहे कि 'मैं शिष्य हूँ—पूरे भाव से ।'

पूरे भाव का मतलब जितनी मेरी सामर्थ्य है, उतना । पूरे का मतलब, सम्पूर्णतया नही है, पूरे का मतलब—जितनी मेरी सामर्थ्य है । मेरे अत्यधिक मन से मैं समर्पित हूँ ।

ऐसा शिष्य और ऐसा गुरु । गुरु जो इन्कार करता हो, गुरुत्व से, शिष्य जो स्वीकार करता हो, शिष्यत्व को; उन दोनो के बीच सामिप्य घटित होता है । वह निकटता जो महावीर ने कही है वह ऐसे समय घटित होती है । और तब है मिलन, जब सूरज जबरदस्ती किरणें फेंकने को उत्सुक नहीं होता, बल्कि चुपचाप फेंकता रहता है, और जब आँखें जबरजस्ती सूरज को भीतर ले आने

की पागल चेष्टा नहीं करती, चुप-चाप खुली रहती है। जब आँखें कहती हैं, हम भी लेंगे प्रकाश को और सूरज को पता नहीं कि वह प्रकाश दे रहा है, तब मिलन घटित होता है। अगर सूरज कहे कि मैं प्रकाश दे रहा हूँ, तो आक्रमण हो जाता है। और शिष्य अगर कहे कि मैं प्रकाश लूँगा नहीं, तुम दे देना, तो सुरक्षा शुरु हो जाती है। सुरक्षित शिष्य तक कुछ भी नहीं पहुँचाया जा सकता। दिया जा सकता है, पर पहुँचेगा नहीं।

एक बात समझ लेनी चाहिए, जो मुझे पता नहीं है, उसे जानने के दो ही उपाय हैं: या तो मैं खुद ही कोशिश करता हूँ, जो कि आसान नहीं है। अति कठिन है यह भी। या फिर मैं किसी का सहारा ले लूँ। यह भी आसान नहीं है। अति कठिन है यह भी।

अपने ही पैरो पर चलने की तैयारी हो, तो फिर संकल्प की साधनाएँ हैं, समर्पण की नहीं। तब कितना ही अज्ञान में भटकना पड़े। सब सहायता से बचना है। सहायता की खोज में नहीं जाना है। क्योंकि सहायता की खोज में जाने का मतलब ही है कि समर्पण की शुरुआत हो गई। तब कहीं से सहायता मिलती हो, तो द्वार बन्द कर लेना है। कहना है कि मर जाऊँगा, लेकिन कहीं कोई सहायता लेने नहीं जाऊँगा।

इसे हिम्मत से पूरा करना। यह बड़ा कठिन मामला है। अगर सहायता लेनी है, तो फिर समर्पण का भाव होना चाहिए। फिर संकल्प छोड़ देना चाहिए। जो संकल्प और समर्पण दोनों की नाव पर खड़ा होता है, वह बुरी तरह डूबता है। और हम सब दोनों नाव पर खड़े हैं। इसलिए हम कहीं पहुँचते नहीं।

दोनों नावो की यात्रा-पथ अलग है; और दोनों नावो की साधना-पद्धतियाँ अलग हैं, और दोनो नावो की पूरी भाव-दशा अलग है—इसे ख्याल रखें।

● अब सूत्र।

महावीर ने कहा है: 'संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अंगो का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है: मनुष्यत्व, धर्म-श्रवण, श्रद्धा और संयम (साधना) के लिए पुरुषार्थ।

मनुष्यत्व का अर्थ केवल मनुष्य हो जाना नहीं है, ऐसे तो वह अर्थ भी अभिप्रेत है। मनुष्य-चेतना तक पहुँचना भी एक बड़ी लम्बी यात्रा है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि पहला प्राणी समुद्र में पैदा हुआ और मनुष्य तक आया, मछली से मनुष्य तक यात्रा करने में करोड़ों वर्ष लगे।

डार्विन के बाद भारतीय-धर्मों की गरिमा बहुत निखर जाती है। डार्विन के पहले ऐसा लगता था कि यह बात काल्पनिक है कि आदमी तक पहुँचने में लाखों-लाखों वर्ष लगते हैं, क्योंकि पश्चिम में ईसाइयत ने एक ख्याल दिया, जो कि बुनियादी रूप से अवैज्ञानिक है। वह था विकास विरोधी दृष्टि-कोण; कि परमात्मा ने सब चीजें बना दी—आदमी बना दिया, घोड़े बना दिये, जानवर बना दिये—छ. दिन मे सारा काम पूरा हो गया और सातवे दिन परमात्मा ने विश्राम किया।

छ. दिन मे सारी सृष्टि बना दी; यह बचकाना ख्याल है। भारतीय-धर्म इस लिहाज से बहुत गहरे और वैज्ञानिक हैं। डार्विन के बहुत पहले भारत जानता रहा है कि चीजें निर्मित नही हुई, विकसित हुई हैं। हर चीज विकसित हो रही है। आदमी आदमी की तरह पैदा नही हुआ है। आदमी पशुओ से, पौधो से विकसित होकर आया है।

भारत की धारणा थी कि आत्मा विकसित हो रही है, चेतना विकसित हो रही है। डार्विन ने पहली दफा पश्चिम मे ईसाइयत को धक्का दे दिया और कहा कि सृजन नही, विकास हुआ है। 'क्रियेशन' की बात गलत है, 'इव्वोल्यूशन' की बात सही है। सृष्टि कभी बनी नही, सृष्टि निरन्तर बन रही है। सृष्टि एक क्रम है बनने का, यह कोई पूरा नही हो गया। इतिहास समाप्त नही हो गया। कहानी का अन्तिम अध्याय लिख नही लिया गया, लिखा जाने को है। हम मध्य मे हैं, पीछे बहुत कुछ हुआ है और आगे शायद उससे भी अनन्त-गुना बहुत कुछ होगा।

लेकिन डार्विन था वैज्ञानिक इसलिए उसके लिए चेतना का तो कोई सवाल नही था। उसने मनुष्य-शरीर के अध्ययन से तय किया था कि शरीर विकसित हुआ है। यह शरीर भी धीरे-धीरे, लाखों साल के क्रम मे यहाँ तक पहुँचा है।

डार्विन ने आदमी के शरीर का सारा विश्लेषण किया और पशुओं के शरीर का अध्ययन किया और तय किया कि पशु और आदमी के शरीर में क्रमिक सम्बन्ध है।

बड़ा दुखद लगा लोगों को। कम से कम पश्चिम में ईसाइयत को तो बहुत पीड़ा हुई; क्योंकि ईसाइयत सोचती थी कि ईश्वर ने आदमी को बनाया और डार्विन ने कहा कि आदमी जो है, वह बन्दर का विकास है। कहाँ ईश्वर पिता था और कहाँ बन्दर पिता सिद्ध हुआ।

डार्विन ने शरीर के बाबत सिद्ध कर दिया कि शरीर क्रमशः विकसित हो रहा है और आज भी आदमी के शरीर में पशुओ के सारे लक्षण मौजूद हैं। आज भी आप चलते हैं, तो आपके बाएँ पैर के साथ दायां हाथ हिलता है, हालाकि हिलने की कोई जरूरत नही है; लेकिन कभी आप चारों हाथ पैर से चलते थे, यह उसका लक्षण है, जो शेष रह गया है।

आप दोनो हाथ रोक कर भी चल सकते हैं। दोनों हाथ काट दिए जायें, तो भी चल सकते हैं। चलने मे दोनों हाथों से कोई लेना-देना नही है। लेकिन जब बायाँ पैर चलता है, तो दायाँ हाथ आगे जाता है; जैसा कि कुत्ते का जाता है, बन्दर का जाता है, बैल का जाता है।

वे चार से चलते हैं, आप दो से चलते हैं, लेकिन आप चार से कभी चलते रहे हैं, इसकी खबर देते हैं। वह दो हाथो की बुनियादी आदत अब भी पैर के साथ चलने की है।

आदमी के सारे अग पशुओ से मेल खाते हैं। थोड़े बहुत हेर-फेर हुए हैं, लेकिन बहुत फर्क नही हुआ है। जब आप क्रोध करते हैं, तो अभी भी आप दाँत पीसते हैं। हालाकि ऐसा करने की कोई जरूरत नही है। जब आप क्रोध मे आते हैं, तो आप के नाखून नोचने को, फाडने को उत्सुक हो जाते हैं। आपकी मुट्ठियाँ बँध जाती है। यह लक्षण है इस बात का कि कभी आप नाखून और दाँत से हमला करते रहते हैं और अब भी वही कर रहे हैं। अब भी कोई फर्क नही पड़ा है। अब इस बात की जरूरत नही रह गई है, लेकिन वही पुरानी आदत अभी तक काम कर रही है।

पश्चिम का एक बहुत विचारशील आदमी था एलेक्जेन्डर। उसने कहा है कि क्रोध जब आता है, तो टेबल के नीचे पाँच बार अगर जोर से मुट्ठी बाँधी और खोली जाये, तो क्रोध विलीन हो जायेगा।

करके आप देखना, वह सही कहता है। जब आप जोर से मुट्ठी बाँधेंगे और खोलेंगे, तो आप अचानक पायेंगे कि अब सामने के आदमी पर क्रोध करने की कोई जरूरत नही है, क्रोध विलीन हो गया है, क्योंकि शरीर की आदत पूरी हो गई है। जब क्रोध पैदा होता है, तब 'एड्रीनल' और दूसरे रस शरीर में छूटते हैं, तो वह हाथ के फैलाव और सिकुड़ाव से विकसित हो जाते हैं, बाहर निकल जाते हैं और आप हल्के हो जाते हैं।

आपको पता है; आज भी आप के पेट में कोई जरा गुदगुदा दे, तो आपको हँसी छूटने लगती है। गले में छूटती है, पेट में छूटती है, और कहीं क्यों नहीं छूटती?

डार्विन ने बताया है कि पशुओ के वे हिस्से, जहाँ हमला किया जाता है, सवेदन-शील होते हैं। आज आपके पेट पर कोई हमला नही कर रहा है, लेकिन छूने से ही आप सजग हो जाते हैं; क्यो कि वह खतरनाक जगह है। आप पर कभी वही से हमला किया जाता था, वही से हिंसा होती थी, वहीं से आपके प्राण लिये जा सकते थे। हिस्से सवेदनशील हैं, इसलिए आपको गुदगुदी छूटती है। गुदगुदी का मतलब है कि बहुत 'सेन्सिटिव' है जगह। जरा सा स्पर्श और बेचैनी शुरू हो जाती है।

शरीर के अध्ययन से सिद्ध हुआ कि शरीर के लिहाज से आदमी पशुओ के साथ जुडी हुई एक कडी है। डार्विन ने आधा काम पूरा कर दिया है और पश्चिम मे डार्विन के बाद ही महावीर, बुद्ध और कृष्ण को समझा जा सकता था, उसके पहले नही। जब शरीर भी विकसित होता है, तो महावीर की बात सार्थक मालूम पड़ती है कि यह चेतना जो भीतर है, यह भी विकसित हुई है। यह अचानक पैदा नहीं हो गई है। इसका भी विकास हुआ है। पशुओं से, पौधो से हम आदमी तक आए हैं। इसका मतलब हुआ कि दोहरे विकास चल रहे हैं। शरीर भी विकसित हो रहा है और चेतना भी विकसित हो रही है, दोनो विकसित हो रहे हैं।

मनुष्य अब तक इस पृथ्वी पर सबसे ज्यादा विकसित प्राणी है। उसके पास सर्वाधिक चेतना है और सबसे ज्यादा सयोजित शरीर है। इसलिए महावीर कहते है कि मनुष्य होना दुर्लभ है।

आप शिकायत भी तो नहीं कर सकते। अगर आप कीडे-मकोडे होते, तो किसको कहने जाते कि मैं मनुष्य क्यों नही हूँ। आपके पास क्या उपाय है कि अगर आप कीड़े-मकोडे होते, तो मनुष्य हो सकते! यह मनुष्य होना इतनी बड़ी घटना है कि हमारे ख्याल मे भी नही आती।

काफ्का ने एक कहानी लिखी है कि एक पादरी रात सोया और सपने में उसे ऐसा लगा कि वह एक कीडा हो गया है। सपना इतना गहन था कि उसे ऐसा भी नहीं लगा कि सपना देख रहा है, उसे लगा कि वह जाग गया है और वस्तुत कीडा हो गया है तब उसे बड़ी घबडाहट हुई कि अब क्या होगा। अपने हाथों की तरफ उसने देखा, तो वहाँ हाथ नही हैं, कीड़े की टाँगें हैं। अपने शरीर की तरफ उसने देखा तो वहाँ आदमी का शरीर नहीं है, कीड़े की देह है। भीतर चेतना तो आदमी की है, लेकिन चारो तरफ देह कीड़े की है।

तब वह पछताने लगा कि अब क्या होगा। आदमी की भाषा अब समझ में नहीं आती, क्योंकि कान कीड़े के हैं। चारों तरफ का जगत् अब बिल्कुल बेबूझ हो गया, क्योंकि आँखें कीड़े की हैं। भीतर सिर्फ होश रह गया थोड़ा सा कि मैं आदमी हूँ।

तब उसे पहली दफे पता चला कि मैंने कितना गवाँ दिया। आदमी रह कर मैं क्या-क्या जान सकता था। उसे अब मैं कभी भी नहीं जान सकूँगा, क्योंकि अब कोई भी उपाय नहीं रहा।

अब वह तडपता है, चीखता है, चिल्लाता है, लेकिन कोई उसकी बात नहीं सुनता। उसकी पत्नी पड़ोस से गुजर रही है, उसका पिता पास से गुजर रहा है, लेकिन उस कीडे की कौन सुनता है। उसकी भाषा उनकी समझ में नही आती। वे क्या कह रहे हैं, क्या सुन रहे हैं, उसकी समझ मे नहीं आता।

उसका संताप हम समझ सकते हैं—थोडी कल्पना करेंगे, अपने को उसकी जगह रखेंगे, तो उसका संताप हम समझ सकते हैं।

इसलिए महावीर ने कहा है—'प्राणियो के प्रति दया···' प्राणियो का सताप समझो। उनके पास भी तुम्हारे जैसी चेतना है, लेकिन उनका शरीर बहुत अविकसित है। एक चीटी को ऐसे ही पैर से दबा कर मत निकल जाओ, तुम्हारे ही जैसी चेतना है वहाँ, शरीर भर अलग है। तुम जैसा ही विकसित हो सके, ऐसा ही जीवन है वहाँ, लेकिन शरीर का उपकरण भिन्न है।

···इसलिए जीव दया पर महावीर का इतना जोर है, पर वह सिर्फ अहिंसा के कारण नही है। उसके कारण, बहुत गहरे और आध्यात्मिक हैं। वह जो तुम्हारे पास चलता हुआ कीडा है, वह तुम्ही हो। कभी तुम भी वही थे। कभी तुम भी वैसे सरक रहे थे। एक छिपकली की तरह, एक चींटी की तरह, एक बिच्छू की तरह तुम्हारा जीवन था। आज तुम भूल गये हो। तुम आगे निकल आये हो। लेकिन जो आगे निकल जाये और पीछे वाले को भूल जाये, उस आदमी के भीतर कोई करुणा, कोई प्रेम, कोई मनुष्यत्व नही है।

महावीर कहते हैं: यह जो दया है—पीछे की तरफ, यह अपने ही प्रति है। कल तुम ऐसी ही हालत मे थे। तुम्हे पैर के नीचे दबा दिया होता, तो तुम इनकार भी नहीं कर सकते थे। तुम यह भी नही कह सकते थे कि मेरे साथ क्या किया जा रहा है!

मनुष्यत्व, हमें लगेगा कि मुफ्त मिला हुआ है। हमें लगेगा कि इसमें क्या बात है दुर्लभ होने की; क्योंकि हमें किसी भी दूसरी स्थिति का कोई स्मरण नही रह गया। महावीर ने जिनसे यह कहा था, महावीर उन्हे साधना कराते थे और उन्हे पिछले जन्म का स्मरण कराते थे। जब किसी आदमी को याद आ जाता था कि मैं पूर्व-जन्म मे हाथी था, घोडा था, गधा था या वृक्ष रहा हूँ कभी, तब उसे पता चलता था कि मनुष्यत्व दुर्लभ है। तब उसे पता चलता था कि घोड़ा रह कर, गधा रह कर, बिच्छू रह कर, वृक्ष रह कर मैंने कितनी कामना की थी कि कभी मनुष्य हो जाऊँ, तो मुक्त हो जाऊँ, इस सब उपद्रव से। और आज जब मैं मनुष्य हो गया हूँ, तो कुछ भी नही कह रहा हूँ।

अतीत हमे विस्मृत हो जाता है, उसके कई कारण हैं। उसका बडा कारण तो यह है कि पशु जीवन की स्मृतियों को पुनर्स्मरण करने में मनुष्य का मस्तिष्क असमर्थ हो जाता है। पशु जीवन का अनुभव विस्मृत हो जाता है, क्योंकि उस जीवन की भाषा भिन्न है। आदमी की भाषा से उसका कोई ताल-मेल नही रहता, इसलिए सब भूल जाता है। जिनको भी स्मरण आता है पिछले जन्मो का, उनमे से कोई भी नही कहता कि हम पशु थे। वे यही बताते हैं कि हम स्त्री थे कि पुरुष थे। उसका कारण यह है कि स्त्री पुरुष ही अगर पिछले जन्मो में रहे हों, तो ही उसका स्मरण आसान है, अगर पशु-पक्षी रहे हो, तो स्मरण अति कठिन है; क्योकि भाषा बिलकुल ही बदल जाती है—जगत् ही बदल जाता है, आयाम बदल जाता है, उससे कोई सम्बन्ध नही रह जाता। अगर याद भी आ जाये, तो ऐसा नही लगता कि यह मेरी याददास्त आ रही है; लगता कि दुख-स्वप्न चल रहा है।

महावीर कहते है मनुष्य होना दुर्लभ है—इसे हम वैज्ञानिक ढग से समझे।

हमारा सूर्य है, उसका एक सौर परिवार है। पृथ्वी एक छोटा सा उपग्रह है। सूरज हमारी पृथ्वी से साठ हजार गुना बड़ा है। लेकिन हमारा सूरज बहुत बचकाना सूरज है—'मीडियॉकर।' उससे करोड-करोड़ गुने बड़े सूरज हैं। अब तक विज्ञान ने जितने सूर्यो की जाँच की है, वह हैं तीन अरब। तीन अरब सूर्यों के परिवार हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि अन्दाजन पचास हजार पृथ्वियों पर जीवन होना चाहिए। तीन अरब सूर्यों के विस्तार में कम से कम पचास हजार उपग्रह होगे, जिन पर जीवन होना चाहिये।

यह कम से कम हैं। इससे ज्यादा हो सकता है। जैसे कि एक सिक्के को मैं सौ बार फकूं तो 'प्रोबेबल' (सम्भाव्य) है कि पचास बार वह सीधा

गिरे; पचास बार उल्टा गिरे। न गिरे पचास बार, हम अन्दाजन इतना तो कह ही सकते हैं कि कम से कम पाँच बार तो सीधा गिरेगा ही। अगर हम इतना भी मान लें, तो कम से कम पचास हजार पृथ्वियों पर जीवन होना चाहिये।

इतना बड़ा विस्तार है तीन अरब सूर्यों का। और तीन अरब सूर्य हमारी जानकारी के कारण हैं; यह अन्त नहीं है। अब तो विज्ञान कहता है कि हम कभी सीमा को जान न पायेंगे, क्योंकि सीमा आगे ही हटती चली जाती है। वह सपने अब छूट गये कि किसी दिन हम पूरा जान लेंगे।

अब विज्ञान कहता है, नही जान पायेंगे। क्योंकि जितना जानते हैं, उतना ही पता चलता है कि आगे और है, आगे और है। इतने विराट विश्व में जिसकी हम कल्पना और धारणा भी नही कर सकते, उसमें सिर्फ इस पृथ्वी पर मनुष्य है।

पचास हजार पृथ्वियो पर जीवन है, लेकिन मनुष्य की कही कोई संभावना नही मालूम पडती। इस पृथ्वी पर मनुष्य है और यह मनुष्य भी केवल दस लाख वर्षों से है। एक समय पृथ्वी पर मनुष्य नही था। जानवर थे, पक्षी थे, पौधे थे।

दस लाख वर्षों में मनुष्य हुआ है।

आदमी की घटना असम्भव घटना है। अगर आदमी न हो, तो हम सोच भी नही सकते कि आदमी भी हो सकता है, क्योंकि तीन अरब सूर्य हैं और करोड़ों-अरबों पृथ्वियाँ हैं, और कही भी मनुष्य का कोई निशान नहीं है।

मनुष्य होना दुर्लभ है। लेकिन महावीर का मनुष्य से उतना ही अर्थ नही है। मनुष्य होकर भी बहुत कम लोग मनुष्यत्व को उपलब्ध हो पाते हैं, क्योंकि वह और भी दुर्लभ है। मनुष्य हम पैदा होते हैं शकल-सूरत से, पर मनुष्यता एक भीतरी घटना है, शकल सूरत से उसका बहुत लेना-देना नहीं है।

आप शकल सूरत से मनुष्य हो सकते हैं और भीतर हैवान हो सकते हैं, भीतर शैतान हो सकते हैं। भीतर कुछ भी होने का उपाय है। शकल सूरत कुछ निश्चित नहीं करती, वह केवल सम्भावना बताती है।

जब एक आदमी मनुष्य की तरह पैदा होता है, तो आध्यात्मिक अर्थों में इतना ही मतलब होता है कि अगर वह चाहे, तो मनुष्यत्व को पा सकता है। लेकिन यह मिला हुआ नहीं है, सिर्फ सम्भावना है, सिर्फ बीज है।

आदमी चाहे तो जीवन व्यर्थ खो सकता है, बिना मनुष्य बने, और चाहे तो मनुष्य भी बन सकता है।

किस बात से वह मनुष्य बनेगा ? आखिर पशु और मनुष्य में फर्क क्या है ? पौधे और मनुष्य में फर्क क्या है ? पत्थर और मनुष्य मे फर्क क्या है ?

चैतन्य का फर्क है, और तो कोई फर्क नहीं है—'कॉन्शसनेस' का फर्क है। आदमी के पास सर्वाधिक चैतन्य है, अगर हम पशुओं से तौलें तो। लेकिन आदमी भी चौबीस घण्टे मे क्षण भर को ही चेतन हो पाता है, बेहोश ही चलता है।

मनुष्य को पशुओ से तौलें, तो चेतन मालूम पडता है। अगर मनुष्य को उसकी सम्भावना से तौलें—बुद्ध से, महावीर से तौलें, तो बेहोश मालूम पडता है। मनुष्य उसी अर्थ मे मनुष्य हो जाता है, जिस अर्थ मे चेतना बढ़ जाती है। इसलिए हमने मनुष्य कहा है। मनुष्य का अर्थ है, जितना मन निखर जाता है, उतना। आदमी सब पैदा होते हैं, पर मनुष्य बनना पड़ता है। इसलिए आदमी और मनुष्य का एक ही अर्थ नही है। आदमी तो केवल हमारा जाति-सूचक नाम है। आदम के बेटे—आदमी।

यह आदम शब्द बड़ा अच्छा है। भाषा शास्त्री कहते हैं कि अदम अह का रूपान्तरण है। बच्चा पहली आवाज मे कहता है—आ···अह···अह इन आवाजो से बना है : अह—मैं। और उन्ही आवाजो से बना है अदम—आदमी।

बच्चे की पहली आवाज आदमी का नाम—आदम बन गई है। लडका बोलता है—आह। लडकी बोलती है—इह। लडकी जब पैदा होती है, तो वह नही बोलती—आह। लडका बोलता है—आ···आह। लड़की बोलती है—इह। इसलिए हिब्रू भाषा-शास्त्री कहते हैं कि 'इह' की आवाज के कारण 'ईव' और 'आह' की आवाज के कारण 'आदम'—आदमी ईव अर्थात् औरत, आदम अर्थात् आदमी।

आदमी जाति-वाचक नाम है; मनुष्य चेतना-सूचक नाम है। अंग्रेजी का 'मेन' सस्कृत के मनु का ही रूपान्तरण है। हम कहते हैं मनु के बेटे, नहीं कहते आदम के बेटे। आदम के बेटे सभी हैं; लेकिन मनु का बेटा वह बनता है, जो अपने भीतर मनस्वी हो जाता है। जिसका मन जागृत हो जाता है, उसको हम मनुष्य कहते हैं।

ऐसे तो आदम होना बहुत मुश्किल है, मनुष्य होना और भी दुर्लभ है।

जितनी चेतना है आपके भीतर, उसी मात्रा में आप मनुष्य हैं। जितने होश से जीते हैं, उसी मात्रा में मनुष्य हैं; क्योंकि जितने होश से जीते हैं, उतने शरीर से टूटते जाते हैं और आत्मा से जुड़ते जाते हैं, और जितनी बेहोशी से जीते हैं, उतने शरीर से जुड़ते जाते हैं और आत्मा से टूटते जाते हैं।

होश सेतु है आत्मा तक जाने का; मन द्वार है आत्मा तक जाने का। जितने मनस्वी होते हैं, उतने आत्मा की तरफ हट जाते हैं; जितने बेहोश होते हैं, उतने शरीर की तरफ हट जाते हैं। इसलिए महावीर ने कहा है कि जो-जो कृत्य बेहोशी में किये जाते हैं, वे पाप हैं, क्योंकि जिन-जिन कृत्यों से आदमी शरीर हो जाता है, वे पाप हैं और जिन-जिन कृत्यो से आदमी आत्मा हो जाता है, वे पुण्य हैं।

कभी आपने देखा पाप को बिना बेहोशी के करना मुश्किल है! अगर आपको चोरी करनी है, तो बेहोशी चाहिये। किसी की हत्या करनी है, तो बेहोशी चाहिये। क्रोध करना हो, तो बेहोशी चाहिये। होश आ जाये, तो हँसी आ जायेगी कि क्या मूढ़ता कर रहे हैं; लेकिन बेहोशी हो, तो चलेगा।

इसलिए कुछ लोगो को जब ठीक से पाप करना होता है, तो शराब पी लेते हैं। शराब पीकर मजे से पाप कर सकते हैं, क्योंकि होश कम हो जाता है।

होश जितना कम होता है, उतना हम शरीर हो जाते हैं—पदार्थवत्, पशुवत्। होश जितना ज्यादा हो जाता है, उतना हम मनुष्य हो जाते हैं—आत्मवत्।

मनुष्यत्व का अर्थ है—बढ़ते हुए होश की धारा, जो भी करें, वह होश-पूर्वक करे।

महावीर ने कहा है: विवेक से चलें, विवेक से बैठें, विवेक से उठें, विवेक से सोएँ; होश रखें, एक क्षण भी बेहोशी में न जाये, एक क्षण भी ऐसा मौका न मिले कि शरीर मालिक हो जाये; चेतना ही मालिक रहे। यह मालकियत जिस मात्रा में निर्धारित हो जाये, उसी मात्रा मे आप मनुष्य हैं। अन्यथा आप आदमी हैं।

आदमी और मनुष्य के इस भेद को बढ़ाते जाना क्रमशः आत्मा के निकट पहुँचना है। इस भेद को बढ़ाने में ये तीन बातें काम करेंगी, जो और भी दुर्लभ हैं।

मनुष्य होना मुश्किल है, मनुष्यत्व को पाना और भी मुश्किल है, पर धर्म-श्रवण को क्यो इतना मुश्किल कहा है?

सब तरफ धर्म-सभाएँ चल रही हैं ! गाँव-गाँव धर्म-गुरु हैं ! न खोजो, तो भी मिल जाते हैं ! न जाओ उनके पास, तो वे आपके घर आ जाते हैं !

धर्म-गुरुओं की कोई कमी है ? कोई तकलीफ है ? शास्त्रों की कोई अड़चन है ? सब तरफ सब मौजूद है और फिर भी महावीर कहते हैं, धर्म-श्रवण दुर्लभ है !

कितने चर्च, कितने गुरुद्वारे, मन्दिर, मस्जिद···तीन हजार धर्म हैं पृथ्वी पर और महावीर कहते हैं, धर्म-श्रवण दुर्लभ है !

अकेले कैथोलिक पादरियों की सख्या दस लाख है ! हिन्दू संन्यासी एक लाख हैं ! जैनियो के मुनि इतने हो गये हैं कि गृहस्थ उन्हें खिलाने में असुविधा अनुभव कर रहे हैं ! थाइलैण्ड में चार करोड़ की आबादी है और बीस लाख भिक्षु हैं, सरकार नियम बना रही है कि अब बिना लाइसेन्स लिये कोई संन्यास न ले सके, क्योंकि इतने लोगो को पालेंगे कैसे और महावीर कहते हैं, धर्म-श्रवण दुर्लभ है !

शास्त्र ही शास्त्र हैं, बाइबल है, कुरान है, धम्मपद है, महावीर के सूत्र हैं, गीता है, वेद है···धर्म ही धर्म, शास्त्र ही शास्त्र, गुरु ही गुरु···इतना सब शिक्षण है, हर आदमी धार्मिक है ! और फिर भी महावीर कहते हैं कि धर्म-श्रवण दुर्लभ है !

इसका कारण है कि न तो शास्त्रो से धर्म मिलता है और न उपदेशकों से धर्म मिलता है।

कभी-कभी अरबो-खरबो मनुष्यों मे कोई एक आदमी धर्म को, मनुष्यत्व को उपलब्ध होता है; और जो आदमी धर्म को उपलब्ध होता है, उसे सुनना ही धर्म-श्रवण है।

बुद्ध मर रहे हैं, तो आनन्द छाती पीट कर रो रहा है। बुद्ध पूछते हैं कि तू रोता क्यों है, तो आनन्द कहता है कि रोता इसलिए हूँ कि आपको सुन कर भी मैं न सुन पाया। आप मौजूद थे फिर भी आपको न देख पाया और अब आप खो जायेंगे; और अब कितने कल्प लगेंगे कि दुबारा किसी बुद्ध का दर्शन हो। रो रहा हूँ इसलिए कि अब मेरी यात्रा बड़ी मुश्किल हो जाने वाली है। अब किसी बुद्ध पुरुष का दर्शन हो, इसके लिए कल्पों-कल्पों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

बुद्ध का जन्म हुआ, तो हिमालय से एक वृद्ध संन्यासी भागा हुआ बुद्ध के

गांव आया। नब्बे वर्ष उसकी उम्र थी। सम्राट के द्वार पर पहुँचा। बुद्ध के पिता से उसने कहा कि तुम्हारे घर में जो बेटा पैदा हुआ है, उसके मैं दर्शन करने आया हूँ।

पिता हैरान हुए कि अभी कुछ दिन की ही उम्र थी उस बच्चे की और वह वृद्ध, प्रतिभावान, तेजस्वी, अपूर्व सौन्दर्य से, गरिमा से भरा हुआ वृद्ध संन्यासी उसके दर्शन करने आया है!

बुद्ध के पिता उस संन्यासी के चरणों मे गिर पड़े। उन्होंने सोचा कि जरूर सौभाग्य है मेरा कि ऐसा महापुरुष मेरे बेटे का दर्शन करने आया है, आशीर्वाद देने आया है, कुछ अनूठा बेटा पैदा हुआ है!

शुद्धोधन अपने बेटे सिद्धार्थ को लेकर, बुद्ध को लेकर सन्यासी के चरणो में रखने के लिए आगे बढे, तो उस वृद्ध संन्यासी ने कहा, "रुको! मैं उसके चरणों मे पड़ने आया हूँ।" और वह नब्बे वर्ष का वृद्ध, महिमावान संन्यासी उस छोटे से, कुछ दिन के बच्चे के चरणो मे गिर पडा और छाती पीट कर रोने लगा।

बुद्ध के पिता बहुत घबडा गये। उन्होंने कहा, "यह आप क्या अपशकुन कर रहे हैं! यह रोने का वक्त है? आशीर्वाद दें। आप क्यों रोते हैं? क्या यह बेटा बचेगा नही? क्या कुछ अशुभ हुआ है?"

उस सन्यासी ने कहा, "इसलिए रोता हूँ कि मेरी मौत करीब है और यह लडका बुद्ध होगा और मैं चूक जाऊँगा, क्योंकि कल्पो-कल्पों मे कभी कोई बुद्ध होता है। मैं रो रहा हूँ, क्योंकि मेरी मृत्यु करीब है और कुछ पक्का नहीं है कि मैं दुबारा जन्म ले सकूँ, इसलिए रो रहा हूँ।'

धर्म-श्रवण का अर्थ है: जिसने जाना हो, उससे सुनना; इसलिए महावीर कहते हैं—दुर्लभ जिसने सुना हो, उससे सुनना तो बिलकुल दुर्लभ नही है; जिसने जाना हो, उससे सुनना दुर्लभ है।

यह दुर्लभता अनेक आयामी है। एक तो महावीर का होना दुष्कर, बुद्ध का होना दुष्कर, कृष्ण का होना दुष्कर। फिर वे हों भी, वे बोल भी रहे हो, तो आपका सुनना दुष्कर। इसलिए कहा कि धर्म-श्रवण दुर्लभ है; क्योंकि महावीर खड़े हों, तो भी आप सुनेंगे यह जरूरी नही है। जरूरी तो यही है कि आप नहीं सुनेंगे।

क्यों नहीं सुनेंगे?

क्योकि महावीर को सुनना अपने को मिटा देने की तैयारी है। जो किसी की भी तैयारी नहीं है। महावीर दुश्मन से मालूम होंगे। महावीर की गैर-मौजूदगी मे वे दुश्मन नही मालूम होते।

महावीर मौजूद होगे, तो दुश्मन से मालूम होगे। महावीर का साधु दुश्मन नहीं मालूम होता। वह साधु आपका गुलाम है। वह साधु आपके इशारे को मान कर चलता है। आपकी सलाह से जीता है। आप पर निर्भर है। उससे आपको कोई तकलीफ नहीं है। वह तो आपकी सामाजिक व्यवस्था का एक हिस्सा है और एक लिहाज से अच्छा है, 'लुब्रिकेटिंग' है। कार मे थोड़ा सा 'लुब्रिकेशन' (चिकनाई) डालना पडता है, उसके चक्के ठीक चलते हैं। आपके ससार मे भी आपके साधु 'लुब्रिकेशन' का काम करते हैं, उससे ससार अच्छा चलता है।

दिन भर एक दुकान पर उपद्रव किये, पाप किये, बेईमानी की, झूठ बोले, साँझ को साधु के चरणो मे जाकर बैठ गये, धर्म-श्रवण किया। उससे ऐसा लगता है कि 'हम भी कोई बुरे आदमी नही है।' कल की फिर तैयारी होगी। यह 'लुब्रिकेटिंग' है। यह आपको भी बहम देते है कि आप भी ससारी नही हैं, थोडे तो धार्मिक हैं। यह थोडा धार्मिक होना चक्को को, पहियो को तेल डाल देता है और ठीक से चला देता है।

ससार ठीक से चलता है, साधुओं की वजह से, क्योकि साधु आपको समझाये रखते है कि कोई बात नही, अगर महाव्रत नही सधते, तो अणुव्रत साधो, अगर बडी चोरी नही छूटती, तो छोटी-छोटी चोरी छोडते रहो।

तरकीबें बताते रहते हैं कि ससार मे भी रहो और तेल भी डालते रहो कि चक्के ठीक से चलते रहे, तुम्हे यह भ्रम भी बना रहे कि तुम भी धार्मिक हो और धार्मिक होना भी न पडे।

मन्दिर हैं, पुरोहित हैं साधु हैं, ये आपके ससार के एजेन्ट हैं। आपको संसार में मोक्ष का भ्रम दिलवाते रहते हैं।

लेकिन महावीर या बुद्ध दुश्मन मालूम पडते हैं, क्योकि वे जो भी कहते हैं, वह आपकी आधार-शिलाएँ गिराने वाली बाते हैं। वे जो भी कहते हैं, उससे आपका मकान गिरेगा, जलेगा, आप मिटेंगे। आप मिटेंगे तो ही उन्हे श्रवण कर पायेंगे।

इसलिए महावीर कहते हैं : धर्म-श्रवण अति दुर्लभ है क्योकि आप सुनने को राजी नही हैं।

जीसस बार-बार कहते हैं बाइबिल मे, 'जिसके पास कान हैं, वे सुन लें।' सब के पास कान थे—जिनसे ये बात कर रहे थे। लेकिन बाइबिल को पढ़

कर ऐसा मालूम पडता है कि वे बहरो के बीच ही बोलते थे; क्योकि वे हमेशा कहते हैं कि जिसके पास कान हों, वे सुन ले; जिसके पास आँख हो. वे देख लें।

यह मामला अजीब है। क्या अन्धो की अस्पताल में वे बोल रहे थे, कि बहरो की अस्पताल में बोल रहे थे ? क्या कर रहे थे वे ?

हमारे बीच ही बोल रहे थे, लेकिन हम अन्धे और बहरे हैं। आँखें हमारी देखती नही, कान हमारे सुनते नही। जब जीसस बोलते हैं, तो हम कान, आँख बिलकुल बन्द कर लेते हैं, क्योकि यह आदमी खतरनाक है। इसकी बात भीतर जायेगी, तो दो ही उपाय हैं कि यह बचेगा और तुम्हे मिटना पड़ेगा, और अपने को हम सब बचाना चाहते हैं।

सेट पाल ने कहा है, 'नाउ आइ एम नॉट। जीसस लिव्हज इन मी। नाउ ही इज, एण्ड आइ एम नॉट। (अब मैं नही हूँ। अब जीसस मुझ में जीता है। अब जीसस ही है, मैं नही हूँ।) जो महावीर को सुनेगा, उसे एक दिन अनुभव करना पडेगा कि अब मैं नही हूँ, तो ही वह सुनेगा।

श्रावक का यही अर्थ है जो मिटने को राजी है और गुरु को अपने भीतर प्रगट हो जाने के लिए द्वार खोलता है। जो अपने को हटा लेता है, जो अपने को मिटा लेता है, शून्य हो जाता है, एक ग्रहणशीलता हो जाता है—'जस्ट ए रिसेप्टिव्हिटि—और गुरु को भीतर आने देता है।

बडी मजेदार घटना है। एक बड़ा चोर था। महावीर उसके गाँव मे ही ठहरे हुए थे। उस चोर ने अपने बेटे से कहा, 'तू और सब कुछ करना, लेकिन इस महावीर से बचना। इसकी बात सुनने मत जाना।'

चोर ईमानदार था। आप जैसा होशियार नही था, नही तो कहता, 'सुनना और सुनना भी मत।' उसने कहा, 'सुनना ही मत, उनकी बात अपने काम की नही है। अपने धधे से मेल नही खाती। और यह आदमी खतरनाक है। इसकी बात सुन ली तो सदा का चला आया धधा नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। बडी मुश्किल से हम जमा पाये हैं, तुम खराब मत कर देना। और तेरे लक्षण अच्छे नही मालूम पडते। तू उधर जाना ही मत। उस रास्ते से ही मत निकलना।'

बाप की बात बेटे ने मान ली। (उस जमाने में तो बेटे बाप की बात मानते थे।) बेटे ने उस रास्ते से जाना छोड़ दिया, जहाँ से महावीर गुजरते थे। वह दूर से देख लेता कि महावीर आ रहे हैं, तो वह भाग खडा होता।

एक दिन भूल हो गई। वह अपनी धुन में चला जा रहा था और महावीर बोल रहे थे एक रास्ते के किनारे। उसे एक वाक्य सुनाई पड गया। वह भागा, उसे बडी मुश्किल हो गई। वह बचना चाह रहा था। और जो बचना चाहता है, उसको आकर्षण हो जाता है। चूँकि वह सुनना ही नही चाहता था, अपने कानो को बन्द करने की ही चेष्ठा मे लगा था और कान में अनजाने में एक वचन पड़ गया। उस वचन ने उसकी सारी जिन्दगी बदल दी, उसकी सारी जिन्दगी को अस्त-व्यस्त कर दिया। फिर वह वही नही रह सका, जो वह था।

क्या हुआ होगा एक वचन को सुनकर ?

महावीर का एक वचन भी चिनगारी है, अगर भीतर पहुँच जाये। और चिनगारी छोटी भी काफी है, बारूद तो हमारे भीतर सदा मौजूद है। वह आत्मा मौजूद है, जिसमे विस्फोट हो जाये एक चिनगारी से। लेकिन कोई महावीर की सारी बाते भी सुनता रहे, तो भी जरूरी नहीं है कि चिनगारी भीतर पहुँचे।

हम तरकीबे बाँध लेते हैं, उनसे हम चीजों को बाहर ही रख देते हैं, उनको हम भीतर नही जाने देते।

सबसे अच्छी तरकीब यह है कि रोज सुनते रहो महावीर को, अपने आप बहरे हो जाओगे। जिस बात को लोग रोज सुनते हैं, उसे सुनना बन्द कर देते हैं।

इसलिए धर्म-श्रवण बड़ी अच्छी चीज है। उससे धर्म से बचने मे रास्ता मिलता है। रोज धर्म-सभा मे चले जाते हैं और वहाँ सोए रहते हैं।

अक्सर लोग सोते ही हैं धर्म-सभा मे; और कुछ करते नही। जिनको नीद नही आती, वे तक सोते हैं। जिनको अनिद्रा की बीमारी है, डॉक्टर उनको सलाह देते हैं कि धर्म-सभा मे चले जाओ। जिनको सर्दी-जुकाम हो गया है, वे और कही नही जाते, सीधे धर्म-सभा मे जाकर खाँसते खकारते रहते है।

मुझे ऐसा लगता है कि धर्म-सभा में जिसको खाँसी-जुकाम है, वे ही जगे रहते हैं या उनकी खाँसी वगैर से कोई आसपास जग जाए तो बात अलग है, नहीं तो गहरी नीद रहती है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक धर्म-सभा मे बोल रहा था। एक आदमी उठ कर जाने लगा, तो उसने कहा, 'प्यारे बैठ जाओ। मेरे बोलने मे तुम्हारे जाने से अडचन पड़ती है—ऐसा नही; जो सो गये हैं, उनकी नीद न टूट जाये। शांति से बैठ जाओ और सोये हुए लोगों पर दया करो।'

धर्म-सभा में हम क्यों सो जाते हैं ?

सुनते-सुनते कान पक गये हैं। वही बातें, जिन्हें हम हजार दफा सुन चुके हैं। अब सुनने योग्य कुछ नही बचा। यह सबसे आसान तरकीब है, धर्म से बचने की। बेईमान कानों ने तरकीब निकाल ली है। बेईमान आँखों ने तरकीब निकाल ली है।

अगर महावीर आपके सामने भी आकर खडे हो जायें, तो आपको महावीर नही दिखाई पड़ेंगे। दिखाई पड़ेगा कि एक नंगा आदमी खडा है; यह आपकी आँखों की तरकीब है।

बडे मजे की बात है। महावीर सामने हों, तो भी नंगा आदमी दिखेगा, महावीर नही दिखेगे ! आप जो देखना चाहते हैं, वही दिखता है, जो है, वह नही। इसलिए महावीर को लोगों ने गाँव से यह कह कर भगाया कि''''यहाँ मत रखो, यह आदमी नगा है। नगे आदमी को गाँव में घुसने देना खतरनाक है।' और कुछ न दिखाई पडा उनको, सिर्फ महावीर की नग्नता दिखाई पडी। महावीर मे बहुत कुछ था, और महावीर बिलकुल नग्न खडे थे। कपड़े की भी ओट न थी, देखना चाहते, तो उनके बिलकुल भीतर देख लेते, लेकिन सिर्फ उनकी चमड़ी और उनकी नग्नता दिखाई पड़ी।

हम जो देखना चाहते हैं, वह देखते हैं; जो सुनना चाहते हैं, वह सुनते हैं। इसलिए महावीर कहते हैं : धर्म-श्रवण दुर्लभ है। फिर श्रद्धा तो और भी दुर्लभ है। जो सिर्फ सुना है, उस पर श्रद्धा ? मन हजार तर्क उठाता है। वह कहता है : यह ठीक है, वह गलत।

और बड़ा मजा यह है कि हम कभी यह नहीं पूछते कि कौन कह रहा है गलत; कौन कह रहा है ठीक। यह मन जो हमसे कह रहा है, यह हमें कहाँ ले गया ? किस ठीक तक इसने हमें पहुँचाया, जो कि हम इसकी बात मान रहे हैं ? इस मन ने हमे कौन सी शाति दी ? कौन सा आनन्द दिया ? कौन सा सत्य दिया ?

इस मन ने हमे कुछ भी नही दिया; मगर यह हमारा सदा का सलाहकार है। यह हमारा 'कांसटेंट, परमेनेण्ट कौंसिलर' है। वह अन्दर बैठा है और कह रहा है : यह गलत, यह ठीक। हम सारी दुनिया पर शक कर लेते हैं, पर अपने मन पर कभी शक नहीं करते।

श्रद्धा का मतलब है, जिसने अपने मन पर शक किया।

हम सारी दुनिया पर शक कर लेते हैं। महावीर हों, तो उन पर भी संदेह कर लेते हैं कि 'पता नहीं ठीक कह रहे हैं कि गलत कह रहे हैं'''कि पता नहीं

रात में घर मे ठहराएँ और एकाध चादर लेकर नदारत हो जाएँ···नगे आदमी का क्या भरोसा···पता नहीं उसका क्या प्रयोजन है ?' हमारा जो मन है, उस पर हम सदा श्रद्धा रखते हैं। यह बड़े मजे की बात है कि हमारे मन पर हमें कभी अश्रद्धा नही आती। उसको हम मानकर चलते है। क्या है उसमें मानने जैसा ? क्या है अनुभव पूरे जीवन का और अनेक जन्मो का ? मन ने क्या दिया है ?

वह 'हमारा' है, यह वहम सुख देता है। और हम सोचते हैं कि हम अपनी मानकर चलते हैं। अपनी मानकर हम मरुस्थल मे पहुँच जाएँ, भटक जाएँ, खो जाएँ, तो भी राहत रहती है कि अपनी ही तो मानकर चले थे। दूसरे की मानकर मोक्ष भी पहुँच जाएँ, तो मन मे एक पीडा बनी रहती है कि 'अरे दूसरे के पीछे चले'। वह अहकार को कष्टपूर्ण है।

इसलिए महावीर कहते हैं : और भी दुर्लभ है श्रद्धा।

श्रद्धा का अर्थ है : जब धर्म का वचन सुना जाये, तो अपने मन को हटा कर, वचन के प्रति स्वीकृति लाकर, जीवन को बदलना—उस पर आस्था, क्योकि आस्था न हो, तो बदलाहट का कोई उपाय ही नही है।

यदि जो सुना है, जो समझा है, उसे भीतर जाने दिया है, तो वह भीतर बैठा मन हजार तरकीबें, हजार बहानें उठायेगा कि इसमे यह भूल है, इसमे यह चूक है। यह ऐसा क्यों है ? वह वैसा क्यों है ? उस व्यक्ति ने कल ऐसा कहा, आज ऐसा कहा ! हजार सवाल मन उठायेगा।

मन के इन सवालो को ध्यान-पूर्वक देखकर (कि इन सवालो से कोई हल नहीं होता।) इनको हटा कर, महावीर या बुद्ध जैसे व्यक्ति के आकाश का दर्शन—श्रद्धा है।

श्रद्धा दुर्लभ है और साधना के लिए पुरुषार्थ तो और भी दुर्लभ है। जो सुना है, इस पर श्रद्धा ले आयें, इसके अनुसार जीवन को बदले, यह और भी दुर्लभ है। इसलिए महावीर कहते हैं ये चार चीजें दुर्लभ है : मनुष्यत्व, धर्म-श्रवण, श्रद्धा और पुरुषार्थ।

श्रद्धा अगर नपुसक हो, मान कर बैठी रहे कि बिलकुल ठीक कहते हैं। और हम जैसे चल रहे हैं, वैसा ही चलते रहें, तो इस नपुसक श्रद्धा का कोई भी अर्थ नही है।

हम बड़े होशियार हैं। हमारी होशियारी का कोई हिसाब नहीं है। न केवल हम दूसरे को धोखा देने वालों को होशियार कहते हैं, वरन् हम इतने

होशियार हैं कि अपने को ही धोखा देते हैं। हम कहते हैं कि मानते हैं आपकी बात और कभी न कभी करेंगे भी; लेकिन अभी नहीं।'

हम कहते हैं, 'मोक्ष तो जाना है, लेकिन अभी नही। निर्वाण तो चाहिए, लेकिन जरा ठहरें, जरा रुकें।'

आशा सदा कल पर छोड़ी जा सकती है, पर आचरण तो अभी होगा, और अभी के अतिरिक्त हमारे पास कोई भी दूसरा क्षण नहीं है। अगले क्षण का कोई भरोसा नहीं है। जो किसी बात को अगले क्षण पर छोड़ता है, वह उसे मौत तक छोड रहा है। जो इस क्षण कर लेता है, वही जीवन का उपयोग कर रहा है।

इसलिए महावीर कहते है : पुरुषार्थ—जो ठीक लगे उसे इसी क्षण कर लेने की क्षमता, साहस छलांग। क्योंकि करने का मतलब यह है कि हम खतरे मे जो कर रहे हैं···'पता नही क्या होगा !'

लोग मेरे पास आते हैं। वे कहते हैं, 'संन्यास तो ले ले, सन्यास में तो चले जाएँ, लेकिन फिर क्या होगा ?' मैं उनसे कहता हूँ, 'जाओ और देखो, अगर हिम्मतवर हो, और सन्यास में कुछ न हो, तो वापस लौट जाना। डर क्या है ?

वे कहते हैं, 'वापस लौट जाना !'

इसमें भी डर लगता है कि लोग क्या कहेंगे ! संन्यास लिया और अगर कुछ न हुआ और वापस लौटे, तो 'लोग क्या कहेगे।'

कौन हैं ये लोग ? इन लोगो ने क्या दिया है ? इन लोगो से क्या सम्बन्ध है ?

नही, 'लोग' बहाने हैं : अपने को बचाने की तरकीबें हैं, 'एक्सक्यूजेज' हैं। लोगों के नाम से हम अपने को बचा लेते हैं और सोचते हैं कि 'आज नही कल, कल नही परसों···कभी न कभी···।' और टालते चले जाते हैं।

क्रोध कभी कर लेते हैं और कहते हैं कि ध्यान कल करेंगे। चोरी अभी कर लेते हैं और कहते हैं कि संन्यास कभी भी लिया जा सकता है।

यह जो वृत्ति है, इसे महावीर कहते हैं—पुरुषार्थ की कमी।

हम बुरे हैं; पुरुषार्थ के कारण नही, हम बुरे हैं पुरुषार्थ की कमी के कारण। हम अगर चोर हैं, तो इसलिए नहीं कि हम हिम्मतवर हैं। हम इसलिए चोर हैं कि हम अचोर होने लायक पुरुषार्थ नहीं जुटा पाते।

हम अगर झूठ बोलते हैं, तो इसलिए नहीं कि हम होशियार हैं। हम झूठ बोलते हैं इसलिए कि सत्य बोलने में बड़े पुरुषार्थ की, बड़े सामर्थ्य की, बडी शक्ति की जरूरत है। अगर हम अधार्मिक हैं, तो शक्ति के कारण नही, कमजोरी के कारण हैं। क्योकि धर्म का पालन करने के लिए बड़ी शक्ति की आवश्यकता है; और अधर्म मे बहे जाने मे कोई शक्ति की जरूरत नही।

अधर्म है उतार की तरह, आपको लुडका दिया जाये, तो आप लुढ़कते चले जायेगे पत्थर की तरह। धर्म है पहाड की तरह, उसमे यात्रा करनी पड़ती है। एक-एक इच कठिनाई और एक-एक इच सामान कम करना पड़ता है, क्योकि बोझ पहाड पर नही ले जाया जा सकता। आखिर मे तो अपने तक को छोड देना पडता है, तभी कोई शिखर तक पहुँचता है।

आज इतना ही।

●

दसवाँ प्रवचन

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१३ सितम्बर, १९७२

अप्रमाद-सूत्र : १

●

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरऽप्पमत्ते ।।

आशुप्रज्ञ पण्डित पुरुष को मोह-निद्रा में सोये हुए संसारी मनुष्यों के बीच रह कर भी सब तरह से जागरुक रहना चाहिए, और किसी का विश्वास नहीं करना चाहिए।

'काल निर्दयी है और शरीर दुर्बल' यह जानकर भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्तभाव से विचरना चाहिए।

पहले कुछ प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है, 'मनुष्य जीवन है दुर्लभ, लेकिन हम आदमियों को उस दुर्लभता का बोध क्यों नही होता? श्रवण करने की कला क्या है? कलयुग और सतयुग मनोस्थितियो के नाम हैं? क्या बुद्धत्व को भी हम मनोस्थिति ही समझें?'

जो मिला हुआ है, उसका बोध नही होता, जो नहीं मिला है, उसकी वासना होती है, इसलिए बोध होता है।

दाँत आपका एक टूट जाए, तो ही पता चलता है, कि था; फिर जीभ चौबीस घण्टे वहीं-वही जाती है। दाँत था जो जीभ वहाँ कभी नही गई थी। अब दाँत नहीं है, खाली जगह है, तो जीभ वहाँ जाती है।

जिसका अभाव हो जाता है, उसका हमें पता चलता है; जिसकी मौजूदगी होती है, उसका हमे पता नहीं चलता; क्योंकि मौजूदगी के हम आदी हो जाते हैं।

हृदय धडकता है, पर पता नही चलता; श्वास चलती है, पर पता नहीं चलता, अगर श्वास मे कोई अडचन आ जाये, तो पता चलता है; हृदय अगर रुग्ण हो जाए, तो पता चलता है।

हमे पता ही उस बात का चलता है, जहाँ कोई वेदना, कोई दुख, कोई अभाव पैदा हो जाये। मनुष्यत्व का भी तब पता चलता है, हम आदमी थे इसका भी तब पता चलता है—जब आदमियत खो जाती है, जब मौत छीन लेती है हमसे, जब अवसर खो जाता है—तब हमे पता चलता है।

इसलिए मौत की पीड़ा वस्तुतः मौत की पीड़ा नहीं है, बल्कि जो अवसर खो गया है, उसकी पीड़ा है। अगर हम मरे आदमी से पूछ सकें कि अब तेरी पीड़ा क्या है, तो वह यह नहीं कहेगा कि मैं मर गया, यह मेरी पीडा है। वह कहेगा कि जीवन मेरे पास था और यूँ ही खो गया, यह मेरी पीड़ा है।

हमें पता ही तब चलता है जीवन का, जब मौत आ जाती है। इस विरोधाभास को ठीक से समझ लें।

आप किसी को प्रेम करते हैं, तो उसका आपको तब तक पता ही नही चलता, जब तक कि वह खो न जाए। आपके पास हाथ है, उसका आपको पता नही चलता; कल अगर टूट जाए, तो पता चलता है।

जो मौजूद है, हम उसके प्रति विस्मृत हो जाते हैं; वह खो जाए, न हो, तो हमे उसकी याद आती है। यही कारण है कि हम आदमी की तरह पैदा होते हैं, पर हमे पता नही चलता कि कितना बडा अवसर हमारे हाथ मे है।

कहते हैं कि मछलियो को सागर का पता नही चलता। अगर मछली को सागर के बाहर निकाल लो तो उसे पता चलता है कि जहाँ वह थी, वह सागर था, जीवन था; जहाँ अब वह है, वहाँ मौत है।

जिस मछली को सागर में पता चल जाए कि सागर है, वह सतत्व को उपलब्ध हो गई। जिस आदमी को आदमियत खोए बिना, अवसर खोए बिना पता चल जाए, उसके जीवन मे क्रान्ति घटना शुरू हो जाती है।

महावीर हो, बुद्ध हो, कि कृष्ण हो—उनकी सारी चेष्टा यही है कि हमे तभी पता चल जाए, जब कि अवसर शेष है, तो शायद हम उस अवसर का उपयोग कर लें; तो शायद अवसर को हम स्वर्णिम बना लें; शायद अवसर हमारे जीवन को और वृहत्तर परम-जीवन में ले जाने का मार्ग बन जाये। अगर पता भी उसी दिन चला, जब हाथ से सब छूट चुकता है, तो उस पता चलने की कुछ सार्थकता नही है, मगर यह मन का नियम है कि मन को अभाव का पता चलता है।

गरीब आदमी को पता चलता है, धन का, अमीर आदमी को धन का पता नही चलता। जो नही है हमारे पास, वह दिखाई पडता है; 'जो है' वह हम भूल जाते हैं।

इसलिए जो-जो आपको मिलता चला जाता है, उसे आप भूलते चले जाते है, और जो नही मिला होता उस पर आपकी आँख अटकी होती है—यह मन का सामान्य लक्षण है। इस लक्षण को बदलने में साधना है।

'जो है' अगर उसका पता चले, तो बडी क्रान्ति घटित होती है; 'जो नहीं है' अगर उसका पता चले, तो आपके जीवन मे सिर्फ असन्तोष के अतिरिक्त कुछ भी न होगा। 'जो है' उसका पता चले तो जीवन में परम-तृप्ति छा जायेगी, 'जो है' उसका पता चले, तो जो अवसर अभी मौजूद है, उसका आपको पता

चलेगा, और अगर अवसर आने के पहले, या अवसर आते ही बोध हो आए, तो हम अवसर को जी लेते हैं, अन्यथा चूक जाते हैं।

इसलिए ध्यान—'जो है', उसको देखने की कला है, और मन—'जो नही है', उसकी वासना करने की विधि है।

श्रवण करने की कला क्या है ? सुनने की कला क्या है ?

निश्चित ही कला है, और महावीर ने कहा है, 'धर्म श्रवण दुर्लभ चार चीजो मे एक है', तो बहुत सोच कर रहा है।

सुनते तो हम सब हैं, इसमें कला की क्या बात है ? हम तो पैदा ही होते हैं, कान लिये हुए ! सुनना हमें आता ही है !'

नही, लेकिन हम सुनते ही नहीं हैं, सुनने के लिए कुछ अनिवार्य शर्तें हैं।

जब आप सुन रहे हों, तब आपके भीतर विचार न हों। अगर विचार की भीड भीतर है, तो जो आप सुनेंगे, वह वही नही होगा, जो कहा गया है। आपके विचार उसे बदल देंगे, रूपान्तरित कर देंगे, उसकी शकल और हो जायेगी। विचार हट जाने चाहिए बीच से—मन खाली हो, शून्य हो और तब सुनें, तो जो कहा गया है, उसे आप सुनेंगे।

इसका यह अर्थ नही है कि आप उस पर विचार न करें। विचार तो सुनने के बाद ही हो सकता है। सुनने के साथ ही विचार नही हो सकता। जो सुनने के साथ ही विचार कर रहा है, वह विचार ही कर रहा है, सुन नही रहा है। सुनते समय सुन, सुन लें पूरा, समझ लें, जो कहा गया है; फिर खूब विचार कर लें।

विचार और सुनने को जो मिश्रित कर देता है, वह बहरा हो जाता है। वह फिर अपने ही विचारों की प्रतिध्वनि सुनता है। फिर वह वही नहीं सुनता, जो कहा गया है; वह वही सुन लेता है, जो उसके विचार उसे सुनने देते हैं।

अपने को अलग कर लेना, सुनने की कला है। जब सुन रहे हैं, तो सिर्फ सुनें और जब विचार कर रहे हैं, तब सिर्फ विचारें।

एक क्रिया को एक समय में करना ही उस क्रिया को शुद्ध करने की विधि है। लेकिन हम हजार काम एक साथ करते रहते हैं। अगर मैं आपसे कुछ कह रहा हूँ, तो आप उसे सुन भी रहे हैं, और आप उस पर सोच भी रहे हैं; उस सम्बन्ध में आपने जो पहले सुना है, उसके साथ तुलना भी कर रहे हैं। अगर आपको नहीं जंच रहा है, तो विरोध भी कर रहे हैं। अगर जँच रहा है, तो

प्रशंसा भी कर रहे हैं। यह सब साथ चल रहा है। इतनी पर्तें अगर साथ चल रही हैं, तो आप सुनने से चूक जाएँगे। फिर आपको 'राइट लिसनिंग', सम्यक्-श्रवण की कला नहीं आती।

महावीर ने तो श्रवण की कला को इतना मूल्य दिया है कि अपने चार घाटों में, जिनसे व्यक्ति मोक्ष तक पहुँच सकता है, श्रावक को भी एक घाट कहा है। जो सुनना जानता है, उसे श्रावक कहा है। महावीर ने तो कहा है कि अगर कोई ठीक से सुन भी ले, तो भी उस पार पहुँच जाएगा; क्योंकि सत्य अगर भीतर चला जाए, तो फिर आप उससे बच नही सकते।

सत्य अगर भीतर चला जाए, तो वह काम करेगा ही। अगर उससे बचना है, तो उसे भीतर ही मत जाने देना, तो सुनने मे ही बाधा डाल देना। उसी समय अड़चन खड़ी कर देना। एक बार सत्य की किरण भीतर पहुँच जाए, तो वह काम करेगी। फिर आप कुछ कर न पाएँगे।

इसलिए महावीर ने कहा है कि 'अगर कोई ठीक से सुन भी ले, तो भी पार हो सकता है।' हमको हैरानी लगेगी कि 'ठीक से सुनने कोई कैसे पार हो सकता है!'

जीसस ने भी कहा है कि 'सत्य मुक्त करता है।' अगर जान लिया जाए तो फिर आप वही नही हो सकते, जो आप उसके जानने के पहले थे, क्योंकि सत्य को जान लेना, सुन लेना भी आपके भीतर एक नई घटना बन जाती है। फिर सारा 'पर्सपेक्टिव' सारा परिप्रेक्ष्य बदल जाता है। फिर उस सत्य का जुड़ गया आप से संबन्ध। अब आप देखेंगे और ढग से, उठेंगे और ढग से। अब आप कुछ भी करेंगे, तो वह सत्य आप के साथ होगा। अब उससे बच के भागने का कोई उपाय नही है।

इसलिए जो कुशल हैं भागने मे, बचने में, वे सुनते ही नहीं। हमने सुना है कि लोग अपने कान बन्द कर लेते हैं, कि विपरीत बात सुनाई न पड जाये, प्रतिकूल बात सुनाई न पड जाये।

हाथों से कान बन्द करने वाले मूढ़ तो बहुत कम हैं, लेकिन हम ज्यादा कुशल हैं। हम भी कान बन्द रखते हैं। हाथों से नहीं रखते, हम भीतर विचारों की पर्त कान के आस-पास इकट्ठी कर देते हैं। बाहर से कान बन्द नहीं करते, भीतर से, विचार से कान बन्द कर लेते हैं। अब कान को कोई बात सुनाई पड़ती है, तो विचार की पर्त जाँच-पड़ताल कर लेती है। वह हमारा

सेन्सर है। वहाँ से हम तभी पार होने देते हैं, जब वह हमें हमारे अनुकूल लगता है।

और ध्यान रखना कि सत्य आपके अनुकूल नहीं हो सकता, आपको ही सत्य के अनुकूल होना पड़ता है। अगर आप सोचते हैं कि सत्य आपके अनुकूल हो, तभी ग्रहीत होगा, तो आप सदा असत्य में जीयेंगे। आपको ही सत्य के अनुकूल होना पड़ेगा। इसलिए ठीक से सुन लेना जरूरी है कि क्या कहा गया है। जरूरी नहीं कि उसे मान लें।

सुनने का अर्थ मानना नहीं है। इससे लोगों को बड़ी भ्रान्ति होती है। कईयो को ऐसा लगता है कि अगर हमने सोचा-विचारा न तो इसका मतलब हुआ कि 'हम बिना सोचे-विचारे मान लें।' सुनने का अर्थ मानना नहीं है। सिर्फ सुन लें, अभी मानने न मानने की बात ही नहीं है। अभी तो ठीक तस्वीर सामने आ जायेगी कि क्या कहा गया है। फिर मानना न मानना पीछे कर लेना।

और एक बड़े मजे की बात है कि अगर तथ्य ठीक से समझ लिया जाए, तो पीछे उसे न मानना बहुत मुश्किल है। अगर सत्य है, तो पीछे उसे न मानना बहुत मुश्किल है। अगर सत्य नहीं है, तो पीछे मानना बहुत मुश्किल है। पर एक दफा शुद्ध प्रतिबिम्ब बन जाना चाहिए, फिर मानने न मानने की बात कठिन नहीं है। सत्य मना ही लेता है। सत्य 'कन्व्हेंशन' है। फिर आप बच न सकेंगे। फिर तो आप को ही दिखाई पड़ने लगेगा कि मानने के सिवाय कोई उपाय नहीं है। फिर सोचें खूब। फिर कसौटी करें खूब। लेकिन सोचना और कसौटी निष्पक्ष होनी चाहिये।

हमारे सोचने का क्या अर्थ होता है ?

हमारे सोचने का अर्थ होता है—पूर्वाग्रह। हमारी जो 'प्रज्युडिस' होती है, जो हमने पहले से मान रखा है, उससे अनुकूल हो तो सत्य है।

एक आदमी हिन्दू घर में पैदा हुआ है, एक आदमी मुसलमान घर में, एक आदमी जैन घर में, तो जो उसने पहले से मान रखा है, अगर उससे मेल खा जाए, तो उसका नाम सोचना नहीं है। यह तो सोचने से बचना है—एस्केपिंग फ्रॉम थिंकिंग। आपने जो मान रखा है, अगर वही सत्य है, तब तो आपको खोज ही नहीं करनी चाहिए। आपने जो मान रखा है, अगर उसको ही पकड़ कर कसौटी करनी है, तब तो आपकी सारी कसौटियाँ झूठी हो जायेंगी।

जो आपने मान रखा है, उसको भी दूर रखिये; जो आपने सुना है, उसको भी दूर रखिये। आप दोनों से अलग हो जाइये, किसी से अपने को जोड़िए मत; क्योंकि जिससे आप जोड रहे हैं, वहाँ पक्षपात हो जायेगा। दोनों को तराजू पर रखिए और आप दूर खड़े हो जाइये। आप निर्णायक रहिये, पक्षपाती नहीं।

हर बार जब नई बात सुनी जाए, तो पुरानी को अपना मानकर और नई को दूसरे का मान कर अगर तौलिएगा, तो आप कभी भी निष्पक्ष चिन्तन नहीं कर सकते। अपनी पुरानी बात को भी दूर रखिए और इस नई बात को भी दूर रखिये; यह दोनों बातें पराई हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि एक बहुत पहले सुनी थी और एक अब सुनी है। समय भर का फासला है। कोई बात बीस साल पहले सुनी थी, कोई आज सुनी है। बीस साल पुरानी जो थी, वह आप की नही हो गई, वह भी पराई है; उसे भी दूर रखिए, इसे भी दूर रखिए और स्वयं को पार, अलग रखिए और तब दोनों को सोचिए। इस सोचने मे पक्ष मत बनाइये। निष्पक्ष दृष्टि से देखें, तो निर्णय बहुत आसान होगा और बडा मजा यह है कि इतना निष्पक्ष जो चित्त हो, उसे सत्य दिखाई पडने लगता है, उसे सोचना नही पडता।

इसलिए हमने निरन्तर इस मुल्क में कहा है कि सत्य सोच-विचार से उपलब्ध नही होता, दर्शन से उपलब्ध होता है। यह निष्पक्षता अगर आपको उपलब्ध हो गई तो देखने मे आप कुशल हो गये। अब आप को दिखाई पडेगा कि क्या है सत्य, और क्या है असत्य। अब आप की आँख खुल गई। यह आँख देख लेगी कि क्या है सत्य, क्या है असत्य। लेकिन, अगर पक्षपात तय है कि आप हिन्दू हैं या मुसलमान हैं, या जैन हैं—बधे हैं अपने पक्षपात से, तो फिर आप कुछ भी न देख पाएँगे। वह पक्षपात आपकी आँख को बन्द रखेगा।

जो पक्षपात से देखता है वह अन्धा है। जो निष्पक्ष होकर देखता है, वह आँख वाला है। पहले सुनें और फिर आँख वाले का व्यवहार करें।

कलयुग और सतयुग मनोस्थितियाँ हैं, पर बुद्धत्व मनोस्थिति नही है। स्वर्ग और नर्क मनोस्थितियाँ हैं, बुद्धत्व मनोस्थिति नही है, या जिनत्व मनोस्थिति नही है।

इसे थोड़ा समझ लें।

हमारे भीतर तीन तल हैं। एक हमारे शरीर का तल है, जहाँ सुविधाएँ-असुविधाएँ, कष्ट और अभाव की घटनाएँ हैं।

अगर आप का ऑपरेशन करना है, तो आपको 'इन्जेक्शन' लगा देते हैं। वह अंग शून्य हो जाता है। फिर ऑपरेशन हो सकता है। आपको कोई तकलीफ नहीं होती। आपका पैर कट रहा है और आपको कोई तकलीफ नही होती, क्योंकि पैर कट रहा है, इसकी खबर मन को होनी चाहिए। जब खबर होगी तभी तकलीफ होगी।

यह मन की तकलीफ नहीं है, यह तकलीफ शरीर की है। पैर और मन के बीच में जिनसे जोड है, जिन स्नायुओं से, उनको बेहोश कर दिया। इसलिये आप तक तकलीफ नही पहुँचती।

कष्ट और असुविधाएँ शरीर की घटनाएँ हैं। बडे मजे की बात है कि अगर आपके पैर मे तकलीफ हो रही है और एक इन्जेक्शन लगा दिया जाये तो आपको तकलीफ का पता नही चलता। आप मजे से लेटे गप-शप करते रहते हैं। इससे उल्टा भी हो सकता है कि आपके पैर मे तकलीफ नही हो रही और आपके स्नायुओ को कम्पित कर दिया जाये, (जिनसे तकलीफ की खबर मिलती है) तो आपको तकलीफ होगी। आप छाती पीट कर चिल्लाएँगे कि 'मैं मरा जा रहा हूँ।'

तकलीफ जानने से आपको रोका जा सकता है। तकलीफ की झूठी खबर मन को दी जा सकती है। मन के पास कोई उपाय नही है जाँचने का कि सही क्या है और गलत क्या है। शरीर जो खबर देता है, वह मन मान लेता है।

ये शरीर की स्थितियाँ हैं—आपको भूख लगी है, प्यास लगी है—यह सब शरीर की स्थितियाँ हैं। इसके पीछे मन की स्थितियाँ हैं। आपको सुख हो रहा है, आपको दुख हो रहा है—यह मन की स्थितियाँ हैं।

देखते हैं कि मित्र चला आ रहा है, तो चित्त प्रसन्न हो जाता है। लेकिन पास आने पर पता चलता है कि धोखा हो गया—मित्र नही है, कोई और है,—सुख तिरोहित हो गया—यह मन की स्थिति है। इसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि मित्र तो वहाँ था ही नही।

रात निकले हैं और दिखता है कि अँधेरे में कोई खड़ा है—छाती धडकने लगी, भय पकड़ गया, पास जाते हैं, देखते हैं कोई भी नहीं है, लकड़ी का ठूठ है, कटा हुआ वृक्ष है—निश्चिन्त हो गये, छाती की धड़कन ठीक हो गई, फिर गुनगुनाने लगे गीत और चलने लगे— यह मन की स्थिति है।

मन, सुख और दुख भोगता है। मन में सतयुग होता है, कलयुग होता है। मन में स्वर्ग होते हैं। नर्क होते हैं।

शरीर के भी जो पार उठ जाता है, मन के भी जो पार उठ जाता है उस घड़ी को हम कहते हैं—'बुद्धत्व, जिनत्व।' उस घडी को हमने कहा है—'कृष्ण चेतना।' उस घडी को हमने कहा है—'क्राइस्ट हो जाना।'

जीसस का नाम जीसस है, क्राइस्ट नाम नहीं है। 'क्राइस्ट' चित्त के पार होने का नाम है। बुद्ध का नाम तो गौतम सिद्धार्थ है, बुद्ध उनका नाम नही है। 'बुद्धत्व' उनकी चेतना का मन के पार चले जाना है। महावीर का नाम तो वर्धमान है, जिन उनका नाम नही है। 'जिन' का अर्थ है—मन के पार चले जाना।

जो इतिहास की गहरी खोज करते हैं, वे कहते है, 'क्राइस्ट, कृष्ण का अपभ्रंश है।' जीसस उसका नाम है, जीसस द क्राइस्ट—जीसस, जो कृष्ण हो गया।

कृष्ण का ही एक रूप है—क्राइस्ट। बगाली मे अब भी कृष्ण को कहते हैं—क्रिस्टो। अगर कृष्ण का बगाली रूप क्रिस्टो हो सकता है, तो हिब्रू या अरबी मे क्राइस्ट हो सकता है। कोई अडचन नही है।

व्यक्ति जहाँ शरीर और मन दोनो के पार हट जाता है उस अवस्था का नाम बुद्धत्व है। बुद्धत्व मनोस्थिति नहीं है, स्टेट ऑफ माइण्ड नहीं है, बुद्धत्व है स्टेट ऑफ नो-माइण्ड। बुद्धत्व अमन की स्थिति है, जहाँ मन नही है। बुद्ध के पास कोई मन नहीं है, इसलिए उनको हम बुद्ध कहते हैं। महावीर के पास कोई मन नहीं है, इसलिए हम उनको जिन कहते हैं।

मन का क्या अर्थ होता है ? मन का अर्थ होता है : विचारों का सग्रह, कर्मों का संग्रह, सस्कारो का सग्रह, अनुभवों का संग्रह। मन का अर्थ होता है 'पास्ट', अतीत—जो बीत गया है, उसका सग्रह। जो हमने जाना या अनुभव किया, उन सबका जोड हमारा मन है। मन हमारे समस्त अनुभवों का सग्रह है।

हमारा मन बहुत बडा है, पर हम जानते नही हैं। आप तो अपना मन उतना ही समझते हैं, जितना आप जानते हैं। पर वह तो कुछ भी नही है। उसके नीचे पर्त-पर्त गहरा मन है।

फ्रायड ने खोज की है कि हमारे चेतन मन के नीचे अचेतन मन, 'अनकांशस

माइन्ड है।' फिर जुग ने और खोज की है कि उसके नीचे हमारा 'कलेक्टिव-अनकांशस', सामूहिक अचेतन मन है।

लेकिन ये खोजें अभी प्रारम्भिक हैं। बुद्ध और महावीर ने जो खोज की है, अभी उस अतल गहराई में उतरने की मनोविज्ञान की सामर्थ्य नही है। बुद्ध और महावीर तो कहते हैं कि यह जो हमारा मन है इसके नीचे बड़ी पर्तें हैं, हमारे सारे जन्मो की—जो पशुओ मे हुए, उनकी पर्तें हैं, जो पौधे हुए, उनकी पर्तें है।

अगर आप कभी एक पत्थर थे, तो उस पत्थर का अनुभव भी आपके मन की गहरी पर्त मे दबा पड़ा है। कभी आप पौधे थे, तो उस पौधे का अनुभव और स्मृतियाँ भी आपके मन की पर्त मे दबी पडी है। आप कभी पशु थे, वह भी दबा पडा हुआ है।

इसलिए कई बार ऐसा होता है कि आपकी उन पर्तों मे से कोई आवाज आ जाती है, तो आप आदमी नही रह जाते। आप जब क्रोध में होते हैं, तो आप आदमी नही होते। असल मे क्रोध के क्षण में आप तत्काल अपने पशु मन से जुड जाते हैं। और पशु मन प्रगट होने लगता है।

इसलिए अक्सर आप क्रोध में कुछ कर लेते हैं, और पीछे कहते हैं कि मेरे बावजूद, 'इन्सपाइट ऑफ मी' हो गया। मैं तो नही करना चाहता था फिर, भी हो गया।

फिर किसने किया ? आप नही करना चाहते थे ! कभी आपने अपने क्रोध की तस्वीर देखी है ?

कभी आईने के सामने खडे होकर क्रोध करना, तो फिर आप पायेंगे कि यह चेहरा आपका नही है, ये आँखें आपकी नहीं हैं। यह कोई और आपके भीतर आ गया है। यह कौन है ? यह आपका ही कोई पशु सस्मरण है—कोई स्मृति, कोई सस्कार—जब आप पशु थे। वह आपके भीतर काम कर रहा है। उसने आपको पकड़ लिया है। जब आप अपने को ढीला छोड़ते है, तब आपके नीचे का मन आपको पकड लेता है।

कई बार कई आदमियो की आँखों में देख कर आपको लगेगा कि वह पथरा गई है'। लोग कहते हैं, 'उसकी आँखें पथरा गई हैं।' जब हम कहते हैं कि किसी की आँखें पत्थर हो गईं, तो उसका क्या मतलब होता है। उसका मतलब है कि इस व्यक्ति के पत्थर-जीवन के अनुभव इसकी आँखों को पकड़ रहे हैं आज भी। इसलिए इसको आँखों में कोई सवेदना नहीं मालूम होती।

अनेक लोग बिलकुल मुर्दा मालूम पड़ते हैं, उनका शरीर लगता है, जैसे लाश है। वे चलते हैं, तो ऐसा लगता है जैसे कि शरीर को ढो रहे हैं अपने को। क्या हो गया है इनको ?

मन की बहुत पर्तें हैं। इस पर्त-पर्त मे मन का जो लम्बा इतिहास है, वह अतीत है। रोज हम इस मन में जोड़े चले जाते हैं। जो भी हम अनुभव करते हैं, वह उसमे जुड़ जाता है। मैं कुछ बोल रहा हूँ, यह आपके मन में जुड़ जाएगा। आपका मन रोज बढ रहा है, बड़ा हो रहा है, फैलता जा रहा है।

बुद्धत्व, जिनत्व—इस मन के अतीत के पार उठने की घटना है। जिस दिन कोई व्यक्ति अपने अतीत का त्याग कर देता है, अपने सारे मनों को छोड देता है, और अपनी चेतना को मन के पार खींच लेता है, और कहता है, 'अब मैं न शरीर हूँ, न अब मैं मन हूँ, अब मैं केवल जानने वाला हूँ—जो मन को भी जानता है, वह हूँ। अब मैं 'ऑबजेक्ट' नही हूँ, जाने जानेवाली चीज नही हूँ, ज्ञाता हूँ, चिन्मय हूँ, चैतन्य हूँ।'

कहने से नही, मन यह भी सब कह सकता है, यही बडा मजा है। मन यह भी सब कह सकता है कि 'मैं चैतन्य हूँ, आत्मा हूँ, परमात्मा हूँ। लेकिन, यह मन कह रहा है। अगर मन सुनी हुई बातें कह रहा है, तो इसका आत्मा से कोई सम्बन्ध नही है। यह आपका अनुभव बन जाए, और आप मन के पार अपने को पहचान लें कि 'मैं मन से अलग हूँ', तब बुद्धत्व है।

बुद्ध एक वृक्ष के नीचे बैठे हैं। एक ज्योतिषी बड़ी मुश्किल मे पड़ गया है; उसने बुद्ध के पैर देख लिये हैं रेत पर बने हुए। वह काशी से लौट ही रहा था अपने पाण्डित्य की डिग्री लेकर। बड़ा ज्योतिषी था। अपनी सारी पोथियाँ लेकर चला आ रहा था। उसने देखे बुद्ध के चरण—गीली रेत पर, गीली मिट्टी पर—पैर के चिह्न थे। वह चकित हो गया'''यह आदमी सम्राट होना चाहिए ज्योतिषी के हिसाब से। पैर के चिह्न, सम्राट के चिह्न हैं। लेकिन कौन सम्राट नगे पैर इस साधारण से गरीब गाँव की रेत में चलने आया था ?'

वह बड़ी मुश्किल में पड गया। उसने सोचा कि 'अगर इस साधारण से देहात में सम्राट नगे पैर रेत में चलते हों, तो यह पोथी वगैरह यही इस नदी मे डुबा कर हाथ जोड़ लेने चाहिए। कोई मतलब नहीं है !

इस आदमी को खोजना पड़ेगा। वह खोज करता हुआ पहुँचा, तो उसने देखा कि बुद्ध एक वृक्ष के नीचे बैठे हैं। बडी मुश्किल में पड गया वह

ज्योतिषी···'जिसको सम्राट होना चाहिए, वह भिक्षा-पात्र लिये बैठा है ! अगर यह आदमी सही है, तो फिर ज्योतिषी गलत है। अगर ज्योतिष सही है, तो इस आदमी को यहाँ होना ही नहीं चाहिए, इस वृक्ष के नीचे !'

उसने बुद्ध से जाकर पूछा कि 'कृपा करें, मैं बड़ी मुश्किल मे पड गया हूँ, ये पैर के लक्षण सम्राट के हैं—चक्रवर्ती सम्राट के, और आप यहाँ भिखारी होकर बैठे हैं, मैं क्या करूँ ? पोथियों को डुबा दूँ पानी मे ?'

बुद्ध ने कहा, 'पोथियों को डुबाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि मेरे जैसा आदमी दुबारा तुम्हें जल्दी नही मिलेगा, होना चाहिये था चक्रवर्ती सम्राट ही मुझे, ज्योतिष तुम्हारा ठीक कहता है। लेकिन एक और जगत् भी है अध्यात्म का, जो ज्योतिष के पार चला जाता है। पर तुम्हारे साथ ऐसा बार-बार नही होगा, तुम बहुत चिन्ता मे मत पडो। चक्रवर्ती सम्राट ही होने को मैं पैदा हुआ था, लेकिन उससे और ज्यादा होने का द्वार खुल गया है—भिखारी भी मैं नही हूँ और सम्राट भी मैं नही हूँ।'

ज्योतिषी आश्वस्त हुआ, उसने गौर से बुद्ध के चेहरे को देखा। वहाँ जो आभा थी, वहाँ जो गरिमा थी, उनके चेहरे से प्रकाश की किरणें फूट रही थी। उसने पूछा, 'क्या आप देवता हैं ? मुझसे भूल हो गई है, मुझे क्षमा कर दें।'

बुद्ध ने कहा, 'मैं देवता भी नही हूँ।'

ज्योतिषी पूछता जाता कि 'आप यह हैं, आप यह हैं, आप यह हैं। और बुद्ध कहे जाते, 'मैं यह भी नही हूँ, मैं यह भी नहीं हूँ, मैं यह भी नहीं हूँ।'

तब ज्योतिषी पूछता है कि 'आप हैं क्या ? न आप पशु हैं, न आप पक्षी, न आप पौधा हैं, न आप मनुष्य हैं, न आप देवता हैं, तो आप हैं क्या ?'

बुद्ध कहते हैं, 'मैं बुद्ध हूँ।'

तो वह ज्योतिषी पूछता है, 'बुद्ध होने का क्या अर्थ है ?'

तो बुद्ध कहते हैं—'जो भी परिधियाँ हो सकती थी—आदमी की, देवता की, पशु की—वे सब मन के खेल हैं, मैं उनके पार हूँ। मैंने उसे पा लिया है, जो उस मन के भीतर छिपा था। अब मैं मन नही हूँ।'

पशु भी मन के कारण पशु है, और आदमी भी मन के कारण मनुष्य है। पौधा भी मन के कारण पौधा है।

आप जो भी हैं, अपने मन के कारण हैं। जिस दिन आप अपने मन को छोड़ देंगे, उस दिन आप वह हो जायेंगे, जो आप अकारण हैं। वह अकारण

होना ही हमारा ब्रह्मत्व है, वह अकारण होना ही हमारा परमात्म है।

कारण से हम संसार मे हैं, अकारण हम परमात्मा मे हो जाते हैं। कारण से हमारी देह निर्मित होती है, मन निर्मित होता है। अकारण हमारा अस्तित्व है।

'वह है', उसका कोई कारण नही है।

बुद्धत्व अवस्था नही है, अवस्थाओं के पार हो जाना है।

● अब हम सूत्र लें।

'आशुप्रज्ञ पंडित पुरुष को मोह-निद्रा मे सोये हुए ससारी मनुष्यो के बीच रह कर भी सब तरह से जागरूक रहना चाहिए, और किसी का विश्वास नही करना चाहिए।'

'काल निर्दयी है और शरीर दुर्बल यह जानकर भारड पक्षी की भांति अप्रमत्त भाव से विचरना चाहिये।'

इसमे बहुत सी बातें समझने की हैं।

महावीर अकेला पडित नही कहते, आशुप्रज्ञ पडित कहते हैं। तो, पहले हम इस बात को समझ लें।

पंडित का अर्थ होता है—जानने वाला, जानकारियाँ जिसके पास हैं, जिसके पास सूचनाओ का बहुत सग्रह है—'लरनेड'—शास्त्र का जिसे पता है, सिद्धान्त का जिसे पता है, प्राणियो का जिसे बोध है, तर्क मे जो निष्णात है—ऐसा व्यक्ति पडित है।

आशुप्रज्ञ पंडित का अर्थ है—जानकारियाँ ही सिर्फ जिसके पास नही हैं, ज्ञान भी जिसके पास है। आशुप्रज्ञ शब्द का अर्थ है—ऐसे प्रश्न का उत्तर भी जो दे सकेगा, जिस प्रश्न के उत्तर की जानकारी उसके पास नही है।

इसे थोडा समझ लें।

हम उस व्यक्ति को आशु कवि कहते हैं, जो कविता बनाकर नही आया है, बल्कि जिसकी कविता तत्क्षण बनेगी; जो कविता बनाकर नही गायेगा, बल्कि जो गाएगा और गाने मे ही कविता निर्मित करेगा—उसको कहते हैं आशुकवि। उसका गाना और बनाना साथ-साथ है। वह पहले बनाता है, फिर गाता है, ऐसा नहीं है, वह गाता है और कविता बनती चली जाती है।

आशु कवि का अर्थ है—कविता उसके लिए कोई रचना नहीं है, उसका स्वभाव है। उसके बोलने में ही काव्य होगा। काव्य को उसे बाहर से लाकर

आरोपित नही करना होता, वह उससे वैसे ही निकलता है, जैसे वृक्षों से पत्ते निकलते हैं। जैसे झरना बहता है, वैसे उसकी कविता बहती है—निष्प्रयोजन, निष्चेष्ठित। उसके लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पडता।

जितना बड़ा कवि हो उतना कम प्रयास उसे करना पड़ता है, जितना छोटा कवि हो उतना ज्यादा प्रयास उसे करना पड़ता है। आशु कवि हो तो प्रयास होता ही नही, कविता बहती है—तब कविता एक निर्माण नहीं है, कोई आयोजना, कोई व्यवस्था नही है—तब कविता वैसी ही है, जैसे श्वास का चलना है—ऐसे व्यक्ति को हम कहते हैं—आशु कवि जिसका ज्ञान स्मृति नही है।

आप किसी से कुछ पूछते हैं, तो दो तरह के उत्तर सम्भव हैं। जैसे, एक सवाल आप मुझसे पूछें, और मैं तत्काल अपनी स्मृति के संग्रह मे जाऊँ—मैं आपके सवाल का उत्तर खोजूं अपने अतीत में, अपने मस्तिष्क मे, अपनी स्मृति मे, अपने कोष में, अपने संग्रह मे, और उत्तर खीच कर स्मृति से ले आऊँ, और आपको उत्तर दे दूं, तो यह एक तरह का उत्तर है, यह पंडित का उत्तर है।

आप मुझसे एक प्रश्न पूछें और मैं अपने भीतर चला जाऊँ, मैं आपके प्रश्न के सामने अपनी चेतना को खड़ा कर लूं, दर्पण की तरह आपके प्रश्न के सामने खडा हो जाऊँ, और मेरी चेतना से आपके प्रश्न का उत्तर प्रतिध्वनित हो, मेरी चेतना से आपके प्रश्न का उत्तर आये, यह उत्तर स्मृति से न आए, उसी क्षण की मेरी चेतना से आए, तो यह दूसरी तरह का उत्तर है, यह आशु-प्रज्ञ का उत्तर है।

आशुप्रज्ञ का अर्थ है : तत्काल जिसकी चेतना से उत्तर आएगा—ताजा, सद्स्नात्, अभी-अभी नहाया हुआ, बासा नही।

हमारे सब उत्तर बासे होते हैं। बासे उत्तर मे समय लगता है, चाहे हमे पता चले, या न चले। व्यक्ति आशुप्रज्ञ हो, तो समय नही लगता।

आप से कोई प्रश्न पूछ ले, तो आपको उत्तर देने मे समय लगता है। अगर कोई आपसे पूछे कि आपका नाम क्या है, तो आपको लगता है कि आपको उत्तर देने में कोई समय नही लगता—आप कह देते हैं : 'राम'—लेकिन इसमे भी समय लगता है।

असल में आदत हो गई है; क्योंकि आपको पता है कि आपका नाम राम है, इसलिए आपको समय लगता मालूम नहीं पड़ता, लेकिन इसमे भी समय जाता है।

कोई आपसे पूछे कि आपके पड़ोसी का नाम क्या है, तो आप कहते हैं, 'जबान पर रखा है, लेकिन याद नही आ रहा है।'

इसका क्या मतलब है ? इसका मतलब है कि वह स्मृति में है, और आप ठीक से स्मृति तक पहुँच नही पा रहे हैं, बीच मे कुछ दूसरी स्मृतियाँ अड़ गई हैं—मालूम भी है, लेकिन पकड़ नही पा रहे, स्मृति में।

आपको जो याद है, उसका आप तत्काल उत्तर दे देते हैं। समय बीत जाता है, तो वह भूल जाता है, फिर आप तत्काल उत्तर नही दे पाते; लेकिन; अगर आपको थोड़ा समय मिले, तो आप उत्तर खोज ले सकते हैं।

स्मृति से आया हुआ उत्तर, पांडित्य का उत्तर है।

आपसे किसी ने पूछा; 'ईश्वर है ?' तो आप जो भी उत्तर देंगे, वह पाडित्य का उत्तर हो जायेगा। लेकिन कोई महावीर से पूछे, तो वह उत्तर पाडित्य का नही होगा। वह महावीर के ज्ञान मे से निकलेगा। वह महावीर की जानकारी से नही निकलेगा, वह उनके जानने से निकलेगा—'मेमोरी' से नही, 'कान्शसनेस' से, उनके चैतन्य से निकलेगा।

महावीर कोई बधा हुआ उत्तर तैयार नही रखते हैं कि आप पूछेगे और वे दे देंगे। उनके पास 'रेडीमेड' कुछ भी नही है। पडित के पास सब 'रेडीमेड' है। आप पूछेंगे, तो वह वही उत्तर देगा, जो तैयार है।

इसलिए एक बडी कठिनाई खडी होती है।

महावीर का आज जो उत्तर है, जरूरी नही कि कल भी वही हो, परसों भी वही हो; पण्डित का उत्तर आज भी वही होगा, कल भी वही होगा और परसो भी वही होगा, क्योकि पण्डित के पास वस्तुत. कोई उत्तर नहीं है, उसके पास केवल एक जानकारी है। महावीर का उत्तर रोज बदल जाएगा, रोज बदल सकता है, प्रतिपल बदल सकता है, क्योकि वह कोई जानकारी नही है।

महावीर की चेतना जो प्रतिध्वनि करेगी, उस प्रतिध्वनि में अन्तर पड़ेगा; क्योकि पूछने वाला रोज बदल जायेगा। इसे ऐसा समझें। एक 'फोटोग्राफ' है। 'फोटोग्राफ' आज भी वही शकल बतायेगा, कल भी वही शकल बतायेगा, परसों भी वही शकल बतायेगा। एक दर्पण है। दर्पण वही शकल बतायेगा, उसकी ही शकल बतायेगा, जो देखेगा। रोज दर्पण में शकल बदल जाएगी।

पण्डित फोटोग्राफ की भाँति है। उसके पास सब बंधा हुआ है। महावीर और बुद्ध जैसे लोग दर्पण की भाँति हैं। उनमे आपकी शकल दिखाई पड़ेगी।

इसलिए जब प्रश्न पूछने वाला बदल जायेगा, तो उत्तर बदल जायेगा। पंडित का उत्तर कभी नहीं बदलेगा। आप सोते से उठाकर पूछ लें, कुछ भी करें, उसका उत्तर नही बदलेगा, उसका उत्तर वही रहेगा।

महावीर और बुद्ध के वचनों में बड़ी असगतियाँ दिखाई पड़ती हैं; वह दिखाई पड़ेंगी। पडित ही सगत हो सकता है, आशुप्रज्ञ संगत नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिपल परिस्थिति बदल जाती है, पूछने वाला बदल जाता है, संदर्भ बदल जाता है, इसलिये उत्तर बदल जाता है, दर्पण में प्रतिबिम्ब बदल जाता है।

आप पर निर्भर करेगा कि महावीर का उत्तर क्या होगा। पूछने वाले पर निर्भर करेगा कि उत्तर क्या होगा।

इसलिए महावीर कहते हैं, 'आशुप्रज्ञ पण्डित'—जिसकी प्रज्ञा प्रतिपल तैयार है उत्तर देने को।

'आशुप्रज्ञ पण्डित पुरुष को मोह-निद्रा में सोये हुए ससारी मनुष्य के बीच रह कर भी सब तरह से जागरूक रहना चाहिए।'

महावीर कहते हैं कि जिसको भी ऐसी प्रज्ञा में थिर रहना है, ऐसे ज्ञान मे थिर रहना है, ऐसे ज्ञान में गति करते जाना है, उसे ससारी, सोये हुए मनुष्यो के बीच रह कर भी सब तरह से जागरूक रहना चाहिए।

रहना तो पड़ेगा ही सोए हुए लोगों के बीच, भागने में कोई सार नही है; क्योंकि कही भी भाग जाओ, सोये हुए लोगों के बीच ही रहना पड़ेगा। यह जरा समझ लेने जैसा है।

अक्सर लोग सोचते हैं कि 'शहर छोड कर गाँव चला जाऊँ,' पर गाँव में भी सोऐ हुए लोग हैं। कोई सोचता है, 'गाँव छोड़ कर जंगल चले जाएँगे।' लेकिन आपको कभी ख्याल न आया होगा कि जगल के पौधे मनुष्य से ज्यादा सोए हुए हैं, इसीलिए तो पौधे हैं। और जगल के पशु-पक्षी मनुष्य से ज्यादा सोए हुए हैं; इसलिए तो पशु-पक्षी हैं। ये मनुष्य भी कभी पशु पक्षी थे, पौधे थे। ये थोड़े-थोड़े जागकर मनुष्य तक आ गए हैं।

अगर एक आदमी मनुष्यों को छोडकर जंगल आ रहा है, तो वह और भी गहन, सोई हुई चेतनाओ के बीच आ रहा है। वहाँ उसे शान्ति मालूम पड़ सकती है। उसका कुल कारण इतना है कि वह इन सोए हुए प्राणियों की भाषा नही समझ रहा है।

लेकिन सारा जंगल सोया हुआ है। ये सोये हुए वृक्ष, सोये हुए मनुष्य ही हैं; जो कभी मनुष्य हो जायेंगे। ये जागे हुए मनुष्य जो दिखाई पड रहे हैं, ये थोड़े से आगे बढ़ गये वृक्ष हैं, ये कभी वृक्ष थे। पीछे लौटने में चूँकि भाषा का पता नही चलता, इसलिए आदमी सोचता है—जगल मे ठीक रहेगा; न कोई होगा आदमी, न कोई होगा उपद्रव।'

उपद्रव न होने का कुल कारण इतना है कि आदमी की भाषा जल्दी चोट करती है। और ज्यादा होश रखना पडता है, नही तो चोट से बचा नही जा सकता।

एक आदमी गाली देगा, तो क्रोध जल्दी आ जायेगा। पत्थर की चोट पैर मे लगेगी, तो उतनी जल्दी क्रोध नही आएगा; क्योकि हम सोचते हैं—'पत्थर है।' छोटे बच्चो को पत्थर पर क्रोध आ जाता है, क्योकि अभी उनको पता नही है कि पत्थर और आदमी मे फर्क करना है। वे पत्थर को भी गाली देंगे, डडा उठाकर पत्थर को भी मारेगे। कभी-कभी जब आप भी बचकाने होते है, तब वैसा कर लेते है। कलम ठीक से नही चलती, तो गाली देकर फर्श पर पटक देते है।

लेकिन, चाहे कही भी चले जाओ, महावीर कहते हैं—ससार मे तो रहना ही पडेगा। ससार का मतलब ही है 'सोई हुई चेतनाओ की भीड़।' यह भीड चाहे वृक्षो की हो, चाहे पशुओ की हो, चाहे मनुष्यो की हो, यह भीड़ तो मौजूद रहेगी ही। यह स्थिति है, इससे बचा नही जा सकता।

ससार अनिवार्य है। उससे तब तक बचा नहीं जा सकता, जब तक हम पूरी तरह जाग न जाएँ। तो आशुप्रज्ञ पण्डित को भी, जो इस जागने की चेष्टा मे सतत् सलग्न है, सोए हुए लोगो के बीच रहना पडेगा। तो उसे सदा जागरूक रहना चाहिए।

क्यो ?

क्योकि नीद भी संक्राकम है, 'इन्फेक्शस' है। हम सब सक्रामक रूप से जीते हैं। यहाँ इतने लोग बैठे हैं, अभी एक आदमी खाँस दे, तो और लोग भी खाँसने लगेंगे। 'क्या हो गया ? अभी तक चुपचाप बैठे थे ! इनके गले को क्या हो गया ? अब तक कोई गडबड़ न थी।'

एक आदमी ने खाँसना शुरू किया तो, दस बीस लोग खाँसना शुरू कर देंगे। संक्रामक हैं। हम अनुकरण से जीते हैं। एक आदमी पेशाब करने चला

आए, तो कई लोगों को ख्याल हो जाएगा कि पेशाब करने जाना है। सक्रामक है। हम एक दूसरे के हिसाब से जी रहे हैं।

हिटलर अपनी सभाओ में अपने दस-पाँच आदमियों को दस जगह बिठा रखता था। ठीक वक्त पर दस आदमी ताली बजाते थे, तो पूरा हाल ताली बजाने लगता था। हिटलर समझ गया कि ताली संक्रामक है। दस आदमी अपने हैं, वे ताली बजा देते हैं, फिर बाकी दस हजार लोग भी ताली बजा देते हैं। 'ये दस हजार लोगों को हो क्या गया? इनकी ताली को क्या हो गया?'

हमारा मन आसपास से एकदम प्रभावित होता रहता है। हमको बीमारियाँ ही नही पकड़ती, हमको फ्लू ही नही पकडता, हमको एक दूसरे से क्रोध भी पकडता है, मोह भी पकडता है, लोभ भी पकडता है, कामवासना भी पकड़ती है। शरीर ही नही पकडता जीवाणुओ को, मन भी पकडता है।

इसलिए महावीर कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति को सोये हुए लोगों के बीच जागरुक रहना चाहिए। क्योंकि वे चारों तरफ गहन-निद्रा मे सो रहे हैं। उनकी निद्रा की लहरे तुम्हे छुएँगी। वे चारों तरफ से तुम्हारे भीतर आएँगी। तुम अकेले ही अपनी नीद के लिए जिम्मेवार नही हो। तुम एक नीद के सागर मे हो, जहाँ चारों तरफ से नीद तुम्हे छुएगी।

अगर तुमने बचने की चेष्टा न की, तो वह नीद तुम्हें पकड लेगी, वह नीद तुम्हे डुबा लेगी। कोई तुम्हें डुबाने की उसकी आशा या इच्छा नही है। यह कोई सचेतन प्रयास नही है। यह केवल स्थिति है।

कभी आपने ख्याल किया, अगर दस लोग बैठे हैं और एक आदमी जम्हाई लेने लगे, तो फौरन दूसरे कुछ लोग भी जम्हाई लेना शुरू कर देंगे? एक आदमी सो जाए, तो दूसरो को भी नींद पकडने लगती है?

हम समूह का एक अग है। जब तक कोई व्यक्ति पूरा नही जागा, तब तक वह व्यक्ति नही है, भीड़ है, चाहे वह कितना ही समझे कि 'मैं अलग हूँ', पर वह अलग है नही।

बडे मजे की घटनाएँ घटती है! दुनिया मे बड़े पाप व्यक्ति से नही होते, भीड़ से होते हैं। क्योकि भीड़ में पाप का सक्रमण हो जाता है। हजार लोगों की भीड़ मन्दिर को जला रही है, या मस्जिद में आग लगा रही है, तो उनमें से एक-एक आदमी को अलग करके पूछें कि मन्दिर में आग लगाने से या मस्जिद तोड़ने से क्या होगा?—एक-एक व्यक्ति को पूछें, तो वह कहेगा कि नहीं, इससे कुछ होने वाला नही है, कोई सार भी नहीं है। 'फिर क्या कर रहे हैं?'

हजार आदमियों की भीड में वह आदमी था ही नहीं, वह सिर्फ भीड़ का एक हिस्सा था।

बड़ा पाप सदा भीड़ करती है। छोटे पाप निजी होते हैं। बडे पाप सामूहिक होते हैं। जितना बड़ा पाप करना हो, उतनी बडी भीड चाहिए, क्योंकि भीड मे व्यक्ति को जो निज की जिम्मेवारी है, वह खो जाती है। भीड़ में व्यक्ति अपने में नहीं रह जाता। भीड़ में उसे लगता है कि एक सागर है, जिसमे बहे चले जा रहे हैं। भीड मे उसे ऐसा नही लगता कि मैं कर रहा हूँ। उसे लगता है कि भीड कर रही है, मैं सिर्फ साथ हूँ।

कभी आपने ख्याल किया, अगर भीड तेजी से चल रही हो, तो आपके पैर भी तेज हो जाते हैं ? हिटलर ने अपने सैनिको को आदेश दे रखे थे कि जब तुम चलो, तो एक दूसरे के शरीर छूते रहे। अगर पचास आदमी चल रहे हो और एक दूसरे के शरीर छूते हो और उनके कदम एक लय मे पडते हैं, तो आप उस लय मे फँस जायेगे। जब उनका हाथ आपको छूयेगा, तो उनका जोश भी आपके भीतर चला जायेगा। और जब उनके कदम की चाप आपको सुनाई पड़ेगी, तो आपका कदम भी वैसा ही पडने लगेगा। भीड मे आप अकेले नही रह जाते, आप भीड का एक अग हो जाते हैं, एक बडी चेतना का हिस्सा हो जाते हैं। और वह चेतना फिर आपको प्रवाहित कर लेती है। जैसे नदी की धार मे कोई बहता हो, वैसा असहाय आदमी हो जाता है भीड मे।

इसलिए सारे लोग भीड बना कर जीते हैं। राष्ट्र भीडो के नाम हैं। धर्म भीडों का नाम है। हिन्दुओं की भीड, मुसलमानो की भीड, जैनों की भीड़—हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, चीन, रूस—यह सब भीडो के नाम हैं।

रूस खतरे मे है, तो फिर सारा मामला खतम हो गया। भारत खतरे मे है, तो फिर आप व्यक्ति नही रह जाते; सिर्फ एक बड़ी भीड़ के हिस्से रह जाते हैं। फिर आप उसमें बहते हैं।

राजनीति भीडो को सचालित करने की कला है। इसलिए जहाँ भी भीड है, वहाँ राजनीति होगी। चाहे वह धर्म की भीड क्यो न हो, उसमे राजनीति आ जायेगी। इसलिए आपसे मैं कहता हूँ कि धर्म का सम्बन्ध है व्यक्ति से, और राजनीति का सम्बन्ध है भीड से। जहाँ धर्म भी भीड़ से सम्बन्धित होता है, वहाँ राजनीति का रूप है। इसलिए हिन्दुओं की भीड, मुसलमानों की भीड़, ईसाइयो की भीड, यह सब राजनीति के रूप हैं। इनका धर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

धर्म का सम्बन्ध है व्यक्ति से। धर्म की चेष्टा ही यही है कि व्यक्ति को भीड़ से कैसे मुक्त करें। वह भीड़ के उपद्रव से कैसे बाहर आए। भीड़ के प्रभाव से कैसे छूटे। यही तो धर्म की सारी चेष्टा है। लेकिन धर्म भी भीड़ बन जाता है, और जब धर्म भीड बन जाता है, तो मुश्किल हो जाती है।

युद्ध में सैनिक ही भीड़ में नहीं लडते, लोग मस्जिदों में, मन्दिरों में, भीड़ मे प्रार्थना भी कर लेते हैं। बह जाएँगे आप।

महावीर कहते हैं : इसलिए जागे हुए व्यक्ति को आस-पास पूरे वक्त सचेत रहना पडेगा; क्योंकि सब तरह से नीद आ रही है, सब तरह सोये हुए लोग हैं। क्रोध आयेगा, लोभ आयेगा, मोह आयेगा, वह सब तरह से बह रहा है, जैसे कि कोई आदमी, सब तरह से गन्दी नालियाँ बह रही हों और उनके बीच में बैठा हो। उसको बहुत सचेत रहना पड़ेगा, अन्यथा वे गन्दी नालियाँ उसे भी गन्दा कर जायेगी। उसकी सचेतना उसको पवित्र रख सकती है। इसलिए महावीर कहते हैं—सब तरह से जागरूक रहना चाहिए—सब तरह से। बहुत अद्भुत वचन उन्होने कहा है।

'और किसी का विश्वास भी नही करना चाहिये।'

इसका यह मतलब नहीं है कि महावीर अविश्वास सिखा रहे हैं। महावीर कहते हैं कि अगर तुमने किसी सोये हुए आदमी का विश्वास किया कि तुम खुद भी सो जाओगे। तुमने अगर सोये हुए आदमी का विश्वास किया था, तो तुम सो जाओगे; क्योंकि विश्वास का मतलब यह है कि अब सचेतन रहने की कोई भी जरूरत नही है।

इसे थोडा समझ लें।

जिसका हम विश्वास करते हैं, उससे हमें सचेतन नही रहना पड़ता है। एक अजनबी आदमी आपके कमरे मे ठहर जाए, तो आप रात ठीक से सो न पाएँगे। क्यों ?

'अजनबी आदमी कमरे में है, पता नही क्या करे!' नींद उखड़ी-उखडी रहेगी। रात मे दो चार दफा आँख खोल कर देख लेंगे कि 'कुछ कर तो नही रहा।' आपकी पत्नी आपके कमरे मे सो रही है, तो आप मजे से घोड़े बेच कर सो जाते हैं; क्योंकि पत्नी अब अजनबी नहीं है। वह जो भी कर सकती थी, कर चुकी। अब सब परिचित है। अब जो कुछ भी होगा, होगा। अब इसमें कुछ ऐसा नया कुछ होने वाला नहीं है। कोई भय नहीं है। आप चेतना खो सकते हैं। आपको चेतन रहने की कोई जरूरत नहीं है।

इसीलिए तो नए मकान में, नए कमरे में नींद नही आती, क्योंकि स्थिति नई है और आदत है नही। नए बिस्तर पर नीद नही आती, नए लोगो के बीच नींद नही आती; क्योंकि स्थिति नई है और होश रखना पड़ता है। पूरा भरोसा नही किया जा सकता।

महावीर कहते हैं कि जीना जगत् मे जैसे अजनबियो के बीच ही हो सदा। है ही सचाई यह। पति और पत्नी चाहे बीस साल, चाहे चालीस साल साथ रहे हो, अजनबी है। कभी भी कोई पहचान हो नही पाती। स्ट्रेंजर हैं, वे मान लेते हैं कि बीस साल साथ रहने के कारण हम परिचित हो गये।

'क्या खाक परिचित हो गये!'

कोई परिचित नही होता है। सब 'आइलेंड' बने रहते है, अपने-अपने में द्वीप बने रहते हैं। परिचय हो जाता है, ऊपरी नाम-धाम, पता-ठिकाना, शकल-सूरत यह सब पता हो जाता है, लेकिन भीतर क्या सम्भावनाएँ छिपी हैं, उसका कुल परिचय नही होता, उसकी कोई पहचान नही होती।

महावीर कहते हैं : 'किसी का विश्वास मत करना।' इसका क्या मतलब है? इसका मतलब यह नही है कि अविश्वासी हो जाना, 'अनट्रस्टिंग' हो जाना। इसका मतलब यह नही समझना कि हर आदमी बेईमान है, कि हर आदमी चोर है! इससे कई लोगो को बड़ी प्रसन्नता होगी कि 'किसी का विश्वास मत करना।' वे कहेगे, 'यह तो हम कर ही रहे हैं, यह हमारी साधना ही है, किसी का विश्वास हम करते ही कहाँ हैं। अपना नही करते दूसरे की तो बात ही अलग है।'

कोई किसी का विश्वास नही कर रहा है, मगर वह अर्थ नही है महावीर का—इसे ठीक से समझ ले।

हम अविश्वास करते हैं, लेकिन वह अविश्वास महावीर का प्रयोजन नही है। महावीर कहते हैं : 'किसी का विश्वास मत करना,' इस कारण ताकि तुम सो न जाओ। निकटतम भी तुम्हारे कोई हो, तो भी इतना विश्वास मत करना कि अब होश रखने की कोई जरूरत नहीं है। होश तो तुम रखना ही, जागे तो तुम रहना ही, क्योंकि जो निकटतम हैं उन्ही से बीमारियाँ आसानी से आती हैं। वे करीब हैं उनका रोग जल्दी लगता है। होश तो रखना ही। अगर तुम होश खोकर अपनी पत्नी, या अपने पति, या अपने बेटे, या अपनी माँ के पास भी बैठे हों, तो उनकी बिमारियाँ तुम्हारे भीतर प्रवेश कर रही हैं। तुम्हारा

चित्त पहरेदार बना ही रहे और मन की कोई बीमारी तुममें प्रवेश न कर पाए।

बुद्ध कहते थे कि जिस मकान के बाहर पहरे पर कोई बैठा हो, चोर उसमें प्रवेश नही करते, वे उस मकान से जरा दूर ही रहते हैं। ठीक ऐसे ही जिसके भीतर होश का दिया जला हो, ठीक ऐसे ही जिसने सावधानी को पहरे पर रखा हो, उसके भीतर मन की बीमारियाँ प्रवेश नही करती, जरा दूर ही रहती हैं।

हम ऐसे जीते हैं कि न कोई पहरे पर है, न घर का दिया जला है, अधकार है घना, चोरों के लिए निमत्रण है, और चारों तरफ हमारे चोर मौजूद हैं, हम गड्ढा बन जाते हैं, वे हम में बह जाते हैं भीतर।

एक उदास आदमी आकर आपके घर बैठ जाता है, कभी आपने ख्याल किया कि थोडी देर मे आप भी उदास हो जाते हैं! एक हंसता हुआ, मुस्कराता हुआ आदमी आप के घर में आ जाता है, तो कभी आपने ख्याल किया कि आप भी मुस्कराने लगते है, प्रसन्न हो जाते है!

छोटे बच्चे को देख कर आपको इतना अच्छा क्यो लगता है? छोटे बच्चे उसका कारण नही है। छोटे बच्चे प्रसन्न हैं इसलिए उनकी प्रसन्नता संक्रामक हो जाती है। वे नाच रहे हैं, कूद रहे हैं, ससार का उन्हे अभी कोई पता नही, मुसीबतो का उन्हे अभी कोई बोध नही, अभी वे नये-नये खिले फूलों जैसे हैं, न उन्होने तूफान देखे, न आँधियाँ देखी, न अभी सूरज की तप्ती हुई आग देखी, अभी उन्हे कुछ भी पता नही।

बच्चो को देख कर आप भी प्रसन्न हो जाते हैं। छोटे बच्चो के बीच भी अगर कोई उदास बैठा रहे, तो समझे कि वह बीमार है, *'पैथॉलॉजिकल,'* रुग्ण है।

नेहरू का छोटे बच्चों से बहुत लगाव था; उसका कारण छोटे बच्चे नहीं थे, राजनीति की बीमारी थी। बच्चो में जाकर वे दुष्टो को भूल पाते थे— जिनसे वे घिरे थे, जिनके वे बीच थे, जिस उपद्रव मे वे पड़े थे। बच्चों के बीच जाकर उनका मन हल्का हो जाता था। छोटे बच्चों के बीच उनका होना इस बात का सूचक था कि नेहरू मन से राजनीतिज्ञ नही थे। वे इसलिए छोटे बच्चों की तलाश करते थे, ताकि उन आदमियो से बच सकें, जो उनको घेरे हुए थे।

नेहरू कम से कम राजनीतिज्ञ आदमी थे। राजनीति उनका स्वभाव नही थी, स्वभाव तो उनका था कि वे कवि होते। हिन्दुस्तान ने एक बड़ा कवि खो

दिया और एक कमजोर राजनीतिज्ञ पाया। वे बच्चों के साथ खेलते थे और प्रसन्न हो जाते थे। वहाँ उनको निकटता मालूम होती थी, सानिध्य मालूम होता था।

जहाँ भी आप हैं, आप प्रभावित हो रहे हैं। जैसे लोगो के बीच आप हैं, वसे ही आप हो जायेंगे।

महावीर कहते हैं—'किसी का विश्वास मत करना।' इसका मतलब यह हुआ कि अगर कोई हसता है और आपको हसी आ जाती है, तो समझना कि आपकी हँसी झूठी है। कोई रोता है और आपको रोना आ जाता है, तो समझना कि आपका रोना झूठा है। न यह हँसी आप की है और न यह रोना आपका है। यह सब उधार है।

और हम सब उधारी मे जीते हैं। हम बिलकुल उधारी मे जीते हैं। एक फिल्म मे आप देख लेते हैं कोई करुण दृश्य और आप की आँखो मे आँसू बहने लगते है। ये उधार हैं। कुछ भी वहाँ नही हो रहा है। पर्दे पर केवल धूप और छाया का खेल है, मगर आप रोने लगे। यह बता रहा है कि आप किस भाँति बाहर से सक्रामित होते हैं। फिर थोडी देर मे आप हसने लगेंगे। आपकी हसी भी बाहर से खीची जाती है। आपका रोना भी बाहर से खीचा जाता है।

'आपकी अपनी कोई आत्मा है?'

जिसका सब कुछ बाहर से सचालित हो रहा है, उसके पास कोई आत्मा नही है।

महावीर कहते हैं—'जागरुक रहना, किसी का विश्वास मत करना।' इसका मतलब यह है कि किसी को भी इस भाँति मत स्वीकार करना कि वहाँ तुम्हे असावधान रहने की सुविधा मिले। तुम मानकर चलना कि तुम एक अजनबी देश मे हो, अजनबी लोगो के बीच एक 'आउट साइडर' हो। जहाँ कोई तुम्हारा अपना नही है। जहाँ सब पराए है, सब अपने-अपने हैं, कोई किसी दूसरे का नही है।

यह सब धोखा है कि पत्नी कहती है, 'मैं आपकी', पति कहता है, 'मैं तुम्हारा', बाप कहता है बेटे से . 'मैं तुम्हारा', बेटा कहता मा से कि 'मैं तुम्हारा'—सब अपने अपने हैं। यहाँ कोई किसी का नही है। चारों तरफ हम इसे रोज देखते हैं, फिर भी एक दूसरे को कहते रहते हैं कि मैं तुम्हारा हूँ। मैं तुम्हारे बिना

जी न सकूँगा और सब सबके बिना जी लेते हैं। मगर यह कठोर है सत्य।

महावीर कहते हैं—कोई अपना नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि सब दुश्मन हैं। इसका कुल मतलब इतना है कि तुम होश रखना। जैसे कि कोई आदमी युद्ध के मैदान में होश रखता है। एक क्षण भी चूकता नहीं, बेहोशी वह आने नही देता, तलवार सजग रहती है, धार पैनी रखता है, आँख तेज रखता है, चारो तरफ से चौकन्ना होता है। कभी भी, किसी भी क्षण जरा सी बेहोशी और खतरा हो जायेगा। ठीक वैसे ही जीना, जैसे कि प्रतिपल कुरुक्षेत्र है, प्रतिपल युद्ध है। किसी का विश्वास मत करना।

'काल निर्दयी है और शरीर दुर्बल।'

इन सत्यो को स्मरण रखना कि काल निर्दयी है। समय आपकी जरा भी चिन्ता नही करता। समय आपका विचार ही नही करता, वह बहा ही चला जाता है। समय को आपके होने का कोई पता ही नही है। समय आपको क्षमा नही करता। समय आपको सुविधा नही देता। समय लौट कर नही आता। समय से आप कितनी ही प्रार्थना करें, कोई प्रार्थना नही सुनी जाती। समय और आपके बीच कोई भी सम्बन्ध नही है। मौत आ जाए द्वार पर और आप चाहे कि एक घड़ी भर ठहर जाए····'अभी मुझे लडके की शादी करनी है, कि अभी तो कुछ काम पूरा हुआ नही, मकान अधूरा बना है···।'

एक बूढी महिला सन्यास लेना चाहती थी दो महीने पहले। बडी उसकी आकांक्षा थी सन्यास लेने की, मगर उसके बेटे खिलाफ थे कि सन्यास नही लेने देगे। मैंने उसके एक बेटे को बुला कर पूछा कि ठीक है संन्यास मत लेने दो। लेकिन वह बूढ़ी स्त्री है, कल अगर उसे मौत आ जाए, तो तुम मौत से क्या कहोगे कि नही मरने देगे।

जैसा कि कोई भी उत्तर देता, बेटे ने उत्तर दिया। कहा कि मौत कब आएगी, कब नहीं आएगी, देखा जायेगा, मगर सन्यास नही लेने देगे।

अभी दो महीने भी नही हुए कि वह स्त्री मर गई। जिस दिन वह मरी उसी दिन उसके बेटे की खबर आई कि क्या आप आज्ञा देगे कि हम उसे गैरिक वस्त्रों मे माला पहना कर संन्यासी की तरह चिता पर चढ़ा दें।

'काल निर्दयी है' लेकिन अब कोई अर्थ नही है, क्योकि संन्यास कोई ऐसी बात नही है कि ऊपर से डाल दिया जाए। न जिन्दा पर डाला जा सकता है, न मुर्दा पर डाला जा सकता है। सन्यास लिया जाता है, दिया नही जा सकता।

मरा आदमी कैसे सन्यास लेगा ? दिया जा सके, तो मरे को भी दिया जा सकता है।

सन्यास दिया जा ही नही सकता, सन्यास लिया जा सकता है। वह 'इन्टेन्शनल' है, भीतर जो अभिप्राय है, वही कीमती है। बाहर की घटना का तो कोई मूल्य नही है। कोई लेना चाहता था, ससार से ऊबा था, ससार की व्यर्थता दिखाई पड़ी थी, किसी और आयाम मे यात्रा करने की अभीप्सा जगी थी, वह थी बात। अब तो कोई अर्थ नही है। लेकिन अब ये बेटे अपने मन को समझा रहे हैं। मौत को तो न समझा पाये, अपने मन को समझा रहे हैं। मौत को तो नही रोक सकते थे कि रुको, अभी हम न जाने देंगे, माँ को रोक सकते थे। माँ भी रुक गई; क्योकि उसे भी मौत का साफ-साफ बोध नही था; नही तो रुकने का कोई कारण भी नही था। मा डरी कि बेटो के बिना कैसे जीयेगी। और अब ! अब बेटों के बिना ही जीना पडेगा। अब इस लम्बे यात्रा पथ पर बेटे दोबारा नही मिलेंगे। मिल भी जाएँ, तो पहचानेंगे नही।

'काल निर्दयी है', इसका अर्थ यह कि समय आपकी चिन्ता नही करता। इसलिए इस भरोसे मत बैठे रहना कि आज नही कल कर लेगे। कल नही परसो कर लेंगे। 'पोस्टपोन' मत करना, स्थगित मत करना। क्योंकि जिसके भरोसे स्थगित कर रहे हो उसको जरा भी दया नही है। दया नही है, इसका यह मतलब नही कि काल आपका कोई दुश्मन है। काल निरपेक्ष है। कोई सम्बन्ध ही नही है उसको आपसे।

आप होगे कि नही होगे, इससे क्या फर्क पडता है समय की धारा को ? एक तिनका नदी मे बह रहा है, नदी को क्या लेना-देना है कि तिनका बहेगा कि नही बहेगा, कि तिनके के सहारे नदी बह रही है। हालाँकि तिनके यही सोचते है कि अगर हम न हुए, तो नदी कैसे बहेगी !

एक बूढी औरत का मुर्गा बांग देता था एक गाँव मे, तो वह सोचती कि सूरज उसी की वजह से उगता है। न मुर्गा बाग देगा, न सूरज उगेगा। और यह बिलकुल तर्कयुक्त था, क्योकि रोज जब मुर्गा बाग देता, तभी सूरज उगता। ऐसा कभी हुआ ही नही था कि सूरज बिना मुर्गे की बाग के उगा हो, इसलिए तर्क बिलकुल शुद्ध था।

एक दिन बुढ़िया गाँव से नाराज हो गई। किन्हीं लोगो ने उसे नाराज कर दिया, तो उसने कहा कि ठहरो ! पछताओगे पीछे—चली जाऊँगी अपने मुर्गे

को लेकर दूसरे गाँव । तब रोओगे, छाती पीटोगे, जब सूरज नहीं उगेगा ।

नाराजगी मे बुढिया अपने मुर्गे को लेकर दूसरे गाँव चली गई । दूसरे गाँव मे मुर्गे ने बाँग दी और सूरज उगा । बुढ़िया ने सोचा कि अब रो रहे होगे उस गाँव के लोग, क्योकि सूरज यहाँ उग रहा है, जहाँ मुर्गा बाँग दे रहा है ।

तिनका भी सोचता है कि मैं नही होऊंगा, तो नदी कैसे बहेगी ! आप भी सोचते है कि आप न होगे तो ससार कैसे होगा ! हर आदमी यही सोचता है । कब्रो मे जाकर देखे, बहुत से ऐसे सोचने वाले कब्रो मे दबे पड़े हैं, जो सोचते थे कि उनके बिना ससार कैसे होगा । और ससार बड़े मजे मे है । संसार उनको बिलकुल भूल ही गया है, ससार को कोई पता ही नही है ।

हर आदमी के मरने पर हम कहते है कि अपूर्णनीय क्षति हो गई, अब कभी भरी न जा सकेगी, और फिर बिलकुल भूल ही जाते है । फिर पता ही नही चलता कि किसकी अपूर्णनीय क्षति हुई । ऐसा लगता है, सब अन्धकार हो गया और कोई अन्धकार नही होता । दिये जलते चले जाते है, फूल खिलते चले जाते है ।

समय की धारा निरपेक्ष है, उसको आपसे कुछ लेना-देना नही है । समय में आप कुछ कर सकते हैं । समय का आप कोई उपयोग कर सकते हैं । तिनका नदी का उपयोग करके सागर तक भी पहुँच सकता है, किनारे से भी अटक सकता है, डूब भी सकता है । लेकिन नदी को कोई प्रयोजन नही है ।

समय की धारा बही जाती है । आप उसका कोई भी उपयोग कर सकते हैं । पर आप सिर्फ एक ही उपयोग करते है । स्थगित करने का, कि कल करेंगे, परसो करेंगे, छोडते चले जाते है इस भरोसे कि कल भी होगा ! लेकिन कल कभी होता नही है ।

कल कभी भी नही होता है । जब भी हाथ मे आता है, तो आता है आज । और उसको भी हम कल पर छोड़ देते है । जीते ही नही, स्थगित किये चले जाते है कि कल जी लेंगे, परसो जी लेंगे; फिर एक दिन द्वार पर मौत खड़ी हो जाती है, वह क्षण भर को अवसर नही देती और तब हम पछताते है । वह सब जो स्थगित किया हुआ जीवन है, सब आपके सामने खड़ा हो जाता है कि क्या क्या जीत सकते थे, क्या-क्या हो सकता था, कितने अंकुर निकल सकते थे जीवन में, कितनी यात्रा हो सकती थी, वह कुछ भी न हो पायी ।

तब पीछे लौटकर देखते हैं; तो तिजोरियो में कुछ रुपये दिखाई पड़ते हैं, जिनको इकट्ठा कर लिया है जीवन के मूल्य पर। कुछ लडके बच्चे दिखाई पड़ते हैं, जिनको बडा कर दिया जीवन के मूल्य पर। वे चारो तरफ बैठे हैं खाट के और सोच रहे है कि चाबी किसके हाथ लगती है। रो रहे हैं, लेकिन ध्यान चाबी पर है। इनको बडा कर लिया जीवन के मूल्य पर। हिसाब-किताब, खाता-बही, बैंक सब चलेगा।

आप हट जाएँगे, तो आपका खाता किसी और के नाम हो जायेगा। आपका मकान किसी और का निवास स्थान बन जायेगा। आपकी आकाक्षाएँ किन्ही और की मूल बन जायेंगी। वह उन पर सवार हो जायेंगी और आप विदा हो जाएँगे।

हम धर्म को स्थगित करते हैं और अधर्म को जीते हैं। क्रोध हम अभी कर लेते हैं और ध्यान हम कहते हैं कि कल कर लेंगे, प्रार्थना हम कहते हैं कि कल कर लेगे और बेईमानी हम अभी कर लेते है। धर्म को करते है स्थगित और अधर्म को अभी जी लेते हैं। लेकिन क्यो? क्योकि हमको भी पता है कि जो कल पर स्थगित किया है, वह हो नही पायेगा।

इसलिए जो हम करना चाहते हैं, वह आज कर लेते हैं। जो हम नही करना चाहते हैं, और केवल दिखाते हैं कि करना चाहते हैं, वह हम कल पर छोड देते हैं। इसमे गणित है साफ। कोई महावीर को पता है, ऐसा नही, हमको भी पता है। हमको भी पता है कि क्रोध करना हो, तो अभी कर लो। हम कभी नही कहते कि क्रोध कल करेंगे।

गुरजिएफ का पिता मरा, तो उसने बेटे के कान मे कहा कि तू एक वचन मुझे दे दे। मेरे पास और कुछ तुझे देने के लिए नही है, लेकिन जो मैंने जीवन में सर्वाधिक मूल्यवान पाया है, वह मैं तुझसे कह देता हूँ।

नौ ही साल का था लड़का। समझ भी नही सकता था कि बाप क्या कह रहा है। उसके बाप ने उससे कहा कि इतना तू याद कर ले, कभी न कभी समझ जायेगा कि जब भी तुझे क्रोध आए, तो चौबीस घन्टे बाद करना। कोई गाली दे, तो सुन लेना, समझ लेना कि क्या कह रहा है, उसको ठीक से समझ लेना कि क्या उसका मतलब है, उसकी पूरी स्थिति समझ लेना, ताकि तू ठीक से क्रोध कर सके और उससे कहना कि मैं चौबीस घण्टे बाद आकर उत्तर दूँगा।

गुरजिएफ बाद मे कहता था कि उस एक वाक्य ने मेरे पूरे जीवन को बदल डाला। वह एक वाक्य ही मुझे धार्मिक बना गया। क्योकि चौबीस घंटे

बाद क्रोध किया ही नहीं जा सकता। वह उसी वक्त किया जा सकता है। जो भी किया जा सकता है, उसी वक्त किया जा सकता है। और जब क्रोध न किया जा सका और बुराई न की जा सकी, तो शक्ति बच गई।

गुरजिएफ ने ध्यान कर लिया आज और क्रोध किया कल। हम क्रोध करते है आज और कहते हैं कि ध्यान करेंगे कल। शक्ति क्रोध में चुक जायेगी, ध्यान कभी होगा नहीं। गुरजिएफ की शक्ति ध्यान मे बह गई, क्रोध कभी हुआ नही। जो हम करना चाहते हैं, हम भी जानते हैं कि आज कर लो, क्योंकि समय का कोई भरोसा नही।

महावीर ही जानते हैं, ऐसा नही, हम भी जानते हैं। जो हम करना चाहते हैं, अभी कर लेते हैं। जो हम नही करना चाहते'''हम बेईमान हैं; नहीं करना चाहते, तो साफ कहना चाहिये कि नही करना चाहते। लेकिन हम होशियार हैं। अपने को धोखा देते हैं। हम कहते हैं, 'करना तो हम चाहते हैं, लेकिन अभी समय नही है, कल कर लेगे।'

इसे ठीक से समझ लें।

जिसे आप कल पर छोड रहे हैं, यह जान लें कि आप उसे करना ही नही चाहते है। यह अच्छा होगा, ईमानदारी होगी अपने प्रति यह कहना कि मैं करना ही नही चाहता। पर ऐसा कहने मे शायद आपको चोट लगेगी कि 'क्या मैं ध्यान करना ही नही चाहता? क्या मैं शांत होना ही नही चाहता? क्या मैं अपने को जानना ही नहीं चाहता? क्या इस जीवन के रहस्य में मैं उतरना ही नही चाहता?'

अगर आप ईमानदार हो, तो आपको चोट लगेगी। शायद आपको ख्याल आए कि 'मैं गलती कर रहा हूँ। वह करने योग्य जो है, मैं छोड रहा हूँ।' पर होशियारी यह है कि हम कहते हैं। 'करना तो हम चाहते हैं।'

'फिर कौन मना कर रहा है?'

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं: 'साधना मे तो हम जाना चाहते हैं, लेकिन अभी नहीं। यह है तरकीब। इस तरकीब में उनको यह नही दिखाई पड़ता कि जो हम नहीं करना चाहते, हम भ्रम पाल रहे हैं कि उसे हम करना चाहते हैं।

महावीर कहते हैं—'काल निर्दयी है और शरीर दुर्बल।' काल पर भरोसा नहीं किया जा सकता। उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। 'और

शरीर है दुर्बल।' शरीर पर हम बहुत भरोसा करते है। शरीर पर हम इतना भरोसा करते हैं जो कि आश्चर्य जनक है।

क्या है हमारे शरीर की क्षमता ? क्या है शक्ति ? अट्ठानवें डिग्री और एक सौ दस डिग्री गर्मी के बीच मे बारह डिग्री गर्मी आपकी क्षमता है। इधर जरा नीचे उतर जाएँ, पन्चानवें डिग्री हो जाएँ, कि फैसला हो गया। उधर जरा एक सौ दस के करीब पहुँचने लगे, कि फैसला हो गया। बारह डिग्री गर्मी आपके शरीर की क्षमता है।

उम्र कितनी है आपकी ? इस विराट अस्तित्व मे जहाँ समय को नापने के लिए कोई उपाय नही है, वहाँ आप कितनी देर जीते हैं ? सत्तर वर्ष, अस्सी वर्ष, कोई सौ वर्ष जी गया, तो चमत्कार है। सौ वर्ष हमे बहुत लगते हैं। क्या है सौ वर्ष इस समय की धारा मे ? कुछ भी नही। क्योंकि पीछे समय की अनन्त धारा है, जो कभी प्रारम्भ नही हुई। और आगे भी समय की अनन्त धारा है, जो कभी समाप्त नही होगी। इस अनन्त धारा मे सौ वर्ष का क्या अर्थ है ? इस सौ वर्ष मे भी क्या करेगे ?

वैज्ञानिक हिसाब लगाते है कि आदमी आठ घण्टे सोता है चौबीस घण्टे मे। चार घण्टे खाने-पीने, स्नान, कपडे बदलने मे व्यय हो जाते है। आठ घण्टे रोटी कमाना, घर से दफ्तर, दफ्तर से घर—उसमे व्यय हो जाते हैं। शेष जो चार घण्टे बचते है, उसमे रेडियो सुनना, फिल्म देखना, अखबार पढ़ना, सिगरेट पीना, दाढी बनाना—ऐसे चौबीस घण्टे व्यय हो जाते है।

बचता क्या है इस सौ वर्ष मे आपके पास ? जिससे आप अपनी आत्मा को जान सके, पा सके। अगर आदमी की कहानी ठीक से बाँटे तो बडी व्यर्थ मालूम पड़ेगी। ए टेल टोल्ड बाइ एन इडिएट, फुल आफ नोइस सियानिफाइड नथिंग। एक मूर्ख द्वारा कही हुई कथा। शोर-गुल बहुत और मतलब बिलकुल नही।

हर बच्चा बड़ा शोर-गुल करता हुआ ससार मे आता है, जैसे कि तूफान आ रहा है। और थोड़े दिन मे वह ठडा हो जाता है। लकडी टेक कर चलने लगते हैं। सारा तूफान, सारा शोर-गुल खो जाता है। आँखें धुधली पड़ जाती हैं। हाथ-पैर कमजोर हो जाते हैं।

झूले से लेकर कब्र तक कहानी क्या है ? सामर्थ्य क्या है शरीर की ? बड़ा कमजोर है। जरा सा बैक्टीरिया घुस जाए बीमारी का, तब पता चल

जाता है कि कितनी आप की ताकत है।

गामा लड़ते होंगे पहलवानो से, लेकिन क्षय रोग से नहीं लड़ पाये। गामा टी. बी. से मरा। अब टी. बी. के कीटाणु कितनी छोटी चीज है! आंख से दिखाई भी नही पड़ते। गामा बडे पहलवानो से जीत गये और छोटे पहलवानो से हार गये।

शरीर की ताकत कितनी है? बडी-बडी बीमारियां छोड दीजिए, 'कॉमन कोल्ड' से लडना मुश्किल होता है। साधारण सर्दी-जुकाम पकड़ लेते हैं, तो कोई उपाय नही। सब ताकत रखी रह जाती है। इस शरीर को अगर हम भीतर गौर से देखें कि इसकी क्षमता क्या है? हड्डी, मांस, मज्जा—इसका मूल्य कितना है? वैज्ञानिक कहते हैं कि पाँच रूपये से ज्यादा नही है। यह भी मँहगाई की वजह से, कोई आपकी वजह से नही। इतना अल्म्यूनियम है, इतना लोहा है, इतना तांबा है, सब मिलाकर रख लें, तो पांच रूपये का सामान है। पांच रूपये के सामान पर इतने इतरा रहे है!

वह जो थोडा सा अवसर है जीवन का, उसमे शरीर की कोई क्षमता तो है नही। शरीर दुर्बल है। एकदम दुर्बल है। उधर सूरज ठडा हो जाये, तो इधर ये साढ़े तीन अरब लोग यहाँ एकदम ठडे हो जायेगे।

क्या है क्षमता? जरा सा ताप बढ जाए या गिर जाए, सब ठडे हो जायेंगे। अभी ध्रुव प्रदेश की जमी हुई बर्फ पिघल जाए, तो सब डूब जाएँ। वैज्ञानिक कहते हैं. वह पिघलेगी किसी न किसी दिन।

अगर ध्रुव प्रदेश में जमी हुई बर्फ किसी भी दिन पिघल गई, तो सारे समुद्रो का पानी हजार फिट ऊँचा उठ जाएगा और उसमे सारी जमीन डूब जायेगी। वह बर्फ किसी दिन पिघलेगी; नही पिघलेगी, तो रूसी और अमरीकी उसको पिघलाने का उपाय खोजते हैं। उपाय वे इसलिए खोजते हैं कि अगर कोई उपद्रव का, झगडे का मौका हो, तो दूसरे को मौका नही मिलना चाहिए दुनिया मिटाने का। मौका हमको मिले; हालांकि हम भी इसमें मिटेंगे, लेकिन कहानी रह जायेगी; हालांकि कहानी कहने वाला कोई नही रहेगा।

कहते हैं रूसी वैज्ञानिको ने तो तरकीबें खोज ली हैं कि किसी भी दिन, आने वाला अगर कोई तीसरा महायुद्ध हुआ, तो वह ध्रुव प्रदेश की साइबेरिया की बर्फ को पिघला देंगे। कोई सात सेकण्ड लगेगा उसको पिघलाने में। 'एटॉमिक एक्सप्लोजन' से पिघल जायेगी। तत्काल सारी जमीन बाढ़ में डूब जायेगी।

वैसी बाढ पुराने ग्रन्थो में एक दफा और आई है। ईसाई कहते हैं कि नोह ने अपनी नाव मे लोगो को बचाया, सारी जमीन डूब गई। अध्यात्म की दिशा मे जो गहरे काम करते हैं, वे कहते हैं कि पूरा महाद्वीप एटलाटिक डूब गया। पूरा महाद्वीप, जो उस समय की शिखर सभ्यता था। जैसा आज अमरीका है, वैसा अटलाटिक था, वह पूरा का पूरा डूब गया। अभी तक यह समझा नही जा सका कि दुनिया के सभी धर्मों की कथाओ मे उस महान बाढ़, 'ग्रेट फ्लड' की बात है।

भारतीय कथाओ मे, मिस्री कथाओ मे, यूनानी कथाओ में, सारी दुनिया की कथाओ मे उस बाढ़ की बात है। वह बाढ़ जरूर हुई होगी। जब से वैज्ञानिको को पता चला है कि ध्रुव प्रदेश की बर्फ पिघलाई जा सकती है, तब से यह सन्देह है कि वह बाढ भी किसी युद्ध का परिणाम थी। वह अपने आप नही हो गई थी। किसी महायुद्ध में, किसी महा सभ्यता ने बर्फ को पिघला डाला होगा और सारी जमीन डूब गई होगी। वह महाप्रलय थी। वह कल फिर हो सकती है। आदमी का बस कितना है ?

हिरोशिमा पर बम गिरा, जो जहाँ था वही सूख गया एक सेकण्ड मे। एक तस्वीर मेरे मित्र ने मुझे भेजी थी। उस तस्वीर मे एक बच्ची रात नौ बजे सीढ़ी पर चढ़कर अपना 'होम वर्क' करने ऊपर जा रही है कि विस्फोट से वह अपने किताब, बस्ता, बही के साथ सट कर दिवाल से चिपक गई है, राख हो गई है। एक लाख बीस हजार आदमी कुछ सेकण्ड में राख हो गये। उनकी आकांक्षाएँ आप जैसी थी। उनकी भी योजनाएँ आप जैसी थी। उन्होंने भी समय का बड़ा भरोसा किया था। उन्होने भी शरीर का बड़ा बल माना था। अभी हम यहाँ बैठ कर बातें कर रहे हैं एक सेकण्ड में सब रुक जा सकता है। और कोई उपाय नही है शिकायत का।

महावीर कहते हैं—शरीर है दुर्बल, काल है निर्दयी। यह जानकर भारंड पक्षी की तरह अप्रमत्त भाव से विचरण करना चाहिये। भारंड पक्षी एक 'मायथोलॉजिक' पौराणिक पक्षी है। एक काल्पनिक कवि की कल्पना है कि भारड पक्षी मृत्यु से, समय की, जीवन की क्षणभंगुरता से इतना ज्यादा भयभीत है कि वह सोता ही नही, वह उडता ही रहता है। जागता हुआ कि सोए और कही मौत न पकड़ ले, कि सोए और कही जीवन समाप्त न हो जाये, कि सोये और कही वापस न उठे। वह एक काल्पनिक पक्षी है।

तो महावीर कहते हैं—भारड पक्षी की तरह। समय निर्दयी है और शरीर दुर्बल है, ऐसा जानकर अप्रमत्त भाव से, बिना बेहोश हुए होश-पूर्वक, 'विथ-अवेयरनेस' जागरूकता से जीना ही आशुप्रज्ञ व्यक्ति का, प्रज्ञावन व्यक्ति का लक्षण है।

एक ही सूत्र है कृष्ण का, महावीर का, बुद्ध का, क्राइस्ट का। वह सूत्र है—अप्रमत्त भाव, 'अवेयरनेस', होश। इसे हम आगे समझेंगे।

आज इतना ही। रुके पाँच मिनट, कीर्तन करें और फिर जाएँ।

●

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१४ सितम्बर, १९७२

ग्यारहवाँ प्रवचन

अप्रमाद-सूत्र : २

•

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो,
कुमुयं सारइयं व पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥
तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमाइए ॥

जैसे कमल शरद-काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता और अलिप्त रहता है, वैसे ही संसार से अपनी समस्त आसक्तियाँ मिटाकर सब प्रकार के स्नेह-बन्धनों से रहित हो जा। अतः गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर।

तू इस प्रपंचमय विशाल संसार-समुद्र को तैर चुका है। भला किनारे पहुँचकर तू क्यों अटक रहा है? उस पार पहुँचने के लिए शीघ्रता कर। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद मत कर।

पहले कुछ प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है—'कल आपने कहा, प्रश्न के उत्तर देने के दो तरीके हैं : एक स्मृति से, दूसरा स्वय की चेतना से । जब आप उत्तर देते है, तब आपका उत्तर चेतना से होता है या स्मृति से ? क्योकि आप अब तक हजारो किताबें पढ़ चुके है और आप की स्मरण शक्ति भी 'फोटोग्रेफिक' है । यदि आप की चेतना ही उत्तर देने मे समर्थ है, तो इतनी विविध किताबें पढने का क्या प्रयोजन है ?

दो तीन बातें समझनी चाहिये । एक, आपके प्रश्न पर निर्भर होता है कि उत्तर चेतना से दिया जा सकता है या स्मृति से । यदि आपका प्रश्न बाह्य जगत् से सम्बन्धित है, तो चेतना से उत्तर देने का कोई उपाय नही; न महावीर दे सकते हैं, न बुद्ध दे सकते हैं, न कोई और दे सकता है । चेतना से उत्तर चेतना के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नो का ही हो सकता है ।

अगर महावीर से जाकर पूछें कि कार 'पचर' हो जाती हो, तो कैसे ठीक करेंगे ! तो इसका उत्तर उनकी चेतना से नहीं आ सकता । महावीर की स्मृति न हो तो भी आ सकता है । बाह्य जगत् को जानने का सूचनाओ के अतिरिक्त कोई भी उपाय नही है । और ठीक ऐसे ही अन्तर्जगत् को जानने का सूचनाओ के द्वारा कोई उपाय नही है । बाहर का जगत् जाना जाता है, 'इनफॉरमेशन्स' से, सूचनाओ से, यह भीतर का जगत् सूचनाओ से नही जाना जा सकता है ।

इसलिए अगर कोई व्यक्ति बाहरी तथ्यो के सम्बन्ध में चेतना से उत्तर दे, तो वे वैसे ही गलत होंगे, जैसे कि चेतना के सम्बन्ध में शास्त्रो से पाई गई सूचनाओ से कोई उत्तर दे । वे दोनो गलत हैं । हम दोनो तरह की भूल करने मे कुशल हैं । हमने सोचा, चूँकि महावीर, बुद्ध या कृष्ण ज्ञान को उपलब्ध हो चुके हैं, इसलिए अब बाहर के जगत् के सम्बन्ध में भी उनसे जो हम पूछेंगे,

वह भी विज्ञान होने वाला है; वही हमसे भूल हुई। इसलिए हम विज्ञान को पैदा नहीं कर पाए।

विज्ञान पैदा करना हो, तो भीतर से पूछने का कोई उपाय नही है, बाहर के जगत् से ही पूछना पडेगा। अगर पदार्थ के सम्बन्ध में कुछ जानना हो, तो पदार्थ से पूछना पड़ेगा। वृक्षों के सम्बन्ध मे कुछ बोलना हो, तो वृक्षो में ही खोजना पडेगा। लेकिन हमने इस मुल्क मे ऐसा समझा कि जो आत्मज्ञानी हो गया, वह सर्वज्ञ हो गया। इसलिए हमने विज्ञान पर कोई जोर न दिया। हम सारी दुनिया में पिछड गये।

महावीर जो भी कहते है अन्तस के सम्बन्ध मे, वह उनकी चेतना से आया है। लेकिन महावीर भी जो बाहर के जगत् के सम्बन्ध मे कहते हैं, वे सूचनाएँ हैं।

इसमे एक और बात समझ लेनी चाहिये।

वे सूचनाएँ, जो महावीर बाहर के जगत् के सम्बन्ध मे देते हैं, वे कल गलत हो सकती हैं। क्योकि महावीर के समय तक बाहर के जगत् के सम्बन्ध मे जो सूचनाएँ थी, वही महावीर की थी। फिर सूचनाएँ बदलेगी। विज्ञान तो रोज बढता है, बदलता है, नई खोज होती है। तो महावीर ने जो बाहर के जगत् के सम्बन्ध मे कहा है, वह कल गलत हो जायेगा। पर उस कारण महावीर गलत नही हो जायेंगे। महावीर तो उस दिन गलत होंगे, जो उन्होंने भीतर के सम्बन्ध मे कहा है, जब वह गलत हो जायेगा।

जीसस ने उस समय जो उपलब्ध सूचनाएँ थी, उसके सम्बन्ध मे बाते कही थी। जीससने कहा कि जमीन चपटी है, क्योकि उस समय तक वही सूचना थी। जीसस भी नही जान सकते कि जमीन गोल है। फिर ईसायइत बडी मुश्किल मे पड गई जब पता चला कि जमीन गोल है, चपटी नही है, तो बडा संकट आया। तो ईसायइत ने यह सिद्ध करने की पूरी कोशिश की, कि जमीन चपटी है; क्योकि जीसस ने ऐसा कहा था। और जीसस तो गलत कह ही नही सकते! इससे डर था। क्योकि अगर जीसस एक बात गलत कह सकते हैं, तो दूसरी बात भी गलत हो सकती है यह संदेह था।

अगर जीसस इतनी गलत बात कह सकते हैं कि जमीन चपटी है, गोल की बजाय, तो क्या भरोसा? ईश्वर के सम्बन्ध में जो कहते हैं, आत्मा के सम्बन्ध मे कहते हैं, वह भी गलत कहते हों! क्योंकि जब किसी की एक बात गलत हो

जाए, तो उसकी दूसरी बातों पर संदेह निर्मित हो जाता है। इसलिए ईसाइयत ने यह सिद्ध करने की भरसक कोशिश की, कि जो जीसस ने कहा है, वह सभी सही है। लेकिन उसका परिणाम घातक हुआ। क्योंकि विज्ञान ने जो सिद्ध किया, उसे हजार जीसस भी कहें, तो उसको गलत नहीं किया जा सकता।

गैलीलिओ को सजा दी जाये, सताया जाये, इससे कोई अन्तर नही पडता, क्योंकि तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता। आखिर में, मजबूर होकर ईसाइयत को यह मानना ही पडा कि जमीन गोल है। तब ईसाइयो के मन में सन्देह उठना शुरू हो गया कि जीसस और चीजों के सम्बन्ध मे जो कहते हैं, कही वह भी तो गलत नही है।

महावीर को मानने वाले सोचते हैं कि महावीर ने कहा है: 'चन्द्रमा देवताओ का आवास है।' उस समय तक ऐसी बाहरी जानकारी थी। उस समय तक जो श्रेष्ठतम् जानकारी थी, वह महावीर ने दी थी। लेकिन यह महावीर के कहने की वजह से सच नही होती। यह तो वैज्ञानिक तथ्य है, बाहर का तथ्य है। इसमे महावीर जो कहते हैं, वह सिर्फ उनके कहने से सही नहीं होता।

अब जैन मुनि तकलीफ मे पड गये हैं। क्योंकि चाँद पर आदमी उतर गया है और वहाँ कोई देवता नही मिला है। अब जैन मुनि उसी दिक्कत मे पड गये हैं, जिस दिक्कत मे ईसाइयत पड गई थी। अब क्या करे? अब वे यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं कि वैज्ञानिक चाँद पर नही उतरे हैं। सिद्ध करने की तीन-चार कोशिशें हैं। वे पीटी-पिटाई हैं। वही कोशिशें हर बार की जाती हैं। पहली यह कि वह चाँद ही नहीं है। एक तो यह कोशिश है। दूसरी यह कोशिश की जा रही है कि इस चाँद पर वैज्ञानिक उतरे ही नही; वैज्ञानिक चाँद पर उतरे हैं, यह झूठ है, यह अफवाह है, यह पागलपन है। तीसरी कोशिश यह की जा रही है कि 'वे उतर तो गये हैं, (एक जैन मुनि कोशिश कर रहे हैं) अफवाह भी नही है, चाँद भी वही है, लेकिन वे चाँद पर नही उतरे हैं। चाँद के पास देवी-देवताओ के जो बडे-बड़े यान, उनके बड़े-बड़े रथ, विराटकाय रथ ठहरे रहते हैं चाँद के आसपास, वे उन पर उतर गये हैं और उसी को वे समझ रहे हैं कि चाँद है।'

यह सब पागलपन है। लेकिन इस पागलपन के पीछे तर्क है। तर्क यह है कि अगर महावीर की बात गलत होती है, तो बाकी बातों का क्या होगा? तो मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि महावीर, बुद्ध या कृष्ण किसी ने भी बाहर

के जगत् के सम्बन्ध में जो भी कहा है, वह उस समय तक की उपलब्ध जानकारी में जो श्रेष्ठतम् था, वही कहा है, उस समय तक जो सत्य था, वही कहा है। लेकिन बाहर की जानकारी रोज बढ़ती चली जाती है। और आज नहीं कल, बाल महावीर और बुद्ध से आगे निकल जाएगी। जब बात आगे निकल जाएगी, तो भक्त को, अनुयायी को परेशान होने की जरूरत नहीं है। एक विभाजन साफ कर लेना चाहिये। वह विभाजन यह कि महावीर ने जो बातें बाहर के जगत् के सम्बन्ध में कही हैं, वे सूचनाएँ है। और महावीर ने अन्तर्गत के सम्बन्ध में जो बातें कही हैं, वे अनुभव हैं।

उचित होगा कि हम आर्मस्ट्रांग की बात मान लें चाँद के सम्बन्ध में, बजाय महावीर की बात के; हम आइन्स्टीन की बात मान लें पदार्थ के सम्बन्ध मे, बजाय कृष्ण के। उसका कारण यह है कि बाहर के जगत् मे जो खोज चल रही है, वह खोज रोज बढ़ती चली जायेगी। आज आप से जो बाते मैं कह रहा हूँ, उसमें जब भी मैं बाहर के जगत् के सम्बन्ध मे कुछ कहता हूँ, तो आज नही कल वह गलत हो जायेगा। वह गलत इसलिये हो जायेगा, क्योकि उससे ज्यादा ठीक खोज लिया जाएगा। लेकिन तब भी मैं जो भीतर के जगत् के सम्बन्ध मे कह रहा हूँ, वह गलत नही हो जायेगा। वह मैं अपने अनुभव से कह रहा हूँ। सूचना और आत्म-ज्ञान का अगर यह फासला हम न रोक पाएँ, तो आज नही कल बुद्ध, महावीर, कृष्ण सब नासमझ मालूम होने लगेंगे। यह फासला रखना जरूरी है।

आपके प्रश्न पर निर्भर करता है कि मैं उत्तर कहाँ से दे रहा हूँ। कुछ उत्तर तो केवल स्मृति से ही दिये जा सकते हैं। क्योकि बाहर के सम्बन्ध मे स्मृति ही होती है, ज्ञान नही होता। भीतर के सम्बन्ध मे ज्ञान होता है, स्मृति नही होती। तो आप क्या पूछते हैं, इस पर निर्भर करता है।

दूसरी बात पूछते हैं कि 'अगर भीतर का ज्ञान हो गया है तो फिर इतने शास्त्र और हजारो विविध पुस्तकें पढ़ने का क्या प्रयोजन है ?'

प्रयोजन है—आपके लिए, मेरे लिए नही। आज मेरे पास कोई आ जाता है पूछने, या महावीर के पास, या बुद्ध के पास कोई जाता था पूछने चाँद के सम्बन्ध में, तो वे कुछ कहते थे। महावीर या बुद्ध को कोई प्रयोजन नही है चाँद से। लेकिन जो पूछने आया है, उसका प्रयोजन है।

'यदि कोई प्रयोजन नहीं, तो महावीर और बुद्ध को इसे कहने की भी क्या जरूरत है।'

पर उनके कहने के कारण हैं। मेरे पास लोग आते है। कोई फ्रायड को पढ़कर विक्षिप्त हुआ जा रहा है। वह मेरे पास आता है। जब तक मैं फ्रायड के सम्बन्ध मे उसे कुछ कह न सकूँ, तब तक उससे मेरा कोई सेतु निर्मित नही होता। जब उसे यह समझ मे आता है कि मैं फ्रायड को समझता हूँ, तभी आगे चर्चा हो पाती है। मेरे पास कोई आदमी आइंस्टीन को समझकर आता है, और अगर मैं पीटी-पिटाई तीन हजार साल पुरानी फिजिक्स की बातें उससे कहूँ, तो मैं तत्काल ही व्यर्थ हो जाता हूँ, आगे कोई सम्बन्ध नही जुड पाता। अगर मुझे उसे कोई आन्तरिक सहायता पहुँचानी हो, तो मैं बाहर के जगत् के सम्बन्ध मे इतना तो कम से कम जानता ही हूँ, जितना वह जानता है, उसे यह भरोसा दिलाना आवश्यक है। इस भरोसे के बिना उसे गति नही हो पाती, उससे सम्बन्ध नही बन पाता।

आज साधुओं से, सन्यासियो से आम आदमी का सम्बन्ध टूट गया है, उसका कारण यह है कि आम आदमी उनसे ज्यादा जानता है, बाहर के जगत् के सम्बन्ध मे। और जब आम आदमी भी उनसे ज्यादा जानता है, तो यह भरोसा करना आदमी को मुश्किल होता है कि जिन्हे बाहर के जगत् के सम्बन्ध मे भी कुछ पता नही, वह भीतर के सम्बन्ध में क्या जानते होंगे ? आज हालत यह है कि आपका साधु आपसे कम जानकार है। महावीर के वक्त का साधु आम आदमी से ज्यादा जानकार था।

आपसे अगर कोई भी सम्बन्ध निर्मित करता है, तो पहले तो आपका जो बाह्य-ज्ञान है, उससे ही सम्बन्ध जुडता है। और जब तक मैं आपके बाह्य-ज्ञान को व्यर्थ न कर दूं, तब तक भीतर की तरफ इशारा करना असम्भव है।

अपने लिए मैं नही पढ़ता हूँ, आपके लिए पढता हूँ। उसका पाप आपको लगेगा, मुझको नही। और यह मै ऐसा कर रहा हूँ, ऐसा नहीं है। बुद्ध, महावीर या कृष्ण सभी को यही करना पडा है। करना ही पडेगा। अगर कृष्ण अर्जुन से कम जानते हो बाहर के जगत् के सम्बन्ध मे, तो बात आगे नही चल सकती। अगर महावीर गौतम से कम जानते हो बाहर के जगत् के सम्बन्ध मे, तो बात आगे नही चल सकती। महावीर गौतम से ज्यादा जानते हैं। आपको पता होना चाहिये गौतम महावीर का प्रमुख शिष्य है। जिसका नाम सूत्र मे आया है। उसके सम्बन्ध मे थोडा समझना अच्छा होगा, ताकि सूत्र समझा जा सके।

गौतम उस समय का बड़ा पडित था। हजारों उसके शिष्य थे; जब वह महावीर को मिला, उससे पहले। वह एक प्रसिद्ध ब्राह्मण था। वह महावीर

से विवाद करने ही आया था, वह महावीर को पराजित करने ही आया था। अगर महावीर के पास गौतम से कम जानकारी हो, तो गौतम को रूपान्तरित करने का कोई उपाय नही था। गौतम पराजित हुआ महावीर की जानकारी से। गौतम ज्ञान से पराजित नही हो सकता था क्योंकि ज्ञान का तो कोई सवाल ही नही था। वह जानकारी से ही पराजित हो सकता था। जानकारी उसकी सम्पदा थी। जब महावीर से वह जानकारी मे हार गया, गिर गया, तभी उसने महावीर की तरफ श्रद्धा की आँख से देखा। और तब महावीर ने कहा कि 'अब मैं तुझे वह कहूँगा, जिसका तुझे कोई पता नही है। अभी तो तुझे मैं वह कह रहा था, जिसका तुझे पता है। मैंने तुझसे जो बातें कही, वह तेरे ज्ञान को गिरा देने के लिए कही। अब तू अज्ञानी हो गया है। अब तेरे पास कोई ज्ञान नही है। अब मैं तुझसे वह बाते कहूँगा, जिससे तू वस्तुत: ज्ञानी हो सके। क्योंकि जो ज्ञान विवाद से गिर जाता है, उसका क्या मूल्य ? जो ज्ञान तर्क से कट जाता है, उसका क्या मूल्य है ?

गौतम महावीर के चरणो मे गिर गया। वह उनका शिष्य बना। गौतम इतना प्रभावित हो गया महावीर से कि वह महावीर पर आसक्त हो गया। वह महावीर के प्रति मोह से भर गया। गौतम महावीर का प्रमुख शिष्य है—प्रथम शिष्य, श्रेष्ठतम्। वह उनका पहला गणधर (सन्देश-वाहक) है। लेकिन गौतम ज्ञान को उपलब्ध नही हो सका। गौतम के पीछे हजारो-हजारों लोग दीक्षित हुए और ज्ञान को उपलब्ध हुए, पर गौतम ज्ञान को उपलब्ध नही हो सका।

गौतम महावीर की बात को लोगो तक ठीक-ठीक पहुँचाने लगा। वह सन्देश वाहक हो गया। जो महावीर कहते थे, वह वही लोगों तक पहुँचाने लगा। उससे ज्यादा कुशल सन्देश-वाहक महावीर के पास दूसरा न था। लेकिन वह ज्ञान को उपलब्ध न हो सका। उसका पाण्डित्य बाधा बन गया। वह पहले भी पडित था, वह अब भी पडित था। पहले वह महावीर के विरोध मे पंडित था, अब वह महावीर के पक्ष मे पण्डित हो गया। अब महावीर जो जानते थे, जो कहते थे, उसको उसने पकड लिया और उसका शास्त्र बना लिया। वह उसी को दोहराने लगा। हो सकता है, महावीर से भी बेहतर दोहराने लगा हो। लेकिन वह ज्ञान को उपलब्ध न हुआ। वह पण्डित ही रहा। उसने जिस तरह बाहर की जानकारी की थी, उसी तरह उसने भीतर की जानकारी भी इकट्ठी कर ली। यह भी जानकारी ही रही, यह भी ज्ञान न बना।

गौतम बहुत रोता था। वह महावीर से बार-बार कहता था : 'मेरे पीछे आये लोग मुझसे कम जानने वाले लोग, साधारण लोग, मेरे जो शिष्य थे, वे आपके पास आकर ज्ञान को उपलब्ध हो गये। यह मेरा दिया कब जलेगा? यह ज्योति मेरी कब पैदा होगी? मैं कब पहुँच पाऊँगा?'

जिस दिन महावीर की अन्तिम घड़ी आई, उस दिन गौतम को महावीर ने पास के गांव मे सन्देश देने भेजा था। गौतम लौट रहा है गाँव में सदेश देकर तब राहगीर ने रास्ते मे खबर दी कि महावीर निर्वाण को उपलब्ध हो गये।

गौतम वही सडक पर बैठकर छाती पीट कर रोने लगा, और उसने राहगीरो से पूछा कि 'वे निर्वाण को उपलब्ध हो गये, मेरा क्या होगा? मैं इतने दिन उनके साथ भटका, अभी तो मुझे वह किरण मिली नही। अभी तो मैं सिर्फ उधार मे जी रहा हूँ। वे जो कहते थे, वही मैं लोगो को कहे चला जा रहा हूँ। मुझे वह हुआ नही, जिसकी वे बात करते थे। अब क्या होगा? उनके साथ न हो सका, तो उनके बिना अब क्या होगा? मैं डूबा, मै भटका, अब मैं अनन्त काल तक भटकूंगा। अब वैसा शिक्षक कहाँ? वैसा गुरु अब कहाँ मिलेगा? क्या मेरे लिए भी उन्होने कोई सन्देश स्मरण किया है? और कैसी कठोरता की उन्होने मुझ पर। जब जाने की घडी थी, तो मुझे दूर क्यो भेज दिया?'

तो राहगीरो ने यह सूत्र उसको कहा। यह जो सूत्र है, यह राहगीरो ने कहा है। राहगीरो ने कहा, कि तेरा उन्होने स्मरण किया और उन्होने कहा है कि गौतम को यह सूत्र कह देना। यह जो सूत्र है गौतम के लिए कहलाया गया है।

'जैसे कमल शरद-काल के निर्मल जल को भी नही छूता और अलिप्त रहता है, वैसे ही ससार से अपनी समस्त आसक्तियाँ मिटाकर, सब प्रकार के स्नेह बन्धनों से रहित हो जा। अतः गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद मत कर।'

'तू इस प्रपचमय विशाल ससार-समुद्र को तैर चुका है। भला किनारे पहुँचकर तू क्यो अटक रहा है? उस पार पहुँचने के लिए शीघ्रता कर। हे गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद मत कर।'

यह जो आखिरी शब्द हैं कि 'तू सारे संसार के सागर को पार कर गया···' गौतम पत्नी को छोड़ आया, बच्चों को छोड़ आया, धन, प्रतिष्ठा, पद··· इतने लोग जानते थे, सैकडो लोगों का गुरु था—उन सबको छोड़ कर महावीर के चरणों में गिर गया, सब छोड़ आया। तो महावीर कहते हैं, 'तूने

पूरे सागर को छोड दिया, गौतम ! लेकिन अब तू किनारे को पकड़कर अटक गया। तूने मुझे पकड लिया। तूने सब छोड़ दिया, तू ने महावीर को पकड़ लिया। तू किनारा भी छोड दे। तू मुझे भी छोड दे। जब तू सब छोड़ चुका, तो मुझे क्यो पकड़ लिया ? मुझे भी छोड दे।'

जो श्रेष्ठतम् गुरु हैं, उनका अन्तिम काम यही है कि जब उनका शिष्य सब छोड कर उन्हें पकड़ ले, तो तब तक वे पकड़ने दें, जब तक यह पकडना शेष को छोडने में सहयोगी हो और जब सब छूट जाये, तब वे अपने से भी छूटने में शिष्य को साथ दें। जो गुरु अपने से शिष्य को नहीं छुडा पाता, वह गुरु नही है। यह महावीर का वचन कि 'अब तू मुझे भी छोड दे, किनारे को भी छोड दे। सब छोड चुका, अब नदी भी पार कर गया, अब किनारे को पकड़ कर भी नदी मे अटका हुआ है। नदी को नही पकडे हुए है, किनारे को पकडे हुए है। (किनारा नदी नही है। लेकिन कोई आदमी किनारे को पकड कर नदी में हो सकता है। और फिर किनारा भी बाधा बन जायेगा। किनारा चढ़ने को है, बाधा बनने को नही।) इसे भी छोड दे, और इसके भी पार हो जा।'

जिन मित्र ने यह पूछा है वह ठीक से समझ लें कि स्मृति व्यर्थ नही है, स्मृति सार्थक है बाहर के जगत् के लिए। पाण्डित्य व्यर्थ नहीं है, सार्थक है बाहर के जगत् के लिए। भीतर के जगत् के लिए व्यर्थ है। मगर उसके विपरीत भी बात सही है।

अन्तः प्रज्ञा भीतर के जगत् के लिए सार्थक है, लेकिन बाहर के जगत् के लिए वह आवश्यक नही है। विज्ञान बाहर के जगत् के लिए है और धर्म भीतर के जगत् के लिए। विज्ञान है स्मृति, धर्म है अनुभव।

इसलिए विज्ञान दूसरो के सहारे बढ़ता है, और धर्म केवल अपने ही सहारे। अगर हम न्यूटन को हटा लें, तो आइन्स्टीन पैदा नही हो सकता। हालाकि यह मजे की बात है कि आइन्स्टीन न्यूटन को ही गलत करके आगे बढ़ता है। लेकिन फिर भी वह न्यूटन के बिना आगे नहीं बढ़ सकता। न्यूटन ने जो कहा है, उसके आधार पर ही आइन्स्टीन काम शुरू करता है। फिर पाता है कि वह गलत है, तो फिर वह छाँटता है। लेकिन अगर न्यूटन हुआ ही न हो, तो आइन्स्टीन कभी नही हो सकता, क्योंकि बाहर का ज्ञान सामूहिक है, पूरे समूह पर निर्भर है।

ऐसा समझें कि अगर हम विज्ञान की सारी किताबें नष्ट कर दें, तो क्या आप समझते हैं कि आइन्स्टीन पैदा हो सकेगा ? बिलकुल पैदा नहीं हो

सकेगा। क, ख, ग, से शुरू करना पड़ेगा। अगर हम विज्ञान की सब किताबें नष्ट कर दें, तो क्या आप सोचते हैं कि अचानक कोई आदमी हवाई जहाज बना लेगा ? नही बना सकता। बैलगाडी के चक्के से शुरू करना पड़ेगा। और कोई दस हजार साल लगेंगे बैलगाडी के चक्के से हवाई जहाज तक आने मे। और इस दस हजार साल में किसी एक आदमी से काम नहीं होने वाला है। हजारो लोगो को काम करना पड़ेगा। विज्ञान परम्परा है, 'ट्रेडीसन' है। विज्ञान हजारों लोगों के श्रम का परिणाम है।

महावीर न हो, बुद्ध न हों, तो भी आप धर्म को उपलब्ध हो सकते हैं। कोई भी बाधा नही है, जरा भी बाधा नही है। क्योकि मेरे महावीर या मेरे बुद्ध होने मे, महावीर और बुद्ध के कन्धे पर खड़े होने की कोई भी जरूरत नही है। कोई खडा हो भी नही सकता। धर्म के जगत् मे हर आदमी अपने पैर पर खडा होता है। विज्ञान के जगत् में हर आदमी दूसरे के कन्धे पर खडा होता है। इसलिए विज्ञान की शिक्षा दी जा सकती है, पर धर्म की शिक्षा नही दी जा सकती। विज्ञान की शिक्षा हमे देनी ही पडेगी। अगर हम एक बच्चे को गणित न सिखाएँ, तो वह कैसे समझेगा आइन्स्टीन को। धर्म का मामला उल्टा है। अगर हम एक बच्चे को धर्म सिखा दे, तो वह महावीर को समझ न सकेगा।

धर्म की कोई शिक्षा नही हो सकती। शिक्षा बाहर की होती है, भीतर की नही होती। भीतर की साधना होती है, बाहर की शिक्षा होती है। शिक्षा से स्मृति प्रबल होती है, साधना से ज्ञान के द्वार खुलते हैं। इसको इस तरह समझे, कि बाहर के सम्बन्ध में हम जो जानते हैं, वह 'लिन्क' बात है। जो कल पता नही थी, और अगर हम खोजते न, तो कभी नहीं पता चलती। भीतर के सम्बन्ध मे जो हम जानते हैं, वह सिर्फ दबी थी, पता थी गहरे में। खोज लेने पर जब हम उसे पाते हैं, तो वह कोई नई चीज नही होती।

बुद्ध से पूछें, महावीर से पूछें—वे कहेंगे, 'जो हमने पाया, वह मिला ही हुआ था, सिर्फ हमारा ध्यान उस पर नहीं था।'

आपके घर में हीरा पड़ा हो, रोशनी न हो, तो हीरा नहीं दिखाई पड़ेगा। फिर दिया जले, रोशनी हो जाये, हीरा मिल जाये, तब आप ऐसा नही कहेगे कि हीरा कोई नई चीज है। वह था ही घर मे; सिर्फ प्रकाश नही था, अँधेरा था, इसलिए वह दिखाई नही पडता था।

आत्म-ज्ञान आपके पास है, सिर्फ ध्यान नहीं है उस पर आपका। लेकिन विज्ञान आपके पास नहीं है। उसे खोजना पडेगा। उस हीरे को खदान से खोद कर, निकाल कर घर लाना पडेगा। इस शर्त के कारण विज्ञान सीखा जा सकता है। जो खदान तक गये हैं, जिन्होने हीरा खोदा है, वह कैसे लाये है? क्या है तरकीब? वह सब सीखी जा सकती है।

धर्म सीखा नही जा सकता, धर्म साधा जा सकता है। साधना और सीखने मे बुनियादी फर्क है। सीखना सूचनाओ का सग्रह है, साधना जीवन का रूपांतरण है, जिसमे अपने को बदलना होता है।

इसलिए कम पढ़ा-लिखा आदमी भी धार्मिक हो सकता है। लेकिन कम पढा-लिखा आदमी वैज्ञानिक नही हो पाता। बिलकुल साधारण आदमी, जो बाहर के जगत् मे कुछ भी नही जानता है, वह भी कबीर हो सकता है, कृष्ण हो सकता है, क्राइस्ट हो सकता है। क्राइस्ट खुद एक बढ़ई के लडके है, कबीर एक जुलाहे के। कुछ बडी जानकारी बाहर की नही है। कोई पाडित्य नही है। कोई बड़ा सग्रह नही है। फिर भी अन्त प्रज्ञा का द्वार खुल सकता है, क्योकि जो पाने जा रहे हैं, वह भीतर ही छिपा हुआ है। थोडा-सा खोदने की बात है। हीरा तो पास ही है, सिर्फ मुट्ठी बन्द है, उसे खोल लेने की बात है। यह जो मुट्ठी खोलना है, यह साधना है। हीरा क्या है, कहाँ छिपा है, किस खदान मे मिलेगा, कैसे खोजा जायेगा? इस सबकी जानकारी बाह्य सूचना है।

शास्त्रो मे अगर हम यह भेद कर ले, तो हम शास्त्रो को बचाने मे सहयोगी हो जाएँगे, अन्यथा हमारे सब शास्त्र व्यर्थ हो जाएँगे। क्योकि कृष्ण के मुँह से वे सभी बाते निकलती हैं, जो जानकारी हैं, जो आज नही कल गलत होगी। महावीर ऐसी बाते बोलते हैं, जो जानकारी की है, जो गलत हो जायेंगी। विज्ञान के जगत् मे कोई कभी सदा सही नही हो सकता। रोज विज्ञान आगे बढ़ेगा और अतीत को गलत करता जायेगा।

बुद्ध ने ऐसी बातें कही हैं, जो गलत हो जायेंगी। जीसस ने, मुहम्मद ने ऐसी बातें कही हैं, जो गलत हो जायेंगी। लेकिन इससे कोई भी धर्म का सम्बन्ध नही है। धर्म-शास्त्र में दोनो बाते है, वे भी जो भीतर से आई हैं, और वे भी जो बाहर से आई हैं। अगर भविष्य मे हमे धर्म-शास्त्र की प्रतिष्ठा बचानी हो, तो हमे धर्म-शास्त्र के विभाजन शुरू कर देने चाहिए। जानकारी एक तरफ हटा देनी चाहिए और अनुभव एक तरफ। अनुभव सदा सही रहेगा, जानकारी सदा सही नही रहेगी।

""""तो मैं जानकारी की कुछ बातें आपसे कहता हूँ। क्योंकि जहाँ आप हैं, वहाँ भी जानकारी की बातें हैं, वही आपकी समझ में आती हैं। वह जो अनुभव की बातें कहता हूँ, वह तो आपको सुनाई ही नही पड़ती। इस आशा में जानकारी की बात कहता हूँ कि शायद उसी के बीच में एकाध अनुभव की बात का भी आपके भीतर प्रवेश हो जाए। वह जानकारी की बात करीब-करीब ऐसी है, जैसे एक कड़वी दवा की गोली पर थोड़ी सी शक्कर लगा दी जाये। वह गोली देने के लिए ही शक्कर लगाई गई है। उस शक्कर के पीछे कुछ छिपा है, जो शायद साथ चला जाये। अगर आप समझदार हैं, तो शक्कर लगाने की जरूरत नहीं है। दवा सीधी पी जा सकती है, लेकिन दवा थोड़ी कडवी होगी। उसको समझदार ले सकेगा, उसे बाल-बुद्धि के लोग नही ले सकेंगे।

सत्य, वह जो अनुभव का सत्य है, वह थोड़ा कडवा होगा, लेकिन आपकी जिन्दगी के विपरीत होगा। उसे आप तक पहुँचाना हो, तो जानकारी केवल एक साधन है।

एक मित्र ने पूछा है—'क्या सिद्ध पुरुष को भी सोये हुए लोगो के बीच रहने में खतरा है, या केवल साधको के लिए यह निर्देश है ?'

सिद्ध पुरुष को कोई खतरा नही है, क्योंकि वह मिट ही गया है। खतरा तो उसको है, जो अभी है। ऐसा समझें, 'कि क्या बीमारो के बीच मरे हुए आदमी को रहने मे खतरा है ? कि कोई बीमारी न लग जाये।' लगेगी नहीं अब। मरे हुए आदमी को बिठा दें बीच में। आसन लगा कर वे मजे से बैठे रहेंगे। न हैजा पकड़ेगा, न प्लेग पकड़ेगी। क्योंकि बीमारी लगने के लिए होना जरूरी है—पहली शर्त। और मरा हुआ आदमी है ही नहीं अब। लगेगी किसको ?

सिद्ध पुरुष को कोई खतरा नही है, क्योकि सिद्ध पुरुष एक गहरे अर्थों मे मर गया है। भीतर का वह अहंकार मर गया, जिसको बीमारियाँ लगती हैं, लोभ लगता है, क्रोध लगता है। अब सिद्ध पुरुष को कोई खतरा नही है। सिद्ध पुरुष का अर्थ ही यह है, जो अब नहीं है। खतरा तो रास्ते पर है; जब तक आप सिद्ध नही हो गये हैं, तब तक खतरा है।

मगर एक बड़े मजे की बात है। अगर आपको ऐसा पता चलता है कि मैं सिद्ध हो गया हूँ, तो अभी खतरा है। क्योंकि अगर आपको पता चलता है कि मैं मर गया हूँ, तो अभी आप जिन्दा हैं। आँख बन्द करके बैठें, और आप

कहें कि मैं मर गया हूँ, अब मुझे कोई बीमारी लगने वाली नहीं है, तो आप पक्का समझना कि अभी सावधानी की जरूरत है। अभी आप काफी जिन्दा हैं। अभी आपको बीमारी लगेगी।

सिद्ध पुरुष का अर्थ है, जो हवा पानी की तरह हो गया। जिसको यह भाव भी मिट गया कि मैं सिद्ध पुरुष हो गया हूँ। ऐसा भाव ही 'मैं' का जहाँ खो गया है, वहाँ कोई बीमारी नही है। क्योंकि बीमारी लगने के लिए 'मैं' को पकड़ने की क्षमता चाहिए। और 'मैं' बीमारी पकड़ने का मैगनेट है। वह जो 'मैं' का भाव है, जो अहं है, वह है मैगनेट। वह बीमारियों को खीचता है। और आप ऐसा मत सोचना कि दूसरा ही आपको बीमारी दे देता है, आप लेने के लिए तैयार होते हैं, तभी कोई देता है।

आपने कभी ख्याल किया होगा—चारों ओर बीमारी फैली हो, और डॉक्टर घूमता रहता है, पर उसको प्लेग नही पकडती और आपको पकड लेती है, क्या मामला है? खुद चिकित्सक परेशान हुए हैं इस बात से कि डॉक्टर प्लेग मे घूम रहा है, दिन भर हजारो मरीजो की सेवा कर रहा है। इजेक्शन लगा रहा है, भाग-दौड कर रहा है, उन्ही कीटाणुओ के बीच मे भटक रहा है—जहाँ आपको तो बीमारी पकडती है, पर उसे नही पकडती—कारण क्या है? कारण सिर्फ एक है। डॉक्टर की उत्सुकता मरीज में है, अपने मे नही है, इसलिए उसका 'मैं' क्षीण हो जाता है। वह उत्सुक है दूसरे को ठीक करने में। वह इतना व्यस्त है दूसरे को ठीक करने मे कि उसके होने की उसे सुविधा ही नही है, जहाँ बीमारियाँ पकडती हैं। वह 'नॉन रिसेप्टिव' हो जाता है; क्योंकि उसे पता ही नही रहता कि मैं हूँ।

जब बीमारी जोर की होती है, तब डॉक्टर अपने को भूल ही जाता है। यदि वह स्वय न भूले तो वह भी बीमार पड जायेगा। यह भूलना बाहर तक की बीमारी को रोक देता है। वह जो दूसरे लोग हैं, वे चारों तरफ से भयभीत हो जाते हैं कि कही बीमारी मुझे न पकड़ ले। यह 'मैं' भाव ही बीमारी के पकडने का द्वार बन जाता है। वह रिसेप्टिव हो जाता है।

यह तो बाहर की बीमारी के सम्बन्ध मे हुआ। भीतर की बीमारी के सम्बन्ध मे तो और जटिलता हो जाती है।

यह सारी सूचनाएँ साधक के लिए हैं। सूचनाएँ मात्र साधक के लिए हैं। सिद्ध पुरुष के लिए क्या सूचना है? सिद्ध पुरुष का अर्थ ही यह है कि जिसको करने को अब कुछ न बचा, जिसका सब पूरा हो गया। सब सिद्ध हो गया।

उसके लिए तो कोई भी सूचना नहीं है। यह सारी सूचनाएँ मार्ग पर चलने वाले के लिए हैं, साधक के लिए हैं।

एक और प्रश्न।

● आशुप्रज्ञ होना प्रकृतिदत्त, आकस्मिक घटना है या साधना-जन्म परिणाम ?

प्रकृतिदत्त घटना नहीं है, आकस्मिक घटना नहीं है, साधना-जन्य परिणाम है। प्रकृति है अचेतन। आपको भूख लगी है, यह प्रकृतिदत्त है; आपको प्यास लगती है, यह प्रकृतिदत्त है; आप सोते हैं रात, यह प्रकृतिदत्त है; आप जागते हैं सुबह, यह प्रकृतिदत्त है, यह सब प्रकृतिदत्त है। यह अचेतन है। इसमें आपको कुछ भी नही करना पड़ा है। यह आपने पाया है। यह आपके पास जुड़ा हुआ है। लेकिन एक आदमी ध्यान करता है, यह प्रकृतिदत्त नहीं है। अगर आदमी न करे, तो अपने-आप यह कभी भी न होगा। भूख लगेगी अपने-आप, प्यास लगेगी अपने-आप, पर ध्यान अपने-आप नहीं लगेगा। कामवासना भी लगेगी अपने-आप, मोह के बन्धन निर्मित हो जायेंगे अपने-आप, लोभ पकडेगा अपने-आप, क्रोध पकड़ेगा अपने-आप, पर धर्म नही पकडेगा अपने-आप।

इसे ठीक से समझ लें।

धर्म निर्णय है, चेष्टा है, 'इन्टेन्शन' है; बाकी सब 'इन्सटिंक्ट' है, बाकी सब प्रकृति है। आपके जीवन मे जो अपने-आप हो रहा है, वह प्रकृति है। जो आप करेंगे, तो ही होगा, और तो भी बड़ी मुश्किल से होगा, वह धर्म है—जो आप करेंगे, तभी होगा, बड़ी मुश्किल से होगा। क्योंकि आपकी प्रकृति पूरा विरोध करेगी कि यह क्या कर रहे हो! इसकी क्या जरूरत है? पेट कहेगा कि ध्यान की क्या जरूरत है? भोजन की जरूरत है। शरीर कहेगा, नीद की जरूरत है, ध्यान की क्या जरूरत है? काम ग्रन्थियाँ कहेंगी, काम की, प्रेम की जरूरत है, धर्म की क्या जरूरत है?

आपके शरीर को सर्जन के टेबल पर रखकर अगर पूरा परीक्षण किया जाये, तो कहीं भी धर्म की कोई जरूरत नहीं मिलेगी। 'किडनी' की जरूरत है, फेफड़े की जरूरत है, मस्तिष्क की जरूरत है। वे सब जरूरतें सर्जन काटकर अलग-अलग बता देगा कि किस अंग की क्या जरूरत है, लेकिन एक भी अंग मनुष्य के शरीर में ऐसा नहीं जिसकी जरूरत धर्म हो।

धर्म बिलकुल गैर-जरूरत है। इसीलिए तो जो आदमी केवल शरीर की भाषा में सोचता है, वह कहता है : धर्म पागलपन है, शरीर के लिए उसकी

कोई जरूरत नहीं है। 'बिहेवियरिस्ट' हैं, शरीरवादी मनोवैज्ञानिक हैं, वे कहते हैं : क्या पागलपन है, धर्म की कोई जरूरत ही नहीं है। और जरूरतें हैं, धर्म की क्या जरूरत है ? समाजवादी हैं, कम्युनिस्ट है, वे कहते हैं : धर्म की क्या जरूरत है ? और सब जरूरते हैं। और सब जरूरतें समझ मे आती हैं, क्योंकि उनको खोजा जा सकता है।

धर्म की जरूरत समझ मे नही आती। कही कोई कारण नहीं है। इसलिए पशुओ मे वे सब है, जो आदमी मे है, सिर्फ धर्म उनमे नही है। और जिस आदमी के जीवन मे धर्म नही है, उसे अपने को आदमी कहने का कोई हक नही है। क्योकि पशु के जीवन मे वह सब कुछ है, जो आदमी के जीवन में है। ऐसे आदमी के जीवन मे, जिसके जीवन मे धर्म नही है, वह कहाँ से अपने को अलग करेगा पशु से ?

पशु प्रकृति-जन्य है। आदमी भी तब तक प्रकृति-जन्य है, जब तक धर्म उसके जीवन मे प्रवेश नही करता। जिस क्षण धर्म मनुष्य के जीवन मे प्रवेश करता है, उसी क्षण मनुष्य प्रकृति से परमात्मा की तरफ उठने लगता है।

प्रकृति है—निम्नतम्, अचेतन छोर, परमात्मा है—अन्तिम, आत्यन्तिक, चेतन छोर। जो अपने-आप हो रहा है, वह अचेतना मे हो रहा है, वह है प्रकृति, जो होगा—चेष्टा से, जागरुक प्रयत्न से—वह है धर्म। और जिस दिन यह प्रयत्न इतना बडा हो जायेगा कि अचेतन कुछ भी न रह जायेगा—भूख भी लगेगी, तो मेरी आज्ञा से; प्यास भी लगेगी, तो मेरी आज्ञा से, चलूंगा, तो मेरी आज्ञा से, उठूंगा, तो मेरी आज्ञा से—शरीर भी जिस दिन प्रकृति न रह जायेगा, अनुशासन बन जायेगा—उस दिन व्यक्ति परमात्मा हो गया।

अभी तो हम जो भी कर रहे हैं—सोचते भी हैं तो; मन्दिर भी जाते हैं तो, प्रार्थना भी करते हैं तो—ख्याल कर लेना कि यह प्रकृति-जन्य तो नहीं है। हमारा तो धर्म भी प्रकृति-जन्य होगा, इसलिए वह धर्म नहीं होगा, धोखा होगा। जिसको हम धर्म कहते है, वह धोखा है धर्म का। इसलिए जब आप दुख मे होते हैं, तो आपको धर्म की याद आती है, सुख मे आपको धर्म की याद नही आती।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने तो कहा है कि जब तक दुख है, तभी तक धर्म-गुरु भगवान् से प्रार्थना करें कि बचे हुए हैं। जिस दिन दुख नहीं होगा, उस दिन धर्म-गुरु नहीं होगा। वह ठीक कहता है। निन्यानबे प्रतिशत बात ठीक है। कम से कम आपके धर्म-गुरु तो नही बच सकते, अगर दुख समाप्त हो जाए। क्योंकि दुखी

आदमी ही उनके पास जाता है। दुख जब होता है, तब आपको धर्म की याद आती है। क्यों ? क्योंकि आप सोचते हैं, अब यह दुख मिटता नहीं, दिखता है। अब कोई उपाय नहीं दिखता इसे मिटाने का, तो अब धर्म की तलाश में जाएँ। जब आप सुखी होते हैं, तब कोई बात ही नहीं है। आप ही अपने मसले हल कर रहे हैं, तब परमात्मा की कोई जरूरत नही है। जब आपकी समस्या कहीं उलझ जाती है—प्रकृतिदत्त समस्या, और उसे आप हल नहीं कर पाते, तो आप परमात्मा की तरफ जाते हैं।

आदमी की विवशता उसका धर्म है। जब वह कुछ नही कर पाता, तब वह परमात्मा की तरफ चल पडता है। तब तो उसका मतलब यह हुआ कि वह परमात्मा की तरफ किसी प्रकृति-जन्य प्यास, या भूखे को पूरा करने जा रहा है। अगर आप परमात्मा के सामने हाथ जोड कर प्रार्थना करते हैं कि मेरे लडके को नौकरी लगा दे, कि मेरी पत्नी की बीमारी ठीक कर दें, तो उसका अर्थ क्या हुआ ? उसका अर्थ हुआ कि आपकी भूख प्रकृति-जन्य है, इसलिए आप परमात्मा के सामने हाथ जोड कर खडे हैं। आप परमात्मा से भी थोडी सेवा लेने की उत्सुकता रखते हैं। थोड़ा अनुग्रहित करना चाहते हैं उसको भी, कि थोड़ा सा अवसर देना चाहते हैं। इसका, ऐसे धर्म का कोई भी सम्बन्ध धर्म से नही है।

यह जो आशुप्रज्ञ होना है, यह प्रकृतिदत्त नहीं है। यह आपकी 'इन्सटिंक्ट', आपकी मन.वृत्तियो से पैदा नहीं होगा। कब होगा पैदा यह ? अगर यह प्रकृति से पैदा नही होगा, तो फिर पैदा कैसे होगा ? यह कठिन बात मालूम होती है। यह तब पैदा होता है, जब हम प्रकृति से ऊब जाते हैं। यह तब पैदा होता है, जब हम प्रकृति से भर जाते हैं। यह तब पैदा होता है, जब हम देखते हैं कि प्रकृति में कुछ भी पाने को नही है। यह दुख से पैदा नहीं होता। जब हमे सुख भी दुख जैसा मालूम होने लगा है, तब पैदा होता है। यह अतृप्ति से पैदा नही होता है।

इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

प्रकृति की सब भूख-प्यास कमी से पैदा होती है। शरीर में पानी की कमी है, तो प्यास पैदा होती है। शरीर में भोजन की कमी होती है, तो भूख पैदा होती है। शरीर मे वीर्य-ऊर्जा ज्यादा इकट्ठी हो गई हो, तो काम-वासना पैदा होती है।

शरीर की दो तरह से जरूरतें हैं; भरने की और निकालने की । जो चीज नही है, उसे भरो; जो चीज ज्यादा हो जाए, उसे निकाल दो । यह शरीर की कुल दुनिया है । वीर्य भी एक मल है । जब ज्यादा हो जाए, तो उसे फेंक दो बाहर; नही तो वह बोझिल करेगा, शरीर को भारी करेगा ।

इसलिए फ्रायड ने कहा है कि सम्भोग से ज्यादा अच्छा 'ट्रान्क्विलाइजर' कोई नही है । मन की भी वह अच्छी दवा है । जब शक्ति है, तो सो न पायेंगे । उसे फेंक दो बाहर, हल्के हो जाओ, खाली हो जाओ तो नींद लग जायेगी ।

तो दो ही जरूरतें हैं, जब कमी हो, तो भरो; जब ज्यादा हो जाये, तो निकाल दो । इसलिए दुनिया मे इतनी काम-वासना दिखाई पड़ रही है आज उसका कारण यह है कि जो भरने की जरूरतें हैं, वे काफी दूर तक, काफी लोगों की दूर हो गई हैं, निकालने की जरूरतें बढ गई हैं । भूखा आदमी है, गरीब आदमी है, उसके पास मकान नही है, कपडा नही है, प्रतिपल भरने की चिन्ता है उसे, तो निकालने की चिन्ता का सवाल ही नही उठता । इसलिए आज अगर अमरीका मे एकदम कामुकता है, तो उसका कारण यह मत समझना कि अमरीका अनैतिक हो गया । जिस दिन आप भी उतने समृद्ध होंगे तो उस दिन आप भी उतने कामुक होंगे । क्योकि जब भरने का काम पूरा हो जाये, तब निकालने का काम ही बचता है । जब भोजन की कोई जरूरत न रहे, तो सिर्फ सम्भोग की ही, 'सेक्स' की ही जरूरत रह जाती है, और कोई जरूरत बचती नही है ।

भोजन है भरना और सम्भोग है निकालना । तो जब भोजन ज्यादा होगा, तो तकलीफ शुरू होगी । इसलिए सभी सभ्यताएँ जब भोजन की जरूरत पूरी कर लेती हैं, तो कामुक हो जाती हैं ।

हम बडे हैरान होते हैं कि समृद्ध लोग अनैतिक क्यो हो जाते हैं ? गरीब आदमी सोचता है कि हम बडे नैतिक हैं; अपनी पत्नी से तृप्त हैं । बड़े आदमी, समृद्ध आदमी तृप्त क्यों नही होते, शान्त क्यो नहीं हो जाते, ये क्यों भागते रहते हैं ?

मोरक्को का सुल्तान था; उसके पास अनगिनत पत्नियाँ थीं । कभी गिनी नही गई, लेकिन अनगिनत थी । दस हजार बच्चे पैदा करने की कामना थी उसकी । काफी दूर तक वह सफल हुआ । एक हजार छप्पन लड़के-लड़कियाँ उसने पैदा किये । गरीब आदमी को लगेगा कि यह क्या पागलपन है ! लेकिन

एक सुल्तान को नहीं लगेगा; क्योंकि भरने की जरूरतें सब उसकी पूरी हैं, जरूरत से ज्यादा पूरी हैं, सिर्फ निकालने की ही उसकी जरूरतें रह गई हैं।

यह जो स्थिति है, यह तो प्रकृति दत्त है।

धर्म कहाँ से शुरू होता है ? धर्म वहाँ से शुरू होता है, जहाँ भरना भी व्यर्थ हो गया और निकालना भी व्यर्थ हो गया। जहाँ दुख तो व्यर्थ हो ही गये, सुख भी व्यर्थ हो गये। जहाँ सारी प्रकृति व्यर्थ मालूम होने लगी।

एक स्त्री से आप असन्तुष्ट हैं, तो आप दूसरी स्त्री की तलाश में जायेंगे। लेकिन अगर आप स्त्री मात्र से असन्तुष्ट हो गये, तो आप के जीवन में धर्म का प्रारम्भ हो जायेगा। इस भोजन से असन्तुष्ट हो, तो दूसरे भोजन की तलाश में जायेंगे। लेकिन भोजन मात्र अगर एक व्यर्थ का क्रम हो गया, तो धर्म की खोज शुरू होगी। एक सुख भोग लिया, उससे असंतुष्ट हो गए, तो दूसरे सुख की खोज शुरू होगी। सब सुख देखे और व्यर्थ पाए, तो धर्म की खोज शुरू होगी।

जहाँ प्रकृति व्यर्थता, 'मीनिंगलेसनेस' की जगह पहुँचाती है, वहाँ आदमी आशुप्रज्ञता की तरफ—उस अन्तस चैतन्य, उस भीतरी ज्योति की तरफ यात्रा करता है।

क्यों ?

क्योंकि प्रकृति है बाहर, और जब बाहर से कोई व्यर्थता का अनुभव करता है, तो भीतर की तरफ आना शुरू होता है। एक है जगत्—जहाँ जो खाली है उसे भरो और जो भरा है उसे खाली करो, ताकि फिर भर सको; ताकि फिर खाली कर सको। यह जगत् है एक दुष्ट-चक्र, 'व्हीसियस सर्किल' का। एक और जगत् भी है, जहाँ बाहर व्यर्थ हो गया, तो भीतर की तरफ चलो। प्रकृति व्यर्थ हो गई, तो परमात्मा की तरफ चलो।

इसलिए प्रकृति की ही माँग के लिए अगर आप परमात्मा की तरफ जाते हैं, तो जानना कि अभी गये नहीं हैं। जिस दिन आप परमात्मा के लिए ही परमात्मा की तरफ आते हैं, उसी दिन जानना कि धर्म का प्रारम्भ हुआ।

अब हम सूत्र लें।

● 'जैसे कमल शरद-काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता और अलिप्त रहता है।'

कमल को देखा आपने ? कमल हमारा बड़ा पुराना प्रतीक है। महावीर बात करते हैं, कृष्ण बात करते हैं, बुद्ध बात करते हैं। उनकी बातों में कितने

ही फर्क पड़ते हों, लेकिन उनकी बातों में कमल जरूर आ जाता है।

इस मुल्क मे तीन बडे धर्म पैदा हुए; हिन्दू, जैन और बौद्ध; और फिर सैकड़ो सम्प्रदाय पैदा हुए। लेकिन अब तक एक सद्गुरु ऐसा नहीं हुआ, जो कमल के प्रतीक को भूल गया हो। कमल की बात उन्हे करनी ही पड़ती है। कुछ मामला ही ऐसा है। कोई एक सत्य—सब धर्मों की आवाज के भीतर दौडता हुआ कोई एक स्वर है, चाहे कोई भी धर्मपद्धति हो, अलिप्तता सिद्धान्त है, मार्ग है, इसलिए कमल की बात आ जाती है।

भारत के बाहर जिन मुल्को मे कमल नही होता, उन मुल्कों के सद्गुरुओं को बडी कठिनाई रही है। कोई उदाहरण नही है उनके पास सन्यासी का कि संन्यासी का क्या अर्थ है ?

सन्यासी का अर्थ है : जो कमलवत् हो गया। कमल के पत्ते पर बूंद गिरती है पानी की, पडी रहती है, मोती की तरह चमकती है, जैसी पानी मे भी कभी नही चमकती थी, वैसी कमल के पत्ते पर चमकती है। मोती हो जाती है, सूरज की किरण पडती है, तो कोई मोती भी फीका हो जाता है, वैसी कमल के पत्ते पर बूंद चमकती है। लेकिन पत्ते को कही छूती नही। पत्ता अलिप्त ही बना रहता है। ऐसी चमकदार बूंद ! ऐसा मोती जैसा अस्तित्व उसका, और पत्ता अलिप्त ही बना रहता है ! भागता भी नही छोड कर पानी को, पानी मे ही रहता है, पानी में ही उगता है, पर कभी छूता नही पानी को, अछूता बना रहता है, कुआरा बना रहता है।

यह जो अलिप्तता का भाव है, यह ससार के बीच सन्यास का अर्थ है। इसलिए कमल प्रतीक हो गया। और, कमल एक और कारण से प्रतीक है। कमल मिट्टी से पैदा होता है, गन्दे कीचड से पैदा होता है, ऊपर उठ जाता है और कमल हो जाता है। कमल मे और कीचड मे कितना फासला है ! जितना फासला हो सकता है दो चीजो मे। कहाँ कमल का निर्दोष अस्तित्व ! कहाँ कमल का सौन्दर्य ! और कहाँ कीचड पर कीचड़ से ही कमल निर्मित होता है !

इस कारण भी कमल की बडी मीठी चर्चा जारी रही सदियों-सदियों तक। आदमी ससार मे पैदा होता है—कीचड़ में; पर वह कमल हो सकता है। कीचड़ में ही पैदा होना पड़ता है—चाहे महावीर पैदा हों, चाहे बुद्ध पैदा हों—कीचड में ही पैदा होना पड़ता है। चाहे आप हों, चाहे कोई हो—सभी

को कीचड़ में पैदा होना पड़ता है। संसार कीचड़ है। थोड़े लोग इस कीचड़ के पार जाते हैं और कमल हो जाते हैं। वे ही कीचड के पार जाते हैं, जो अलिप्तता को साध लेते हैं। अलिप्तता ही कीचड के पार जाने की पगडण्डी है। कीचड नीचे रह जाता है, कमल ऊपर आ जाता है। जिस दिन कमल ऊपर आ जाता है, उस दिन कमल को देख कर कीचड़ की याद भी नहीं आती। कभी कमल आपको दिखाई पडे, तो क्या आपको कीचड की याद आती है ? याद भी नही आती। इसलिए बड़ी अद्‌भुत घटनाएँ घटी।

जीसस को मानने वाले कहते हैं कि जीसस सामान्य सम्भोग से पैदा नही हुए। कुंआरी माँ से पैदा हुए हैं। यह बात बडी मीठी है, और बडी गहरी है। असल मे जीसस को देख कर ऐसा नही मालूम पडता कि वे दो व्यक्तियों की कामवासना से पैदा हुए हैं। कमल को देख कर कहाँ कीचड का ख्याल आता है। जीसस को देख कर ख्याल नही आता कि दो व्यक्ति कामवासना मे जुट गये हैं, और उनके शरीर की बेचैनी, और उनके शरीर की अस्त-व्यस्तता, अराजकता, पशुता और उनके शरीर की वासना से, दुर्गन्ध की कीचड से जीसस पैदा हुए हो।

कमल को देख कर कीचड का ख्याल ही भूल जाता है। और अगर हमें पता ही न हो कि कमल कीचड से पैदा होता है, तो जिस आदमी ने कभी कीचड न देखी हो और कमल ही देखा हो, तो वह कहेगा कि असम्भव है कि यह कमल और कीचड से पैदा हो जाये।

इसलिए जीसस को देख कर अगर लोगों को लगा हो कि ऐसा व्यक्ति कुँआरी माँ से ही पैदा हो सकता है, तो वह लगना वैसा ही है, जैसे कि कमल को देख कर किसी को लगे कि ऐसा, कमल जैसा फूल तो मक्खन से ही पैदा हो सकता है, कीचड से नहीं। लेकिन मक्खन से कोई कमल पैदा नहीं होता। अभी तक कोई मक्खन कमल पैदा नही कर पाया। कमल कीचड से पैदा होता है। असल मे पैदा होने का ढंग कीचड़ में ही सम्भव है। इसलिए हमने कहा, जब एक दफा कमल हो जाता है, फिर वह दुबारा पैदा नहीं होता; क्योंकि दुबारा पैदा होने का कोई उपाय नहीं रहा। अब यह कीचड़ में नहीं उतर सकता, इसलिए दुबारा पैदा नहीं हो सकता। इसलिए हम कहते हैं कि उस दिन जन्म-जन्म की यात्रा समाप्त हो जाती है, जिस दिन व्यक्ति कमल हो जाता है। कमल तक यात्रा है कीचड़ की। कीचड़ कमल हो सकती है,

लेकिन फिर कमल कीचड़ नही हो सकता, क्योंकि वापस गिरने का कोई उपाय नही है।

इसलिए कमल बडा मीठा प्रतीक हो गया। अगर हम भारतीय चेतना का, पूर्वीय चेतना का कोई एक प्रतीक खोजना चाहें, तो वह कमल है।

महावीर कहते हैं : 'जैसे कमल शरद-काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता।'

बडी मजे की बात कही है, गन्दे जल को तो छूता ही नही है, शरद-काल के निर्मल जल को भी नही छूता। जिसके छूने से कोई हर्जा भी न होगा, लाभ शायद हो भी जाए; उसको भी नही छूता। छूता ही नही है। लाभ-हानि का सवाल नही है। गन्दे और पवित्र का भी सवाल नही है। छूना ही छोड दिया। पाप को तो छूता ही नहीं, पुण्य को भी नहीं छूता।

'जैसे कमल शरद-काल के निर्मल जल को भी नही छूता और अलिप्त रहता है, वैसे ही ससार से अपनी समस्त आसक्तियाँ मिटा कर सब प्रकार स्नेह बन्धनो से रहित हो जा, गौतम!'

गौतम को कह रहे हैं कि ऐसा तू भी हो जा। जहाँ-जहाँ हमारा स्नेह है, वहाँ-वहाँ स्पर्श है। इसमे हमारे छूने का ढग है। जब आप स्नेह से किसी को देखते हैं, तो आप उसे छू लेते हैं, चाहे वह कितनी ही दूर हो।

एक आदमी क्रोध मे आकर छुरा मार दे आपको, तो भी वह आपको छूता नही। छुरा आपकी छाती मे चला जाये, लहूलुहान हो जाए छाती, तो भी वह आपको छूता नही। और एक आदमी हजारो मील दूर हो और आपको उसकी याद आ जाये, तो वह आपको छू लेता है, उसी वक्त।

स्नेह स्पर्श है। जब आप स्नेह से किसी की तरफ देखते हैं, तब आपने आलिगन कर ही लिया। छू लिया। छूना हो ही गया। मन छू ही गया।

महावीर कहते हैं, जब तक यह स्पर्श चल रहा है, यह आकांक्षा चल रही है कि किसी का स्पर्श सुख देगा, तब तक व्यक्ति ससार मे ही होगा, सन्यास में नही हो सकता। यही स्नेह का अर्थ है।

जब तक कमल कीचड को छूने को आतुर है, तब तक दूर कैसे जायेगा। जब तक कमल खुद ही छूने को आतुर है, तब तक मुक्त कैसे होगा। इसमें बन्धन है। जहाँ-जहाँ हम छूने की आकांक्षा से भरते हैं, जहाँ-जहाँ हम दूसरे से सुख पाने की आकांक्षा से भरते हैं, वहाँ-वहाँ हम लिप्त हो जाते हैं। जहाँ

दूसरे पर ध्यान जाता है, वहीं हम लिप्त हो जाते हैं।

आपका ध्यान चारो तरफ तलाश करता रहता है कि किसको देखें, किसको छुएँ। आपका ध्यान चारों तरफ दौड़ता रहता है। जैसे 'आक्टोपस' के पंजे चारों तरफ घूमते रहते हैं, किसी को पकड़ने को। आपका ध्यान भी सारी इन्द्रियों के बाहर जाकर तत्पर रहता है कि किसको छुएँ। आप अपने को रोकते होंगे, सँभालते होंगे। जरूरी है, उपयोगी है, सुविधापूर्ण है। लेकिन आपका ध्यान भागता रहता है चारों तरफ। आप अपने मन की खोज करेंगे, तो आप पाएँगे कि कहाँ-कहाँ आप लिप्त हो जाना चाहते हैं, कहाँ-कहाँ आप छू लेना चाहते हैं।

भागता हुआ, चारो तरफ बहता हुआ मन है आपका। सारे संसार को छू लेने का मन है आपका।

बायरन ने कहीं कहा है कि एक स्त्री से नहीं चलेगा। मन तो सारी स्त्रियो को भोग लेना चाहता है। उसने अपने गीत में एक कड़ी लिखी है और कहा है कि ऐसा नहीं है कि एक स्त्री को मैं माँगता हूँ, एक स्त्री के द्वारा मैं सारी स्त्रियो को माँगता हूँ। और ऐसा भी नही है कि सारी स्त्रियों को भोग लूँ तो तृप्त हो जाऊँगा, तब भी माँग जारी रहेगी। छूने की जो माँग है, वह फैलती ही चली जाती है—स्त्री हो या पुरुष हो, धन हो या मकान हो—वह फैलती चली जाती है।

महावीर कहते हैं : अलिप्त हो जा, समस्त आसक्तियाँ मिटा कर, सब तरफ से अपने स्नेह-बन्धनो को तोड ले। यह जो फैलता हुआ वासना का विस्तार है, इसको काट दे।

यह कैसे कटेगा ?

तो महावीर कहते हैं, 'हे गौतम ! क्षण-मात्र प्रमाद मत कर।'

प्रमाद का अर्थ है : बेहोशी। प्रमाद का अर्थ है, गैर ध्यान-पूर्वक जीना। प्रमाद मूर्च्छा में है। जब-जब हम सम्बन्ध निर्मित करते हैं स्नेह का, तब-तब बेहोशी में निर्मित करते हैं, होश में निर्मित नहीं करते। होश-पूर्वक जो व्यक्ति जियेगा, वह कोई स्नेह के बन्धन निर्मित नही करेगा। इसका यह मतलब नही कि वह पत्थर हो जायेगा और उसमें प्रेम नही होगा। सच तो यह है कि उसी में प्रेम होगा। लेकिन उसका प्रेम अलिप्त होगा। यह कठिनतम घटना है जगत् में—प्रेम का, और अलिप्त होना!

महावीर जब गौतम को यह कह रहे हैं, तो बड़ा प्रेमपूर्ण वक्तव्य है कि गौतम तू ऐसा कर कि मुक्त हो जा, कि ऐसा कर गौतम कि तू पार हो जाए। इसमें प्रेम तो भारी है, लेकिन स्नेह जरा भी नहीं है, मोह जरा भी नहीं है। और यदि गौतम मुक्त नही होता, तो महावीर छाती पीट कर रोने वाले नही हैं। अगर गौतम मुक्त नही होता, तो यह कोई महावीर की चिन्ता नही बन जायेगी। अगर गौतम महावीर की नही सुनता, तो इसमे महावीर कोई परेशान नही हो जाएँगे।

महावीर जब गौतम से कह रहे हैं कि तू मुक्त हो जा, और ये करुणापूर्ण वचन बोल रहे है। तब वे ठीक कमल की भाँति हैं, जिस पर पानी की बूंद पडी है। बिल्कुल निकट है बूंद, और बूंद को यह भ्रम भी हो सकता है कि कमल ने मुझे छुआ और मैं मानता हूँ कि बूंद को होता ही होगा यह भ्रम, क्योकि बूंद कैसे मानेगी कि जिस पत्ते पर मैं पडी थी, उसने मुझे छुआ नही—जिस पत्ते पर मैं रही हूँ, जिस पत्ते पर मैं बसी हूँ, जिस पत्ते पर मेरा निवास रहा है, उस पत्ते ने मुझे छुआ नही—यह बूंद कैसे मानेगी ? बूंद को यह भ्रम होता ही होगा कि पत्ते ने मुझे छुआ, पर पत्ता बूंद को नही छूता है।

गौतम को भी लगता होगा कि महावीर मेरे लिए चिन्तित हैं। महावीर चिन्तित नही हैं। महावीर जो कह रहे हैं उसमे कोई चिन्ता नही है, सिर्फ करुणा है। ध्यान रहे, करुणा, अपेक्षा-रहित प्रेम है। मोह अपेक्षा से परिपूर्ण प्रेम है। अपेक्षा जहाँ है, वहाँ स्पर्श हो जाता है। जहाँ अपेक्षा नही है, वहाँ कोई स्पर्श नही होता। प्रमाद है स्पर्श का द्वार, आसक्ति का द्वार—मूर्छित।

कभी आपने ख्याल किया कि जब आप किसी के प्रेम मे पडते हैं, तो होश नही रह जाते, बेहोशी पकड लेती है। 'बायोलॉजिस्ट' कहते हैं कि इसका कारण ठीक वैसा ही है, जैसे शराब पीकर आपके पैर डगमगाने लगते हैं या एल. एस. डी. मारिजुआना लेकर जगत् बहुत रंगीन मालूम होने लगता है। एक साधारण-सी स्त्री या एक साधारण-सा पुरुष, जब आप उसके प्रेम में पड जाते हैं, तो वह एकदम अप्सरा हो जाती है, देवता हो जाता है।

एक साधारण-सी स्त्री के प्रेम मे आप अचानक पड़ जाते हैं। वह कल भी इस रास्ते से गुजरी थी, परसों भी इस रास्ते से गुजरी थी, हो सकता है कि बचपन से ही आप उसे देखते रहे हों, पहले आपने कभी नही सोचा था कि यह स्त्री अप्सरा है। अचानक एक दिन कुछ हो जाता है आपके भीतर। आपको

भी पता नहीं चलता कि क्या होता है; एक स्त्री अप्सरा हो जाती है ! उस स्त्री का सब कुछ बदल जाता है, 'मेटामॉर्फोसिस' हो जाती है। उस स्त्री में आपको वह सब दिखाई पड़ने लगता है, जो आपको कभी दिखाई नही पडा था। सारा ससार उस स्त्री के आसपास इकट्ठा हो जाता है। सारे सपने उस स्त्री के पूरे होते मालूम होने लगते हैं। सारे कवियों की कविताएँ एकदम फीकी पड़ जाती हैं : वह स्त्री काव्य हो जाती है ! क्या हो जाता है ?

'बायोलॉजिस्ट' कहते हैं कि आपके शरीर में भी सम्मोहित करने के केमिकल्स हैं। कोई आदमी बाहर से एल एस. डी. ले लेता है। एल. एस. डी. लेने से ही, जब हक्सले ने एल एस डी. लिया, तो जिस कुर्सी के सामने वह बैठा था, वह कुर्सी एकदम इन्द्रधनुषी रंगो से भर गई। लिया एल. एस. डी., भीतर एक केमिकल डाला, उससे सारी आँखें आच्छादित हो गई । वह साधारण सी कुर्सी, जिस पर उसने कभी ध्यान ही नही दिया था, जो उसके घर मे सदा से ही थी। वह उसके सामने रखी थी। उस कुर्सी मे से रग-बिरगी किरणें निकलने लगी। वह कुर्सी एक इन्द्रधनुष बन गई।

हक्सले ने लिखा है—उस कुर्सी से सुन्दर कोई चीज ही नही थी, उस क्षण मे। ऐसा मैंने कभी देखा ही नहीं था। हक्सले ने लिखा है कि कबीर ने क्या जाना होगा अपनी समाधि मे, इकहार्ट को क्या पता चला होगा, जब वह कुर्सी ऐसी रगीन हो गई, स्वर्गीय हो गई। देवताओं के स्वर्ग की कुर्सियाँ फीकी पड़ गई। सारा जगत् एक-सा मालूम पडने लगा।

क्या हो गया उस कुर्सी को ? कुर्सी को कुछ नही हुआ। कुर्सी अब भी वही है। हक्सले को कुछ हो गया। हक्सले को भीतर कुछ हो गया। वह जो भीतर 'केमिकल' गया है। वह खून मे दौड़ गया है। इससे हक्सले की मनोदशा बदल गई है। हक्सले अब सम्मोहित है। अब यह कुर्सी अप्सरा हो गई है। छ. घण्टे बाद जब नशा उतर गया एल० एस० डी० का, तो कुर्सी वापस कुर्सी हो गई। कुर्सी, कुर्सी ही थी। हक्सले वापिस हक्सले हो गये। फिर कुर्सी साधारण है।

इसलिए हनीमून के बाद अगर स्त्री साधारण हो जाये, तो घबराना मत—कुर्सी, कुर्सी हो गई। कोई आदमी सुहागरात में ही जिन्दगी बिताना चाहे, तो वह गलती में है। पूरी रात भी सुहागरात हो जाए, तो यह जरा कठिन है।

कब नशा टूट जाए, कुछ कहा नहीं जा सकता।

मुल्ला नसरुद्दीन स्टेशन पर खड़ा था। वह पत्नी को विदा करने आया था। जब गाड़ी छूट गई, तो किसी परिचित ने पूछा कि 'नसरुद्दीन ! तुम्हारी पत्नी कहाँ जा रही है ?'

मुल्ला ने कहा—'हनीमून पर, सुहागरात पर।'

मित्र थोडा हैरान हुआ। उसने कहा; 'यह क्या कहते हो ? तुम्हारी ही पत्नी है न ?'

मुल्ला ने कहा, 'मेरी ही है।'

'तो अकेली कैसे जा रही है हनीमून पर ?'

मुल्ला के कहा—'मैं पिछले साल हनीमून पर हो आया। यह सस्ता भी था। अलग-अलग जाना सुविधापूर्ण था।'

'और फिर मैंने सुना है कि हनीमून के बाद विवाह फीका हो जाता है, तो मैंने सोचा फिर हम अलग-अलग ही जाएँ, ताकि विवाह जो है, वह फीका न हो।'

'हनीमून पर हो भी आएँ नियमानुसार और हनीमून अभी हुआ भी नहीं।'

वह जो हनीमून है, वह जो सुहागरात है, उसमे जो दिखाई पड़ता है, वह आपके भीतर के 'केमिकल्स' हैं। इसलिए ख्याल रखें, जहाँ अमेरिका मे, या यूरोप मे शादी के पहले यौन सम्बन्ध निर्मित होने लगे हैं, वहाँ हनीमून तिरोहित हो गया है। वह हनीमून तभी पैदा होता था; अगर बीस-पच्चीस वर्ष की उम्र तक अपनी-अपनी काम-ऊर्जा को सग्रहित किया हो तो, तो ही वे केमिकल्स विर्मित होते थे—संग्रह के कारण—जो एक स्त्री या पुरुष को देवी या देवता बना देते थे। अब वे सग्रहित नही होते, इसलिए हनीमून वैसा ही साधारण होता है, जैसा साधारण रोज का दिन होता है।

हमारे भीतर रासायनिक उत्क्रम हैं—जैविक-विज्ञान के अनुसार, जिससे हम सम्मोहित होते रहते हैं। जब आप एक स्त्री के प्रम मे गिरते हैं, तो आप मुच्छित हैं। इसे महावीर ने प्रमाद कहा है। जिसको जीव-विज्ञानी बेहोशी के रासायनिक-द्रव्य कहते हैं, उसको महावीर ने प्रमाद कहा है। आप बेहोश हो जाते हैं।

इस बेहोशी को जो नही तोड़ता है निरन्तर, वह आदमी कभी भी कमलवत् नहीं हो पायेगा। और जो कमलवत् नही हो पाएगा, वह इस कीचड़ में कीचड़

ही रहेगा। उसे इस कीचड़ के जगत् में फूल के होने का आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता। उसे कीचड़ से ही पूरा गुजरना पड़ेगा।

प्रमाद मिटता है ध्यान से। ध्यान प्रमाद के विपरीत है। ध्यान का अर्थ है होश। जो भी करें, होश से करना। अगर प्रेम भी करें, तो होश से करना। यह कठिन मामला है। न चोरी हो सकती होश से, न क्रोध हो सकता होश से, न प्रेम हो सकता होश से। बेहोशी उनकी अनिवार्य शर्त है। बेहोशी हो, तो ही वे होते हैं।

हम कहते हैं कि कोई आदमी प्रेम में गिर गया—वन हैज फॉलन इन लव। होना चाहिए—'वन हैज अराइजन इन लव।' 'कोई गिर गया बेचारा'—यह गिर गया ठीक ही कहते हैं। क्योंकि बेहोशी का अर्थ है, गिर जाना—होश खो दिया, होश गवाँ दिया।

इसलिए प्रेमी सबको पागल मालूम पड़ता है। इसका यह मतलब नहीं कि जब आप प्रेम में गिरेंगे, तब आपको पागलपन पता चलेगा। तब तो आपको सारी दुनिया पागल मालूम पड़ेगी; आप भर आपको समझदार मालूम पड़ेंगे; सारी दुनिया आपको पागल समझेगी। ऐसा नहीं कि उनकी कोई बुद्धि बढ़ गई है। वे भी गिरते रहे हैं। गिरेंगे। लेकिन जब तक नहीं गिरे हैं, तब तक वे समझते हैं कि देखें किसके पैर डगमगाते हैं; कि कौन बेहोशी में चल रहा है।

आसक्ति प्रमाद है। ध्यान अनासक्ति है। कि कितने होश से जीते हैं। एक-एक पल होश मे रहे गौतम !

'तू इस प्रपचमय विशाल संसार-समुद्र को तैर चुका है। भला किनारे पहुँच कर तू क्यों अटक रहा है ?'

महावीर कहते हैं, गौतम ! तेरा स्नेह मुझसे अटक गया है। अब तू मुझे प्रेम करने लगा है; यह भी छोड़। पत्नी का, मित्र का, स्वजन का मोह छोड़ दिया, यह गुरु का मोह भी छोड़। यह स्नेह मत बना। यह आसक्ति मत बना।

'उस पार पहुँचने की शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षण मात्र भी प्रमाद मत कर।'

एक क्षण को भी बेहोश मत हो। उठ ! यह जानते हुए उठ कि तू उठ रहा है। बैठ, तो जानते हुए बैठ कि बैठ रहा है। श्वास भी ले, तो जानते हुए ले कि तू श्वास ले रहा है। यह श्वास भीतर गई, तो जान कि भीतर गई।

यह श्वास बाहर गई, तो जान कि बाहर गई। तेरे भीतर कुछ भी न हो पाये, जो तेरे बिना जाने हो।

यह कठिनतम् साधना है, लेकिन एकमात्र साधना है। अनेक-अनेक रास्तो से लोग इसी साधना पर पहुँचते हैं। क्योकि जब कोई व्यक्ति एक क्षण भी बेहोशी नही करता है, और निरन्तर होश की चेष्टा मे लगा रहता है—भोजन करे, तो होशपूर्वक; बिस्तर पर लेटने जाए, तो होशपूर्वक, करवट ले रात में, तो होशपूर्वक—इतना जो होश से जीता है, धीरे-धीरे उसका होश सघन हो जाता है, इन्टेन्स हो जाता है। और जब होश सघन हो जाता है, तो उसकी अन्तर्ज्योति बढ जाती है।

होश की सघनता ही भीतर की ज्योति है। होश का विसर जाना ही भीतर का अन्धकार है। जितना होश सघन हो जाता है, उतना हम प्रकाशित हो जाते हैं। और यह प्रकाश भीतर हो, तो फिर आसक्ति निर्मित नही होती। आसक्ति अन्धेरे मे निर्मित होती है। यह प्रकाश भीतर हो, तो आपको मिल गई वह व्यवस्था, जिससे कीचड़ से कमल अपने को दूर करता जाता है।

होश बीच की डडी है, जिससे कीचड से कमल दूर चला जाता है। पार हो जाता है। फिर कुछ भी उसे स्पर्श नही करता। फिर वह अस्पर्शित और कुआँरा रह जाता है।

कमल का कुँआरापन सन्यास है।

आज इतना ही, पाँच मिनट रुके, कीर्तन करें और फिर जाएँ।

●

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१५ सितम्बर, १९७२

बारहवां प्रवचन

प्रमाद-स्थान-सूत्र : १

•

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होई तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होई लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥

प्रमाद को कर्म कहा है और अप्रमाद को अकर्म अर्थात् जो प्रवृत्तियाँ प्रमादयुक्त हैं वे कर्म-बन्धन करने वाली हैं और जो प्रवृत्तियाँ प्रमादरहित हैं, वे कर्म-बन्धन नहीं करतीं। प्रमाद के होने और न होने से मनुष्य क्रमशः बाल-बुद्धि (मूर्ख) और पण्डित कहलाता है।

जिसे मोह नहीं उसे दुख नहीं, जिसे तृष्णा नहीं उसे मोह नहीं, जिसे लोभ नहीं उसे तृष्णा नहीं, और जो ममत्व से अपने पास कुछ भी नहीं रखता, उसका लोभ नष्ट हो जाता है।

•

पहले एक-दो प्रश्न ।

एक मित्र ने पूछा है कि स्नेहयुक्त प्रम और स्नेहमुक्त प्रेम में क्या अन्तर है । साथ ही काम, प्रेम और करुणा की आन्तरिक भिन्नता पर भी कुछ कहे ।

जिस प्रेम को हम जानते हैं, वह एक बन्धन है, मुक्ति नहीं । और जो प्रेम बन्धन है, उसे प्रेम कहना भी व्यर्थ ही है । प्रेम का बन्धन पैदा होता है अपेक्षा से । मैं किसी को प्रेम करूँ, तो मैं सिर्फ प्रेम नही करता, बल्कि कुछ पाने को प्रेम करता हूँ । मेरा प्रेम करना साधन है, प्रेम पाना साध्य है । मैं प्रेम पाना चाहता हूँ, इसलिए प्रेम करता हूँ । मेरा प्रेम करना एक 'इनवेस्टमेन्ट' है । उसके बिना प्रेम पाना असभव है । इसलिए जब मैं प्रेम पाने के लिए प्रेम करता हूँ, तब मेरा प्रेम करना केवल साधन है, साध्य नहीं । नजर मेरी पाने पर लगी है । देना गौण है । देना, पाने के लिए ही है । अगर बिना दिये चल जाए, तो मैं बिना दिये चला लूँगा । अगर धोखा देने से चल जाए कि मैं प्रेम दे रहा हूँ, तो मैं धोखे से चला लूँगा । क्योंकि मेरी आकांक्षा देने की नहीं है, पाने की है—मिलना चाहिए ।

जब भी हम देते हैं कुछ पाने को, तब हम सौदा करते हैं । स्वभावतः सौदे में हम कम देना चाहेंगे और ज्यादा पाना चाहेंगे । इसलिए सभी 'सौदे के प्रेम' व्यवसाय हो जाते हैं; और सभी व्यवसाय कलह को उत्पन्न करते हैं । क्योंकि सभी व्यवसायो के गहरे में लोभ होता है, छीनना है, झपटना है, लेना है; इसीलिए तो हम इस पर ध्यान ही नहीं देते कि कितना दिया । हम सदा इस पर ध्यान देते हैं कि कितना मिला । और दोनों ही व्यक्ति इसी पर ध्यान देते हैं कि कितना मिला । दोनो ही देने में उत्सुक नही है, पाने में उत्सुक हैं ।

वस्तुतः हम देना बन्द कर देते हैं और पाने की आकांक्षा में पीड़ित होते रहते हैं । फिर प्रत्येक को यह ख्याल होता है कि मैंने बहुत दिया और मिला कुछ भी नहीं ।

इसलिए हर प्रेमी सोचता है कि मैंने इतना दिया और पाया क्या ? माँ सोचती है कि मैंने बेटे को इतना प्रेम दिया और मिला क्या ? पत्नी सोचती है कि मैंने पति को इतना प्रेम दिया और मिला क्या ? पति सोचता है कि मैंने पत्नी के लिए सब कुछ किया, मुझे मिला क्या ?

जो आदमी आपको कही यह कहते मिले कि मैंने इतना किया और मुझे मिला क्या ? आप समझ लेना कि उसने प्रेम नही किया, सौदा किया ।

दृष्टि ही जब पाने पर लगी हो, तो प्रेम जन्मता ही नही । यही अपेक्षा से भरा हुआ प्रेम बन्धन बन जाता है । और तब इस प्रेम से सिवाय दुख के, पीड़ा के, कलह के और जहर के कुछ भी पैदा नही होता ।

एक और प्रेम भी है, जो व्यवसाय नही है । उस प्रेम मे देना ही महत्वपूर्ण है, लेने का सवाल ही नही उठता । देने मे ही बात पूरी हो जाती है । देना ही साध्य है । तब वैसा व्यक्ति प्रेम मिले इस भाषा मे नही सोचता । प्रेम दिया इतना ही काफी है । मैं प्रेम दे सका, इतना काफी है । और जिसने मेरा प्रेम लिया, उसका अनुग्रह है, क्योंकि लेने से भी इकार किया जा सकता है—इस फर्क को समझ ले ।

मैं अगर आपको प्रेम दूँ, और मेरी नजर लेने पर हो, तो बन्धन निर्मित होगा । और अगर मेरी नजर प्रेम देने पर ही हो, तो प्रेम मुक्ति बन जाएगा । और जब प्रेम मुक्ति होता है, तभी उसमे सुवास होती है । क्योंकि जब आगे कुछ माँग नही है, तो पीड़ा का कोई कारण नही रह जाता । और जब प्रेम मुझे देना ही होता है—मात्र देना, तो जो ले लेता है, उसके अनुग्रह के प्रति, उसकी दया के प्रति, उसने स्वीकार किया, इसके प्रति भी मन गहरे आभार से भर जाता है, अहोभाव से भर जाता है । जो माँगता है, वह सदा कहेगा कि मुझे कुछ मिला ही नहीं । जो देता है, वह कहेगा कि इतने लोगों ने मेरा प्रेम स्वीकार किया ! मेरे प्रेम मे कुछ था ही नही कि कोई स्वीकार करे ।

जिसका जोर देने पर है, उसका अनुग्रह का भाव बढ़ता जाएगा । जिसका जोर लेने पर है, उसका भिक्षा का भाव बढता जाएगा । और भिखारी कभी भी धन्यवाद नही दे सकता, क्योंकि भिखारी की आकांक्षाएँ बहुत हैं, और जो मिलता है, वह हमेशा थोड़ा है । सम्राट धन्यवाद दे सकता है; क्योंकि देने की ही बात है, लेने की कोई बात नहीं है । ऐसा प्रेम बन्धन-मुक्त हो जाता है ।

इसमें और एक बात समझ लेनी जरूरी है, जो बड़ी मजेदार है । और जीवन के जो गहरे 'पैराडॉक्सेज' हैं, जीवन के जो गहरे विरोधाभास हैं, पहेलियाँ

हैं, उनमें वह एक है; कि जो माँगता है, उसे मिलता नहीं और जो नहीं माँगता, उसे बहुत मिल जाता है। जो देता है पाने के लिए, उसके हाथ की पूँजी समाप्त हो जाती है, लौटता कुछ नहीं। और जो देता है—पाने के लिए नहीं, वे देने के लिए—बहुत वर्षा हो जाती है उसके ऊपर, बहुत लौट आता है उसके पास।

उसके कारण हैं।

जब भी हम माँगते हैं, तो दूसरे आदमी को देना मुश्किल हो जाता है। जब भी हम माँगते हैं, तो दूसरे आदमी को लगता है कि उससे कुछ छीना जा रहा है। जब भी हम माँगते हैं, तो दूसरे आदमी को लगता है कि परतंत्र हो रहे हैं।

जब हमारी माँग चारो तरफ से उसे घेर लेती है, तो उसे लगता है कि कारागृह हो गया है यह। अगर वह देता भी है, तो मजबूरी मे प्रसन्नता उसकी खो जाती है। और बिना प्रसन्नता के जो दिया गया है, वह कुम्हलाया हुआ होता है, मरा हुआ होता है। अगर वह देता भी है, तो एक कर्तव्य हो जाता है, एक भार हो जाता है कि देना पड़ेगा। और प्रेम इतना कोमल, इतना 'डेलिकेट', इतना नाजुक है कि कर्तव्य का ख्याल आते ही मर जाता है।

जहाँ यह ख्याल आया, कि प्रेम मुझे करना ही पड़ेगा, क्योंकि यह मेरा पति है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा मित्र है इसलिए प्रेम करना ही पड़ेगा, वहीं प्रेम प्राणहीन हो जाता है, वही प्रेम मर जाता है। जहाँ प्रेम करना पड़ेगा बन जाता है वही प्रेम कर्तव्य बन जाता है, वही उसके प्राण तिरोहित हो गये, जिससे पक्षी उड़ता था। अब वह मरा हुआ पक्षी है, जिसके पंख सजा कर रखे जा सकते हैं, लेकिन जो उड़ने के काम नही आ सकते। वह जो उड़ता था, वह थी स्वतन्त्रता। कर्तव्य में कोई स्वतंत्रता नहीं है; कर्तव्य एक बोझ है, एक ढोने का ख्याल है।

प्रेम इतना नाजुक है कि वह जरा-सा बोझ भी नही सह सकता। प्रेम सूक्ष्मतम घटना है, मनुष्य के मन में घटने वाली। जहाँ तक मन का सम्बन्ध है, प्रेम बारीक से बारीक घटना है। फिर प्रेम के बाद मन मे घटने वाली और कोई बारीक घटना नही है। फिर तो जो घटता है, वह मन के पार है। जिसको हम प्रार्थना कहते हैं, वह मन के भीतर नहीं है। लेकिन मन की आखिरी सीमा पर, मन का जो सूक्ष्मतम रूप घट सकता है, वह प्रेम है। मन की जो शुद्धतम, आत्यंतिक, 'अल्टीमेट पॉसिबिलिटी' है, आखिरी संभावना

है, वह प्रेम है। वह बहुत नाजुक है। हम उसके साथ पत्थर की तरह व्यवहार नहीं कर सकते।

तो जो माँगता है, जब उसे नहीं मिलता, तो एक दुष्टचक्र पैदा होता है। जितना नहीं मिलता; उतना वह ज्यादा माँगता है; क्योंकि वह कहता है कि नहीं माँगूंगा, तो मिलेगा कैसे ? जितना ज्यादा माँगता है उतना नहीं मिलता और ज्यादा माँगता है और ज्यादा नही मिलता। और जब पाता है कि बिलकुल नहीं मिल रहा है, तो वह सिर्फ एक माँगनेवाला, एक भिखारी हो जाता है, जो माँगता ही चला जाता है। वह माँगता ही चला जाता है और मिलना उतना ही मुश्किल होता चला जाता है।

जो नहीं माँगता, उसे बहुत मिलता है। तब एक शुभ-चक्र पैदा हो जाता है। जैसे ही उसे यह समझ में आता है कि नही माँगता हूँ, तो बहुत मिलता है, वैसे ही उसकी माँग समाप्त होती चली जाती है। जितनी माँग समाप्त होती है, उतना प्रेम मिलता चला जाता है। जिस दिन कोई माँग नही रह जाती, उस दिन सारे जगत् का प्रेम बरस पड़ता है।

जो माँगता है, वह माँगने के कारण ही वंचित रह जाता है। जो नही माँगता, वह नहीं माँगने का कारण ही मालिक हो जाता है। माँगनेवाला मालिक हो भी नही सकता। केवल देनेवाला ही मालिक हो सकता है। इसलिए मैंने पीछे आपसे कहा कि जो आप देते हैं, उसी के आप मालिक हैं। जो आप माँगते हैं, उसके आप मालिक नहीं हैं। मागने से जो मिल जाये, उसके भी आप मालिक नही हैं। जो देने से चला जाए, उसी के आप मालिक हैं।

ऐसे प्रेम को हम कहेंगे, 'बन्धनमुक्त प्रेम', जो सिर्फ दान है—अपेक्षारहित, बेशर्त, 'अनकन्डीशनल'। धन्यवाद की भी अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। लेकिन हम कहेंगे, 'यह तो बड़ा कठिन है। अगर हम धन्यवाद की भी अपेक्षा न करे, कुछ भी अपेक्षा न करें, तो हम प्रेम करेंगे ही क्यो ?'

हम सबको यह ख्याल है कि हम सब प्रेम करते ही इसलिए हैं कि कुछ पाना है। तब आपको कुछ पता ही नही है। प्रेम का सारा आनन्द करने में ही है, उसके बाहर कुछ भी नहीं है; करने में ही उसका सारा आनन्द है, उसके पार कुछ भी नही है।

विन्सन वान गॉग कोई तीन सौ चित्र छोड़ गया है। उसका एक भी चित्र बिका नहीं, जब वह जिन्दा था। उसका चित्र कोई पाँच-दस रुपये में भी

लेने को तब राजी नहीं था। आज उसके एक-एक चित्र की कीमत पाँच लाख, दस लाख रुपया है। वान गॉग का एक भाई था; थियो उसका नाम था। वही कुछ पैसा देकर वान गॉग की जिन्दगी चलाता था। उसने कई बार वान गॉग को कहा कि बन्द करो यह, इससे कुछ मिलता तो है नहीं। तुम चित्र बनाए चले जाते हो, मिलता तो कुछ भी नहीं। भूखे मरते हो। क्योंकि उसे थियो जितना देता था, उससे सिर्फ उसकी रोटी का काम चलता था सात दिन। तो वह चार दिन खाना खाता था और तीन दिन उपवास करता था। ताकि तीन दिन में जो रोटी के पैसे बचें, उनसे रंग और 'कैनव्हास' खरीदा जा सके। उनसे वह चित्र बनाता था। इस तरह से बहुत कम लोगों ने चित्र बनाए हैं। इसलिए जैसे चित्र वान गॉग ने बनाए हैं, वैसे चित्र किसी ने भी नहीं बनाए।

लेकिन वान गॉग हँसता और वह कहता कि मिलना! जब मैं चित्र बनाता हूँ, तब सब मिल जाता है। जब बना रहा होता हूँ, तो सब मिल जाता है। चित्र बनने के बाद कुछ मिलेगा, यह बात ही बेहूदी है। इसका बनाने से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जब भी मैं बनाता हूँ, तभी मेरे प्राण उस बनाने में खिल जाते हैं। जब वहाँ रंग खिलने लगते हैं तभी मेरे भीतर भी रंग खिलने लगते हैं। जब वहां रूप निर्मित होने लगता है, तो मेरे भीतर भी रूप निर्मित होने लगता है। जब वहाँ सौन्दर्य प्रकट हो जाता है, तो यहाँ मेरे भीतर भी सौन्दर्य प्रकट हो जाता है। वह चित्र में हुआ सूर्योदय, मेरे भीतर हो रहा सूर्योदय है—साथ ही साथ। उसके पार और कुछ मिलने का सवाल ही नहीं है। यह बात ही व्यवसाय की है। यह बात एक व्यवसायी ही सोचेगा कि चित्र बिकेगा या नहीं।

थियो ने एक बार सोचा कि बेचारा वान गॉग! जिन्दगी चित्र बनाते बीत चली वान गॉग की। (थियो अन्यथा सोच ही नहीं सकता, क्योंकि वह एक दुकानदार है। वह काम ही करता है, चित्रों के बेचने का। उसकी कल्पना के ही बाहर है, समझ के ही बाहर है कि चित्र बनाने में ही कोई बात हो सकती है। जब तक चित्र बिके न तब तक बेमानी है; तब तक व्यर्थ गया श्रम।)

उसने सोचा कि जीवन भर हो गया चित्र बनाते-बनाते वान गॉग को, इसका एक चित्र न बिका। कितना दुखी होता होगा मन में। (स्वभावतः व्यवसायी को लगेगा कि कितना दुखी होता होगा मन में। कभी कुछ नहीं मिला, सारा जीवन व्यर्थ गया।) तो उसने एक मित्र को कुछ पैसे दिये और कहा कि जाकर वान गॉग का एक चित्र खरीद लो। कम से कम एक चित्र तो उसका

बिके। ताकि उसको भी लगे कुछ कि मेरा चित्र भी बिका।

वह मित्र गया। उसे तो चित्र खरीदना था। यह कर्तव्य था। उसे कुछ चित्र से लेना-देना तो था नही। वान गॉग चित्र दिखा रहा है। पर वह मित्र चित्र वगैरह देखने मे उतना उत्सुक नहीं है, जितना कि होना चाहिये। वह एक चित्र देखकर कहता है कि यह एक चित्र मैं खरीदना चाहता हूँ। चित्र देखने में उसने कोई रस नही लिया। डूबा ही नहीं, चित्रों मे उतरा भी नहीं, चित्रों से उसका कोई स्पर्श भी नहीं हुआ।

वान गॉग खड़ा हो गया। उसकी आँख से आँसू गिरने लगे। उसने कहा कि मालूम होता कि मेरे भाई ने तुम्हें पैसे देकर भेजा है। तुम बाहर निकल जाओ और कभी दुबारा लौट के यहाँ मत आना। चित्र मुझे नहीं बेचना है।

वह आदमी तो हैरान हुआ। वान गॉग का भाई भी हैरान हुआ, कि यह पता कैसे चला! जब थियो ने वान गॉग से पूछा, तो वान गॉग ने कहा कि इसमें भी कुछ पता चलने की बात है; उस आदमी को मतलब ही न था चित्रों से। उसे तो बस खरीदना था; चित्रो मे उसका कोई भाव ही न था। मैं समझ गया कि तुमने ही भेजा होगा।

जीवन भर जिसके चित्र नहीं बिके; हमें भी लगेगा कि कितनी पीड़ा रही होगी उसको। लेकिन वान गॉग पीडित नहीं था, आनन्दित था। आनन्दित था इसलिए कि वह बना पाया।

प्रेम भी ऐसा ही है। वह चित्र बनाना, वान गॉग का प्रेम था। जब आप किसी को प्रेम करते हैं, तो पीछे कुछ मिलेगा ऐसा नही। जब आप प्रेम करते हैं, तभी आपके प्राण फैलते हैं, विस्तृत होते हैं। जब आप प्रेम के क्षण में होते हैं, तभी आपकी चेतना छलांग लगाकर ऊँचाईयों पर पहुँच जाती है। जब आप प्रेम के क्षण में होते हैं, जब आप प्रेम दे रहे होते हैं, तभी वह घटना घट जाती है, जिसे आनन्द कहते हैं। अगर आपको वह घटना नही घटी है, तो समझना कि आप व्यसायी हैं। प्रेम के काव्य को आपने जाना नही है।

अगर आप पूछते हैं कि मिलेगा क्या, तब फिर बहुत फर्क नहीं रह जाता··· तब बहुत फर्क नहीं रह जाता। एक वेश्या भी प्रेम करती है; पर क्या मिलेगा? वेश्या इसमें उत्सुक है। वह प्रेम में उत्सुक नहीं है। एक पत्नी भी प्रेम करती है। वह भी, क्या मिलेगा इसमें उत्सुक है; प्रेम में उत्सुक नहीं है। मिलना सिक्कों में हो सकता है, साड़ियों में हो सकता है; मिलना गहनों में हो सकता

है, मकान मे हो सकता है, सुरक्षा में हो सकता है; इससे बहुत फर्क नहीं पडता। यह सब 'इकॉनामिकल', आर्थिक मामले हैं—चाहे नगद रुपये हों, चाहे नगद साड़ियाँ हों, चाहे नगद गहने हों, चाहे नगद मकान हो; चाहे भविष्य की सुरक्षा हो, बुढ़ापे मे सेवा की व्यवस्था हो, कुछ भी हो—यह सब पैसे का ही मामला है···तो फिर वेश्या मे और प्रेयसी मे फर्क कहाँ है? इतना ही फर्क है कि वेश्या तत्काल इन्तजाम कर रही है और प्रेयसी लम्बा इन्तजाम कर रही है—'लाग टर्म प्लानिंग।' लेकिन फर्क कहाँ है? अगर मिलने पर ही ध्यान है, तो कोई फर्क नही है। फिर प्रेम वहाँ नही है, व्यवसाय है। हाँ, व्यवसाय कई ढग के होते हैं; पत्नी के ढग का भी होता है, वेश्या के ढग का भी होता है।

वेश्या और पत्नी मे कोई बुनियादी अन्तर तब तक नही हो सकता, जब तक ध्यान मिलने पर लगा हुआ है। बुनियादी अन्तर उस दिन पैदा होता है, जिस दिन प्रेम अपने में पूरा है, उसके पार कुछ भी नहीं। इसका यह मतलब नही कि उसके पार कुछ घटित नही होगा। बहुत घटित होगा, लेकिन मन से उसका कोई लेना-देना नहीं, उसकी कोई अपेक्षा नही, उसकी कोई आयोजना नहीं; क्षण काफी है, क्षण अनन्त है; जो मौजूद है, वह बहुत है। इसलिए प्रेम मे गहन सतृप्ति है। गहन सन्तोष है। एक इतनी गहन तृप्ति का भाव है; 'फुलफिलमेन्ट' का कि सब आपका हो जाता है।

लेकिन हम प्रेमियो को देखें, वहाँ कोई 'फुलफिलमेन्ट' का भाव नही है। वहाँ सिवाय दुख, छीना-झपटी, कलह, और ज्यादा मिलना चाहिए, इसकी दौड, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या—ऐसी हजार तरह की बीमारियाँ हैं, तृप्ति का कोई भी भाव नहीं।

जिस प्रेम मे माँग है, वह बन्धन-युक्त है। और जिस प्रेम में दान है, वह बन्धन-मुक्त है। यह जो दान है मुक्त प्रेम का, इसे ठीक से समझ लें।

जिस प्रेम में माँग है, उसमे काम तो घटेगा ही। घटेगा ही नही, काम के लिए ही प्रेम होगा। 'सेक्स' ही आधार होगा सारे प्रेम का, जिसमें व्यवसाय है। वैज्ञानिक कहते हैं कि वह प्रेम तो बहाना होगा। वह, 'जस्ट फोर ए प्ले'। वह काम-वासना मे उतरने के पहले की थोड़ी क्रिड़ा होगी।

इसलिए जब नया-नया सम्बन्ध होता है दो व्यक्तियों का, तो पहले काफी काम-क्रीड़ा चलती है। पति-पत्नी की काम-क्रीड़ा बन्द हो जाती है। उनका सीधा काम ही शुरू हो जाता है—'फोर प्ले'। वह जो काम में उतरने के पहले

का खेल होता है, वह सब बन्द हो जाता है। उसकी कोई जरूरत नहीं रह जाती। लोग आश्वस्त हो जाते हैं।

जिसमे लक्ष्य कुछ और है, जिसमे कुछ पाना है, वहाँ 'यौन' केन्द्र होगा। जहाँ लक्ष्य कुछ और नही है, प्रेम देना है, वहाँ भी यौन घटित हो सकता है, लेकिन वह गौण होगा। छाया की तरह होगा। यौन के लिए, वह प्रेम नही होगा।

प्रेम की घटना मे यौन भी घट सकता है, लेकिन तब वह यौन 'सेक्सुअल' कामुक नही रह जाएगा। उसमें दृष्टि ही पूरी बदल जाएगी। वह प्रेम की विराट घटना के बीच घटती हुई एक घटना होगी। प्रेम यौन के लिए नही होगा, प्रेम मे यौन कही समाविष्ट हो जाएगा।

यह दूसरी स्थिति है, लेकिन यौन सभव है। इसकी शुद्धतम तीसरी स्थिति है, जहाँ यौन तिरोहित हो जाता है। उसी को हम करुणा कहते हैं। जहाँ बस प्रेम ही रह जाता है। न तो वहाँ यौन लक्ष्य रहता, और न ही यौन, प्रेम के बीच मे घटनेवाली कोई घटना रहती; वहाँ सिर्फ शुद्ध प्रेम रह जाता है।

जैसे हम दिया जलाएँ, तो थोड़ा सा धुआँ उठे। जैसे हम धुआँ करें, तो थोडी सी लपट जले।

एक आदमी धुआँ करे, तो थोडी सी लपट जल जाएँ, ऐसा है पहले ढंग का प्रेम। यौन का धुआँ असली चीज है। अगर उस धुएँ के करने मे कही लपट जल जाती है प्रेम की, तो गौण है, बात अलग है। जल जाए तो ठीक, न जले तो ठीक। और जले भी, तो उसके जलने का मजा इतना ही है कि धुआँ ठीक से दिखाई पड जाए। बाकी और कोई प्रयोजन नहीं है।

दूसरी स्थिति, जहाँ हम दीये की ज्योति जलाते हैं, तो लक्ष्य ज्योति का जलाना है। थोडा धुआँ भी पैदा हो जाता है। धुएँ के लिए ज्योति नही जलाई है। जब ज्योति जलाते हैं, तो थोडा धुआँ पैदा हो जाता है। प्रेम जलता है, थोड़ा यौन सरक आता है।

तीसरी अवस्था है, जहाँ सिर्फ शुद्ध ज्योति रह जाती हैं, कोई धुआँ नहीं रहता—'स्मोकलेस फ्लेम', धूम्र-रहित ज्योति। उसका नाम करुणा है।

हम पहले प्रेम मे जीते हैं। कभी-कभी कोई कवि, कोई चित्रकार, कोई सगीतज्ञ, कोई कलात्मक, 'एस्थेटिक' बुद्धि की प्रज्ञा, दूसरे प्रेम को उपलब्ध होती है। लाखो मे एक, और कभी करोडो मे एक व्यक्ति तीसरे प्रेम को उपलब्ध होता है।

बुद्ध, महावीर, क्राइस्ट, कृष्ण—ये हैं शुद्ध प्रेम, जिन्हें अब लेने का तो कोई सवाल ही नहीं है, जिन्हें अब देने का भी कोई भाव नहीं है। इसको ठीक से समझ लें। यहां लेने का कोई सवाल ही नहीं और देने का भी कोई भाव नहीं है। यहां तो करुणा ऐसे ही बहती है, जैसे फूल से गंध बहती है। राह निर्जन हो, तो भी बहती है। कोई न निकले, तो भी बहती है। जैसे दीये से रोशनी बहती है। कोई न हो देखनेवाला, तो भी बहती है।

पहले तरह के प्रेम मे कोई देनेवाला हो, तो बहता है। दूसरे तरह के प्रेम में कोई लेनेवाला हो, तो बहता है। तीसरे तरह के प्रेम मे, जिसको हमने करुणा कहा है, कोई भी न हो—न लेनेवाला, न देनेवाला—तो भी बहता है। वह स्वभाव है।

बुद्ध अकेले बैठे हैं, तो भी करुणापूर्ण है। कोई आ गया है, तो भी करुणा-पूर्ण हैं। कोई चला गया है, तो भी करुणापूर्ण है।

पहला प्रेम मांग करता है कि मेरे अनुकूल जो है, वह दो, तो मेरे प्रेम को मैं दूंगा। दूसरा प्रेम अनुकूल की मांग नहीं करता लेकिन जहां प्रतिकूल होगा, वहां से हट जाएगा। तीसरा प्रेम, प्रतिकूल हो, तो भी नहीं हटेगा।

मैं दूं, पहले प्रेम मे, उसे आप भी लौटाएं तो ही टिकेगा। दूसरे प्रेम मे आप न लौटाएं, सिर्फ लेने को राजी हो, तो भी टिकेगा। तीसरे प्रेम मे आप द्वार भी बन्द कर लें और लेने को भी राजी न हो, नाराज भी हो जाते हैं, क्रोधित भी होते हों, तो भी बहेगा।

तीसरा प्रेम अबाध है, उसे कोई बाधा नहीं रोक सकती। उसे लेनेवाला भी नहीं रोक सकता। वह बहता ही रहेगा। वह अपने को लेने से रोक सकता है, लेकिन प्रम की धारा को नहीं रोक सकता। उसको हमने करुणा कहा है।

करुणा, प्रेम का परम-रूप है।

पहला प्रेम, शरीर से बंधा होता है। दूसरा प्रेम, मन के घेरे में होता है। तीसरा प्रेम, आत्मा के जीवन मे प्रवेश कर जाता है। ये हमारे तीन घेरे हैं—शरीर का, मन का और आत्मा का।

शरीर से बंधा हुआ प्रेम यौन होता है मूलतः। प्रेम सिर्फ आसपास चिपकाए हुए कागज के फूल होते हैं। दूसरा प्रेम मूलतः प्रेम होता है। उसके आसपास शरीर की घटनाएं भी घटती हैं, क्योंकि मन शरीर के करीब है। तीसरा प्रेम शरीर से बहुत दूर हो जाता है, बीच में मन का विस्तार हो जाता

है, शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। तीसरा प्रेम शुद्ध आत्मिक है।

एक प्रेम है, शारीरिक बन्धन वाला। दूसरा प्रेम है, शुद्ध मानसिक, निर्बन्ध। तीसरा प्रेम है, शुद्ध आत्मिक। न बन्धन है, न अबन्धन है। न लेने का भाव है, न देने का भाव है। तीसरा प्रेम है स्वभाव।

बुद्ध से कोई पूछे, महावीर से कोई पूछे कि क्या आप हमें प्रेम करते हैं, तो वे कहेंगे कि नहीं। वह कहेंगे कि हम प्रेम हैं, करते नहीं हैं। करते तो वे लोग हैं, जो प्रेम नहीं हैं। उन्हें करना पड़ता है, लेकिन जो प्रेम ही हैं, उन्हें करना नहीं पड़ता। उन्हें करने का ख्याल ही नहीं उठता। करना तो हमें उन्हीं चीजों को पड़ता है, जो हम नहीं हैं।

'करना', अभिनय है। 'होना', तो डूइंग और बीइंग का, करने और होने का फर्क है। करते हम वह हैं, जो हम हैं नहीं। मा कहती है कि मैं बेटे को प्रेम करती हूँ, क्योंकि वह प्रेम है नहीं। पति कहता है कि मैं पत्नी को प्रेम करता हूँ, क्योंकि वह प्रेम है नहीं। बुद्ध नहीं कहते कि मैं प्रेम करता हूँ, महावीर नहीं कहते कि मैं प्रेम करता हूँ, क्योंकि वे प्रेम ही हैं। प्रेम उनसे हो ही रहा है, करने के लिए कोई चेष्टा, कोई आयोजन नहीं है; कोई विचार भी आवश्यक नहीं है।

अब सूत्र।

● 'प्रमाद को कर्म कहा है और अप्रमाद को अकर्म। जो प्रवृत्तियाँ प्रमादयुक्त हैं, वे कर्म-बन्धन वाली हैं और जो प्रवृत्तियाँ प्रमादरहित हैं, वे कर्म-बन्धन नहीं करतीं। प्रमाद के होने न होने से मनुष्य क्रमशः मूढ़ और प्रज्ञावान कहलाता है।'

जो मैं कह रहा था उससे जुड़ा हुआ यह सूत्र है। महावीर करने को कर्म नहीं कहते, न करने को अकर्म नहीं कहते। हम करते हैं, तो कहते हैं कर्म और नहीं करते, तो कहते हैं अकर्म। हमारा जानना बहुत ऊपरी है। आपने क्रोध नहीं किया, तो आप कहते हैं कि मैंने क्रोध नहीं किया। आपने क्रोध किया, तो आप कहते हैं कि मैंने क्रोध किया। जब आप कुछ करते हैं तो उसको कर्म कहते हैं और जब कुछ नहीं करते, तो उसको अकर्म कहते हैं।

महावीर प्रमाद को कर्म कहते हैं, करने को नहीं। महावीर कहते हैं कि मूर्च्छा से किया गया हो तो कर्म। होशपूर्वक किया गया हो, तो अकर्म। जरा जटिल है और थोड़ा गहरे उतरना पड़ेगा।

अगर आपने कोई भी काम बेहोशीपूर्वक किया हो, आपको करना पड़ा हो, आप अचेतन हो गए हों करते वक्त, आप अपने मालिक न रहे हों करते वक्त, आपको ऐसा लगा हो जैसे आप 'पजेस्ड' हो गये हैं, किसी ने आपसे करवा लिया है, आप मुक्त नियता न रहे हों, तो कर्म है।

अगर आप अपने कर्म के मालिक हों, नियंता हो, किसी ने करवा न लिया हो, आपने ही किया हो, पूरी सचेतना से, पूरे होश से, अप्रमाद से, तो महावीर कहते हैं, वह अकर्म है।

इसे हम उदाहरण लेकर समझें।

आपने क्रोध किया। क्या आप कह सकते है कि आपने क्रोध किया ? या आपसे क्रोध करवा लिया गया ? एक आदमी ने आपको गाली दी, एक आदमी ने आपको धक्का मार दिया, एक आदमी ने आपके पैर पर पैर रख दिया, एक आदमी ने आपको इस ढग से देखा, इस ढग से व्यवहार किया कि क्रोध आप मे पैदा हुआ, तो क्रोध आप मे किसी से पैदा हुआ।

यह एक आदमी गाली न देता, यह आदमी पैर पर पैर न रख देता, यह आदमी इस भद्दे ढग से देखता नहीं, तो क्रोध पैदा नहीं होता।

क्रोध आपने नही किया, किसी और ने आपसे करवा लिया—पहली बात। मालिक कोई और है, मालिक आप नही हैं। इसको कर्म कहना ही फिजूल है। करनेवाले ही जब आप नहीं हैं, तो इसे कर्म कहना ही फिजूल है।

बटन हमने दबाई और पखा चल पड़े, पंखा नहीं कह सकता कि यह मेरा कर्म है, या कि कह सकता है ? बटन बन्द कर दिया, पखे का चलना बन्द हो गया। यह पखे से करवाया गया। पखा मालिक नहीं है। पंखा अपने बस में नहीं है। पंखा किसी और के बस में है।

और के बस में होने का मतलब होता है—बेहोश होना। जब आप क्रोध करते हैं, तो कभी आपने होश में क्रोध किया है ? करके देखना चाहिए—पूरे होश सँभाल कर, कि मैं क्रोध कर रहा हूँ। तब आप अचानक पाएँगे कि पैर के नीचे जमीन खिसक गई, क्रोध तिरोहित हो गया।

होश-पूर्वक आज तक क्रोध नहीं हो सका है। और जब भी होगा, बेहोशी में ही होगा। जब आप क्रोध करते हैं, तब आप मौजूद नहीं होते, आप यंत्रवत हो जाते हैं।

कोई बटन दबाता है, क्रोध हो जाता है। कोई बटन दबाता है, प्रेम हो जाता है। कोई बटन दबाता है, ईर्ष्या हो जाती है। कोई बटन दबाता है, यह

हो जाता है, वह हो जाता है। आप हैं कि सिर्फ बटनों का एक जोड़ है, एक मशीन हैं, जिसमें कई बटनें लगी हैं। यहाँ से दबाया, ऐसा हो जाता है; वहाँ से दबाया, वैसा हो जाता है।

एक आदमी मुस्कराते हुए आकर कह देता है दो शब्द प्रशंसा के, तो भीतर कैसे गीत लहराने लगते हैं? वीणा कैसे बजने लगती है? एक आदमी जरा तिरछी आँख से देख देता है और एक तिरस्कार का भाव किसी की आँख से झलक जाता है, तो भीतर सब फूल मुरझा जाते हैं। सब धारा रुक जाती है गीत की। आग जलने लगती है, धुआँ फैलने लगता है। आप हैं, या सिर्फ चारो तरफ से आने वाली सवेदनाओं का आघात आपको चलायमान करता रहता है?

महावीर कहते हैं कि मैं उसे ही कर्म कहता हूँ, जो प्रमाद मे ही किया गया हो। उसी से बन्धन निर्मित होता है, इसलिए कर्म कहता हूँ। जिसको आपने मूर्छा मे किया है, उससे आप बँध जाएँगे। करने मे ही बँध गए हैं, करने के पहले भी बँधे थे, इसीलिए किया है। वह बन्धन है।

अगर हम अपने कर्मों की जांच-पड़ताल करें, तो हम पाएँगे कि वे सभी ही ऐसे हैं। वे सब एक दूसरे पर निर्भर हैं, उसमे हम कही भी मालिक नही हैं। हम केवल ततुओं का एक जोड हैं। जगह-जगह से तन्तु खीचे जाते हैं और हमारे भीतर कुछ होता है। इसे महावीर कहते हैं—प्रमाद, मूर्छा, बेहोशी, अचेतना।

एक आदमी ने गाली दी और आप को क्रोध हो गया; दोनों के बीच में जरा भी अतराल नहीं है, जहाँ आप सजग हुए हो, और जहाँ आपने होशपूर्वक सुना हो कि गाली दी गई है, और जहाँ आपने होशपूर्वक भीतर देखा हो कि कहाँ क्रोध पैदा हो रहा है; और आप दूर खड़े हो गए हो।

गाली दी गई है, गाली सुनी गई है, गाली देने वाले के भीतर क्या हो रहा है, गाली सुनने वाले के भीतर क्या हो रहा है, अगर इन दोनों के पार खड़ा होकर आपने देखा हो क्षण भर, तो उसका नाम होश है।

कहाँ लगी गाली, कहाँ घाव किया उसने, कहाँ छू दिया कोई पुराना छिपा हुआ घाव, कहाँ हरा हो गया कोई दबा हुआ घाव, कहाँ पड़ी चोट, क्यों पड़ी चोट, कहाँ भीतर मवाद बहने लगा—इसको अगर आपने दूर खड़े होकर निष्पक्ष-भाव से देखा हो—जैसे यह गाली किसी और को दी गई हो, अगर यह भी आपने देखा हो, तो आप होश के क्षण में हैं। तो अप्रमाद है। और फिर आपने निर्णय किया हो कि क्या करना। और यह निर्णय शुद्ध रूप से आपका हो। यह निर्णय आपसे करवा न लिया गया हो, यह निर्णय आपका हो।

बुद्ध को कोई गाली दे, महावीर को कोई पत्थर मारे, जीसस को कोई सूली लगाए, तो भी वे साक्षी बने रहते हैं। जीसस मरते वक्त भी प्रार्थना करते हैं कि 'हे प्रभु ! इन सबको माफ कर देना, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।'

यह वही आदमी कह सकता है, जो अपने शरीर से भी दूर खड़ा हो। नहीं तो यह कैसे कह सकते हैं आप ? आपको कोई सूली दे रहा हो, तो आप यह कह सकते हैं कि इनको माफ कर देना ?

जीसस के शिष्य नही सोच रहे थे ऐसा। जीसस के शिष्य सोच रहे थे कि इस वक्त चमत्कार होगा, पृथ्वी फटेगी, आग बरसेगी आकाश से, महाप्रलय हो जाएगी। जीसस का एक इशारा और भगवान से यह कहना कि नष्ट कर दो इन सबको अभी चमत्कार हो जाएगा।

लेकिन जीसस ने जो कह दिया वह असली चमत्कार है। अगर जीसस ने कहा होता नष्ट कर दो इन सबको, आग लगा दो, राख कर दो इस पूरी भूमि को, जिन्होने ऐसा मेरे साथ व्यवहार किया। मैं तो ईश्वर, तेरा इकलौता बेटा हूँ, नष्ट कर दो इन सबको, तो शिष्य समझते कि चमत्कार हुआ।

लेकिन यह चमत्कार न होता। यह तो आप भी करते। यह तो कोई भी कर सकता था। यह चमत्कार होता ही नही, क्योंकि यह तो जिसको सूली लगती वह करता ही। हो या न हो, यह दूसरी बात है। सूली तो बहुत दूर, पाँव में काँटा भी गड़ता है, तो सारी दुनिया में आग लगवा देने की इच्छा होती है।

जब आपके दाँत में दर्द होता है, तो लगता है कि कोई ईश्वर वगैरह नही है, सब नर्क है। यह तो सभी करते। आप थोड़ा सोचें, आप सूली पर लटके होते, क्या भाव उठता आपके भीतर ? न तो पृथ्वी फटती आपके कहने से; क्योंकि ऐसा फटने लगे, तो एक दिन भी बिना फटे नही रहती। एक क्षण नहीं रह सकती। न कोई सूरज आग बरसाता, न कुछ और होता; लेकिन इससे कुछ फर्क नही पड़ता। आपका मन तो यही कहता कि ऐसा हो जाए।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है, जो जिन्दगी में दस-पाँच बार हत्याएँ करने का विचार न करता हो। दस-पाँच बार अपनी हत्या करने का विचार न करता हो। दस-पाँच बार सारी दुनिया को नष्ट कर देने का जिसे ख्याल न आ जाता हो, ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है।

जीसस ने यह जो कहा कि इनको माफ कर देना, क्योंकि ये नहीं जानते

कि ये क्या कर रहे हैं—इसमे कई बातें निहित हैं।

पहली बात; अगर ये जीसस के साथ कर रहे हैं, ऐसा जीसस को अगर लगता हो, तो यह बात पैदा नहीं हो सकती। जिसके साथ ये कर रहे हैं, वह जीसस से इतना ही दूर है, जितना कि ये करने वाले लोग दूर हैं। जीसस की चेतना भीतर अलग खड़ी है। एक तीसरा कोण मौजूद हो गया है।

साधारण आदमी की जिन्दगी मे दो कोण होते हैं—करनेवाला तथा जिस पर किया जा रहा है, वह।

होशवाले आदमी के जिन्दगी मे तीन कोण होते हैं—जो कह रहा है, वह; जिस पर किया जा रहा है, वह; और जो दोनो को देख रहा है, वह।

यह जो 'थर्ड', यह जो तीसरी आँख है, यह जो देखने का तीसरा स्थान है, इसे महावीर कहते हैं 'अप्रमाद'।

बड़ा मुश्किल है—सूली पर चढे हो, हाथ मे खीले ठोंके जा रहे हो, तो होश बचाये रखना बड़ा मुश्किल है। जरा सा, एक आदमी धक्का देता है, तो होश खो जाता है। हमारा होश है ही कितना ?

किसी आदमी का होश मिटाना हो, तो जरा सा कुछ भी करने की जरूरत है। जरा सा कुछ और सारा होश खो जाता है। होश जैसे है ही नही; एक झीनी पर्त है, झूठी पर्त है—ऊपर-ऊपर। जरा सा कंपन और सब टूट जाता है।

किसी भी आदमी को पागल करने में कितनी देर लगती है। आप जरूर दूसरो की बाबत सोच रहे होंगे; जिन-जिन को आपने पागल किया है। अपनी बाबत सोचिए। पत्नी एक शब्द बोल देती है और आप पागल हो जाते हैं। पत्नी को भी तब तक राहत नही मिलती, जब तक आप पागल न हो जाएँ। अगर न हो, तो उसको लगता है कि वश के बाहर हो गए।

एक मित्र मेरे पास आते हैं, उनकी पत्नी कर्कशा है, उपद्रवी है। वे मुझसे बार-बार पूछते हैं कि मैं क्या करूँ ? सब सम्भाल कर घर जाता हूँ, लेकिन उसका एक शब्द और आग में घी का काम हो जाता है; बस, उपद्रव शुरू हो जाता है।

मैंने उनसे कहा कि एक दिन सम्भाल कर मत जाओ। क्योंकि सम्भल कर तुम जो जाते हो, वही तुम्हारे भीतर इकट्ठा हो जाता है। फिर पत्नी जरा सा घी छिडक देती है, तो आग तो तुम सम्हाल कर ही ले जा रहे हो। एक दिन तुम सम्भल कर जाओ ही मत। गीत गुनगुनाते जाओ, नाचते जाओ, सम्भाल

के मत जाओ। कोई फिक्र ही मत करो, जो होगा देखा जाएगा। क्योंकि आज तक तुमने बहुत क्रोध पत्नी पर कर लिया है; कोई परिणाम तो होता नहीं, कोई हल तो होता नहीं। एक नई तरकीब का प्रयोग करो। जब पत्नी क्रोध करे, तो तुम मुस्कराते रहना। कुछ नहीं करना है, ऐसा नहीं; कुछ नहीं करोगे, तो मुश्किल पड़ेगी। तुम मुस्कराते रहना। यह कुछ करना रहेगा, एक बहाना रहेगा। तुम हँसते रहना।

पाँच-सात दिन के बाद, उनकी पत्नी ने आकर कहा कि यह मेरे पति को क्या हो गया है। बिलकुल हाथ से बाहर जाते हुए मालूम पड़ते हैं। उनका दिमाग तो ठीक है? पहले मैं कुछ कहती थी, तो वे क्रोधित होते थे, वह समझ मे आता था। अब मैं कुछ कहती हूँ, तो वह हँसते हैं। इसका मतलब क्या है? उनका दिमाग तो ठीक है?

जब उनका दिमाग बिगड जाता था, तब पत्नी मानती थी कि ठीक है, क्योंकि वह 'नॉरमल' था। अब ठीक हो रहा है, तो पत्नी समझती है कि दिमाग कुछ खराब हो रहा है।

स्वभावतः जब कोई गाली दे, तो हँसना।

...तो अगर जीसस को सूली देनेवाले लोगो को लगा हो कि यह आदमी पागल है, तो आश्चर्य नही है। क्योंकि यह 'एबनॉरमल' था, असाधारण थी यह बात—जो सूली दे रहे हो उनके लिए प्रार्थना करना कि हे प्रभु! इन्हें माफ कर देना।

हम सब जीते हैं प्रमाद मे, इसलिए प्रमाद में होना हमारी साधारण, 'नॉरमल' अवस्था हो गई है। हमारे बीच कोई जरा होश से जिए, तो हमें अडचन मालूम होती है। क्योंकि होश से जीनेवाला, हमारे बन्धन के बाहर होने लगता है। होश से जीनेवाला, हमारे हाथ से बाहर खिसकने लगता है, क्योंकि होश से जीनेवाले का अर्थ है कि हम बटन दबाते हैं, तो उसके भीतर क्रोध नहीं होता, हम बटन दबाते हैं, तो उसके भीतर आनन्द नही होता, वह अपना मालिक होता जा रहा है।

एक और ध्यान रखने की बात है कि आनन्दित आप अकेले हो सकते हैं, लेकिन क्रोधित आप अकेले नही हो सकते। आनन्द के लिए किसी की आपको अपेक्षा नहीं है कि कोई आपका बटन दबाए। इसलिए हमने कहा है कि जब कोई व्यक्ति अपना परम मालिक हो जाता है, तो परम आनन्द को उपलब्ध हो जाता है।

कुछ चीजें हैं, जो दूसरों पर निर्भर हैं, वे प्रमाद में ही हो सकती हैं। कुछ चीजें हैं, जो किसी पर निर्भर नहीं, स्वतन्त्रता है, वे अप्रमाद में ही हो सकती हैं। इसलिए महावीर कहते हैं, प्रमाद को कर्म; कर्म-बन्धन का कारण। जब भी हम बेहोशी मे कुछ कर रहे हैं, हम बँध रहे हैं और यह कर्म-बन्धन हमें लम्बी यात्राओं में उलझा देगा, लम्बे जाल मे डाल देगा।

अप्रमाद को अकर्म, होश को अकर्म कहा है महावीर ने। अगर आप होशपूर्वक क्रोध कर सकते हैं, तो महावीर कहते हैं कि आपको क्रोध का कोई बन्धन नही होगा। लेकिन होशपूर्वक क्रोध होता ही नही। अगर आप होशपूर्वक चोरी कर सकते हैं, तो महावीर कहते हैं कि चोरी अकर्म है। इसमें फिर कोई कर्म-बन्धन नही है। लेकिन होशपूर्वक चोरी होती ही नही। अगर आप होश-पूर्वक हत्या कर सकते हैं, तो महावीर हिम्मतवर हैं, वे कहते हैं इसमे कोई कर्म का बन्धन नही है कि आप होशपूर्वक हत्या करें। लेकिन होशपूर्वक हत्या होती ही नही। हत्या अनिवार्य रूप से बेहोशी मे ही होती है। तो महावीर कहते हैं कि एक ही है नियम, 'होशपूर्वक', एक ही है पुण्य, होशपूर्वक; एक ही है धर्म, होशपूर्वक। फिर सारी छूट है। होशपूर्वक जो भी करना हो, करो।

धर्म को इतना 'इसेन्शिएल', इतना सारभूत कम ही लोगो ने समझा और कहा है। इसलिए महावीर की सारी उपदेशना, उनकी सारी धर्म-देशना, इस एक ही शब्द के आसपास घूमती है—होश, विवेक, जागरुकता, अप्रमाद।

इतना मूल्य दिया है उन्होने, तो सोचने जैसा है। नीति की दूसरी कोई आधारशीला नही रखी। यह करना बुरा है, यह करना अच्छा है, इस पर महावीर का जोर नहीं है। लेकिन तब बडी हैरानी होती है कि महावीर को जिन्होने पच्चीस सौ साल अनुगमन किया है, उनको होश की कोई फिक्र ही नही है। उनको कर्मों की फिक्र है। वे कहते हैं—यह कर्म ठीक, वह कर्म गलत। इस फर्क को समझ लें; जब मैं कहता हूँ—यह कर्म ठीक, यह कर्म गलत, तो होश का कोई सवाल नही है। जब मैं कहता हूँ कि होश ठीक, बेहोशी गलत, तो कर्म का कोई सवाल नही।

जिस कर्म के साथ मैं होश को जोड लेता हूँ, वह ठीक हो जाता है, वह अकर्म हो जाता है, उसका कोई बन्धन नही रह जाता। और जिस कर्म के साथ मैं होश को नही जोड पाता हूँ, वह पाप है, वह बन्धन है, वह अधर्म है, वह कर्म है।

रहस्य यह है कि जो भी गलत है, उसके साथ होश नहीं जोड़ा जा सकता।

गलत होने का मतलब ही इतना है कि वह केवल बेहोशी में ही सम्भव है। गलत होने का एक ही मतलब है कि जो बेहोशी में ही सम्भव है। सही होने का एक ही मतलब है कि जो केवल होश में ही होता है, जो बेहोशी से कभी नहीं होता।

इसका क्या मतलब हुआ ?

इसका मतलब हुआ कि अगर आप बेहोशी से दान करते हैं, तो वह बन्धन है।

एक आदमी रास्ते पर भीख माँगता हुआ खड़ा है। आप अकेले जा रहे हैं, तो आप भीख माँगने वाले की फिक्र नही करते। चार लोग आपके साथ हैं और भीख माँगने वाला हाथ फैला देता है आपके सामने, तो आपको कुछ देना पड़ता है। यह भीख माँगने वाले को आप नहीं देते, यह अपनी इज्जत को देते हैं आप, जो चार लोगो के सामने दाव पर लगी है। इसलिए भिखारी भी जानता है कि अकेले आदमी से उलझना ठीक नही है, वह चार आदमियों के सामने हाथ फैला देता है, पैर पकड़ लेता है। उस वक्त सवाल यह नही है कि भिखारी को देना है। उस वक्त सवाल यह है कि लोग क्या कहेंगे कि दो पैसे न दे सके। आपका हाथ खीसे मे जाता है। यह लोगो के लिए जा रहा है, जो मौजूद हैं। यह दान नही है, यह मूर्छा है। आप भिखारी को दे तो रहे हैं, लेकिन कही कोई दया-भाव नहीं है, यह मूर्छा है।

आप दान करते हैं, इसलिए कि मन्दिर पर मेरे नाम का पत्थर लग जाए, यह मूर्छा है। आप ही नही बचते, तो मन्दिर का पत्थर कितने दिन बचेगा ? और जरा जाकर देखें पुराने मन्दिरों पर जो पत्थर लगे हैं, उन्हें कौन पढ़ रहा है। वह भी आप जैसे ही लोग लगवा गये हैं। आप भी लगा जाएँगे।

अगर दान मूर्छा है, तो कर्म बन्धन है। लेकिन दान मूर्छा से हो ही नहीं सकता। अगर हो रहा है, तो उसका मतलब वह दान नही है; आप धोखे में हैं, वह कुछ और है।

चार लोगों मे प्रशंसा मिलेगी, यह दान नही है। हजारों साल तक नाम रहेगा, यह दान नही है। यह तो सीधा सौदा है। अगर अकेले भी हैं आप, कोई देखने वाला नहीं है और भिखारी हाथ फैलाता है, तब भी जरूरी नही कि वह दान ही हो।

कई बार ऐसा होता है कि इंकार करना ज्यादा मँहगा और दे देना सस्ता होता है। एक-दो पैसे दे देने में ज्यादा सस्ता मालूम पड़ता है मामला; बजाए

यह कहने में कि नहीं देंगे। यह नहीं देना ज्यादा मँहगा मालूम पड़ता है, इसलिए आप दो पैसे दे देते हैं।

भिखारियों को लोग अक्सर दान नहीं देते, सिर्फ टालने की रिश्वत देते हैं कि जाओ, आगे बढो। वह रिश्वत है, और भिखारी भी अच्छी तरह जानते हैं कि ज्यादा शोरगुल मचाओ, डटे रहो।

आप देखिए! भिखारी डटा ही रहता है, वह भी जानता है कि एक सीमा है, वहाँ तक रुको। एक सीमा है, जहाँ यह आदमी रिश्वत देगा कि अब जाओ। भिखारी भी जानता है कि दान कोई नही देता है। इसलिए भिखारी के लिए आप यह मत सोचना कि अनुग्रहीत होते हैं। भिखारी भी जानता है कि अच्छा बुद्धू बनाया। जब वे आपसे लेकर चले जाते हैं, तो आप यह मत सोचना कि वह समझता होगा कि बडा दानी आदमी मिल गया था।

आप रिश्वत देते हैं। भिखारी भी जानता है कि रिश्वत है। इसलिए जानता है कि आपकी सहनशीलता की सीमा को तोडना जरूरी है। तब आपका हाथ खीसे में जाता है। कितनी सहणीलता है इस पर निर्भर करता है।

अकेले मे भी अगर आप देते हैं तो टालने के लिए, हटाने के लिए। तो फिर दान नही, मूर्छा है। दान मूर्छा से हो ही नही सकता। मूर्छा मे दान नही हो सकता।

चोरी बिना मूर्छा के नही हो सकती। अगर आप होशपूर्वक चोरी करने जाएँ, तो जा ही न सकेंगे। अगर आप होशपूर्वक किसी की चीज उठाना चाहे, तो उठा ही न सकेंगे। और अगर उठा लें तो जरा भीतर गौर करके देखना, जिस क्षण उठाएँगे, उस क्षण होश खो जायेगा—मोह पकड लेगा, लोभ पकड लेगा, तृष्णा पकड़ लेगी—होश खो जायेगा।

एक बारीक सन्तुलन है भीतर होश और बेहोशी का। जो आदमी होश-पूर्वक जी रहा है, उससे पाप नही होता। इसका मतलब यह नहीं कि महावीर चलेंगे, तो कोई चींटी कभी मरेगी ही नही। महावीर चलेंगे, तो चीटी मर सकती है, मरेगी ही। फिर भी महावीर कहते हैं कि उसमें पाप नहीं है। क्योंकि महावीर अपने तई पूरे होशपूर्वक चल रहे हैं। महावीर की होश में कोई कमी नही है। अगर चीटी मरती है, तो यह केवल प्रकृति की व्यवस्था है; महावीर का कोई हाथ नही है उसमे।

आप भी चल रहे हैं उसी रास्ते पर, और चीटी मरती है तो आपको पाप

लगेगा। यह जरा अजीब सा गणित मालूम पड़ता है। महावीर चलते हैं, तो पाप नहीं लगता। आप चलते हैं, तो पाप लगता है। चींटी वही मरती है; क्या फर्क है?

आप बेहोशी से चल रहे हैं. इसलिए प्रकृति-प्रदत्त मरना नहीं है चीटी का; उसमें आपका हाथ है। आप अपनी तरफ से होश से चले होते, आपने मारने के लिए, न जाने, न अनजाने कोई चेष्टा की होती; आपने सब भाँति अपने होश को सँभाल कर कदम उठाया होता, और फिर चींटी मर जाती, तो वह चींटी जाने, प्रकृति जाने, आप जिम्मेवार नहीं थे। आप जो कर सकते थे, वह किया आपने।

लेकिन आप बेहोशी से चलते हैं। आपको पता ही नही कि आप चल रहे है। आपको पता ही नही कि पैर आपका कहाँ पड रहा है, क्यों पड रहा है? आपका सिर कही आसमान में घूम रहा है और पैर जमीन पर चल रहे हैं। आप मौजूद यहाँ हैं शरीर से और मन कही और है आपका।

यह जो बेहोश चलना है, इसमे जो चीटी मर रही है, उसमे आप जिम्मेदार हैं। वह जिम्मेदारी बेहोशी की जिम्मेदारी है, चीटी के मरने की नही। चीटी तो आपके होश में भी मर सकती है, लेकिन तब जिम्मेदारी आपकी नहीं।

महावीर चालीस साल जिए और यह बडी गहन चिन्तना का विषय रहा है, दार्शनिकों और तत्वज्ञो के लिए, कि महावीर को जब ज्ञान हुआ, उसके बाद चालीस साल वे जिन्दा रहे, तो कर्म तो कुछ किया ही होगा इन चालीस सालों में। तो उन्होंने जो कर्म किए, उसका बन्धन महावीर पर हुआ या नही? कितना ही कम किया हो, कुछ तो किया ही होगा—उठे होगे, बैठे होंगे— नही उठे, नही बैठे, सांस तो ली होगी। साँस लेने में भी तो जीवाणु मर रहे हैं; लाखों मर रहे हैं। एक साँस में तो एक लाख जीवाणु मर जाते हैं। बहुत छोटे हैं, सूक्ष्म हैं।

जब महावीर ने पहली दफा इनकी बात कही थी, तो लोगों को भरोसा ही नहीं आया—'कहाँ के जीवाणु।' लेकिन अब तो विज्ञान भी कहता है कि वे तो हैं; और महावीर ने जितनी संख्या बताई थी, उससे ज्यादा संख्या मे हैं।

आपके ख्याल में नहीं है कि आप एक ही चुम्बन लेते हैं, तो एक लाख जीवाणु मर जाते हैं। दो ओठों के संस्पर्श के दबाव में एक लाख जीवाणु मर जाते हैं, यह वैज्ञानिक कहते हैं। महावीर ने, तो बहुत पहले इशारा किया था कि श्वास लेते हैं, तो भी जीवाणु मर जाते हैं।

आप जान कर हैरान होंगे कि महावीर ने प्राणायाम जैसी क्रियाओं को जरा भी जगह नही दी, यह हैरानी की बात है। क्योंकि योग प्राणायाम पर इतना जोर देता है; पर उसके कारण बिलकुल दूसरे हैं। लेकिन महावीर ने बिलकुल जोर नही दिया। क्योंकि इतने जोर से श्वाँस का लेना और छोड़ना; महावीर को लगा कि अकारण हिंसा को बढ़ा देना हो जाएगा।

इसलिए महावीर उतनी ही श्वाँस लेते हैं, जितने के बिना नही चल सकता। श्वाँस लेने में भी महावीर होश मे हैं, जिसके बिना नही चल सकता है। अनिवार्य है जो होने के लिए, बस उतनी ही श्वाँस, वह भी होश मे। इसलिए दौड़ते नही कि श्वाँस तेज न हो जाए। चिल्लाते नही कि श्वाँस तेज हो जाए। उतना ही बोलते हैं, जितना अपरिहार्य है। चुप रह जाते हैं। क्योंकि जब कुछ भी कर रहे हैं, उसमे अगर बेहोशी है, तो हिंसा हो रही है।

पर फिर भी महावीर बाले। फिर भी महावीर चले। नहीं कुछ किया, तो श्वाँस तो ली। रात जमीन पर लेटे, तो शरीर का वजन तो जमीन पर पड़ा होगा। जब एक चुम्बन मे एक लाख कीटाणु मर जाते हैं, तो जब आदमी जमीन पर लेटेगा; कितना ही साफ सुथरा करके लेटे, करोड़ो कीटाणु तो मर ही जाएँगे, करोड़ों जीवाणु मर ही जाएँगे।

महावीर रात करवट नही लेते हैं, फिर भी एक करवट तो लेनी ही पड़ेगी सोते वक्त। एक बार तो पृथ्वी छूनी ही पड़ेगी।

महावीर रात मे करवट नही बदलते कि बार-बार करवट बदलने से बहुत-सी हिंसा अकारण हो जाती है। एक करवट से काम चल जाता है, तो बस एक करवट काफी है। एक ही करवट सोये रहते है, फिर भी एक करवट तो सोते ही हैं।

आप ज्यादा हिंसा करते होंगे, वह कम करते हैं, लेकिन नही करते हैं, ऐसा तो दिखाई नही पड़ता। तो सवाल है कि महावीर ने चालीस साल में इतनी हिंसा की उसका कर्म-बन्धन अगर हुआ हो, तो वह फिर मोक्ष कैसे जा सकते हैं? उनका पुनर्जन्म होगा। उतना बन्धन, उतना सस्कार फिर जीवन में ले आएगा। लेकिन नही, कोई कर्म-बन्धन नही होता।

महावीर की कर्म की परिभाषा समझ लें।

जब हम मूर्छापूर्वक करते हैं, तभी कर्म-बन्धन होता है। जब हम होश-पूर्वक करते हैं, तब कोई भी कर्म-बन्धन नहीं होता। तो महावीर यह नहीं कहते कि आप 'क्या' करते हैं। महावीर यह कहते हैं कि आप 'कैसे' करते हैं। 'क्या' महत्वपूर्ण नही है, भीतर का होश महत्वपूर्ण है।

'प्रमाद को कर्म, अप्रमाद को अकर्म कहा है अर्थात् जो प्रवृत्तियां प्रमादयुक्त हैं, वे कर्मबन्धन करनेवाली हैं और जो प्रवृत्तियां प्रमाद-रहित हैं, वे कर्मबन्धन नहीं करती।'

इसलिए उन प्रवृत्तियों की खोज कर लेना, जो मूर्छा के बिना नहीं हो सकती; उनको छोड़ना। उन प्रवृत्तियों की भी खोज कर लेना, जो बेहोशी में हो ही नही सकती, सिर्फ होश में होती हैं; उनकी खोज करना, उनका अभ्यास करना। लेकिन यह अभ्यास बहिर्मुखी न हो, भीतरी हो और होश से प्रारम्भ होता हो।

होश को बढ़ाना, ताकि वे प्रवृत्तियां बढ़ जाएं जीवन में, जो होश में ही होती हैं। जैसे मैंने कहा 'प्रेम।' अगर आप बेहोश हैं, तो फिर पहले तरह का प्रेम होगा। थोड़े से होश में हैं और थोड़े से बेहोश हैं, तो दूसरे तरह का प्रेम होगा। अगर बिलकुल होश में हैं, तो तीसरे तरह का प्रेम होगा। तीसरे तरह का प्रेम करुणा बन जाएगा। अगर बेहोश हैं, तो करुणा काम-वासना बन जाती है। अगर दोनों के मध्य में हैं, तो काम और करुणा के बीच में, वह जो कवियों का प्रेम है, वह होता है।

प्रमाद के होने और न होने से—ज्ञान के होने या न होने से नही—प्रमाद के होने या न होने से, महावीर कहते हैं, मैं किसी को मूढ़ और किसी को ज्ञानी कहता हूं। वह कितना जानता है, इससे नही—कितना होशपूर्वक जीता है, इससे। उसकी जानकारी कितनी है, इससे उसे मैं ज्ञानी नहीं कहता हूं, और उसकी जानकारी बिलकुल नही है, इससे अज्ञानी भी नही कहता हूं। जानकारी का ढेर लगा हो और आदमी बेहोश जी रहा हो, ऐसा भी हो सकता है।

मैंने सुना है एडिसन की बाबत। शायद इस सदी के बड़े से बड़े आविष्कार एडिसन ने किये हैं, किसी दूसरे आदमी ने नहीं किये। आपकी जिन्दगी अधिकतर एडिसन से घिरी हुई है, चाहे आप कितना ही कहते हों कि हम भारतीय हैं और महावीर और बुद्ध से घिरे हैं। भूल में मत रहना; महावीर और बुद्ध से आपके फासले अनन्त हैं, घिरे आप किसी और से हैं। एडिसन से आप ज्यादा घिरे हैं, बजाए महावीर या बुद्ध के।

बिजली का बटन दबाएं, तो एडिसन का आविष्कार है। रेडियो खोलें, तो एडिसन का आविष्कार है। फोन उठाओ, तो एडिसन का आविष्कार है। हिलो-डुलो, सब तरह एडिसन। एक हजार आविष्कार हैं, जो हमारी जिन्दगी के हिस्से बन गये हैं। इस आदमी के पास जानकारी का अन्त नहीं था। बड़ा

अद्भुत जानकार आदमी था एडीसन।

एक दिन एडिसन का एक मित्र मिलने आया। एडिसन सुबह-सुबह अपना नास्ता किया करता था। नाश्ता रखा हुआ है और एडिसन किसी सवाल को हल करने में लगता हुआ है। नौकर को आज्ञा नहीं है कि वह कुछ कहे। वह चुपचाप नाश्ता रख गया है। मित्र ने देखा एडिसन उलझा है अपने काम में और नाश्ता तैयार रखा है। उसने नाश्ता कर लिया और प्लेट साफ करके, ढांक कर रख दी। थोड़ी देर बाद, जब एडिसन ने अपनी आँख उठाई कागज के ऊपर से, तो देखा कि उसका मित्र आया है। तो एडिसन ने कहा कि बड़ा अच्छा हुआ, तुम आए। एडिसन की नज़र गई खाली प्लेट पर। खाली प्लेट देखकर एडिसन ने कहा, 'पर जरा देर से आये। पहले आते तो तुम भी नाश्ता कर लेते। मैं तो नाश्ता कर चुका।'

जानकारी अद्भुत है इस आदमी की, लेकिन होश? होश बिलकुल नहीं है।

होश और बात है, जानकारी और बात है। आप कितना जानते हैं, यह अंततः निर्णायक नहीं है धर्म की दृष्टि से। आप कितने हैं चेतन, कितने जगे हुए हैं, इस पर निर्भर करेगा।

कबीर की जानकारी कुछ भी नहीं है, लेकिन होश अनूठा है। मुहम्मद की जानकारी बहुत ज्यादा नहीं है, लेकिन होश अनूठा है। जीसस की जानकारी क्या है? कुछ भी नहीं, एक बढ़ई के लड़के की जानकारी हो भी क्या सकती है, लेकिन होश अनूठा है।

एडिसन नाश्ते में भी बेहोश हो जाता है और जीसस सूली पर भी होश में हैं। इसलिए महावीर कहते हैं कि प्रमाद को मैं कहता हूं मूर्खता, अप्रमाद को मैं कहता हूं पांडित्य प्रज्ञा।

'जिसे मोह नहीं, उसे दुख नहीं हो सकता।'

जो प्रज्ञावान है, उसको यह सूत्र ख्याल में आ जाएगा जीवन की व्यवस्था का। जीवन की जो आन्तरिक व्यवस्था है, वह यह है कि जिसे मोह नहीं, उसे दुख नहीं। अगर आपको दुख है, तो आप जानना कि मोह है। दुख हम सभी को है कम-ज्यादा। और हर आदमी सोचता है कि उससे ज्यादा दुखी आदमी संसार में दूसरा नहीं है। हर आदमी यह सोचता है कि सारे दुख का हिमालय वही ढो रहा है।

अगर आपको ऐसा लगता हो कि आप दुख के हिमालय ढो रहे हैं, तो आप समझ लेना कि मोह के प्रशान्त महासागर भी आपके भीतर होंगे। मोह के बिना

दुख होता ही नहीं। जब भी दुख होता है, मोह से होता है।

मोह का अर्थ है, ममत्व। मोह का अर्थ है, मेरे का भाव। एक मकान में आग लग गई, मेरा है, तो दुख होता है। मेरा नहीं है, तो दुख नहीं होता। मेरा नहीं है, तो सहानुभूति दिखा सकते हैं आप, लेकिन उसमें भी एक रस होता है। मेरा है, तब दुख होता है। मकान वही है, अगर 'इन्स्योर्ड' है, तो उतना दुख नहीं होता। बीमा कम्पनी का जाता होगा, सरकार का जाता होगा, अपना क्या जाता है? अपना है, तो दुख होता है।

आपका बेटा मर गया है और आप छाती पीट रहे हैं। और तभी एक चिट्ठी आपके हाथ लग जाए, जिससे पता चल जाए कि यह बेटा आपसे पैदा नहीं हुआ था। पत्नी का किसी और से सम्बन्ध था, उससे पैदा हुआ था, तो आँसू तिरोहित हो जाएँगे। दुख विलीन हो जाएगा। छुरी निकाल कर पत्नी की तलाश में लग जाएँगे कि पत्नी कहाँ है।

क्या हो गया?

वही बेटा मरा हुआ पड़ा है सामने। मरने मे कोई कमी नहीं होती है आपकी इस जानकारी से, इस पत्र से। मौत हो गई, लेकिन मौत का दुख नहीं है, मेरे का दुख है। जो हमारा नही है, उसे हम मारना भी चाहते हैं। जो हमारे विपरीत है, उसको हम नष्ट भी करना चाहते हैं। जो अपना है, उसे हम बचाना चाहते हैं।

महावीर कहते हैं, 'जिसे मोह नहीं, उसे दुख नहीं।' अगर दुख है, तो जानना कि उसे मोह है।

'जिसे तृष्णा नहीं, उसे मोह नहीं।' अगर मोह है भीतर, तो तृष्णा होती है। 'मेरा' हम कहते ही क्यों हैं? क्योंकि बिना 'मेरे' के 'मैं' को खड़े होने की कोई जगह नहीं होती। जितना मेरे 'मेरे' का विस्तार होता है, उतना बड़ा मेरा 'मैं' होता है। इसलिए 'मैं' की एक ही तृष्णा है, एक ही वासना है, कि बड़ा हो जाऊँ।

जिसके पास बड़ा राज्य है उसके पास बड़ा 'मैं' है। एक राजा का राज्य छीन लो, राज्य ही नहीं छिनता उसका, उसका 'मैं' भी छिन जाता है, सिकुड़ जाता है। एक धनी का धन छीन लो, तो उसका धन ही नहीं छिनता उसका, वह भी ही सिकुड़ जाता है।

जो भी आपके पास है, वह आपका फैलाव है। 'मैं' की एक ही तृष्णा है कि 'मैं' ही बचूं। यह सारा ब्रह्मांड मेरे अहंकार की भूमि बन जाए। यह जो

वासना है कि मैं फैलूं, 'मैं' बचूं, मैं सुरक्षित रहूँ, सदा रहूँ, अमरत्व को उपलब्ध हो जाऊँ; मेरी कोई सीमा न हो, अनन्त हो जाए मेरा साम्राज्य, तो यह है —तृष्णा, यह है 'डिजायर।'

महावीर कहते हैं, 'जिसे तृष्णा नही, उसे मोह नही।' जिसको अपने 'मैं' को बढ़ाना ही नही है, वह 'मेरे' से क्यो जुड़ेगा ?

छोटे झोपड़े में जब आप रहते हैं, तो आपका 'मैं' भी उतना ही छोटा रहता है—झोपड़ वालों का 'मैं'। बड़े महल में रहते हैं, तो बडे महल वाले का 'मैं'। मैं आपका खोज करता है कि वह कितनी बड़ी जगह घेर ले।

इसलिए आप देखते हैं कि अगर एक नेता चल रहा हो भीड मे, तो बिल्कुल भीड़ के साथ नही चलता, थोड़ी 'स्पेस' चाहिए उसे। वह थोडा आगे चलेगा। भीड़ थोडी पीछे चलेगी। जगह चाहिए उसे। अगर भीड़ बिलकुल पास आ जाए, तो नेता को तकलीफ शुरू हो जाती है। तकलीफ इसलिए शुरू हो जाती है कि उसका जो विस्तार था 'मैं' का, वह छीना जा रहा है।

और कोई आदमियों के नेता ही हैं ऐसी बात नही, अगर बन्दरो का झुड भी चल रहा हो, तो जो नेता है उसमें, जो बॉस, मालिक है, उसके आसपास एक आदरपूर्ण स्थान होता है, जिसमे कोई प्रवेश नही कर सकता। बाकी बन्दरो की जो भीड़ है, वह थोड़ी दूर पर बैठेगी।

अगर आप किसी नेता से मिलने गये हैं, तो बिलकुल पास नही बैठ सकते। अपने-अपने स्थान पर बैठना पडता है। एक जगह है, उसको वैज्ञानिक कहते हैं, टेरिटोरियल। एक अहकार है, जो प्रदेश घेरता है। फिर कितना बड़ा प्रदेश घेरता है ? जितना बडा घेरता है, उतना 'मैं' को मजा आता है, उतना लगता है कि मैं मजबूत हूँ; अब मैं शक्तिशाली हूँ। इसलिए किसी सम्राट के कधे पर जाकर हाथ मत रख देना।

कहा जाता है कि हिटलर की जिन्दगी मे कोई उसके कन्धे पर हाथ नहीं रख सका। उसने फासला ही कभी नहीं मिटने दिया। गोबॅल्स हो कि उसके निकट के और कोई मित्र हो, वे भी एक फासले पर खड़े रहेंगे—दूर, कधे पर कोई हाथ नही रख सकता।

हिटलर का कोई मित्र नही था। मित्र बनाए नहीं जा सकते; क्योंकि मित्र का मतलब है कि वह जो जगह है अहंकार की, उसको आप दबायेंगे, छीनेंगे। राजनीतिज्ञ के आप अनुयायी हो सकते हैं, शत्रु हो सकते हैं, पर मित्र

नहीं हो सकते ।

यह जो महावीर कहते हैं, 'जिसे मोह है, उसे तृष्णा है । अगर दुख है तो जानना कि मोह का सागर भरा है नीचे । अगर मोह है, तो जानना कि तृष्णा की दौड़ है पीछे ।'

'जिसे लोभ नहीं, उसे तृष्णा नही ।'

और इसलिए लोभ गहरे से गहरा है । तृष्णा भी लोभ का विस्तार है, 'ग्रीड' का । मैं ज्यादा हो जाऊँ । ज्यादा होने की जो दौड़ है, वह तृष्णा है । ज्यादा होने की जो वृत्ति है, वह लोभ है ।

तृष्णा परिधि है, लोभ केन्द्र है । परिधि सफल हो जाए, तो मोह निर्मित होता है । परिधि असफल निर्मित हो जाए, असफल हो जाए, तो क्रोध निर्मित होता है । जितनी तृष्णा सफल होती जाए, उतना मोह बनता जाता है । और जितनी सफलता, उतना दुख । असफल हो, तो दुख ।

'जिसे लोभ नही, उसे तृष्णा नही । और जो ममत्व से अपने पास कुछ भी नही रखता, उसका लोभ नष्ट हो जाता है ।'

क्या है उपाय फिर ?

एक ही उपाय है—'मेरे' को क्षीण करते जाना । पत्नी होगी, पर मेरे के भाव को क्षीण कर लेना । बेटा होगा, पर मेरे का भाव क्षीण कर लें । मकान को रहने दें, मकान के गिराने से कुछ न गिरेगा, मेरे को हटा लें । मकान से वह जो 'मेरे' को चिपका दिया है, वह जो आपके प्राण भी मकान के ईंट गारे में समा गये हैं, उनको वापस हटा लें ।

मेरे को हटाते जाएँ । ममत्व को तोड़ते चलें जाएँ । और एक दिन ऐसी स्थिति आ जाए कि मकान तो दूर यह जो और भी पास का मकान है—देह, शरीर—इससे भी पीछे हटा लें । यह हड्डियाँ भी मेरी नही । और हैं भी नही । यह माँस भी मेरी नहीं । यह खून भी मेरा नही । यह चमड़ी भी मेरी नहीं । है भी नहीं । मैं नही था, तब ये हड्डियाँ किसी और की हड्डियाँ थीं । और मैं नहीं रहूँगा, तब यह मांस किसी और का मांस हो जाएगा । यह खून किसी और की नसों में बहेगा । और यह चमड़ी किसी और के मकान का घेरा बनेगी । यह मेरा है नहीं । यह मेरे पहले भी था और मेरे बाद भी होगा । इससे भी अपने को हटा लें ।

फिर और भीतर 'मैं' का एक मकान है 'मन' का । कहते हैं, मेरे विचार ।

तो जरा गौर से देखें, कौन सा विचार आपका है ? सब विचार पराये हैं। सब संग्रह है। सब स्मृति है। वहां से भी अपने को तोड़ लें। बढ़ते चले जाएँ ममत्व से उस घड़ी तक, उस समय तक, जब तक 'मेरा' कहने योग्य कुछ भी बचे। जब कुछ भी न बचे 'मेरे' कहने योग्य, तब जो शेष रह जाता है उसका नाम आत्मा है।

लेकिन हम तो ऐसे हैं कि हम कहते हैं कि मेरी आत्मा। मेरी आत्मा जैसी कोई चीज नही होती। जहाँ तक मेरा होता है, वहाँ तक आत्मा का कोई अनुभव नही होता।

इसलिए बुद्ध ने कह दिया कि आत्मा शब्द ही छोड़ दो, क्योंकि इससे मेरे का भाव पैदा होता है। यह शब्द ही मत उपयोग करो, क्योंकि इससे लगता है कि 'मेरा'। आत्मा का मतलब ही होता है, 'मेरा'। यह छोड ही दो। तो बुद्ध ने कहा कि यह शब्द ही छोड़ दो, ताकि यह 'मेरा' पूरी तरह टूट जाए। कहीं 'मेरा' न बचे, तब भी आप बचते हैं।

जब सब मेरा छूट जाता है, तब जो बचता है, वही है आपका अस्तित्व, वही है आपकी चेतना; वही है आपकी आत्मा। वह जो शून्य निराकार होना बच रहता है, वही है आपकी मुक्ति; वही है आनन्द।

आज इतना ही।

तेरहवाँ प्रवचन

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१६ सितम्बर, १९७२

प्रमाद-स्थान सूत्र : २

●

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति,
दुमं जहा साउफल व पक्खी ॥
न कामभोगा समयं उवेन्ति,
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥

दूध, दही, घी, मक्खन, मलाई, शक्कर, गुड़, खाँड, तेल, मधु, मद्य, मांस आदि रस वाले पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे मादकता पैदा करते हैं और मत्त पुरुष अथवा स्त्री के पास वासनाएँ वैसी ही दौड़ी आती हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की ओर पक्षी ।

काम-भोग अपने आप न किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में राग-द्वेष रूप विकृति पैदा करते हैं; परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना संकल्प बना कर मोह से विकारग्रस्त हो जाता है ।

●

पहले एक दो प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है, 'यदि महावीर की साधना की विधि में अप्रमाद प्राथमिक है, तो क्या अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, अकाम उसके ही परिणाम हैं या वे साधना के अलग आयाम हैं ?'

जीवन अति जटिल है, और जीवन की बडी से बडी और गहरी से गहरी जटिलता यह है कि जो भीतर है, आन्तरिक है, वह बाहर से जुडा है; और जो बाहर है, वह भी भीतर से सयुक्त है । यह जो सत्य की यात्रा है, वह कहाँ से शुरू हो, यह गुह्यतम् प्रश्न रहा है मनुष्य जाति के इतिहास में ।

हम भीतर से यात्रा शुरू करे या बाहर से, हम आचरण बदलें या अन्तस्; हम अपना व्यवहार बदलें या अपना चैतन्य ? स्वभावत· इसके दो विपरीत उत्तर दिये गये हैं । एक और वे लोग हैं, जो कहते हैं कि आचरण को बदले बिना अन्तस् को बदलना असम्भव है । उनके कहने में भी गहरा विचार है । वे कहते हैं, 'अन्तस् तक हम पहुँच ही नहीं पाते, बिना आचरण को बदले; वह जो भीतर छिपा है, उसका तो हमें कोई पता ही नहीं । जो हमसे बाहर है, उसका ही हमें पता है । तो जिसका हमें पता ही नही है, उसे हम बदलेंगे कैसे ? जिसका हमें पता है, उसे ही हम बदल सकते हैं । हमें अपने केन्द्र का तो कोई अनुभव ही नही है, परिधि का ही बोध है । हम तो वही जानते हैं, जो हम करते हैं ।'

मनस्विदो का एक वर्ग है, जो कहता है, 'मनुष्य उसके कर्म के अतिरिक्त और कुछ भी नही है ।' कहलर ने कहा है—'यू आर वोट यू डू ।' (जो करते हो, वही हो तुम ।) उससे ज्यादा नही । उससे ज्यादा की बात करनी ही नही चाहिए । हमारा किया हुआ ही हमारा होना है । इसलिए हम जो करते हैं, उससे हम निर्मित होते हैं ।

सार्त्र ने भी कहा है कि प्रत्येक कृत्य तुम्हारा जन्म है । क्योंकि प्रत्येक कृत्य से तुम निर्मित होते हो। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिपल अपने को जन्म दे रहा है। आत्मा

कोई बँधी हुई, बनी हुई चीज नही है; बल्कि वह एक लम्बी शृखला है निर्माण की। तो जो हम करते हैं, उससे ही वह निर्मित होती है।

आज मैं झूठ बोलता हूँ, तो मैं ही एक झूठी आत्मा निर्मित करता हूँ। आज मैं चोरी करता हूँ, तो मैं एक चोर आत्मा निर्मित करता हूँ। आज मैं हिंसा करता हूँ, तो मैं एक हिंसक आत्मा निर्मित करता हूँ। और यह आत्मा, कल के मेरे व्यवहार को प्रभावित करेगी। क्योकि कल का व्यवहार इससे निकलेगा।

इसका मतलब यह हुआ कि हम कर्म से निर्मित करते है स्वय को। और फिर उस स्वय से पुन कर्म को निर्मित करते हैं। इस भाँति अगर देखा जाए, जो कि देखने का एक ढग है, तो फिर आचरण से शुरू करनी पडेगी यात्रा। तो फिर हिंसा की जगह अहिंसा चाहिए, क्रोध की जगह अक्रोध चाहिये, लोभ की जगह अलोभ चाहिये। फिर हमे अपने व्यवहार मे जो-जो विकृत है दुखद है, स्वय से दूर ले जाने वाला है, उस सब को काट कर, उसकी स्थापना करनी चाहिए, जो निकट है, आत्मीय है। भीतर, स्वय के पास ले जाने वाला है। नीति की समस्त दृष्टि यही है।

लेकिन जो विपरीत है इस विचार के, उनका कहना है कि वह जो हमारा आचरण है, वह हमारी आत्मा का निर्माण करने वाला नही है; बल्कि हमारा जो आचरण है, वह केवल हमारी आत्मा की अभिव्यक्ति है।

इसे थोडा समझ लें।

हम जो करते है, उससे हम निर्मित नही होते; बल्कि हम जो हैं, उससे ही हमारा कर्म निकलता है। मैं चोरी करता हूँ, इससे चोर आत्मा निर्मित नही होती; बल्कि मेरे पास चोर आत्मा है, इसलिए मैं चोरी करता हूँ। अगर मेरे पास चोर आत्मा नही है, तो मैं चोरी कर ही नही सकूँगा। कर्म आएगा कहाँ से? कर्म मुझ से आता है। मेरे भीतर जो छिपा है, वही बाहर आता है। एक वृक्ष मे कड़वे फल लगते हैं, ये कडवे फल वृक्ष की कड़वी आत्मा का निर्माण नही करते, बल्कि वृक्ष के पास कड़वा बीज है, इसलिए कडवे फल लगते हैं।

'व्यवहार' हमारा फल है। हम जो भीतर हैं, वह बाहर निकल आता है। लेकिन जो बाहर निकलता है, उससे हमारा भीतर निर्मित नहीं होता। भीतर तो हम पहले से ही मौजूद है। जो बाहर होता है वह हमारे भीतर का प्रतिफलन है।

इसलिए जो दूसरा अन्तस्वादी वर्ग है, उसका कहना है—जब तक भीतरी चेतना न बदल जाए, तब तक बाहर का कर्म बदल नहीं सकता। हम सिर्फ धोखा दे सकते हैं। हम इतना बड़ा धोखा भी दे सकते हैं कि हिंसा की जगह अहिंसा का व्यवहार करने लगें। लेकिन अन्तर नहीं पड़ेगा। हमारी अहिंसा में भी हमारी हिंसा की वृत्ति मौजूद रहेगी और यह भी कर सकते हैं कि क्रोध की जगह हम क्षमा और शान्ति को ग्रहण कर लें। लेकिन हमारी शान्ति और क्षमा की पर्त के नीचे क्रोध की आग जलती रहेगी।

इसलिए बहुत बार ऐसा दिखाई पड़ता है कि जिस आदमी के लिए हम कहते हैं कि वह कभी क्रोध नही करता, वह सिर्फ क्रोध का उबलता हुआ एक ज्वालामुखी होता है। करता कभी नही, लेकिन भरा सदा रहता है। साधुओं में, सन्यासियो मे निरन्तर ऐसे लोग मिल जाएँगे, जो बाहर से, सब तरफ से, अपने को रोके खड़े हैं। लेकिन भीतर उनके बाँध तैयार है, जो किसी भी समय दीवार को तोड़ कर बहने को उत्सुक है। और जो बहता है नए-नए मार्गों से।

हम सबने सुन रखा है दुर्वासा और इस तरह के अन्य ऋषियों के बाबत, जो क्षुद्र सी बात पर पागल हो सकते हैं; क्रोध की आग बन जाते हैं। क्या हुआ होगा दुर्वासा के जीवन मे ? हुआ क्या होगा ?

अन्तस् नही बदला है, आचरण बदल डाला है। अन्तस् से लपटें निकल रही हैं, और आचरण को शीतल कर लिया है। ये लपटें उबल रही हैं भीतर। वह कोई भी बहाना पाकर बाहर निकल आती हैं। कोई भी मार्ग उनके लिए यात्रा-पथ बन जाता है। जो आदमी इस दूसरी विचार-दृष्टि से आचरण को बदलेगा, वह दमन में पड़ जायेगा।

यह दो विचार-दृष्टियाँ हैं। लेकिन महावीर की विचार-दृष्टि दोनों में से कोई भी नहीं है। महावीर या बुद्ध या कृष्ण जैसे लोग मनुष्य को उसकी समग्रता मे देखते हैं—'इन्टिग्रेटेड।' हम आदमी को तोड़ कर देखते हैं। तोड़ कर देखना हमारी विधि है। इसलिए हम अक्सर पूछते हैं, 'अंडा पहले या मुर्गी ?' प्रश्न बिलकुल सार्थक मालूम पड़ता है। और लोग जवाब देने की कोशिश भी करते हैं। कुछ लोग हैं, जो कहते हैं, 'मुर्गी पहले; क्योंकि बिना मुर्गी के अंडा हो कैसे सकेगा ?' और कुछ लोग हैं, जो उतनी ही तर्क-शीलता से कहते हैं कि अंडा पहले; क्योंकि अंडे के पहले मुर्गी हो कैसे सकेगी ? और ऐसा नहीं कि गैर-बुद्धिमान इस तरह के तर्क में पड़ते हैं, बड़े-बड़े विचारशील

लोग, बड़े-बड़े दार्शनिकों ने भी इस पर चिन्तन किया है कि मुर्गी पहले, कि अंडा पहले।

एक भारतीय विचारक राहुल सांकृत्यायन ने बड़ी मेहनत की है इस विचार पर कि मुर्गी पहले या अंडा पहले। हमको भी लगता है कि प्रश्न तो सार्थक है, पूछा जा सकता है। लेकिन प्रश्न व्यर्थ है, पूछा ही नहीं जा सकता। यह प्रश्न भाषा की भूल से, 'लिंग्विस्टिक फैलिसी' से पैदा होता है।

असल मे जब हम मुर्गी कहते हैं, तो अडा आ गया। जब हम अंडा कहते हैं, तो मुर्गी आ गई। हम बाहर से मुर्गी अडे को दो कर लेते हैं। लेकिन मुर्गी और अंडा दो नहीं हैं, एक श्रृंखला के हिस्से हैं। हम तोड़ लेते हैं, कि यह रही मुर्गी और यह रहा अडा। जब हम कहते हैं कि यह रही मुर्गी, तो मुर्गी में अडा छिपा है। जब हम कहते है कि यह रही मुर्गी, तो यह मुर्गी अंडे से पैदा हुई है। यह अडे का ही फैलाव है, यह अडे का ही आगे का कदम है। यह अडा ही तो मुर्गी बना है।

जब हम आपसे कहते हैं बूढ़ा, तो आपका बचपन उसमे छिपा है, आपकी जवानी उसमें छिपी हुई है। बूढ़ा आदमी जवानी लिये हुए है, बचपन लिये हुए है। जब हम कहते हैं बच्चा, तो बच्चा भी बुढापा लिये हुए है, जवानी लिये हुए है। जो कल होगा, वह अभी छिपा हुआ है। जो कल हो गया है, वह भी छिपा है। लेकिन हम भाषा में तोड लेते हैं, तब मुर्गी अलग मालूम पड़ती है और अडा अलग मालूम पड़ता है।

यह ठीक भी है, जरूरी भी है। अगर दुकानदार से जाकर मैं कहूँ कि मुझे अडा चाहिए और वह मुझे मुर्गी दे दे, तो बड़ी कठिनाई खड़ी हो जायेगी। दुकानदार के लिए और मेरे लिए जरूरी है कि अंडा अलग समझा जाये और मुर्गी अलग समझी जाए। लेकिन मुर्गी और अंडे की जीवन व्यवस्था में वे अलग नही है। अडे का अर्थ होता है, होने वाली मुर्गी। मुर्गी का अर्थ होता है, हो गया अडा।

यह सवाल किसी ने देकार्त से पूछा, तो देकार्त ने कहा, मुझे मुश्किल में मत डालो। पहले तुम मुर्गी की मेरी परिभाषा समझ लो।

देकार्त ने कहा कि मुर्गी है अंडे का एक ढंग तथा और अंडे पैदा करने का 'ए मैथड ऑफ द एग्स टू प्रोड्यूज मोर एग्स।' मुर्गी बस केवल एक विधि है अंडे की तथा और अडे पैदा करने की। इसे उल्टा भी हम कह सकते हैं कि अंडा केवल एक विधि है मुर्गी की तथा और मुर्गियाँ पैदा करने की। एक बात साफ है कि अंडा और मुर्गी अस्तित्व में दो नहीं हैं, एक श्रृंखला के दो छोर हैं।

एक कोने पर अंडा है, तो दूसरे कोने पर मुर्गी। जो अंडा है, वह मुर्गी हो जाता है। जो मुर्गी है, वह अण्डा हो जाती है। इसलिए जो इसे दो में तोड़कर दो में हल करने की कोशिश करते हैं, वे कभी हल न कर पाएँगे। भाषा की भूल है। अस्तित्व में दोनों एक हैं, भाषा में दो हैं।

ठीक ऐसे ही बाहर और भीतर भाषा की भूल है। जिसको हम बाहर कहते हैं, वह भीतर का ही फैलाव है। जिसको हम भीतर कहते हैं, वह बाहर की ही भीतर प्रवेश कर गई नोक है। बाहर और भीतर हमारे लिए दो हैं, अस्तित्व के लिए एक हैं। वह जो आकाश आपके मकान के बाहर है और जो मकान के भीतर है, वह दो नहीं हो गया है आपके दीवार उठा लेने से। वह एक ही है।

मैंने अपनी गागर सागर में डाल दी है। जो पानी मेरी गागर में भर गया है वह और वह पानी जो मेरी गागर के बाहर है, वह दो नहीं हो गया है मेरी गागर की वजह से। वह जो भीतर और बाहर है, वह एक ही है। आकाश अखण्डित है। आत्मा भी अखण्डित है। आत्मा का अर्थ है, भीतर छिपा हुआ आकाश। आकाश का अर्थ है, बाहर फैली हुई आत्मा।

यह मैं क्यो कह रहा हूँ? यह मैं इसलिए कह रहा हूँ, ताकि आपको यह दिखाई पड़ जाए कि चाहे बाहर से शुरू करो, चाहे भीतर से शुरू करो, फर्क कुछ भी नही है। बाहर से शुरू करो, तो भी भीतर से शुरू करना पड़ता है, भीतर से शुरू करो, तो भी बाहर से शुरू करना पड़ता है।

महावीर जैसे व्यक्ति मनुष्य के अस्तित्व को देखते हैं उसकी अखण्डता में। इसलिए महावीर ने कहा है, कहाँ से शुरू करें, यह गौण है। क्योंकि बाहर और भीतर जुड़े हुए हैं। अगर एक व्यक्ति अहिंसक आचरण से शुरू करे, तो भी उसको अप्रमाद साधना पड़ेगा, उसको होश साधना पड़ेगा। क्योंकि बिना होश के अहिंसा नही हो सकती। और अगर बिना होश के अहिंसा हो रही है, तो वह महावीर की अहिंसा नही है, वह जैनियों की अहिंसा भले हो। महावीर की अहिंसा में तो अप्रमाद आ ही जाएगा। क्योंकि महावीर की अहिंसा का मतलब दूसरे को मारने से बचाना नहीं है।

एक बड़े मजे की बात है; क्योकि दूसरे को हम मार ही कहाँ सकते हैं! इसलिए जो लोग समझते हैं—'अहिंसा का अर्थ है, दूसरे को न मारना', उनसे ज्यादा मूढ़-चिन्तन करने वाले लोग खोजने मुश्किल है। लेकिन यही समझाया जाता है, कि अहिंसा का अर्थ है दूसरे को न मारना, दूसरे की हत्या न करना, दूसरे को दुख न पहुँचाना।

इसे थोड़ा हम समझ लें।

महावीर कहते है आत्मा अमर है; इसलिए दूसरे को मार कैसे सकते हैं? दूसरे को मारने का उपाय कहाँ है? अगर मैं चीटी को पैर रखकर फिसल डालता हूँ, तो भी मैं मार नही सकता। चीटी मर नही सकती मेरे फिसल देने से। अगर चीटी मर ही नही सकती तो उसकी आत्मा अमृत है। तो फिर दूसरे को मारना, नही मारना, ऐसी बाते करना अहिंसा के सम्बन्ध मे बेमानी हैं। मार तो हम सकते ही नही—पहली बात। मारने का तो कोई उपाय ही नही है। और अगर हम मार ही सकते और आत्मा मिट जाती, तो फिर आत्मा को खोजने का कोई भी उपाय नही था। तब व्यर्थ थी सारी खोज। क्योकि मेरे मारने से किसी की आत्मा मर जाती, तो कोई मुझे मार डाले, मेरी आत्मा मर जाएगी। तो जो मर जाती है, उस आत्मा को पाकर ही क्या करेंगे? वह तो जरा-सा पत्थर फेंक दिया जाए और खत्म हो जाएगी।

अमर्त्य की तलाश है, इसलिए महावीर यह नही कह सकते कि दूसरे को न मारना अहिंसा की परिभाषा है। दूसरा तो मारा ही नही जा सकता—पहली बात। फिर अहिंसा का क्या अर्थ होगा महावीर के लिए?

दूसरे को मारने की धारणा मत करो। दूसरे को मारा तो नही जा सकता, लेकिन दूसरे को मारने का विचार किया जा सकता है। वही विचार पाप है। दूसरे को मारने का कोई उपाय नही है, लेकिन दूसरे को मारने का विचार किया जा सकता है, वही पाप है। इसलिए महावीर ने कहा, मारो या मारने का विचार करो, बराबर है। इसीलिए महावीर ने 'भाव-हिंसा' को उतना ही मूल्य दिया है, जितना वास्तविक हिंसा को। हम कहेंगे कि यह ज्यादती है। अदालत भाव-हिंसा को नही पकडती। अगर आप कहेंगे कि मैं एक आदमी को मारने का विचार कर रहा हूँ, तो आपको अदालत सजा नही दे सकती। आप कहे कि मैंने सपने मे एक आदमी की हत्या कर दी है, तो अदालत आपको सजा नही दे सकती। अपराध जब तक कृत्य नही हो जाता, तब तक वह अपराध नही है। लेकिन महावीर ने कहा, पाप और अपराध मे यही फर्क है। अदालत तो तभी पकड़ेगी, जब कृत्य हो; लेकिन धर्म तभी पकड़ लेता है, जब भाव हो।

एक आदमी को मैं मारूँ या एक आदमी को मारने का विचार करूँ, बराबर पाप हो गया। बराबर; जरा भी फर्क नहीं है। क्यों? क्योकि वास्तविक मार के मैं मार कहाँ पाता हूँ? वह भी मेरा विचार ही है मारने का। और कल्पना मे भी मारकर मैं मारता नहीं। वह भी मेरा विचार ही है। लेकिन

जो मारने का विचार करता है, वह हिंसक है । कोई मरता नही मेरे मारने से, लेकिन मार-मार के मैं अपने भीतर सडता हूँ ।

हम अक्सर कहते हैं कि दूसरे को दुख नही देना है, क्योकि दूसरे को दुख देना हिंसा है । यह बात भी महावीर की नहीं हो सकती । क्योंकि दूसरे को मैं दुख कैसे दे सकता हूँ ? आप महावीर को दुख देकर देखें, तो आपको पता चलेगा । आप लाख उपाय करे, आप महावीर को दुख नहीं दे सकते । दूसरे को दुख देना मेरे हाथ मे कहाँ है ? जब तक दूसरा दुखी होने को तैयार न हो । यह मेरी स्वतन्त्रता नही है कि मैं दूसरे को दुख दे दूँ ।

जीसस को हमने सूली देकर देख लिया, जीसस को हम दुख नही दे पाये । और मसूर के हमने हाथ-पैर काट डाले और उसकी गर्दन तोड डाली, तो भी मसूर हँस रहा था, हम उसे दुख नहीं दे पाये । और हमने वे लोग भी देख लिये हैं कि जिनको सिंहासनो पर बैठा दें, तो भी उनके चेहरे पर हँसी नही आती ।

हम न सुख दे सकते हैं, न दुख दे सकते हैं । यह हमारे हाथ मे नही है । यह भी थोडा समझ लेने जैसा है ।

हम आमतौर से सोचते हैं कि किसी को दुख मत दो । आप दे कब सकते हैं दूसरे को दुख ? यह कहा किसने ? यह वहम आपको पैदा कैसे हुआ ?

यह वहम एक दूसरे गहरे वहम पर खड़ा हुआ है । वह दूसरा वहम यह है कि हम सोचते हैं कि हम दूसरे को सुख दे सकते हैं । सब आदमी दूसरे सुख दे रहे हैं । माँ बेटे को सुख दे रही है, बेटे माँ को सुख दे रहे हैं, पति पत्नियो को सुख दे रहे हैं, भाई भाइयो को, मित्र मित्रो को सुख देने की कोशिश मे लगे हुए हैं, और कोई किसी को सुख नही दे पा रहा है । अभी तक मुझे ऐसा आदमी नहीं मिला, जो कहे कि मुझे मेरी माँ ने सुख दिया, कि माँ मिले और कहे कि मेरे बेटे ने मुझे सुख दिया ।

कोई किसी को सुख नहीं दे पा रहा है । और सारी दुनिया सुख देने की कोशिश मे लगी हुई है । इतनी सुख देने की चेष्टा है और सुख का कोई पता नही चलता । बल्कि, अक्सर ऐसा लगता है कि जितनी सुख देने की चेष्टा करो, उतना दुख पहुँचता हुआ मालूम पड़ता है । क्या, हो क्या रहा है ?

अगर हम सुख दे सकते दूसरे को, तब तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन सकती थी । कभी की बन जाती । कोई कमी नही है इसमे । कभी कोई कमी नही रही है । लेकिन यह पृथ्वी स्वर्ग नही बन पाती । क्योंकि हम दूसरे को सुख

नही दे सकते। कितने ही उपकरण जुटा लें हम, और कितना ही धन हो, कितना ही वैभव हो, कितना ही धान्य हो, कितनी ही खुशहाली हो, 'एफ्ल्युएन्स' कितना ही हो जाये, समृद्धि कितनी ही हो जाये, हम दूसरे को सुख नही दे सकते। क्योंकि सुख दिया नही जा सकता। कोई सुखी होना चाहे, तो सुखी हो सकता है। लेकिन कोई किसी को सुखी कर नही सकता।

इस बात को ठीक से समझ लें।

सुख दूसरे के द्वारा दूसरे से निर्मित नही होता। आप चाहें, तो सुखी हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति चाहे, तो सुखी हो सकता है। लेकिन महावीर की भी यह हैसियत नही है कि किसी को सुखी कर दें। आप अगर महावीर के पास भी हो, तो दुखी रहेगे। आपसे महावीर हारेगे। उनके जीतने का कोई उपाय नही है। आप जीत कर ही लौटेंगे। आप अपनी रोती हुई शक्ल लेकर ही लौटेंगे। महावीर भी आपको हँसा नही सकते। विजेता अन्त में आप ही होंगे। इसका कारण यह नही है कि महावीर कमजोर है और आप बडे शक्तिशाली हैं।

इसका कुल कारण इतना है कि दूसरे को सुखी करने का कोई उपाय ही नही है। दूसरे को दुखी करने का भी कोई उपाय नही है। अगर सुखी करने का उपाय होता, तो दुखी करने का भी उपाय होता। जो अपने हैं, जिनके साथ हमारा ममत्व का बन्धन है, उनको हम सुखी करने का उपाय करते हैं। जिनके साथ हमारा ममत्व के विपरीत सम्बन्ध है, जिनसे हमारी घृणा है, ईर्ष्या है, जलन है, क्रोध है, उन्हें हम दुखी करने का उपाय करते है। हम दोनो मे असफल होते है। न मित्रो को हम सुखी कर पाते हैं, न हम शत्रुओ को दुखी कर पाते हैं।

अगर मित्र सुखी होते हैं, तो यह उनका ही कारण होगा। अगर शत्रु दुखी होते हैं, तो यह उनका ही कारण होगा। आप नाहक इसमे अपने को न लाएँ। क्योकि अगर मैं दुखी न होना चाहूँ, तो दुनिया की कोई शक्ति मुझे दुखी नही कर सकती। अगर मैं सुखी न होना चाहूँ, तो दुनिया की कोई शक्ति मुझे सुखी नही कर सकती। सुख और दुख व्यक्ति के निर्णय हैं--निजी, आत्मगत; और व्यक्ति स्वतन्त्र है।

तब तो इसका यह अर्थ हुआ कि अहिंसा का यह अर्थ करना भी ठीक नहीं कि हम दूसरो को दुखी न करें, यह अर्थ भी ठीक नहीं कि दूसरे को दुखी करने की चेष्टा न करे। क्योकि दूसरे को हम दुखी तो कर ही न पाएँगे। लेकिन दूसरे को दुखी करने की चेष्टा में हम अपने को दुखी कर लेते हैं। अगर इसको

हम और गहराई से समझे, तो दूसरो को हम सुखी कर ही न पाएँगे; लेकिन दूसरो को सुखी करने की चेष्टा में हम अपने को दुखी कर लेते हैं।

यह बड़े मजे की बात है कि अगर आप अपने को सुखी करने में लग जाएँ, तो शायद आपके आसपास के लोग भी थोड़े सुखी होने लगें। लेकिन हम उनको सुखी करने मे लगे रहते हैं। उसमें तो वे सुखी हो नहीं पाते और हम दुखी हो जाते हैं। अगर आप अपने आसपास के लोगो को पूरी स्वतंत्रता दे सकें, तो यही अहिंसा है। इसे ठीक से समझ लें।

अगर मैं दूसरे को परिपूर्ण स्वतन्त्रता दे सकूं कि न तो मैं तुम्हें दुखी करूँगा और न मैं तुम्हें सुखी करूँगा, मैं तुम्हें परिपूर्ण स्वतन्त्रता देता हूँ, तुम जो होना चाहो हो जाओ, मैं कोई बाधा नहीं डालूँगा, तो इस भाव का नाम अहिंसा है। अहिंसा जरा जटिल मामला है। वह इतना आसान नहीं है, जितना आप सोचते है। कुछ लोग कहते हैं कि हम किसी को दुखी नही कर रहे हैं। फिर भी यह अहिंसा नही हो जायेगी। यह ख्याल भी कि आप दूसरे को दुखी कर सकते थे और अब नही कर रहे हैं, भ्रम है।

अहिंसा का अर्थ है: व्यक्ति परम स्वतन्त्र है और मैं कोई बाधा नहीं डालूँगा। इतनी बाधा भी नही डालूँगा कि उसे सुखी करने की कोशिश करूँ। मैं सुखी हो जाऊँ, तो मेरे आसपास जो आभा निर्मित होती है सुख की, वह शायद किसी के काम आ जाए। लेकिन वह भी मेरी चेष्टा से काम नही आएगी। वह भी दूसरे का ही भाव होगा उसे काम में लाने का, तो ही काम मे आएगी।

अहिंसा का इतना ही मतलब है मेरे चित्त मे कि दूसरे को कुछ करने की धारणा मिट जाए। अगर कोई आदमी अहिंसा से शुरू करेगा, तो भी वह अप्रमाद पर पहुँच ही जायेगा। क्योंकि उसे बड़ा होश रखना पड़ेगा। हमें पता ही नही रहता कि हम किन-किन मार्गों से, कितनी-कितनी तरकीबों से दूसरे को बाधा देते हैं। हमें पता ही नहीं रहता कि हमारे उठने में, हमारे बैठने में निन्दा व प्रशंसा सम्मिलित रहती है। हमारे देखने में समर्थन और विरोध शामिल रहता है। हम दूसरे को स्वतन्त्रता देना ही नही चाहते। और जितने निकट हमारे कोई हो, हम उसको उतना ही परतन्त्र करने की कोशिश में संलग्न रहते हैं। हमारी चेष्टा ही यह है कि दूसरा स्वतन्त्र न हो जाये। इसका नाम हिंसा है—इस चेष्टा का नाम।

किसी को आप परतन्त्र कर पाएँगे इस भ्रम में आप मत पड़ें। कोई

परतन्त्र हो नहीं पाता। पति अपने मन में कितना ही सोचता हो कि हम मालिक हैं—हम पति हैं। और पत्नी उसको चिट्ठी मे लिखती भी हो, 'स्वामी' —आपके चरणों की दासी, मगर इससे कुछ हल नहीं होता। घर लौटकर पता चलेगा कि दासी क्या करती है? पत्नी कितना ही सोचती हो कि मालिकयत मेरी है, और पति के शरीर पर ही नही, उसकी आत्मा पर भी मेरा कब्जा है, और उसकी आँख भी किस तरफ देखें और किस तरफ न देखें, यह भी मेरे इशारे पर चलता है—वह कितनी ही चेष्टा करती हो, लेकिन वह भ्रम में है। कोई किसी को परतन्त्र नही कर पाता। हाँ, परतन्त्र करने की चेष्टा मे कलह, संघर्ष, सन्ताप, धुआँ चारो तरफ उसके जीवन मे पैदा हो जाता है।

महावीर का अहिंसा से अर्थ है . प्रत्येक व्यक्ति की जो परम स्वतन्त्रता है, उसका समादर। एक चीटी की भी परम स्वतन्त्रता है, उसका समादर। न हमने उसे जन्म दिया है, न हमने उसे जीवन दिया है। हम उसे मृत्यु कैसे दे सकते हैं? जो जीवन हमने दिया नही, उसे हम छीन कैसे सकते हैं? वह अपनी हैसियत से जीती है। लेकिन हम बाधा डालने की कोशिश कर सकते हैं। उस कोशिश मे चीटी को नुकसान होगा, यह महावीर का कहना नहीं है। उस कोशिश में हमको नुकसान हो रहा है। वह कोशिश हमे पथरीला बनाएगी और दबा देगी।

जो व्यक्ति दूसरे को परतन्त्र करने चला है या दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधा डालने चला है, वह गुलाम की तरह मरेगा। जो व्यक्ति सबको स्वतन्त्र करने चला है, और जिसने सारे बन्धन ढीले कर दिये हैं, और जिसने जाना कि भीतर प्रत्येक व्यक्ति परम-गुह्य-रूप से स्वतन्त्र है, आत्यन्तिक रूप से स्वतन्त्र है, वह व्यक्ति अहिंसक है। और आत्मा का अर्थ ही यही होता है कि उसे परतन्त्र नही किया जा सकता। इसे ठीक से समझ लें।

परतन्त्र हम कर ही सकते हैं किसी को तब, जब उसमे आत्मा ही न हो। मशीन परतन्त्र हो सकती है। मशीन के लिए स्वतन्त्रता का कोई अर्थ ही नहीं है। लेकिन व्यक्ति कभी परतन्त्र नहीं हो सकता। और हम व्यक्ति से मशीन की तरह व्यवहार करना चाहते हैं। वह व्यवहार ही हिंसा है। तब तो बड़ा होश रखना पडेगा। तब तो व्यवहार के छोटे-छोटे हिस्से मे होश रखना पड़ेगा कि मैं किसी की परतन्त्रता लाने की चेष्टा में तो नही लगा हूँ। परतन्त्रता आयेगी तो नही ही, लेकिन मेरी चेष्टा, मेरा प्रयास मुझे दुख में डाल जायेगा। अप्रमाद तो रखना पड़ेगा, होश तो रखना पडेगा।

आप रास्ते से गुजर रहे हैं; और एक आदमी की तरफ आप किस भाँति देखते हैं ? क्या उसमें निन्दा है ? और भले आदमी बड़े निन्दा के भाव से देखते हैं। एक साधु के पास आप सिगरेट पीते हुए चले जाएँ, फिर उसकी आँखें देखें कैसी हो गई ! उसका वश चले तो अभी इसी वक्त आपको नर्क भेज दे। साधु नहीं है यह आदमी। क्योंकि वह आपकी स्वतन्त्रता में गहन बाधा डाल रहा है, चेष्टा कर रहा है।

साधुओं के पास जाओ, तो उनके पास बात ही कुल इतनी है कि ऐसा मत करो, वैसा मत करो ! जैसे ही आप किसी साधु के पास जाएंगे, वैसे ही वह आपकी स्वतन्त्रता को छीनने की चेष्टा में संलग्न हो जाएगा। और वह उसको कहेगा कि व्रत दे रहा हूँ। कौन किसको व्रत दे सकता है ? इसलिए साधुओं के पास जाने मे डर लगता है लोगो को, कि वहाँ गये, तो कहा जायेगा—यह छोड दो, यह पकड लो, ऐसा मत करो, वैसा मत करो, यह नियम ले लो, मगर उसकी सारी चेष्टा का मतलब यह है कि साधु आपको वैसे ही बर्दाश्त नहीं कर सकता, आप जैसे हैं। वह आप मे फर्क करेगा। आपके पंख काटेगा। आपकी शक्ल-सूरत में थोड़ा सा हिसाब किताब छाँटेगा।

आप जैसे हैं, इसकी परम स्वतन्त्रता का कोई समादर साधु के पास नही है। और जिसके पास आपकी स्वतन्त्रता का समादर नहीं है, वह साधु कहाँ है ? साधुता का मतलब ही यह है कि मैं कौन हूं, जो बाधा दूं ! मुझे जो ठीक लगता है, वह मैं निवेदन कर सकता हूँ, आग्रह नही।

महावीर ने कहा है—साधु उपदेश दे सकता है, आदेश नही। उपदेश का मतलब अलग होता है, आदेश का मतलब अलग। उपदेश का मतलब होता है—ऐसा मुझे ठीक लगता है, वह मैं कहता हूँ। आदेश का मतलब है—ऐसा ठीक है, तुम भी करो। मुझे जो ठीक लगता है, वह जरूरी नही कि ठीक हो। यह मेरा लगना है। मेरे लगने की क्या गारन्टी है ? मेरे लगने का मूल्य क्या है ? यह मेरी रुचि है, यह मेरा भाव है, यह परम सत्य होगा, यह मैं कैसे कहूँ ?

असाधुता वहीं से शुरू हो जाती है, जहाँ से मैं कहता हूँ कि मेरा सत्य तुम्हारा भी सत्य है—बस, वही से असाधुता शुरू हो गई, हिंसा शुरू हो गई।

जब मैं कहता हूँ कि मेरा सत्य, मेरा सत्य है। निवेदन करता हूँ कि मुझे क्या ठीक लगता है। शायद तुम्हारे काम आ जाए, और शायद काम न भी आए। शायद तुम्हें सहयोगी भी हो, शायद तुम्हें बाधा बन जाये। सोच कर, समझ कर, अप्रमाद से, होशपूर्वक, तुम्हें जैसा ठीक लगे करना, आदेश मैं नहीं

दे सकता हूँ।

लेकिन जब मैं आदेश देता हूँ, तो इसका मतलब हुआ कि मैं कह रहा हूँ कि मेरा सत्य सार्वभौम सत्य है—'माइ ट्रुथ मीन्स द ट्रुथ' मेरा जो सत्य है, वही सत्य है और कोई सत्य नहीं है। अगर मेरे सत्य के विपरीत किसी का सत्य है, तो वह असत्य है, उसे छोड़ना होगा। अगर उसे नही छोड़ते हो, तो नर्क जाना पड़ेगा। वह नर्क की व्यवस्था मेरी है; जो मुझे नही मानेगा, वह नर्क जायेगा—यह उसका अर्थ है। जो मुझे नही मानेगा, वह आग मे सड़ेगा, उसका यह अर्थ है। जो मुझे मानेगा, उसके लिए स्वर्ग का आश्वासन है, उसे स्वर्ग के सुख हैं—यह क्या हुआ? यह साधु का भाव न हुआ। यह असाधु हो गया आदमी। यह हिंसा हो गई।

महावीर की अहिंसा गुह्य है, 'इजोटेरिक' है, गुप्त है। अहिंसा का मतलब है—यह स्वीकृति की प्रत्येक आत्मा परमात्मा है, उससे नीचे नही—यह अहिंसा का अर्थ है। अहिंसा का अर्थ है कि मैं तुमसे ऐसा व्यवहार करूँगा कि तुम परमात्मा हो, इससे कम नही। और मैं अपने को तुम्हारे ऊपर थोपूँगा नही। अगर मेरे विपरीत जाते हो, तो तुम्हे नर्क मे नहीं डाल दूँगा। और अगर तुम मेरे अनुकूल आते हो, तो तुम्हारे लिए स्वर्ग का आयोजन नही करूँगा। तुम अनुकूल आते हो या प्रतिकूल, यह तुम्हारा अपना निर्णय है। मेरा कोई भाव इस निर्णय पर आरोपित नही होगा।

तो अहिंसा साधते वक्त अप्रमाद अपने-आप सध जायेगा—चाहे कोई अहिंसा से शुरू करे, अलोभ से शुरू करे, अक्रोध से शुरू करे—अप्रमाद पर उसे जाना ही होगा। अप्रमाद से शुरू करेगा, तो हिंसा गिरनी शुरू हो जायेगी। क्योंकि अप्रमाद मे कैसे, होश मे कैसे हिंसा टिक सकती है? हिंसा गिरेगी, परिग्रह गिरेगा, पाप हटेगा। पुण्य अपने-आप प्रवेश करने लगेगा।

जब मुझसे कोई पूछता है कि इसमे महावीर की विधि क्या है? वे बाहर पर जोर देते हैं कि भीतर पर? तो मैं कहता हूँ कि महावीर इस बात पर जोर देते हैं कि तुम कही से शुरू करो, दोनों सदा मौजूद रहेंगे। और अगर एक मौजूद रहता है, तो विधि मे भूल है और खतरा है। अगर कोई व्यक्ति कहता है कि मैं तो भीतर से ही शुरू करूँगा, मैं बाहर की ओर ध्यान नहीं दूँगा, तो वह अपने को धोखा दे सकता है। क्योंकि वह व्यवहार में हिंसा कर सकता है। और कह सकता है कि मैं भीतर अहिंसक हूँ। ऐसे बहुत लोग हैं, जो भीतर से साधु और बाहर से असाधु हैं। वे कहते चले जायेंगे कि यह तो

मामला बाहर का है। बाहर क्या रखा है। बाहर तो माया है।

एक बौद्ध-भिक्षु कहता था कि सारा ससार माया है। बाहर क्या रखा है? है ही नहीं कुछ; सपना है। इसलिए वह वेश्या के घर में भी ठहर जायेगा, शराब भी पी लेगा। क्योंकि अगर सपना है, तो पानी और शराब में कैसे फर्क हो सकता है! अगर शराब में कुछ वास्तविकता हो, तो ही फर्क हो सकता है। नही तो पानी और शराब में क्या फर्क है?

अगर सब माया है, तो मैं आपको मारूँ कि जिलाऊँ, कि जहर दूँ, कि दवा दूँ, क्या फर्क है? फर्क तो सच्चाईयों मे होता है। दो झूठ बराबर झूठ होते हैं। और अगर आप कहते हैं कि एक झूठ थोड़ा कम झूठ है, तो इसका मतलब हुआ कि वह थोडा सच भी हो गया।

अगर सारा जगत् माया है, तो ठीक है। तो वह भिक्षु जो मन मे आया करता था, एक सम्राट ने उसे अपने द्वार पर बुलाया विवाद मे। जीतना उस आदमी से मुश्किल था। असल में विवाद की जिसे कुशलता आती हो, उसे जीतना किसी भी हालत मे मुश्किल है। क्योंकि तर्क वेश्या की तरह है, कोई भी उसका उपयोग कर ले सकता है। और यह तर्क गहन है कि सारा जगत् माया है। सिद्ध भी कैसे करोगे कि माया नहीं है।

पर सम्राट था बुद्धू, और कभी-कभी बुद्धू तार्किकों को बड़ी मुश्किल में डाल देते हैं। सम्राट ने कहा, अच्छा! सब माया है, तो अपना जो पागल हाथी है, उसे ले आओ। वह भिक्षु घबडाया कि अब झंझट होगी। तर्क का मामला था, तो वह सिद्ध कर लेता था। तर्क के मामले मे आप उस आदमी से जीत नही सकते, जो आदमी कहता है कि सब असत्य है। उसे कैसे सिद्ध करियेगा कि वह असत्य है? क्या उपाय है? कोई उपाय नहीं है।

उस सम्राट ने कहा कि बैठ! अभी पता चलता है। पागल हाथी बुलाकर उसने महल के आंगन में छोड दिया और भिक्षु को खीचने लगे सिपाही, तो वह चिल्लाने लगा कि यह क्या कर रहे हैं! विचार से तर्क करिये।

पर सम्राट ने कहा—हाथी पागल है। हमारी समझ में यह वास्तविकता है और तुम्हारी समझ में सब माया है। माया के हाथी से ऐसा भय भी क्या?

उस भिक्षु ने कहा—क्या मेरी जान लोगे?

सम्राट ने कहा कि माया का हाथी, यह क्या जान ले पाएगा!

भिक्षु चिल्लाता रहा, जबरदस्ती उसे आंगन में छोड़ दिया गया। भिक्षु

भागता है और हाथी उसके पीछे चिंघाड़ता है। भिक्षु चिल्लाता है कि क्षमा करो, वापस लेता हूँ अपना सिद्धान्त। अब अभी ऐसी भूल की बात नहीं करूँगा। ऐसा मैंने कभी सोचा ही नही था कि तर्क का और यह उत्तर!

वह बहुत रोता है, गिड़गिड़ाता है। उसकी आँखों से आंसू बहने लगते हैं। तब सम्राट उसे उठवा लेता है और कहता है—अब शान्त होकर बैठ जाएँ और भूल जाएँ अपनी बात।

भिक्षुक ने कहा—कौन सी बात?

वह जो अभी माफी माँग रहे थे, चिल्ला रहे थे।

भिक्षु ने कहा—सब माया है—वह रोना, वह चिल्लाना, तुम्हारा बचाना—वह सब माया है।

(जहाँ तक तर्क का मामला है, उससे बचना मुश्किल है।)

सम्राट ने कहा—क्या मतलब?

भिक्षु ने कहा—लेकिन दुबारा उस झंझट को खडा मत करना।

अगर पागल हाथी पागल मालूम पडता है, तो फर्क है। भेद अगर दिखाई पडता है जरा सा भी, तो फर्क है। तो फिर हम अपने को धोखा दे सकते हैं। हम कह सकते हैं कि बाहर की तो हमे कोई चिन्ता नही है। बाहर सब-कुछ ठीक है, असली चीज तो भीतर है। लेकिन अगर असली चीज भीतर है, तो इसके प्रमाण बाहर भी मिलेंगे। क्योंकि भीतर बाहर आता रहता है—प्रतिपल। वह जो झरना भीतर छिपा है, वह बाहर छलांग लगा कर उचकता रहता है। वह बाहर फेंकता रहता है अपनी धारा को। अगर कोई झरना यह कहे कि मैं तो भीतर ही भीतर हूँ, बाहर कुछ भी नही—बाहर रेगिस्तान है, तो झरना झूठा है। तो झरने का मतलब ही क्या, जब वह फूटे ही ना? फूटे, तो ही वह झरना है।

अगर भीतर मेरे अप्रमाद है, तो बाहर उसके परिणाम होंगे। तो बाहर हिंसा गिरेगी। अगर भीतर मेरे अप्रमाद है, तो बाहर लोभ गिरेगा। अगर भीतर मेरे अप्रमाद है, तो बाहर वह जो आसक्ति है, मोह है, वह क्षीण होगा।

भीतर की बात करके आदमी अपने को धोखा दे सकता है। बाहर से भी आदमी अपने को धोखा दे सकता है। बाहर इन्तजाम कर लेता है कि मैं अहिंसा का पालन करूँगा, लोभ नहीं करूँगा, दान करूँगा, और भीतर उसके प्रमाद घना होता है, बेहोशी घनी होती है। बाहर वह सँभल कर चलने लगता

हैं। चीटी पर पैर नहीं रखता। लेकिन भीतर उसके दूसरे को दुख और सुख पहुँचाने का भाव घना होता है। वह साधु हो जाता है, लेकिन दूसरो को ऐसे देखता है, जैसे कि वे कीड़े-मकोड़े हों।

शायद साधु होने का गहरा मजा ही यह है कि दूसरे कीड़े-मकोड़े दिखाई पड़ने लगते हैं। हम सभी दूसरे को कीड़ा-मकोड़ा देखना चाहते हैं, पर तरकीबें अलग-अलग हैं। कोई एक बहुत बडा मकान बना कर, उस पर खड़ा हो जाता है, तो उसे झोपड़ो के लोग कीडे-मकोड़े हो जाते हैं। कोई आदमी चढ जाता है राजधानी के शिखर पर, तो उसे भीड़ कीड़ा-मकोड़ा हो जाती है। एक आदमी त्याग के शिखर पर चढ़ जाता है, तो उसे भोगी कीड़े-मकोड़े हो जाते हैं।

और बड़ा मजा यह है कि झोपडे वाला आदमी तो शायद अकड़ कर भी चल सके महल वाले के सामने कि तुम शोषक, हत्यारे, हिंसक। भीड़ का आदमी राजनीति के शिखर पर खडे आदमी के सामने अकड़ कर भी चल सके कि तुम बेईमान, झूठे, लेकिन भोगी, त्यागी के सामने अकड़ कर नही चल सकता।

तो त्याग बारीक से बारीक अकड़ है, जिसका जवाब देना मुश्किल है। भोगी को खुद ही लगता है कि वह गलत है, त्यागी ठीक है। यह भोगी को इसलिए लगता है कि त्यागी हजारो साल से उसको समझा रहे हैं, 'बिल्ट इन कन्डीशनिंग' कर दी है उसके दिमाग मे कि तुम गलत हो। और जब भी उसको लगता है कि गलत तो मैं हूँ और त्यागी ठीक है, तो त्यागी शिखर पर हो जाता है और भोगी नीचे पड़ जाता है। सारी दुनिया में एक ही चेष्टा चलती रहती है कि मैं दूसरे से ऊपर हो जाऊँ—यही हिंसा है।

तो चीटी से बहुत बच कर चलने मे कठिनाई नहीं है। अगर कोई चीटी से बच कर नहीं चलता, तो मैं उसको समझता हूँ कि वह कीड़ा-मकोड़ा है। तो कोई कठिनाई नही है चीटी से बच कर चलने मे। अगर यही मजा है कि जो बच कर नहीं चलते, उनको मैं पापी की तरह देखता हूँ, तो चीटी से बचा जा सकता है। लेकिन यह हिंसा और गहरी हो गई। चींटी का मर जाना, उसको बेहोशी से दबा देना हिंसा थी, प्रमाद था, तो यह प्रमाद और गहरा हो गया। इसने रास्ता बदल लिया, रुख बदल लिया। बीमारी दूसरी तरफ चली गई। लेकिन मौजूद है तथा और भी गहरी हो गई है।

चाहे तो कोई बाहर के आचरण को ठोक-पीट कर ठीक कर ले और भीतर बेहोश बना रहे। चाहे तो कोई भीतर बेहोशी न टूटे और बाहर के आचरण में जैसा है, वैसा ही चलता रहे, जरा भी न बदले; पर वह धोखा दे सकता है।

महावीर जैसे व्यक्ति अखण्ड व्यक्ति को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—पूरा व्यक्ति ही बदलना है।

बाहर और भीतर दो टुकड़े नहीं हैं। वे एक धारा के ही अंग हैं, कहीं से भी शुरू करो, दूसरा भी उसमे अन्तर्निविष्ट है, दूसरा भी उसमें अन्तरनिहित है।

अब सूत्र।

● 'रस वाले पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे मादकता पैदा करते हैं और मत्त पुरुष अथवा स्त्री के पास वासनाएँ वैसे ही दौड़ी आती हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष के पास पक्षी।'

अप्रमाद की बात कही, वह भीतर की बात थी। तत्काल रस की बात कही, वह बाहर की बात है। कहा कि भीतर जागते रहो, होश सँभाले रखो, और फिर यह तत्काल ही कहा कि बाहर से भी वही लो अपने भीतर, जो बेहोशी न बढ़ाता हो। नहीं तो एक आदमी ध्यान भी करता रहे और शराब भी पीता रहे, तो यह ऐसे हुआ कि एक कदम आगे गये और एक कदम पीछे आये। और फिर जिन्दगी के आखिर में पाया कि वहीं के वही खड़े हैं। खड़े ही नहीं, गिर पड़े हैं—वहीं, जहाँ पैदा हुए थे। तो इसमें हैरानी होगी; लेकिन हम सब यही कर रहे हैं। हम एक कदम आगे जाते हैं और तत्काल एक कदम उल्टा वापस लौट आते हैं। तो, इससे तो बेहतर यही है कि जाओ ही मत; शक्ति और श्रम नष्ट मत करो।

अगर भीतर अप्रमाद की साधना चल रही है, भीतर ध्यान की साधना चल रही है, तो महावीर कहते हैं, ऐसे पदार्थ मत लो जो बेहोशी बढ़ाते है। और पदार्थ ऐसे हैं, जो बेहोशी बढ़ाते हैं, क्योंकि वे मादक हैं। ऐसे पदार्थ हैं, जो हमारे भीतर के प्रमाद को सहारा देते हैं।

इसलिए आप देखें—अगर एक आदमी शराब पी लेता है, तो वह तत्काल दूसरा आदमी हो जाता है। इसीलिए तो शराबी को भी शराब का रस है, क्योंकि वह एक ही आदमी रहते-रहते ऊब जाता है, वह अपने से ऊब जाता है। अब वह शराब पी लेता है, तब उसे जरा मजा आता है—नई जिन्दगी हो जाती है। वह नया आदमी हो जाता है। पर यह नया आदमी कौन है?

यह नया आदमी शराब से नहीं आता। यह नया आदमी भीतर छिपा था। शराब उसको बाहर आने मे सिर्फ सहारा दे सकती है। शराब आपके भीतर कुछ पैदा नहीं करती। शराब भीतर जो छिपा है, उसको उकसा सकती है, जगा सकती है। इसलिए बहुत मजे की घटनाएँ घटती हैं।

एक आदमी शराब पीकर उदास हो जाता है और एक आदमी शराब पीकर प्रसन्न हो जाता है। एक आदमी गाली-गलौच बकने लगता है और एक आदमी बिलकुल मौनी हो जाता है, मौन साध लेता है। एक आदमी नाचने-कूदने लगता है और एक आदमी बिलकुल शिथिल हो जाता है, मुर्दे की भाँति हो जाता है, सोने की तैयारी करने लगता है। शराब तो एक है। शराब और कुछ भी नहीं करती है, जो आदमी के भीतर पड़ा है, सिर्फ उसको भर उत्तेजित करती है।

अक्सर उल्टा हो जाता है कि जो आदमी आमतौर से हँसता रहता है, वह शराब पीकर उदास हो जाता है। क्योंकि उसकी वह हँसी झूठी थी, ऊपर-ऊपर थी। उसके भीतर तो उदासी थी। वह असली थी। शराब ने झूठ को हटा दिया। शराब सत्य की बड़ी खोजी है। शराब ने असत्य को हटा दिया। वह जो हँसते रहते थे बन-बन कर, शराब पीकर अब उन्हें उतना भी होश रखना मुश्किल है कि वे बन-बन के हँस सकें। अब बनावट नहीं टिकेगी। हँसी खो जायेगी। और वह जो हँसी के नीचे छिपा रखा था, अम्बार लगा रखा था—उदासी का, दुख का, आँसुओं का—वह बाहर आने लगेगा।

इसलिए गुरजिएफ के पास जब भी कोई जाता था, तो पन्द्रह दिन तक गुरजिएफ उसे खूब धुआँधार शराब पिलाता था। सिर्फ उसकी 'डाइग्नोसिस', उसके निदान के लिए। पन्द्रह दिन तक वह उसे इतनी शराब पिलाता था कि जब तक वह उसे बेहोश न कर दे इतना कि जो उसने ऊपर-ऊपर से थोपा है, वह टूट जाए और जो भीतर है, जब तक वह बाहर न आने लगे। तब तक वह उसका निरीक्षण करता था।

गुरजिएफ कहता था—'जब तक कोई साधक मेरे पास आकर पन्द्रह दिन तक जितनी शराब मैं कहूँ पीने को राजी न हो, तब तक मैं उसकी साधना शुरू नहीं करता। क्योंकि मुझे असली आदमी का पता ही नहीं चलता। जो वह बताता है कि मैं हूँ—वह, वह है नहीं। इसलिए उस पर मैं जो मेहनत करूँगा, वह बेकार जायेगी। वह पानी पर खींची गई लकीर सिद्ध होगी। और वह जो

वास्तव में है, उसका उसे भी पता नहीं। उसको वह दबा चुका है जन्मों-जन्मों में। उसे भी पता नहीं कि वह कौन है।

इधर मुझे भी यह निरन्तर अनुभव हुआ है कि एक आदमी आकर मुझसे कहता है—यह मेरी तकलीफ है; और वह उसकी तकलीफ ही नहीं है। वह कहता है—यह है मेरा रोग, पर वह उसका रोग ही नहीं है। वह ऐसा समझता है कि यह उसका रोग है, लेकिन यह रोग उसकी पर्त का रोग है; और पर्त वह है नहीं। पर्त उसने बना ली है।

एक आदमी आए और कहे कि मेरी कमीज पर यह दाग लगा है—यह मेरी आत्मा का दाग है। और यदि मैं उसको धोने मे लग जाऊँ, और वह दाग धुल भी जाए, तो भी उसकी आत्मा नहीं धुलेगी। क्योंकि वह दाग उसकी कमीज पर है, आत्मा पर नहीं है। वह न भी धुले, तो भी वह दाग आत्मा पर नहीं है। तो इस आदमी को मुझे नग्न करके देखना पडेगा कि इसकी आत्मा पर दाग कहाँ है। उसको धोने में कोई सार है। उसकी कमीज धोने मे समय गँवाना व्यर्थ है।

गुरजिएफ पन्द्रह दिन शराब पिलाता, पूरी तरह बेहोश कर देता, डुबा देता बुरी तरह, और जिसने कभी न पी हो, वह बिलकुल मतवाला हो जाता, बिलकुल पागल हो जाता, तब वह अध्ययन करता उस आदमी का कि यह आदमी असलियत में क्या है।

फ्रायड जिन लोगों का अध्ययन करता था, उनसे वह कहता था—'अपने सपने बताओ, और कुछ मत बताओ। अपने सिद्धान्त मत बताओ। अपनी फिलॉसॉफी अपने पास रखो, सिर्फ अपने सपने बताओ।'

जब पहली दफा फ्रायड ने सपनों पर खोज शुरू की, तो उसने अनुभव किया कि सपने मे असली आदमी प्रकट होता है, ऊपरी चेहरे तो झूठे होते हैं।

एक आदमी को देखें—वह अपने बाप के पैर छू रहा है, पर सपने में वही अपने बाप की हत्या कर रहा है। आप आमतौर से सोचेंगे कि सपना तो सपना है, असली तो वही है, जो सुबह हम रोज पैर छूते हैं। वह असली नहीं है, इसे ध्यान मे रख लें। सपना आप की असलियत से ज्यादा असली है, आप बिलकुल झूठ हैं। वह जो सुबह आप पैर छूते हैं पिता का, वह सिर्फ सपने में जो असली काम किया है आपने, उसका पश्चाताप है। सपना इसलिए असली है, क्योंकि सपने मे धोखा देने में अभी आप कुशल नहीं हो पाए। सपना गहरा है। जब

आप होश में हैं, उस वक्त आप आदर दिखा रहे हैं। जब पत्नी होश में है, उस वक्त वह कह रही है पति से—'तुम मेरे परमात्मा हो' और सपने में उसे दूसरा आदमी पति और परमात्मा दिखाई पड रहा है।

सपना इसलिए ज्यादा गहरा है, क्योकि सपने में न सिद्धान्त काम आते हैं, न समाज काम आता है, न सिखावन काम आती है। सपने में तो जो असली मन है, अचेतन है, वह प्रकट होता है। इसलिए फ्रायड ने कहा है कि अगर असली आदमी को जानना हो, तो सपनो का अध्ययन जरूरी है। बात एक ही है। गुरजिएफ ने कहा है कि शराब पिलाकर उघाड लेंगे 'अन्काशस' को, अचेतन को।

गुरजिएफ का 'मैथड' ज्यादा तेज है। पन्द्रह दिन मे ही पता चल जाता है। फ्रायड के मैथड मे पाँच साल लग जाते हैं। पाँच साल सपनों का अध्ययन करना पडेगा, तब नतीजा निकलेगा कि तुम आदमी कैसे हो, तुम्हारे भीतर की असलियत क्या है ? तुम्हारा मूल-रोग क्या है ? लेकिन यह निदान बहुत लम्बा हो गया। महावीर कहते हैं कि जो भी हम बाहर से भीतर ले जाते हैं, वह भीतर किसी चीज को पैदा नहीं कर सकता, लेकिन भीतर अगर कोई चीज पड़ी है, तो उसके लिए सहयोगी या विरोधी हो सकता है।

तो जो आदमी भीतर अप्रमाद की साधना करने मे लगा है, जो इस साधना मे लगा है कि होश को जगा ले, वह यदि शराब पीता रहे और होश जगाने की कोशिश भी करता रहे—सायं शराब पी ले और सुबह प्रार्थना करे और पूजा करे, और ध्यान करे, तो वह आदमी असंगत है; वह अपने ही साथ उल्टे, 'कन्ट्राडिक्टरी' काम कर रहा है। वह आदमी कभी कहीं पहुँचेगा नहीं। उसकी गाड़ी का एक बैल एक तरफ जा रहा है, दूसरा बैल दूसरी तरफ जा रहा है। एक चक्का एक तरफ जा रहा है, दूसरा चक्का दूसरी तरफ जा रहा है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक यात्रा में था। जब ऊपर की बर्थ मे वह सोने लगा, तो उसने नीचे की बर्थ के आदमी से कहा—कि मैं यह पूछना तो भूल ही गया कि आप कहाँ जा रहे हैं ? उस नीचे के आदमी ने कहा कि मैं बम्बई जा रहा हूँ।

मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा—'गजब ! विज्ञान का चमत्कार ! और मैं कलकत्ता जा रहा हूँ—एक ही गाड़ी मे हम दोनों ! विज्ञान का चमत्कार देखो कि नीचे की बर्थ बम्बई जा रही है। और ऊपर की बर्थ कलकत्ता जा रही है !

और मुल्ला शान से सो गया।

मुल्ला पर हमें हँसी आएगी; लेकिन हमारी जिन्दगी ऐसी ही है—एक बर्थ बम्बई जा रही है और एक बर्थ कलकत्ता जा रही है। आप विरोधी काम किये जा रहे हैं पूरे वक्त। आप जो भी कर रहे हैं, करीब-करीब उसके विपरीत भी कर रहे हैं। और जब तक विपरीत नहीं करते, तब तक भीतर एक बेचैनी मालूम पडती है। विपरीत कर लेते हैं, तो सब ठीक हो जाता है।

एक आदमी क्रोध करता है, फिर पश्चात्ताप करता है। आप आमतौर से सोचते होंगे कि पश्चात्ताप करने वाला आदमी, अच्छा आदमी है। लेकिन आपको पता नहीं है कि एक बर्थ कलकत्ता जा रही है और एक बर्थ बम्बई जा रही है। क्रोध करता है, पश्चात्ताप करता है, फिर क्रोध करता है, फिर पश्चात्ताप करता है, जिन्दगी भर यही चलता है, कभी आपने ख्याल किया ? और हमेशा सोचता है कि अब क्रोध नही करूँगा।

क्रोध करके पश्चात्ताप कर लेता है! होता क्या है? आमतौर से आदमी सोचता है कि क्रोध करके पश्चात्ताप कर लिया, अच्छा ही किया, अब कभी क्रोध नही करूँगा। लेकिन यह तो बहुत बार पहले भी हो चुका है कि हर बार क्रोध किया, और फिर पश्चात्ताप किया।

सच्चाई उल्टी है। सच्चाई यह है कि पश्चात्ताप से क्रोध बचता है, कटता नही; क्योंकि जब आप क्रोध करते हैं, तो जो आपकी अपनी प्रतीमा है, आपकी अपनी आँखो में अच्छे आदमी की, वह खण्डित हो जाती है—'अरे! मैंने क्रोध किया! इतना सज्जन आदमी हूँ मैं! इतना साधु-चरित्र और मैंने क्रोध किया!' तो आपको जो पीडा अखरती है, खटकती है—वह इसलिए कि अपनी प्रतिमा ही, अपनी आँखों में गिर जाती है। पश्चात्ताप करने से, प्रतिमा फिर अपनी जगह खडी हो जाती है। फिर आप सज्जन हो जाते हैं—कि मैंने पश्चात्ताप कर लिया, माँग ली क्षमा—मिच्छामि दुक्कड़म्, निपटारा हो गया—आदमी फिर अच्छे हो गये, फिर अपनी जगह खड़ी हो गई प्रतिमा। यही प्रतिमा क्रोध करने के पहले भी अपनी जगह खड़ी थी। क्रोध करने से प्रतिमा गिर गई थी। पश्चात्ताप ने फिर इसे वही खड़ा कर दिया, जहाँ यह क्रोध करने के पहले खड़ी थी। वह फिर वही खडी हो गई। अब आप फिर क्रोध करेंगे—जगह आ गई वापस। स्थान पर आ गये अपने।

पश्चात्ताप तरकीब है। जैसे मुर्गी तरकीब है अण्डे की, तथा और अण्डे पैदा करने की। उसी भाँति पश्चात्ताप तरकीब है क्रोध की, तथा और क्रोध

करने की। अब आप फिर क्रोध कर सकते हैं। अब आप फिर अपनी जगह आ गये। दो मे से एक भी टूट जाए, तो दूसरा नहीं टिक सकता। मुर्गी मर जाये, तो फिर अण्डा नहीं हो सकता। और अण्डा अगर टूट जाए, तो फिर मुर्गी नहीं हो सकती। क्रोध को तो छोड़ने की बहुत ही कोशिश की, अब कृपा करके इतना ही करो कि पश्चात्ताप ही छोड़ दो। मत करो पश्चाताप, रहने दो क्रोध को वही, तो आपकी प्रतिमा वापस खडी न हो पाएगी। वही प्रतिमा खड़ी होकर क्रोध करती है। लेकिन हम होशियार हैं। हम हर कृत्य से दूसरे कृत्य को 'बैलेन्स' कर देते हैं। तराजू को हम सम्हाल कर रखते हैं। अच्छाई करते हैं थोडी, तत्काल थोडी बुराई करते हैं। थोडा हँसते हैं, तो थोड़ा रोते हैं। थोडा रोते हैं, तो थोड़ा हँस लेते हैं। सम्हाले रहते हैं अपने आपको।

हम नटो की तरह हैं, जो रस्सियो पर चल रहे हैं पूरे वक्त अपने को सम्हाल कर। बाएँ झुकने लगते है, तो दाएँ झुक जाते हैं। दाएँ गिरने लगते हैं, तो बाएँ झुक जाते हैं। अपने को सम्हाले हुए रस्सी पर खड़े हैं। आदमी तभी पहुँचता है मंजिल तक, जब उसके जीवन की यात्रा इस चमत्कार से बच जाती है—कि एक बर्थ बम्बई और एक बर्थ कलकत्ता नही जाती।

जब आदमी एक दिशा में यात्रा करता है, तो परिणाम, निष्पत्तियाँ, उपलब्धियाँ आती हैं, नही तो जीवन व्यर्थ हो जाता है। अपने ही हाथों व्यर्थ हो जाता है।

महावीर कहते हैं—'रस वाले पदार्थों का अधिक मात्रा मे सेवन नहीं करना चाहिये।'

महावीर बहुत ही सुविचारित बोलते हैं। उन्होने ऐसा भी कहा कि सेवन नही करना चाहिये क्योकि वह अति हो जायेगी। कभी सेवन की जरूरत पड़ सकती है। कभी जहर भी औषधि होता है।

महावीर बहुत ही सुविचारित बोलते हैं। एक-एक शब्द उनका तुला हुआ है। कही भी वे अति नहीं करते। क्योंकि अति में हिंसा हो जाती है। वे ऐसा नही कहते कि सेवन करना ही नही चाहिये। वे कहते हैं कि अधिक मात्रा में सेवन नही करना चाहिये।

ध्यान रहे—औषधि की मात्रा होती है, शराब की कोई मात्रा नहीं होती। शराब का मजा ही अधिक मात्रा में है। औषधि मात्रा से ली जाती है, शराब कोई मात्रा से नही ली जाती। शराब की जितनी मात्रा आप आज लेते हैं,

कल वह बढ़ानी पडती है। क्योकि उतनी मात्रा के आप आदी होते चले जाते हैं। जितने आप शराब पीते चले जाते हैं, उतनी शराब बेकार होती चली जाती है। फिर और अधिक पियो, तो ही कुछ परिणाम होता दिखाई पडता है।

ध्यान रहे--अगर एक आदमी शराब पी रहा है, तो मात्रा बढ़ती जायेगी। और अगर एक आदमी शराब को दवा की तरह ले रहा है, तो मात्रा घटती जायेगी। क्योकि जैसे-जैसे बीमारी कम होगी, वैसे-वैसे मात्रा कम होगी। और जिस दिन बीमारी नही होगी, उस दिन मात्रा विलीन हो जायेगी। और अगर एक आदमी शराब नशे की तरह ले रहा है, तो मात्रा रोज बढ़ेगी। क्योंकि हर शराब बीमारी को बढायेगी और ज्यादा शराब की मांग करेगी।

मुल्ला नसरुद्दीन कहता था कि वह कभी एक 'पेग' से ज्यादा नही पीता। उसके मित्रों ने कहा कि हद कर दी ! झूठ की भी एक सीमा होती है। अपनी आंखों से हम तुम्हे पेग पर पेग ढालते देखते हैं ! तो मुल्ला ने कहा कि मैं तो पहला पेग ही पीता हूँ। फिर पहला पेग दूसरे पेग को पीता है, और फिर दूसरा तीसरे को पीता है। अपना जिम्मा एक का ही है। उसी से सिलसिला शुरू हो जाता है; बाकी के हम जिम्मेदार नही हैं। हम अपने होश मे एक ही पेग पीते हैं। फिर होश ही कहाँ ? फिर हम कहाँ, पीने वाला कहाँ ? फिर तो शराब ही शराब को पीये चली जाती है।

वह ठीक ही कह रहा है। बेहोशी का पहला कदम आप उठाते हैं। और फिर पहला कदम दूसरा कदम उठाता है, और दूसरा तीसरा उठाता है।

जिसे बेहोशी को रोकना हो, उसे पहले कदम पर ही रुक जाना चाहिये। क्योंकि वही उसके निर्णय की जरूरत है। फिर दूसरे कदम पर रुकना मुश्किल है। तीसरे कदम पर रुकना असम्भव हो जायेगा। हर रोग हमारे मानसिक जीवन में पहले कदम पर ही रोका जा सकता है, दूसरे कदम पर रोकना बहुत मुश्किल है। जितना हम आगे बढ़ते हैं, उतना ही रोग भयंकर होता चला जाता है। और जो पहले कदम पर रोक नहीं पाया, वह अगर सोचता हो कि तीसरे कदम पर रोक लेगे, तो वह अपने को धोखा दे रहा है। क्योंकि पहले कदम पर, जब कि वह ताकत वर था, तब नहीं रोक पाया, तो अब तीसरे कदम पर कैसे रोकेगा, जब वह कमजोर हो जायेगा !

इसलिए महावीर कहते हैं—'रसवाले पदार्थों का अधिक मात्रा मे सेवन नहीं करना चाहिये क्योंकि वे मादकता पैदा करते हैं। मत्त पुरुष अथवा स्त्री के पास वासनाएँ वैसी ही दौड आती हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की ओर पक्षी।'

लेकिन हम तो चाहते हैं कि लोग हमारे चारों तरफ दौड़े हुए आएँ। हम तो चाहते हैं कि हम स्वादिष्ट फल बन जाएँ—लदे हुए वृक्ष। सारे पक्षी हम पर ही डेरा कर लें। तो जहां नही है फल, वहां हम झूठे, नकली फल लटका देते हैं, ताकि फल की ओर लोग दौड़े हुए आएँ। पक्षी तो धोखा खाते नही नकली फलो से, आदमी धोखा खाते हैं।

हर आदमी बाजार में खडा है, अपने को रसीला बनाए हुए कि चारो तरफ से लोग दौडें और मधुमक्खियों की तरह उस पर छा जाएँ। जब तक किसी को ऐसा न लगे कि मैं बहुत लोगों को पागल कर पाता हूँ, तब तक उसे आनन्द ही नही मालूम होता जीवन मे। जब भीड चारो तरफ से दौडने लगे आपकी ओर, तो आपको लगता है कि आप 'मैग्नेट' हो गये, 'कॅरिज्मैटिक' हो गए। अब आप चमत्कारी हैं।

राजनीतिज्ञ को रस ही यही है, नेता को रस ही यही है कि लोग उसकी तरफ दौड रहे हैं। अभिनेता का, अभिनेत्री का रस ही यही है कि लोग उसकी तरफ भाग रहे हैं।

तो, हम तो अपने को एक ऐसा मादक बिंदु बनाना चाहते हैं, जो चारो तरफ से खीच ले, जिसके व्यक्तित्व में शराब हो। और महावीर कहते हैं कि जो दूसरे को खीचने जायेगा, वह पहले ही दूसरों से खिंच चुका है; जो दूसरो के आकर्षण पर जियेगा, वह दूसरों से आकर्षित है, और जो अपने भीतर मादकता भरेगा, बेहोशी भरेगा, लोग उसकी तरफ खीचेंगे जरूर, लेकिन वह अपने को खो रहा है, डुबा रहा है। और एक दिन वह रिक्त हो जायेगा और वह जीवन के अवसर से चूक जायेगा।

निश्चित ही, एक स्त्री जो होशपूर्ण हो, वह कम लोगो को आकर्षित करेगी। एक स्त्री जो मदमत्त हो, वह ज्यादा लोगों को आकर्षित करेगी; क्योकि मदमत्त स्त्री पशु जैसी हो जाएगी। सारी सभ्यता, सारा सस्कार जो ऊपर था, वह सब टूट जायेगा, वह पशुवत् हो जायेगी। एक पुरुष जो मदमत्त हो, वह ज्यादा स्त्रियो को आकर्षित कर लेगा, क्योकि वह पशुवत् हो जायेगा, उसमें ठीक पशुओ जैसी गति आ जायेगी।

सब वासनाएँ यदि पशु जैसी हो, तो ज्यादा रसपूर्ण हो जाती हैं, इसलिए जिन मुल्को में भी कामवासना प्रगाढ़ हो जायेगी, उन मुल्कों में शराब भी प्रगाढ़ हो जायेगी। सच तो यह है कि फिर बिना शराब पिये काम-वासना में उतरना मुश्किल हो जायेगा, क्योंकि वह जो थोड़ी समझ है, वह बाधा डालती

है। शराब पीकर आदमी फिर ठीक पशुवत् व्यवहार कर सकता है।

यह हमारी वृत्ति है कि हम किसी को आकर्षित करें। अगर आप आकर्षित करना चाहते हैं किसी को, तो आपको किसी न किसी मामले में मदमत्त होना चाहिये। जो राजनीतिज्ञ नेता पागल की तरह बोलता है, जो पागल की तरह आश्वासन देता है, जो कहता है कि कल मेरे हाथ में ताकत होगी, तो स्वर्ग आ जायेगा पृथ्वी पर, वह ज्यादा लोगो को आकर्षित करता है, और जो समझदारी की बातें करता है, उससे कोई आकर्षित नही होता। जिस अभिनेत्री की आँखों से शराब आपकी तरफ बहती हुई मालूम पडती है, वह आपको आकर्षित करती है। उसके पास ऐसी आँख होनी चाहिये, जिसमे शराब का भाव हो—मदहोश आँख होनी चाहिये। उसके चेहरे पर जो रौनक हो, वह आपको जगाती न हो, सुलाती हो। अभिनेत्री के पास अगर बुद्ध जैसी आँखे हो, और आप पागल जैसे गये हों, तो आप शान्त होकर घर लौटेंगे।

जहाँ भी हमे बेहोशी मिलती है, वहाँ हमे रस आता है। जिस चीज को भी देखकर आप अपने को भूल जाते हैं, समझना कि वहाँ शराब है। अगर एक अभिनेत्री को देखकर आपको अपना ख्याल नही रह जाता है, तो आप समझना कि वहाँ बेहोशी है, शराब है, और वह शराब ही आपको खींच रही है। शराब, शराब की बोतलो मे ही नहीं होती, आँखो मे भी होती है, वस्त्रो मे भी होती है, चेहरो मे भी होती है, हाथों मे भी होती है, चमडी मे भी होती है। शराब बड़ी व्यापक घटना है।

महावीर कहते है कि जो व्यक्ति इस तरह के रसो का सेवन करता है, जो मादक हैं; और जो अपने भीतर की मादकता को मिटाता नही, बढ़ाता है, उसकी तरफ वासनाएँ ऐसे ही दौडने लगेंगी, जैसे फल भरे वृक्ष के पास पक्षी दौड आते हैं। और जो व्यक्ति अपने पास वासनाएँ बुला रहा हो, वह अपने हाथ से अपने बन्धन निर्मित कर रहा है; वह अपनी हथकड़ियो और अपनी बेडियो को निमत्रण दे रहा है कि आओ, वह अपने हाथ से अपने कारागृहों को बुला रहा है कि आओ और मेरे चारो तरफ निर्मित हो जाओ, वह व्यक्ति कभी मुक्ति, वह व्यक्ति कभी शान्ति, वह व्यक्ति कभी शून्यता, वह व्यक्ति कभी सत्य को उपलब्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सत्य की पहली शर्त है—स्वतंत्रता, सत्य की पहली शर्त है—मुक्त-भाव, और वासनाओ मे कोई कैसे मुक्त हो सकता है?

'काम-भोग अपने-आप न किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में राग-द्वेष रूप विकृति पैदा करते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना सकल्प बनाकर मोह से विकारग्रस्त हो जाता है।'

यह सूत्र कीमती है।

महावीर कहते हैं कि सारा खेल काम-वासना का तुम्हारा अपना है।

मैं कुम्भ के मेले मे था और एक मित्र मेरे साथ थे। मेला शुरू होने में अभी देर थी कुछ। हम दोनों बैठे थे गगा के किनारे। दूर; पर बहुत दूर नही—दिखाई न पडे, इतनी ही दूर एक महिला अपने बाल संवार रही थी स्नान करने के बाद। वहाँ से उसकी पीठ ही दिखाई पड़ती थी। वह मित्र उसकी पीठ देखकर बिलकुल पागल हो गये। बात-चीत मे उनका रस जाता रहा। उन्होने मुझसे कहा कि आप रुकें, मैं जब तक उस स्त्री का चेहरा न देख लूँ, तब तक मुझे चैन नही पड़ेगा, मैं जाऊँ और चेहरा देख आऊँ। वे गए, पर वहाँ से बड़े उदास लौटे; क्योंकि वहाँ कोई स्त्री नही थी। वह एक साधु था, जो अपने बाल संवार रहा था!

गये, तब उनके पैरों की चाल···!

लौटे, तब उनके पैरों का हाल···!

···मगर सकोची होते, शिष्ट होते, मन मे ही रख लेते, तो जिन्दगी भर परेशान रहते।

सच मे ही पीछे से वह आकृति आकर्षक मालूम पडती थी, पर वह आकर्षण वहाँ था या उन मित्र के मन में था? क्योंकि वहाँ जाकर जब यह पता चला कि वह पुरुष है, तो उनका सारा आकर्षण खो गया।

आकर्षण स्त्री मे है या स्त्री के भाव में? आकर्षण पुरुष में है या पुरुष के भाव मे?

वास्तविक आकर्षण भीतर है, उसे हम फैलाते हैं बाहर। बाहर खूंटियाँ हैं सिर्फ, उन पर हम टाँगते हैं अपने आकर्षण को। और ऐसा भी नही है कि ऐसी घटना घटे, तभी हमे पता चलता है।

आज आप किसी के लिए दिवाने हैं; बड़ा रस है। और कल जब सब फीका हो जाता है, तो आप खुद ही नही सोच पाते कि क्या हुआ—कल इतना रस था और आज सब फीका क्यों हो गया?—व्यक्ति वही है, पर सब रस फीका हो गया!

मन का आकर्षण पुनरुक्ति नही माँगता। अगर व्यक्ति का ही आकर्षण हो, तो वह आज भी उतना ही रहेगा, कल भी उतना ही रहेगा, परसों भी उतना ही रहेगा; लेकिन मन नये को माँगता है। इसलिए आज जिसको आकर्षित जाना है, पक्का समझ लेना, कि कल वह उतना आकर्षित नहीं रहेगा, परसो वह और फीका हो जायगा, नरसो धुमिल हो जायेगा, आठ दिन बाद दिखाई भी नही पडेगा, सब खो जायेगा।

मन तो नये को माँगता है। पुराने मे मन का रस खोने लगता है, यह मन का स्वभाव है। आज जो भोजन किया है, कल भी वही भोजन, परसों भी वही भोजन तो चौथे दिन घबडाहट हो जायेगी; क्योकि मन नये को माँगता है। आज भी वही पत्नी, कल भी वही पत्नी, परसो भी वही पत्नी, तो चौथे दिन मन उदास हो जाता है; क्योकि पुराने मे मन का रस खोने लगता है। इसलिए अगर पत्नी में आकर्षण जारी रखना है, तो नये के सब उपाय बिलकुल बन्द कर देने चाहिये; तो ही पुराने मे किसी प्रकार आकर्षण जारी रह सकता है। इसीलिए विवाह के इतने इन्तजाम किये गये हैं, ताकि बाहर कोई उपाय ही न रह जाए।

जिन मुल्को ने बाहर के उपाय कर लिये, वहाँ विवाह टूट रहा है; वहाँ विवाह बच नही सकता। विवाह एक बड़ी आयोजना है। वह ऐसी आयोजना है कि विवाह के पश्चात् पुरुष फिर किसी और स्त्री को ठीक से देख भी न पाए; कोई स्त्री फिर किसी पुरुष के निकट पहुँच भी न पाए। तो फिर मजबूरी मे हम उन दोनो को छोड देते हैं। उसका मतलब यह हुआ कि मुझे आज भी वही भोजन दें, कल भी वही भोजन दें, परसो भी वही भोजन दें। और अगर किसी और भोजन का कोई उपाय नही हो और मेरी काल-कोठरी में वही भोजन मुझे उपलब्ध होता हो, तो चौथे दिन भी मैं वही भोजन करूँगा, पाँचवे दिन भी वही करूँगा, लेकिन अगर मुझे और भोजन उपलब्ध हो सकते हो, कोई अड़चन न आती हो, कोई असुविधा नही आती हो, तो नही करूँगा।

इसलिए एक बात पक्की है कि विवाह तभी तक टिक सकता है दुनिया मे, जब तक हम बाहर के सारे आकर्षणों को पूरी तरह रोक रखते हैं। बाहर जितना आकर्षण मिलता है, विवाह मे अगर उससे ज्यादा खतरा मिले, उपद्रव मिले, झंझट मिले, परेशानी मिले, तो ही विवाह रुक सकता है; अन्यथा विवाह टूट जायेगा। लेकिन ऐसा विवाह जो टूट जायेगा, झूठा ही होगा। बाहर के सारे आकर्षण के बावजूद यदि विवाह बच जाये, तो ही समझना कि

विवाह है; अन्यथा समझना कि धोखा था। जिस दिन विवाह के कोई बन्धन नहीं होंगे, उसी दिन हमें पता चलेगा कि कौन पति-पत्नी हैं; उसके पहले कोई पता नहीं चल सकता—कोई उपाय नही है पता चलने का।

मुझे क्या पसन्द है, मेरा किसके साथ गहरा आन्तरिक नाता है, वह तभी पता चलेगा, जब बदलने के सब उपाय हो और बदलाहट न हो। जब बदलने के कोई उपाय न हों और बदलाहट न हो, तो सभी पत्नियाँ 'सतियाँ' हैं—कोई अड़चन नही है—तो सभी पति एक पत्नीव्रती हैं; जितनी हमारे चारों तरफ खूँटियाँ हो, उतना ही हमे पता चलेगा कि कितना 'प्रोजेक्शन' है, कितना हमारा मन एक खूँटी से दूसरी खूँटी पर, दूसरी खूँटी से तीसरी खूँटी पर नाचता रहता है। जो रस हम पाते हैं उस खूँटी से, वह हमारा ही दिया हुआ दान है—यह महावीर कह रहे हैं; उससे कुछ मिलता नही है हमें।

एक कुत्ता है, वह एक हड्डी को मुँह मे लेकर चूस रहा है। कुत्ता जब हड्डी चूसता है तब बैठ कर ध्यान करना चाहिये उस पर, क्योंकि वह बड़ा गहरा काम कर रहा है, जो सभी आदमी करते हैं। कुत्ता हड्डी चूसता है, तो हड्डी में कुछ रस तो होता नही, लेकिन कुत्ते के खुद के ही मुँह मे जख्म हो जाते हैं हड्डी चूसने से, और उनसे खून निकलने लगता है। वह जो खून निकलता है, तो कुत्ता समझता है कि खून हड्डी से आ रहा है। अपना ही खून है, लेकिन कुत्ता समझे भी कैसे कि खून हड्डी से नही निकल रहा है, हड्डी चूसने से निकल रहा है। स्वभावतः तर्क उपयुक्त है, गणित साफ है कि जब वह हड्डी चूसता है, तभी खून निकलता है, हड्डी से निकलता है; लेकिन वह निकलता है उसके अपने ही मसूड़ों के टूट जाने से, अपने ही मुँह में घाव हो जाने से। कुत्ता मजे से हड्डी चूसता रहता है और अपना ही खून पीता रहता है।

जब आप किसी और से रस ले रहे हैं, तब आप हड्डी चूस रहे हैं। रस आपके ही मन का है। अपना ही खून झरता है, किसी दूसरे से कोई रस मिलता नहीं, मिल सकता नहीं। अगर एक व्यक्ति को सम्भोग में भी सुख मिलता है, तो अपने ही खून झरने से मिलता है; किसी दूसरे से कुछ लेना-देना नहीं है। वह हड्डी चूसना है। लेकिन कठिनाई यह है कि न कुत्ते की समझ में आता है और न आदमी की समझ में आता है। खुद को समझना जटिल है।

महावीर कहते हैं—काम-भोग अपने-आप किसी मनुष्य में समभाव पैदा नहीं करते, तो मत सोचना कि काम-भोग से कोई समता उपलब्ध होती है, सुख उपलब्ध होता है, शान्ति उपलब्ध होती है। इससे विपरीत भी मत सोचना; क्योंकि साधु संन्यासी यही सोचते हैं कि काम-भोग से दुख उत्पन्न होता है, कठिनाई आती है, राग-द्वेष पैदा होते हैं। नर्क निर्मित होता है। ध्यान रखना कि यह वही आदमी है, जो कल सोचता था कि काम-भोग से स्वर्ग मिलता है। यह वही आदमी है, जो अब शीर्षासन करने लगा, अब यह कहता है कि काम-भोग से नर्क मिलता है।

महावीर कहते है कि काम-भोग से न स्वर्ग मिलता है, न नर्क मिलता है। काम-भोग पर स्वर्ग भी तुम्हारा मन ही आरोपित करता है और काम-भोग पर तुम्हारा मन ही तुम्हारा नर्क भी निर्मित करता है। तुम काम-भोग से वही पाते हो, जो तुम डाल देते हो उसमे, तुम्हें वही मिलता है, जो तुम्हारा ही दिया हुआ है, और अगर तुम उसे डालना बन्द कर दो, तो काम-भोग विलीन हो जाता है, तिरोहित हो जाता है।

जिस दिन कोई व्यक्ति यह जान लेता है कि सुख भी मेरे, और दुख भी मेरे—सब भाव मेरे हैं, उस दिन व्यक्ति मुक्त हो जाता है। जब तक मुझे लगता है, कि दुख किसी और से आता है, और सुख किसी और से आता है, तब तक मैं परतन्त्र होता हूँ, दूसरे पर निर्भर होता हूँ।

मुक्ति का यही है अर्थ कि जिस दिन मुझे लगता है कि सब कुछ मेरा फैलाव है। जहाँ मैंने चाहा कि सुख पाऊँ, वहाँ मैंने सुख देख लिया, जहाँ मैंने चाहा कि दुख पाऊँ, वही मैंने दुख देख लिया। जो मैंने देखा, वह मेरी आँख से गये हुए चित्र थे, जगत् ने तो केवल पर्दे का काम किया—चित्र मेरे थे, 'प्रोजेक्टर' मैं हूँ, लेकिन 'प्रोजेक्टर' दिखाई नही पड़ते। फिल्म जब आप देखते हैं, तो 'प्रोजेक्टर' पीठ के पीछे होता है। वह पीछे छीपा रहता है दीवार के के भीतर। छोटे से छेद से निकलते रहते हैं चित्र, लेकिन दिखाई पड़ते हैं परदे पर, जहाँ वह होते नही। जहाँ चित्र होते हैं, वह जगह होती है पीठ के पीछे; पर वहाँ कोई देखता नही। परदे पर 'प्रोजेक्टर' जो फेंकता है, केवल वही

दिखाई पड़ता है।

ध्यान रहे; जब मैं किसी स्त्री, किसी पुरुष, किसी मित्र, किसी शत्रु के प्रति किसी भाव में पड़ जाता हूँ, तो 'प्रोजेक्टर' पीछे, मेरे भीतर छिपा है, जहाँ मैं चित्र हूँ; और दूसरा व्यक्ति केवल एक परदा है, जिस पर वह चित्र दिखाई पड़ता है। इस भाँति मैं ही दिखाई पड़ता हूँ बहुत लोगों पर।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जब किसी आदमी में तुम्हें कोई बुराई दिखाई पड़े, तो बहुत गौर से सोचना ! ज्यादा मौके ऐसे होंगे कि वह बुराई तुम्हारी ही होगी। जैसे एक बाप अगर गधा रहा हो स्कूल मे, तो बेटे को गधा वह बिलकुल बर्दाश्त नही करेगा; वह बेटे को बुद्धिमान बनाने की कोशिश में लगा रहेगा। और जरा सा भी बेटा अगर ना-समझी करे, या उसके नम्बर कम हो जाएँ परीक्षा मे तो बाप भारी शोर-गुल मचायेगा। बुद्धिमान बाप शोर-गुल नही मचायेगा, लेकिन बुद्धू बाप जरूर मचायेगा। उसका कारण है कि बेटा सिर्फ 'प्रोजेक्शन' का परदा है। जो उनमें कम रह गया है, उसे वह बेटे में पूरा करने की कोशिश कर रहे हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा एक दिन अपने स्कूल का प्रमाण-पत्र लेकर लौटा सालाना परीक्षा का, तो मुल्ला ने बहुत हाय-तोबा मचाई; बहुत उछला कूदा और कहा—बर्बाद कर दिया, नाम डुबा दिया, किसी विषय मे उत्तीर्ण नहीं हुआ है, अधिकतर मे शून्य प्राप्त हुआ है।

लेकिन बेटा नसरुद्दीन का ही था, वह खडा मुस्कराता रहा। जब बाप काफी शोर-गुल कर लिया और काफी अपने को उत्तेजित कर लिया, तब बेटे ने कहा—'जरा ठहरिये ! यह प्रमाण-पत्र मेरा नही है, यह एक पुरानी किताब मे रखा हुआ था, यह आप का है !'

मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा—'तब ठीक है। तो जो मेरे बाप ने मेरे साथ किया था, वही मैं तेरे साथ करूँगा।'

बेटे ने पूछा—'तुम्हारे साथ क्या किया था ?'

नसरुद्दीन ने कहा—'नंगा करके चमड़ी उधेड़ दी थी।'

…तो ठीक ! मेरा ही सही, कोई हर्जा नहीं; पर तेरा कहाँ है ?

बेटे ने कहा—'मेरी भी हालत यही है। इसीलिए तो मैंने आपका दिखाया कि शायद आप थोड़े नरम हो जायें।'

'नरम होने का कोई उपाय नहीं है। जो मेरे बाप ने मेरे साथ किया था, वही मैं तेरे साथ करूंगा।'

जो हमे दूसरों में दिखाई पड़ता है—आपको दिखाई पड़ता है कि फलां आदमी बहुत ईर्ष्यालू है—थोड़ा ख्याल करना कि कही वह आदमी पर्दा तो नहीं है, और आपके भीतर ईर्ष्या तो नहीं है; आपको दिखाई पड़ता है कि फलां आदमी बहुत अहंकारी है, तो थोड़ा ख्याल करना कि कहीं वह पर्दा तो नही है, और आपके भीतर अहकार तो नही है। आपको लगता है कि फलां आदमी बेईमान है—थोड़ा ख्याल करना, थोड़ा मुड़कर देखना शुरू करना, ताकि 'प्रोजेक्टर का पता चले' पर्दे पर ही मत देखते रहना।

महावीर कहते हैं, सब पीछे से, भीतर से आ रहा है और बाहर फैल रहा है। सारा खेल तुम्हारा है। तुम्हीं हो नाटक के लेखक, तुम्ही हो उसके पात्र, तुम्ही हो उसके दर्शक। दूसरे को मत खोजो, अपने को खोज लो। जो इस खोज में लग जाता है, वह एक दिन मुक्त हो जाता है।

आज इतना ही। पाँच मिनट रुकें।

●

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१७ सितम्बर, १९७२

चौदहवाँ प्रवचन

कषाय-सूत्र

●

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

पुढवी साली जवा चेव,
हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स,
इइ विज्जा तवंचरे ॥

अनिगृहित क्रोध और मान तथा बढ़ते हुए माया और लोभ ये चारों काले कुत्सित कषाय पुनर्जन्मरूपी संसार-वृक्ष की जड़ों को सींचते रहते हैं।

चावल और जौ आदि धान्यों तथा सुवर्ण और पशुओं से परिपूर्ण यह समस्त पृथ्वी भी लोभी मनुष्य को तृप्त कर सकने में असमर्थ है—यह जानकर संयम का ही आचरण करना चाहिए।

सूत्र के पूर्व कुछ प्रश्न।

● महावीर ने अप्रमाद को साधना का आधार कहा है। इस सम्बन्ध मे एक मित्र ने पूछा है कि हम अपने काम-काज में, अपनी ऑफिस में, दुकान मे कार्य करते समय अप्रमाद को कैसे आचरण मे लाएँ? होश रहने पर ध्यान रखें, तो काम कैसे हो? काम में होते हुए क्या होश की साधना हो सकती है?

दो तीन बातें ख्याल में लेनी चाहिए।

पहली बात—होश कोई अलग प्रक्रिया नही है कि भोजन करने में बाधा डाले। जैसे मैं आप से कहूँ कि आप भोजन करें और दौड़ें भी, तो दोनों मे से एक ही काम हो सकेगा—दौड़ना या भोजन करना। आप से मैं कहूँ कि दफ्तर जाएँ और सोएँ भी, तो दोनो मे से एक ही हो सकेगा—सोना या दफ्तर जाना।

होश कोई प्रतियोगी क्रिया नही है। भोजन आप कर सकते हैं—होश रखते हुए या बेहोशी मे। होश, भोजन के करने में बाधा नहीं बनेगा। होश रखने का अर्थ सिर्फ इतना ही है कि भोजन करते समय मन कही और न जाए, भोजन करने में ही हो। मन कही और चला जाए, तो भोजन करना होशपूर्वक नहीं हो सकेगा। आप भोजन कर रहे हैं और मन दफ्तर में चला गया, शरीर भोजन की टेबल पर है और मन दफ्तर मे, तो न तो दफ्तर में हैं आप, क्योंकि वहाँ आप हैं नहीं और न भोजन की टेबल पर हैं आप, क्योंकि मन वहाँ नहीं रहा। तो वह जो भोजन कर रहे हैं आप, वह बेहोशी में हो रहा है, आप के बिना हो रहा है।

इस बेहोशी को तोडने की प्रक्रिया है—होश। भोजन करते वक्त मन भोजन में ही हो, कहीं और न जाए। सारा जगत् जैसे मिट गया और सिर्फ यह छोटा सा काम भोजन करने का रह गया। पूरी चेतना भोजन के सामने है। एक कौर भी आप बनाते हैं, उठाते हैं, मुँह में ले जाते हैं, चबाते हैं, तो यह सारा होशपूर्वक हो रहा है। आपका सारा ध्यान भोजन करने में ही है;

इस फर्क को आप ठीक से समझ लें।

अगर मैं आप से कहूँ कि भोजन करते वक्त राम-राम भी जपें, तो दो क्रियाएं हो जाएँगी। राम-राम जपेंगे, तो भोजन से ध्यान हटेगा और भोजन पर ध्यान लाएँगे, तो राम-राम का ध्यान टूटेगा। मैं आपको कहीं और ध्यान ले जाने को नही कह रहा हूँ। जो आप कर रहे हैं, उसको ही ध्यान बना लें। इससे आपको किसी काम मे बाधा नही पडेगी, बल्कि सहयोग मिलेगा। क्योंकि जितने ध्यानपूर्वक काम किया जाए, उतना कुशल हो जाता है।

काम की कुशलता ध्यान पर निर्भर है। अगर आप अपने दफ्तर मे काम को ध्यानपूर्वक रख रहे हैं, जो भी कर रहे हैं, तो आपकी कुशलता बढ़ेगी, क्षमता बढेगी, कार्य की मात्रा बढ़ेगी, और आप थकेंगे नही, और आपकी शक्ति बचेगी, और आप दफ्तर से ऐसे ही वापस लौटेंगे, जैसे ताजे लौट रहे हैं। क्योंकि जब शरीर कुछ और करता है तथा मन कुछ और करता है, तो दोनो के बीच तनाव पैदा होता है। वही तनाव थकान है। आप होते हैं दफ्तर मे, मन होता है सिनेमा-गृह मे; आप होते हैं सिनेमा मे, मन होता है घर पर। तो मन और शरीर के बीच जो फासला है, उसका तनाव ही आपको थकाता है और तोडता है।

आप जहाँ होते हैं यदि मन भी वही होता है, तो आप ताजे होते हैं। इसलिए आप देखें, जब आप कोई खेल खेल रहे होते हैं, तो आप ताजे होकर लौटते हैं। खेल में शक्ति लगती है, लेकिन खेल के बाद आप ताजे होकर लौटते हैं। बडी उल्टी बात मालूम पडती है। आप बैडमिन्टन खेल रहे हैं कि कबड्डी खेल रहे हैं या बच्चों के साथ बगीचे मे दौड रहे हैं, शक्ति व्यय हो रही है, लेकिन इस दौडने के बाद आप ताजे होते हैं। और यही काम अगर आपको करना पड़े, तो आप थकते हैं।

काम और खेल मे एक ही फर्क है, खेल मे पूरा ध्यान वहीं मौजूद होता है, काम मे पूरा मौजूद नही होता। इसलिए अगर आप किसी को नौकरी पर रख लें खेलने के लिए, तो खेलने के बाद वह थक कर जाएगा। क्योंकि वह फिर खेल नही है, काम है। और जो होशियार हैं, वे अपने काम को भी खेल बना लेते हैं। खेल का मतलब है कि आप जो भी कर रहे हैं इतने ध्यान, इतनी तल्लीनता, इतने आनन्द में डूब कर कर रहे हैं कि उस करने के बाहर कोई संसार नहीं बचा है। आप इस करने के बाद ज्यादा ताजे और सशक्त लौटेंगे। कुशलता बढ़ जाएगी।

जो भी हम ध्यान से करते हैं, उससे कुशलता बढ़ जाती है। लेकिन अनेक लोग ध्यान का मतलब समझते हैं, जोर-जबरदस्ती से की गई एकाग्रता। अगर आप जबरदस्ती अपने को खींचकर किसी काम पर लगते हैं, तो आप थक जाएँगे। तब तो यह ध्यान भी एक काम हो गया। जो भी जबरदस्ती किया जाता है, वह काम हो जाता है।

ध्यान को भी आनन्द समझें। इसको भी बेचैनी मत बनाएँ। यह आपके सिर पर एक बोझ न हो जाए कि मुझे ध्यानपूर्वक ही काम करना है। इसको चेष्टा और प्रयत्न का बोझ न दें। हल्के-हल्के इसे विकसित होने दें, इसे सहारा दें। जब भी ख्याल आ जाए, तो होशपूर्वक करें। भूल जाएँ, तो चिन्ता न लें। जब ख्याल आ जाए, फिर होशपूर्वक करने लगें।

अगर आपने तय किया है कि मैं अपना काम होशपूर्वक करूँगा, तो आप कर पाएँगे। आज ही कर पायेंगे, ऐसा नहीं है। वर्षों लग जाएँगे; क्योंकि क्षण भर भी होश रखना मुश्किल है। तय करेंगे कि होशपूर्वक चलूँगा, तो दो कदम भी नहीं उठा पाएँगे कि होश कहीं और चला जाएगा और कदम कहीं और चलने लगेंगे। उससे चिन्तित न हों, पश्चात्ताप न करें। लाखों-लाखों जन्मों की आदत है बेहोशी की, इसलिए दुखी होने का कोई कारण नहीं है। हमने ही साधा है बेहोशी को, इसलिए किससे शिकायत करने जाएँ और परेशान होने से कुछ हल नहीं होता।

जैसे ही ख्याल आ जाए कि पैर बेहोशी में चलने लगे, मेरा ध्यान कहीं और चला गया था, तो आनन्दपूर्वक फिर ध्यान को ले आएँ। इसको पश्चात्ताप न बनाएँ। इससे मन में दुखी न हों। इससे पीडित न हों। इससे ऐसा न समझें कि यह अपने से न होगा। यह भी न समझें कि मैं तो बहुत दीन-हीन हूँ, बहुत कमजोर हूँ, मुझसे होने वाला ही नहीं है, होता होगा महावीर से, अपने वश की बात नहीं है। बिलकुल न सोचें ऐसा। महावीर भी शुरू करते हैं, तो ऐसा ही होगा। कोई भी शुरू करता है, तो ऐसा ही होता है। महावीर इस यात्रा का अन्त हैं, प्रारम्भ पर वे भी आप जैसे हैं। अन्त आपको दिखाई पड़ा है। महावीर के प्रारम्भ का आपको कोई पता नहीं है। प्रारम्भ में सभी के पैर डगमगाते हैं।

छोटा बच्चा चलना शुरू करता है; अगर वह आपको देख ले चलता हुआ और सोचे कि यह अपने से न होगा, तो वह चल ही न पायेगा। आप भी ऐसे ही चले थे। आपने भी ऐसे ही कदम उठाए थे और गिरे थे। दो कदम उठाने

के बाद बच्चा भी, फिर चारों हाथ पैर से चलने लगता है। वह भूल ही जाता है कि दो कदम से चलना था, फिर चारो से घिसकने लगता है।

प्रमाद को तोडने में भी ठीक ऐसा ही होगा। दो कदम आप होश में चलेंगे, फिर अचानक चार हाथ-पैर से बेहोशी मे चलने लगेंगे। जैसे ही होश आ जाए फिर खडे हो जाएँ। चिन्ता मत लें इसकी कि बीच में होश क्यों खो गया। इस चिन्ता में समय और शान्ति खराब न करें। तत्काल होश को फिर साधने लगें। अगर चौबीस घटे मे चौबीस क्षण भी होश सध जाए, तो आप महावीर हो जाँएँगे। काफी है। इतना भी बहुत है। इससे ज्यादा की आशा मत रखें; अपेक्षा भी मत करें। चौबीस घटे में अगर चौबीस क्षणो को भी होश आ जाए, तो बहुत है। धीरे-धीरे क्षमता बढ़ती जाएगी, और वह जो आज बच्चा सोच रहा है कि अपने वश के बाहर है दो पैर से चलना, एक दिन वह दो पैर से चलेगा और कोई प्रयत्न नही करना पड़ेगा, कोई प्रयास नही रह जाएगा।

तो यह ध्यान रख लें कि ध्यान को काम नही बना लेना है। बहुत से धार्मिक लोग ध्यान को ऐसा काम बना लेते हैं जैसे कि उनके सिर पर पत्थर रखा है। उसकी वजह से उनका क्रोध बढ़ जाता है। फिर जिससे भी उन्हें बाधा पड़ जाती है, उस पर वे क्रोधित हो जाते हैं। जिस काम मे उनका ध्यान नही टिकता, उस काम को छोड कर वे भागना चाहते हैं। जिनके कारण असुविधा होती है, उनका त्याग करना चाहते हैं। यह सब क्रोध है। इस क्रोध से कोई हल नही होगा।

साधक को चाहिए धैर्य—और तब दुकान भी जंगल जैसी सहयोगी हो जाती है। साधक को चाहिए अनन्त प्रतीक्षा—और तब घर भी किसी भी आश्रम से महत्वपूर्ण हो जाता है। निर्भर करता है आपके भीतर के धैर्य, प्रतीक्षा और सतत, सहज प्रयास पर। प्रयास तो करना ही होगा, लेकिन उस प्रयास को एक बोझीलता जो बनाएगा, वह हार जाएगा।

जीवन मे जो भी महत्वपूर्ण है, वह प्रतीक्षा से, सहजता से, बिना बोझ बनाए, प्रयास से उपलब्ध होता है। सच तो यह है कि हम कोई भी चीज आज भी कर सकते हैं, लेकिन अधैर्य ही हमारा, बाधा बन जाता है। उससे उदासी आती है, निराशा आती है, हताशा पकड़ती है और आदमी सोचता है कि नहीं यह अपने से न हो सकेगा। यह जो बार-बार हताशा पकड़ती है, यह अहकार का लक्षण है।

आप अपने से बहुत अपेक्षा कर लेते हैं पहले, फिर उतनी पूरी नहीं होती। वह अपेक्षा आपका अहंकार है। एक क्षण भी होश सधता है, तो बहुत है। एक क्षण भी जो आज सधता है, वह कल दो क्षण भी सध जाएगा। और ध्यान रहे, एक क्षण से ज्यादा तो आदमी के हाथ में कभी होता भी नहीं। दो क्षण तो किसी को इकट्ठे मिलते भी नही। इसलिए दो क्षण की चिन्ता भी क्या? जब भी आपके हाथ मे समय आता है, एक ही क्षण आता है। अगर आप एक क्षण में होश साध सकते हैं, तो समस्त जीवन में होश सध सकता है। इसका बीज आपके पास है। एक ही क्षण तो मिलता है हमेशा। और एक क्षण का होश साधने की क्षमता आप में है।

आदमी एक कदम चलता है एक बार में, कोई मीलों की छलांग नहीं लगाता। और एक-एक कदम चलकर आदमी हजारों मील चल लेता है। जो आदमी अपने पैरो को देखेगा और देखेगा कि एक कदम चलता हूँ, एक फीट पूरा नही हो पाता, हजार मील कहाँ पार होने वाले हैं, वह वहीं बैठ जाएगा। लेकिन जो आदमी यह देखता है कि एक कदम चल लेता हूँ, तो एक कदम, हजार मील मे कम हुआ, और अगर जरा सी भी कम होता है, तो एक दिन सागर को भी चुकाया जा सकता है। फिर कुछ भी अडचन नही है। इतना चल लेता हूँ, तो एक हजार मील भी चल लूंगा, दस हजार मील भी चल लूंगा। लाओत्से ने कहा है—पहले कदम को उठाने मे जो समर्थ हो गया, उसको अंतिम बहुत दूर नही है।

जिसने पहला कदम उठा लिया है, वह अंतिम भी उठा लेगा। पहले में ही अडचन है, अंतिम मे अड़चन नहीं है। जो पहले पर ही थक कर बैठ गया, निश्चित ही वह अंतिम नहीं उठा पाता है। पहला कदम आधी यात्रा है, चाहे यात्रा कितनी ही बड़ी क्यों न हो। जिसने पहले कदम के रहस्य को समझ लिया, वह चलने की तरकीब समझ गया, विज्ञान समझ गया। एक-एक कदम उठाये जाना है। एक-एक पल को प्रमाद से मुक्त करते जाना है। जो भी करते हैं, होशपूर्वक करें। होश अलग काम नही है, उस काम को ही ध्यान बना लें।

दुनिया मे जो और साधन पद्धतियाँ हैं, वे सब ध्यान को अलग काम बताती हैं। वे कहती हैं रास्ते पर चलें, तो राम को स्मरण करते रहो। वे कहती हैं कि बैठे हो खाली, तो माला जपते रहो। कोई भी पल ऐसा न जाए, जो प्रभु-स्मरण से खाली हो। इसका मतलब हुआ कि जिन्दगी का काम एक तरफ चलता रहेगा और भीतर एक नए काम की धारा शुरू करनी पड़ेगी।

महावीर और बुद्ध इस मामले में बहुत ही अनूठे और भिन्न हैं। वे कहते हैं, भेद करने से तनाव पैदा होता है, अड़चन होती है।

मेरे पास एक सैनिक को लाया गया था। वह सैनिक था, सैनिक के ढग का। उसका अनुशासन था मन का। उसने किसी से मन्त्र ले लिया था। तो जैसे वह अपनी सेना में आज्ञा मानता था अपने कैप्टन की, वैसे ही उसने अपने गुरू की भी आज्ञा मानी और मन्त्र को चौबीस घटे रटने लगा। उसे अभ्यास हो गया दो-तीन महीने में। जब मन्त्र अभ्यस्त हो गया, तब बड़ी अड़चनें शुरू हुई, उसकी नींद खो गई क्योंकि वह मन्त्रको जपता ही रहता। धीरे-धीरे नीद मुश्किल हो गई। क्योंकि मन्त्र चले, तो नीद कैसे चले। फिर धीरे-धीरे रास्ते पर चलते वक्त जब कार का हार्न बजे, तो उसे सुनाई न पडे। क्योंकि वहाँ भीतर मन्त्र चल रहा है। वह इतना एकाग्र होकर मन्त्र सुनने लगा कि कार का हार्न भी कैसे सुनाई पड़े? मिलिट्री मे उसका कैप्टन आज्ञा दे कि बाएँ घूम जाओ! तो वह खड़ा ही रहे। भीतर तो वह कुछ और ही कर रहा है।

उसे मेरे पास लाया गया। मैंने पूछा कि यह तुम क्या कर रहे हो, इससे तुम पागल हो जाओगे। उसने कहा—अब तो कोई उपाय ही नही है। अब तो मैं ना भी जपूं राम-राम, भीतर का मन्त्र न भी जपूं, तो भी मन्त्र चलता रहता है। मै अगर उसे छोड भी दूं, तो मेरा मामला नही अब, उसने मुझे पकड़ लिया है। मैं खाली भी बैठ जाऊँ, तो कोई फर्क नहीं पडता, मन्त्र तो चलता ही रहता है।

इस तरह की कोई भी साधना पद्धति जीवन मे उपद्रव पैदा कर सकती है। क्योंकि जीवन की एक धारा है, और एक नई धारा आप पैदा कर लेते हैं। जीवन ही काफी बोझिल है। और एक नई धारा तनाव पैदा करेगी; और अगर इन दोनो धाराओ में विरोध है, तो आप अड़चन मे पड जाएँगे।

महावीर और बुद्ध अलग धारा पैदा करने के पक्ष में नहीं हैं। वे कहते हैं, जीवन की यह जो धारा है, इसी धारा पर ध्यान को लगाएँ। इसमें भेद मत पैदा करे, द्वैत पैदा मत करे। ध्यान ही चाहिए न, तो राम-राम पर ध्यान क्यों रखते हो? सांस चलती है, इसी पर ध्यान रख लो। ध्यान ही बढ़ाना है, तो एक मन्त्र पर ध्यान क्यो बढ़ाते हो—पर चल रहे हैं, यह भी मन्त्र है, इसी पर ध्यान कर लो। भीतर कुछ गुन-गुनाओगे, उस पर ध्यान करोगे—बाजार पूरा गुनगुना रहा है, चारो तरफ शोरगुल हो रहा है इसी पर ध्यान कर लो। ध्यान

को अलग क्रिया मत बनाओ, विपरीत क्रिया मत बनाओ। जो चल रहा है, जो मौजूद है, उसको ही ध्यान का 'आब्जैक्ट', उसको ही ध्यान का विषय बना लो। और तब इन अर्थों मे महावीर की पद्धति जीवन विरोधी नहीं है, और जीवन मे कोई अड़चन खड़ी नही करती।

महावीर ने सीधी सी बात कही है—चलो, तो होशपूर्वक; बैठो, तो होशपूर्वक; उठो, तो होशपूर्वक; भोजन करो, तो होशपूर्वक—जो भी तुम कर रहे हो जीवन की क्षुद्रतम क्रिया, उसको भी होशपूर्वक किये चले जाओ। क्रिया मे बाधा न पड़ेगी, क्रिया मे कुशलता बढ़ेगी। और होश भी साथ-साथ विकसित होता चला जायेगा। एक दिन तुम पाओगे कि सारा जीवन होश का एक दीप-स्तम्भ बन गया है, तुम्हारे भीतर सब होशपूर्ण हो गया है।

● एक दूसरे मित्र ने पूछा है कि कल आपने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति की परम स्वतन्त्रता का समादर करना ही अहिंसा है। दूसरे को बदलने का, अनुशासित करने का, उसे भिन्न करने का प्रयास हिंसा है। तो फिर गुरजिएफ और झेन गुरुओं का अपने शिष्यों के प्रति इतना सख्त अनुशासन और व्यवहार और उन्हें बदलने के तथा नया बनाने के भारी प्रयत्न के सम्बन्ध मे क्या कहियेगा ? क्या उसमे भी हिंसा नही छिपी है ?

दूसरे को बदलने की चेष्टा हिंसा है, अपने को बदलने की चेष्टा हिंसा नही है। दूसरे की जीवन पद्धति पर आरोपित होने की चेष्टा हिंसा है, अपने जीवन को रूपान्तरण करना हिंसा नहीं है; और यही फर्क शुरू हो जाता है।

जब भी एक व्यक्ति किसी झेन गुरु के पास जाकर समर्पण कर देता है, तो गुरु और शिष्य दो नही रहते। अब यह दूसरे को बदलने की कोशिश नही है। झेन गुरु आपको आकर बदलने की कोशिश नही करेगा, जब तक कि आप जाकर बदलने के लिए अपने को उसके हाथ मे नही छोड़ देते। जब आप बदलने के लिए अपने-आप को उसके हाथ में छोड देते हैं, समग्र-रुपेण समर्पण कर देते हैं, 'टोटल सरेन्डर' कर देते हैं, तब गुरु आपको अलग नही देखता। अब आप उसका ही विस्तार हैं, उसका ही फैलाव हैं। अब वह आपको ऐसे ही बदलने में लग जाता है, जैसे अपने को बदल रहा है। इसलिए झेन गुरु सख्त मालूम पड सकता है बाहर से देखनेवालों को, शिष्यों को कभी सख्त मालूम नहीं पड़ा।

हुई-हाई ने कहा है कि जब मेरे गुरु ने मुझे खिड़की से उठाकर बाहर फेंक दिया, तो जो भी देखनेवाले थे, सभी ने समझा कि यह गुरु दुष्ट है—'यह भी

कोई बात हुई। शिष्य को खिड़की से उठाकर बाहर फेंक देना, यह भी कोई बात हुई ! और यह भी कोई सद्गुरु का लक्षण हुआ।'

लेकिन हुई-हाई ने कहा है कि सब ठीक चल रहा था मेरे मन में, सब शान्त होता जा रहा था, लेकिन 'मैं' का भाव बना हुआ था—'मैं शान्त हो रहा हूँ'—यह भाव बना हुआ था, 'मेरा ध्यान सफल हो रहा है'-यह भाव बना हुआ था। 'मैं' बना ही हुआ था, और सब टूट गया था, सिर्फ 'मैं' रह गया था। और बड़ा आनन्द मालूम हो रहा था। उस दिन जब अचानक मेरे गुरु ने मुझे खिड़की से उठाकर बाहर फेंक दिया, तो खिडकी से बाहर जाते और जमीन पर गिरते क्षण में, वह घटना घट गई, जो मैं नही कर पा रहा था। वह जो 'मैं' था उतनी देर को मुझे बिलकुल भूल गया। वह जो खिडकी के बाहर जाकर झटके से गिरना था, वह जो 'शॉक' था, समझ में नही पडा, मेरी बुद्धि एकदम मुश्किल में पड़ गई, कुछ सूझ-समझ न रही, यह क्या हो रहा है ? एक क्षण को मैं, 'मैं' से चूक गया और उस क्षण मे मैंने उसके दर्शन कर लिये, जो 'मैं' के बाहर है।

हुई-हाई कहता था कि मेरे गुरु की अनुकम्पा अपार थी, कोई साधारण गुरु होता तो खिडकी के बाहर मुझे नही फेंकता, और जिस काम मे मुझे वर्षों लग जाते, वह क्षण भर मे हो गया।

आप जानकर हैरान होंगे कि झेन गुरु के शिष्य जब ध्यान करने बैठते हैं, तो गुरु घूमता रहता है, एक डडे को लेकर। झेन गुरु का डडा बहुत प्रसिद्ध चीज है। वह डडे को लेकर घूमता रहता है। जब उसे लगता है कि कोई भीतर प्रमाद मे पड रहा है, होश खो रहा है, झपकी आ रही है, तभी वह कन्धे पर डडा मारता है। और बड़े मजे की बात तो यह है कि जिनको वह डडा मारता है, वे झुक कर प्रणाम करते हैं, अनुग्रहीत होते हैं। इतना ही नही जिनको ऐसा लगता है कि गुरु डडा मारने नही आया और उन्हे भीतर प्रमाद आ रहा है, तो वे अपने दोनो हाथ छाती के पास कर लेते है। वह निमत्रण है कि मुझे डडा मारें—मैं भीतर सो रहा हूँ।

तो साधक बैठे रहते हैं और गुरु घूमता रहता है। जब भी कोई साधक अपने हाथ छाती के पास ले आता है उठाकर, तो वह खबर दे रहा है कि कृपा करें, मुझे डडा मारें; भीतर मैं झपकी खा रहा हूँ। जिन लोगो ने झेन गुरुओं के पास काम किया है, उनका अनुभव यह है कि गुरु का डंडा, बाहर के लोगों

को दिखाई पड़ता होगा कि कैसी हिंसा है, लेकिन गुरु का डंडा जब कन्धे पर पडता है, कन्धे पर हर कहीं नहीं पड़ता, खास केन्द्र हैं, जिन पर झेन गुरु डंडा मारते हैं; उन केन्द्रों पर चोट पड़ते ही भीतर का पूरा स्नायु तन्तु झनझना जाता है। उस स्नायु तन्तु की झनझनाहट में निद्रा मुश्किल हो जाती है, झपकी मुश्किल हो जाती है; होश आ जाता है।

तो हमें बाहर से दिखाई पडेगा। बाहर से जो दिखाई पड़ता है, उसको सच मत मान लेना। जल्दी निष्कर्ष मत ले लेना। भीतर एक अलग जगत् भी है, और गुरु और शिष्य के बीच जो घटित हो रहा है, वह बाहर से नही जाना जा सकता। उसे जानने का उपाय भीतर ही है। उसे शिष्य होकर ही जाना जा सकता है। उसे बाहर से खडे होकर देखने में आप से भूल होगी, निर्णय गलत हो जाएँगे, निष्पत्तियाँ भ्रात होगी।

अगर आप एक रास्ते से गुजर रहे हैं और एक मठ के भीतर एक झेन गुरु किसी को बाहर फेंक रहा है खिडकी के, तो आप सोचेंगे पुलिस में खबर कर देनी चाहिए। आप सोचेंगे यह आदमी कैसा है! अगर आप इस आदमी से मिलने आये थे, तो बाहर से ही लौट आएँगे। लेकिन भीतर क्या घटित हो रहा है, वह है सूक्ष्म, और वह केवल हुई-हाई और उसका गुरु ही जानता है कि भीतर क्या हो रहा है।

पश्चिम में 'शॉक ट्रीटमेन्ट' बहुत बाद में विकसित हुआ। आज हम जानते हैं, मनस्विद, मनोचिकित्सक जानते हैं कि अगर एक व्यक्ति ऐसी हालत में आ जाए पागलपन की कि कोई दवा काम न करे, तो भी 'शॉक' काम करता है। अगर हम उनके स्नायु तन्तुओं को इतना झनझना दें कि एक क्षण को भी सातत्य टूट जाए, 'कन्टिन्यूटी' टूट जाए···।

एक आदमी अपने को नैपोलियन समझ रहा है, या अपने को हिटलर माने हुए है—उसके सब इलाज हो चुके हैं, लेकिन कोई उपाय नही होता। जितना इलाज करो वह उतना और मजबूत होता चला जाता है—क्या करें? इसके मन की एक धारा बँध गई है, एक सातत्य हो गया है, एक 'कन्टिन्यूटि' हो गई है—वह दुहराए ही चला जा रहा है कि मैं हिटलर हूँ। आप कुछ भी करो, वह उस सबसे यही नतीजा लेगा कि मैं हिटलर हूँ। उसे समझाने का कोई उपाय नहीं है। समझाने की सीमा के बाहर चला गया है वह···!

मैं निरन्तर कहता हूँ कि एक आदमी को अब्राहम लिंकन होने का ख्याल पैदा हो गया। नाटक मे काम मिला था उसको अब्राहम लिंकन का। अमेरिका

अब्राहम लिंकन की विशेष जन्म-तिथि मना रहा था। एक वर्ष तक उसको अमेरिका के नगर-नगर में जाकर लिंकन का पार्ट करना पड़ा। उसका चेहरा लिंकन से मिलता-जुलता था। एक वर्ष तक निरन्तर अब्राहम लिंकन का पार्ट करते-करते, उसे यह भ्रान्ति हो गई कि वह अब्राहम लिंकन है। फिर नाटक खत्म हो गया, पर उसकी भ्रांति खत्म न हुई। उसकी चाल अब्राहम लिंकन जैसी हो गई। अब्राहम लिंकन जैसे हकलाता था, बोलने में वैसा ही वह हकलाने लगा। साल भर का लम्बा अभ्यास था। वह मुस्कराए, तो लिंकन के ढंग से, छडी उठाए, तो लिंकन के ढंग से, बैठे-उठे तो लिंकन के ढंग से।

थोडे दिन घर के लोगो ने यह सब मजाक में लिया, फिर उन्हें घबडाहट शुरू हुई। वह अपना नाम भी अब्राहम लिंकन बताने लगा। घर के लोगों ने बहुत समझाया कि तुम्हे क्या हो गया है, तुम पागल तो नही हो गये हो? लेकिन जितना उसे समझाया जाता, उतना ही वह उन पर मुस्कराता था। लोग उससे पूछते कि तुम क्यों मुस्करा रहे हो, तो वह कहता—'तुम सब पागल हो गये हो—मैं अब्राहम लिंकन हूँ!' हालत यहाँ तक पहुँची कि लोग कहने लगे कि जब तक इसको गोली न मारी जाए, तब तक यह मानेगा नहीं, तब तक यह चैन नही लेगा। चिकित्सकों ने समझाया, मनोविश्लेषण किया, लेकिन कोई उपाय नही था।

अमेरिका मे उन्होने 'लाई-डिटेक्टर', एक छोटी मशीन बनाई है, जिसमे आदमी झूठ बोले, तो पकड़ा जाता है। क्योंकि जब आप झूठ बोलते हैं, तो हृदय में सातत्य टूट जाता है। आपसे मैंने पूछा, 'आपका नाम?' आपने कहा—'राम।' 'आपकी उम्र?' आपने कहा—'पैंतालिस साल।' आज की तारीख, दिन, सब ठीक बोला, तब मैंने अचानक आपसे पूछा—'चोरी की?' तो आपके भीतर से तो आएगा—'हाँ', क्योंकि आपने की है और उसको आप बदलेंगे बीच में। भीतर से उठेगा, 'हां', गले तक आएगा—'हाँ', फिर हाँ को आप नीचे दबाएँगे और कहेंगे—'नही।' यह पूरे का पूरा झटका जो है, नीचे जो मशीन लगी है, उस पर आ जाएगा। जैसे कि आपके हृदय की धड़कन का 'ग्राफ' आता है। वैसे ही 'ग्राफ' में 'ब्रेक' आ जायेगा, झटका आ जायेगा। वह झटका बतायेगा कि किस प्रश्न का आपने झूठा उत्तर दिया।

तो इन सज्जन को 'लाई-डिटेक्टर' पर खड़ा किया गया कि अगर यह आदमी झूठ बोल रहा है, तो पकड़ा जायेगा। वह भीतर गहरे में तो जानता ही होगा कि मैं अब्राहम लिंकन नहीं हूँ। वह आदमी भी परेशान हो गया था

इस सब इलाज, चिकित्सा से, समझाने से । उसने आज तय कर लिया था कि ठीक है, आज मान लूँगा—जो वे कहते हैं, वही ठीक है ।

बहुत से प्रश्न उससे पूछे गये, फिर पूछा गया कि तुम्हारा नाम क्या है ? क्या अब्राहम लिंकन है ? उसने कहा—'नहीं' । और मशीन ने नीचे बताया कि यह आदमी झूठ बोल रहा है । तब तो मनोचिकित्सक ने भी सिर ठोक लिया । उसने कहा अब कोई उपाय ही न रहा । क्योंकि 'लाई-डिटेक्टर' कह रहा है कि यह आदमी झूठ बोल रहा है । क्योंकि भीतर तो उसे आया 'हाँ', लेकिन उसने सोचा—'कब तक इस उपद्रव मे पडा रहूँ ? एक दफे नहीं कहकर झंझट छुडाऊँ ।' तो उसने ऊपर से कहा—'नही, मैं अब्राहम लिंकन नही हूँ ।'

अब इस आदमी के लिए क्या किया जाए ? तो 'शॉक ट्रीटमेण्ट' है; और कोई उपाय नही है । ऐसे आदमी से मस्तिष्क को बिजली से धक्का पहुँचाना पडेगा । धक्के का एक ही उपयोग है कि वह जो सतत धारा चल रही है कि मैं अब्राहम लिंकन हूँ, मैं अब्राहम लिंकन हूँ, उस धारा को समझाने से कोई उपाय नही है; क्योकि धारा उससे टूटती नहीं । बिजली के धक्के से वह धारा टूट जायेगी, छिन्न-भिन्न हो जायेगी । एक क्षण को इस आदमी के भीतर का जो सातत्य है, वह खण्डित हो जायेगा—'गैप', अतराल हो जायेगा । शायद उस 'गैप' के कारण दुबारा इसको ख्याल न आये कि मैं अब्राहम लिंकन हूँ । इसलिए मनोविज्ञान अब 'शॉक-ट्रीटमेण्ट' का उपयोग करता है । अन्तिम उपाय वही है—धक्का पहुँचा कर स्नायु-तन्तुओ की धारा को तोड देना ।

झेन गुरु बहुत प्राचीन समय से—कोई हजार साल से, डेढ़ हजार साल से उसका उपयोग कर रहे हैं । यह जो शिष्य के साथ झेन गुरु का इतना तीव्र हिंसात्मक दिखाई पड़नेवाला व्यवहार है, यह तो कुछ भी नही है ।

एक झेन गुरु बांकेई की आदत थी कि जब वह ईश्वर के बाबत कुछ बोलता था, तो एक अँगुली ऊपर उठाकर इशारा करता था । जैसा कि अक्सर हो जाता है, जहाँ गुरु और शिष्य एक दूसरे को प्रेम करते हैं, वहाँ शिष्य पीठ-पीछे गुरु की मजाक भी करते हैं । जब बहुत आत्मीय निकटता होती है, तब ऐसा हो जाता है ।

तो, यह जो उसकी आदत थी अँगुली ऊपर उठा कर बात करने की सदा, यह मजाक करने का विषय बन गई थी । जब भी कोई बात कहता शिष्यों में, तो वह अँगुली ऊपर उठा देता । उनमें एक छोटा बच्चा भी था, जो आश्रम

में झाड़ू, बुहारी लगाने का काम करता था। वह भी इन बड़े-बड़े साधकों के बीच कभी-कभी ध्यान करने बैठता था और जो बड़ों से नहीं हो पाता था, वह उससे हो रहा था। क्योंकि छोटे बच्चे सरल होते हैं, और बूढ़े जटिल होते हैं। बूढ़े बीमारी में काफी आगे जा चुके होते हैं, बच्चे अभी बीमारी की शुरुआत में होते हैं।

उसे ध्यान भी होने लगा था और वह अपनी अँगुली को उठा कर गुरु जैसी चर्चा भी करने लगा था। एक दिन सब बैठे थे और बाकेई ने उस बच्चे से कहा—'ईश्वर के सम्बन्ध मे कुछ बोल!'

उसने कहा—'ईश्वर ! तो उसकी अँगुली अनजाने मे ऊपर उठ गई। वह भूल गया कि गुरु मौजूद है और मजाक पीछे चलता है, सामने नही। जल्दी से उसने अँगुली छिपाई, लेकिन गुरु ने कहा—'नही, इधर पास आ!'

चाकू पास मे पड़ा था, उठा कर उसकी अँगुली काट दी। चीख निकल गई उस बच्चे के मुख से; हाथ से खून की धारा बह निकली। बाकेई ने कहा—'अब ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ बोल!' उस बच्चे ने अपनी कटी हुई अँगुली वापस उठाई और बांकेई ने कहा—तुझे जो पाना था, वह तूने पा लिया।

वह दर्द खो गया। वह पीडा मिट गई। एक नये लोक का प्रारम्भ हो गया। बड़ा गहन 'शॉक-ट्रीटमेण्ट' हुआ। आज शरीर व्यर्थ हो गया। जो अँगुली नही थी, वह भी उठाने की सामर्थ्य आ गई। अँगुली के होने, न होने में कोई फर्क न रहा।

अँगुली कट गई थी और हाथ से खून बह रहा था, लेकिन वह बच्चा मुस्कराने लगा। जब गुरु ने अँगुली कटने पर दुबारा पूछा ईश्वर के सम्बन्ध में, तो जैसे शरीर की बात भूल ही गया था वह। एक क्षण गुरु की आँखो मे झाँका उसने, और उसके मुख पर हँसी फैल गई। वह बच्चा, जिसको झेन मे सतोरी, समाधि की झलक कहते हैं, उसको उपलब्ध हो गया। उस बच्चे ने अपने सस्मरणो में लिखा है कि चमत्कार था उस गुरु का कि मेरी अँगुली ही उसने नहीं काटी, भीतर मुझे भी काट डाला। लेकिन बाहर जो बैठे थे, बाहर जो देख रहे होंगे, उनको तो लगा होगा कि यह गुरु तो पक्का कसाई मालूम पड़ता है।

तो झेन गुरु की जो हिंसा दिखाई पड़ती है, वह दिखाई ही पड़ती है—उसकी अनुकम्पा अपार है। और जिस साधना पद्धति में गुरु की इतनी अनुकंपा

न हो, वह साधना पद्धति मर जाती है। हमारे पास भी बहुत सी साधना पद्धतियाँ हैं, लेकिन करीब-करीब वह मर गई हैं। क्योंकि न गुरु मे साहस है, न उसमें इतनी करुणा है कि वह रास्ते के बाहर जाकर भी शिष्य को सहायता पहुँचाए। नियम ही रह गये हैं। नियम धीरे-धीरे मुर्दा हो जाते हैं। उनका पालन चलता रहता है। मरी हुई व्यवस्था की तरह हम उन्हें ढोते रहते हैं।

दूसरे को बदलने की चेष्टा नही है झेन गुरु की, लेकिन जिसने अपने को समर्पित किया बदलने के लिए, वह दूसरा नही है। दूसरे को बदलने मे कोई अपने अहकार की तृप्ति नही है।

यह बहुत मजे की बात है कि जब कोई व्यक्ति किसी के प्रति पूरा समर्पित हो जाता है, तो उन दोनों के बीच अहकार की सीमाएँ जो उन्हे तोड़ती थी, अलग करती थी, वे विलीन हो जाती हैं। यह मिलन इतना गहरा है, जितना पति-पत्नी का भी कभी नही होता, प्रेमी और प्रेयसी का भी कभी नही होता— जितना गुरु और शिष्य का हो सकता है। लेकिन अति कठिन है; क्योकि पति और पत्नी का मामला तो 'बायलॉजिकल', शारीरिक है। पर गुरु और शिष्य का सम्बन्ध 'स्पीरिचुअल', आध्यात्मिक है, 'बायलॉजिकल' नही है।

पति और पत्नी तो पशुओ में भी होते हैं, प्रेमी और प्रेयसी तो पक्षियो में भी होते हैं, कीड़े-मकोडों में भी होते हैं, सिर्फ गुरु और शिष्य का एकमात्र सम्बन्ध है, जो मनुष्यों मे होता है, बाकी सब सम्बन्ध सब मे होता है। इसलिए जो व्यवित गुरु-शिष्य के गहन सम्बन्ध को उपलब्ध न हुआ हो, एक अर्थ मे वह ठीक से अभी मनुष्य नही हो पाया है। उसके सारे सम्बन्ध अभी पाशविक हैं। क्योंकि वे सब सम्बन्ध तो पशु होने मे भी हो जाते हैं। कोई अडचन नही है, कोई कठिनाई नही है। लेकिन पशुओ मे गुरु और शिष्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता। हो नहीं सकता। यह जो सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध के हो जाने के बाद फासला नही है, कि हम दूसरे को बदल रहे हैं—हम अपने को ही बदल रहे हैं। इसलिए बुद्ध का जब कोई शिष्य मुक्त होता है, तो बुद्ध कहते हुए सुने गये हैं कि आज मैं फिर तेरे द्वारा पुनः मुक्त हुआ।

महायान बौद्ध धर्म एक बड़ी मीठी कथा कहता है। वह कथा यह है कि बुद्ध का निर्वाण हुआ, शरीर छूटा, वे मोक्ष के द्वार पर जाकर खड़े हो गये, लेकिन उन्होंने पीठ कर ली। द्वारपाल ने कहा—'आप भीतर आएँ, युगों-युगो से हम प्रतीक्षा कर रहे हैं आपके आगमन की और आप पीठ फेर कर खडे हो गये है। तो बुद्ध ने कहा कि जिन-जिन ने मेरे प्रति समर्पण किया, जिन-जिन ने

मेरा सहारा माँगा, जब तक वे सभी मुक्त नहीं हो जाते, तब तक मेरा मोक्ष में प्रवेश कैसे हो सकता है ? तब तक मैं कहीं न कहीं बँधा हुआ ही रहूँगा। इसलिए मैं अकेला नही आ सकता।

महायान बौद्ध धर्म कहता है—जब तक पूरी मनुष्यता मुक्त न हो जाए, तब तक बुद्ध द्वार पर ही खडे रहेगे। यह कहानी भी ठीक है। यह कहानी सूचक है। यह कहानी बहुत गहरे अर्थ लिये हुए है। कही कोई बुद्ध खडे हुए नही हैं। हो भी नही सकते। खड़े होने का कोई उपाय भी नहीं है; क्योंकि मुक्त होते ही तिरोहित हो जाना पडता है। कहीं कोई द्वार नही है। लेकिन यह एक मीठे सूत्र की खबर देती है कि गुरु शिष्य के द्वारा पुनः-पुन मुक्त होता है। यह सम्बन्ध इतना आत्मीय और निकट है कि वहाँ पराया कोई भी नहीं है।

इसी संदर्भ में पूछा है कि यह भी समझाएँ कि हिंसक वृत्ति के कारण निकले आदेश और करुणा के कारण निकले उपदेश मे से साधक कैसे फर्क कर पायेगा ?

साधक फर्क कर ही नही पायेगा। करना भी नही चाहिए। साधक को इससे कोई फर्क नही पड़ता, इसे ठीक से समझ ले।

गुरु ने चाहे हिंसा भाव से ही साधक को आदेश दिया हो। यह हिंसा अगर होगी, तो गुरु के सिर होगी। साधक को तो आदेश का पालन कर लेना चाहिये। वह तो रूपान्तरित होगा ही—चाहे आदेश करुणा से दिया गया हो और चाहे आदेश हिंसात्मक भाव से दिया गया हो। चाहे मैं किसी को बदलने मे इसलिए मजा ले रहा हूँ कि बदलने मे तोड़ने का मजा है, मिटाने का मजा है। चाहे मैं इसलिए दूसरे को आदेश दे रहा हूँ कि नये के जन्म का आनन्द है, नये के जन्म की करुणा है। पुराने को मिटाने में हिंसा हो सकती है, नये को बनाने मे करुणा है। मैं किसी भी कारण से आदेश दे रहा हूँ, यह मेरी बात हुई। लेकिन जिसको आदेश दिया गया है, उसे कोई फर्क नही पड़ता।

एक मकान को गिराना है और नया बनाना है। हो सकता है मुझे गिराने में ही मजा आ रहा हो, इसलिए बनाने की बातें कर रहा हूँ। उसको तोड़ने में मुझे रस है या मैं बनाने में इतना उत्सुक हूँ कि तोड़ना मजबूरी है। लेकिन यह मेरी बात है। मकान के बनने में कोई फर्क नहीं पड़ता। इसलिए साधक को यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि गुरु ने जो खिडकी के बाहर फेंक दिया है, यह तोड़ने का रस था, कोई हिंसा थी या कोई महा करुणा थी।

अगर साधक यह फर्क करता है, तो समर्पित नहीं है। शिष्य नहीं है वह। तो उसे पहले ही, गुरु के पास आने के पहले सोच लेना चाहिए। यह समर्पण के पहले सोच लेना चाहिए। गुरु के चुनाव की स्वतन्त्रता है, गुरु के आदेशों में चुनाव की स्वतंत्रता नही है। मैं अ को गुरु चुनूं कि ब को या स को—मैं स्वतन्त्र हूँ लेकिन अ को चुनने के बाद स्वतन्त्र नहीं हूँ—कि अ का आदेश मानूं कि ब का आदेश मानूं कि स का आदेश मानूं ?

गुरु को चुनने का अर्थ, समग्र चुनना है। इसलिए झेन और सूफियो ने बहुत गहन गुरु की परम्परा विकसित की, और बहुत बडे आंततिक रहस्य उन्होने खोले है।

सूफी शास्त्र कहते है कि गुरु को चुनने के बाद खण्ड-खण्ड विचार नहीं लिया जा सकता है कि वह क्या ठीक कहता है और क्या गलत कहता है। अगर लगे कि गलत कहता है, तो पूरे ही गुरु को छोड देना तत्काल। ऐसा मत सोचना कि यह बात न मानेगे, यह गलत है, यह बात मानेंगे, यह सही है। इसका तो मतलब हुआ कि गुरु के ऊपर आप हैं, और अन्तिम निर्णय आपका ही चल रहा है, कि क्या ठीक और क्या गलत, तो परीक्षा गुरु की चल रही है, आपकी नही। और इस तरह के लोग जब मुसीबत मे पडते हैं, तो जिम्मा गुरु का है।

सूफी कहते हैं कि जब गुरु को चुन लिया, तो पूरा चुन लिया। यह 'टोटल एक्सेप्टेन्स' है। अगर किसी दिन छोडना हो, तो 'टोटल' छोड देना, पूरा छोड देना, हट जाना वहाँ से। लेकिन आधा चुनने और आधा छोडने का काम मत करना। यदि ठीक लगता है इसलिए चुनेंगे, तो आखिर मे आप ही ठीक हैं। जो ठीक लगता है वह चुनते हैं और जो गलत लगता है, वह नहीं चुनते, तो आप को ठीक और गलत का राज मालूम ही है—अब बचा क्या है चुनने को ? जब आप यह भी पता लगा लेते हैं कि क्या ठीक है और क्या गलत है, तो आपका बचा ही क्या है—शिष्य होने की कोई जरूरत ही नही है। लेकिन अगर शिष्य होने की जरूरत है, तो आपको पता नही है कि क्या ठीक है और क्या गलत है।

गुरु का चुनाव समग्र है। छोडना हो, तो सूफी कहते हैं, पूरा छोड़ देना। बड़ी मजे की बात सूफियों ने कही है। बायजीद ने कहा है कि अगर गुरु को छोड़ना हो, तो जितने आदर से स्वीकार किया था, जितनी समग्रता से, उतने ही आदर से, उतनी ही समग्रता से छोड़ देना। कठिन है मामला। किसी को

आदर से स्वीकार करना, तो आसान है, पर आदर से छोड़ना बहुत मुश्किल है। हम छोड़ते ही तब हैं, जब अनादर मन में आ जाता है। लेकिन बायजीद कहता है कि जिसको तुम आदर से न छोड़ सको, समझ लेना कि आदर से उसे चुना ही नहीं था।

अगर तुम मेल नहीं खाते, तो बायजीद ने कहा है कि समझना कि मैं इस गुरु के लिए योग्य नहीं हूँ। क्योंकि ठीक और गलत तुम कहाँ जानते हो ? तुम्हें इतना ही कहना कि इस गुरु से मैं जैसा हूँ उसका कोई मेल नहीं खा रहा। बायजीद का मतलब यह है कि जब भी तुम्हें गुरु छोड़ना पड़े, तो तुम समझना कि मैं इस गुरु का शिष्य होने योग्य नहीं हूँ इसलिए छोड़ता हूँ। लेकिन हम गुरु को तब छोड़ते हैं, जब हम पाते हैं कि यह गुरु हमारा गुरु होने के योग्य नहीं है।

'मैं शिष्य होने के योग्य नहीं हूँ'—इसका यही भाव हो सकता है कि शिष्यत्व से गुरु के शिखर को नहीं समझा जा सकता। जैसे हुई-हाई को उसके गुरु ने फेंक दिया खिड़की के बाहर, तो इसमें हुई-हाई का समग्र स्वीकार है। 'इसमें भी कुछ हो रहा होगा, इसलिए गुरु ने फेंक दिया है,' इसलिए हुई-हाई स्वीकार कर लेगा।

गुरजिएफ के पास बहुत लोग आते थे। गुरजिएफ तो अपने ही ढंग का आदमी था। सभी गुरु अपने ढंग के होते हैं। दो गुरु कभी एक से नहीं होते। हो भी नहीं सकते। क्योंकि गुरु का मतलब यह है कि जिसने अपनी अद्वितीय चेतना को पा लिया। बेजोड़, तो वह अलग तो हो ही जायेगा।

गुरजिएफ के पास कोई आता, तो वह क्या करेगा ? उसके कोई नियम न थे। हो सकता है वह कहे—एक वर्ष तक रहो आश्रम में, लेकिन मुझे देखना मत ! मेरे पास मत आना ! यह काम है साल भर का, इसे करना ! कि सड़क बनानी है, कि गिट्टी फोड़नी है, कि गड्ढा खोदना है, कि वृक्ष काटने हैं। यह काम साल भर करना और साल भर के बीच एक बार भी मेरे पास मत आना !

एक रूसी साधक हार्टमेन गुरजिएफ के पास आया। पहले दिन जो पहला आदेश उसे मिला, वह यह कि एक वर्ष तक मेरे पास दुबारा मत आना ! रहना छाया की तरह और सुबह चार बजे से काम शुरू करना ! हार्टमेन को काम दिया गया साल भर के लिए। वह करेगा दिन-रात काम। गुरजिएफ के मकान में रात रोज दावत होगी, सारा आश्रम आमन्त्रित होगा, सिर्फ हार्टमेन नहीं।

रात संगीत चलेगा दो-दो बजे तक। गुरजिएफ के बंगले की रोशनी बाहर पड़ती रहेगी और हार्टमेन अपनी कोठरी में सोया रहेगा। सभाएँ होंगी, भीड़ होगी, लोग आयेंगे, अतिथि आयेंगे, चर्चा होगी, प्रश्न होंगे, पर हार्टमेन नहीं होगा साल भर।

जिस दिन साल भर पूरा हुआ, उस दिन गुरजिएफ हार्टमेन के झोपड़े पर गया और गुरजिएफ ने हार्टमेन से कहा कि अब तुम जब भी आना चाहो, आधी रात को भी, जब मैं सो रहा हूँ तब भी, किसी भी क्षण, चौबीस घण्टे तुम आ सकते हो। अब तुम्हें किसी से पूछने की जरूरत नहीं है, कोई आज्ञा लेने की जरूरत नहीं है।

तो हार्टमेन ने गुरजिएफ के चरण छुए और कहा कि अब तो जरूरत भी न रही। सालभर दूर रखकर आपने मुझे बदल दिया।

हार्टमेन की तरह धैर्य रखना मुश्किल मामला है। हार्टमेन सोच सकता था कि यह क्या बात हुई—एक प्रश्न का उत्तर नहीं मिला, कुछ चर्चा नहीं, कुछ बात नहीं—यह क्या ? एक साल ! दिन, दो दिन की बात भी नहीं ! लेकिन गुरु को चुनने का मतलब है—पूरा चुनना या पूरा छोड़ देना, तो गुरु कुछ कर सकता है। वह तभी कुछ कर सकता है जब इतना समर्पण हो, अन्यथा नहीं कर सकता।

● एक मित्र ने पूछा है कि आप महावीर, बुद्ध, लाओत्से पर न बोलकर अपनी निजी और आन्तरिक बातें बतायें। और यह भी लिखा है (बिना दस्तखत किये) कि आपको इतना मैं कायर नहीं मानता हूँ कि आप अपनी निजी बातें नहीं बतायेंगे।

आप तो नहीं मानते हैं मुझे इतना कायर, लेकिन मैं आपको इतना बहादुर नहीं मानता हूँ कि मेरी निजी बातें आप सुन पायेंगे; और जिस दिन तैयारी हो जाए निजी बातें सुनने की, उस दिन मेरे पास आ जाना, क्योंकि निजी बातें निजता में ही कही जा सकती हैं, पब्लिक में नहीं। मगर उसके पहले कसौटी से गुजरना पड़ेगा। बहादुरी की मैं जाँच कर लूँगा। चूँकि क्या मैं आपको दूँ, यह आपके पात्र की क्षमता पर निर्भर है।

मेरे निजी जीवन में कुछ छिपाने जैसा नहीं है, लेकिन आप देख भी पायेंगे, समझ भी पायेंगे, उसका उपयोग भी कर पायेंगे, आपके जीवन में वह सृजनात्मक भी होगा, सहयोगी भी होगा—यह सोचना जरूरी है ! क्योंकि जो भी मैं कह रहा हूँ, वह आपके काम पड़ सके, तो ही उसका कोई अर्थ है।

जिसकी भी तैयारी हो मेरे निजी जीवन मे उतरने की, वह जरूर मेरे पास आ जाए; लेकिन उसे तैयारी से गुजरना पडेगा, यह ख्याल रख कर आए। अभी तो दस्तखत करने की भी हिम्मत नही है।

अब हम सूत्र लें।

● 'क्रोध, मान, माया और लोभ यह चारों काले कुत्सित कषाय पुनर्जन्मरूपी ससार-वृक्ष की जडो को सीचते रहते हैं।'

'चावल और जौ आदि धान्यों तथा सुवर्ण और पशुओ से परिपूर्ण यह समस्त पृथ्वी भी लोभी मनुष्य को तृप्त करने मे समर्थ है—यह जानकार सयम का आचरण करना चाहिए।'

चार कषाय महावीर ने कहे—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारो शब्द हमारे बहुत परिचित हैं, लेकिन उनका अर्थ बिलकुल अपरिचित है। शब्द के परिचय को हम भूल से सत्य का परिचय समझ लेते हैं। हम सभी को मालूम है कि क्रोध का क्या मतलब है; पर क्रोध से हमारा मिलना कभी हुआ नही। हालांकि क्रोध हम से हुआ है बहुत बार, क्रोध मे हम डूबे हैं; लेकिन क्रोध इतना डूबा लेता है कि वह जो देखने की तटस्थता चाहिए, वह जो क्रोध को समझने की दूरी चाहिए, वह नही बचती। इसलिए क्रोध हमसे हुआ है, लेकिन क्रोध को हमने जाना नही। हमारे क्रोध को दूसरो ने जाना होगा, पर हमने नही जाना। इसलिए मजे की घटना घटती है कि क्रोधी आदमी भी अपने को क्रोधी नही समझता। सारी दुनिया जानती है कि वह क्रोधी है, लेकिन वह भर इसे नही जानता। क्या मामला है? सब देख लेते हैं क्रोध को, वह खुद क्यो नही देख पाता?

असल मे क्रोध की घटना मे वह मौजूद ही नहीं रहता। वह जो 'ऑब्जर्वर' है, निरीक्षक है, वह डूब जाता है, उसका कोई पता ही नही रहता। यह बात इतनी गहन भी दब सकती है कि कई तथ्य जो वैज्ञानिक हो सकते थे, वे भी खो जाते हैं।

मैं कल ही निमवेनल टाइगर की एक किताब देख रहा था, उसने बडी महत्वपूर्ण खोज की है। उसने काम किया है स्त्रियों के मासिक-धर्म पर। वह कहता है कि जब मासिक धर्म के चार-पाँच दिन शेष होते हैं, तब स्त्रियाँ ज्यादा क्रोधित होती हैं, ज्यादा चिड़-चिड़ी होती हैं, ज्यादा परेशान होती हैं, ज्यादा हिंसक हो जाती हैं; उनकी सारी वृत्तियाँ निम्न हो जाती हैं। न केवल इतना, बल्कि उन पांच दिनो मे उनका बौद्धिक स्तर, उनका, 'इन्टेलिजेन्स' भी गिर

जाता है। उनका जो 'आई-क्यू', उनका जो बुद्धि-माप है, वह नीचे गिर जाता है पन्द्रह प्रतिशत।

इसलिए परीक्षा के समय स्त्रियो के लिए विशेष सुविधा होनी चाहिए। 'मेन्सेस' मे किसी लड़की की परीक्षा नही होनी चाहिए; अन्यथा वह अकारण पिछड़ जाएगी। ठीक 'पीरियड' के मध्य में, पिछले 'पीरियड' और दूसरे 'पीरियड' के ठीक बीच में, चौदह दिन के बाद, स्त्रियों के पास सबसे ज्यादा प्रसन्न-भाव होता है और उस समय वे कम क्रोधी होती हैं, कम चिड़चिड़ी होती हैं, और उस समय उनका बुद्धि-माप पन्द्रह प्रतिशत बढ़ जाता है। इसलिए अगर मध्य 'पीरियड' में लड़की लडके के साथ परीक्षा दे तो वह फायदे में रहेगी, पन्द्रह प्रतिशत ज्यादा। और अगर 'मेन्सेस' में हो, तो नुकसान मे रहेगी, पन्द्रह प्रतिशत कम। और दोनो मिलकर तीस प्रतिशत का फर्क हो जाता है; जो कि बड़ा फर्क है।

इस पर जितना काम चलता है, उससे धीरे-धीरे यह ख्याल में आना शुरू हुआ। लेकिन इतने हजार साल लग गए और ख्याल मे नहीं आया कि स्त्री और पुरुष दोनो एक ही जाति के पशु हैं। स्त्रियों मे ही मासिक-धर्म हो, यह आवश्यक नही है, कही न कही पुरुष मे भी मासिक-धर्म जैसी कोई समान घटना होनी चाहिए; लेकिन पुरुषों को अब तक ख्याल नही आया। होनी चाहिए ही; क्योंकि दोनो की शरीर रचना एक ही ढाँचे मे होती है। दोनो की सारी व्यवस्था एक जैसी है। जो भेद है, वह थोड़ा सा ही भेद है। और वह भेद इतना है कि स्त्री ग्राहक है और पुरुष दाता है जीवाणुओ के सम्बन्ध में। बाकी तो सारी बात एक है। तो स्त्री में अगर मासिक धर्म जैसी कोई घटना घटती है, तो पुरुष मे भी घटनी चाहिए।

सौ वर्ष पहले एक जर्मन सर्जन, डॉक्टर विल्हेम प्लाइस ने इस सम्बन्ध में थोड़ी खोजबीन की है। उसे शक हुआ कि पुरुष में भी मासिक-धर्म होता है। चूँकि कोई बाह्य घटना नहीं घटती रक्तस्राव की, इसलिए आदमी भूल गया है। तो उसने आदमी के क्रोध और चिड़चिड़ेपन के 'रिकॉर्ड' बनाये और पाया कि कि हर अट्ठाइसवें दिन पुरुष भी चार-पाँच दिन के लिए उसी तरह अस्त-व्यस्त होता है, जैसे स्त्री अस्त-व्यस्त होती है। और अभी एक दूसरे विचारक ने एक नये विज्ञान, बायो-डायनेमिक्स को जन्म दिया है। प्रैट्रिक इव्हान्स उसका नाम है। उसने समस्त रूप से वैज्ञानिक अर्थों में सिद्ध कर दिया है कि पुरुष का भी 'मेन्सेस' होता है। कोई बाहर घटना नही घटती, लेकिन भीतर वैसी ही

घटना घटती है, जैसी स्त्रियों को घटती है। और उन चार-पाँच दिनों में आप क्रोधी, चिड़चिड़े, परेशान, नीचे गिर जाते हैं चेतना में।

यह हर महीने हो रहा है। जिस दिन आदमी पैदा होता है, उसको पहला दिन समझ लें, तो उसके हिसाब से हर अट्ठाइसवें दिन का पूरा कैलेण्डर बना सकते हैं। जीवन का वह पहला दिन है, फिर अट्ठाइसवें दिन पुरुष का कैलेण्डर बन सकता है। और अब आप के कैलेण्डर मे आपका 'मेन्सेस' आ जाए, तो दूसरों को भी बता दें और खुद भी सावधान रहें। और आज नहीं तो कल हमे स्त्री पुरुष का विवाह करते वक्त ध्यान रखना चाहिए कि दोनों का 'मेन्सेस' साथ न पडे। ऐसा लगता है पति पत्नियो को देखकर कि बहुत मात्रा मे उनका 'मेन्सेस' साथ ही पडता होगा। दोनों का 'मेन्सेस' यदि साथ पड जाए, तो भारी उपद्रव और कलह होने ही वाली है।

यह इसीलिए सम्भव हो सका कि आज तक ख्याल नही आया कि पुरुष का भी मासिक धर्म होता है, क्योंकि हम क्रोध से परिचित ही नही हैं। नहीं तो यह ख्याल आ जाता। यह इसलिए मैं कह रहा हूँ कि अगर आप क्रोध की धारा का निरीक्षण करें, तो आपको भी पता चल जाएगा कि हर महीने आपका बँधा हुआ दिन है, बँधा हुआ समय है, जब आप ज्यादा क्रोधित होते हैं। और हर महीने आपके बँधे हुए दिन हैं, जब आप कम क्रोधी होते हैं। लेकिन यह तो बडी यान्त्रिक बात हुई, यह तो आप मशीन की तरह घूम रहे हैं, आपकी माल-कियत नही मालूम पडती।

जैसा क्रोध है, वैसा ही लोभ भी है, वैसी ही माया भी है, वैसा ही मोह भी है; उन सब मे आप बधे हुए हैं। और यह जो बधन है, यह बड़ा अद्भुत है। आपको सिर्फ भ्रम रहता है कि आप मालिक हैं।

अभी चूहों पर बहुत वैज्ञानिकों ने प्रयोग किये हैं। छोटा-सा 'हारमोन' जो पुरुष चूहे में होता है, यदि उसकी जरा-सी मात्रा मादा चूहे को 'इन्जेक्ट' कर दी जाए, तो बड़ी हैरानी की बात है कि चुहिया जो है वह पुरुष चूहे की तरह व्यवहार करना शुरू कर देती है। वही अकड़, वही चाल, जो पुरुष चूहे की होती है—वही झगडालू वृत्ति, हमले का भाव, वह सब आ जाता है। इतना ही नहीं, पुरुष 'हारमोन' के 'इन्जेक्शन' के बाद चुहिया जो है, पुरुष चूहे पर चढ़ कर सम्भोग करने की कोशिश करती है, जो कि वह कर नहीं सकती। पुरुष चूहो को स्त्री चूहों के 'हारमोन्स' के 'इन्जेक्शन' देकर देखा गया, वे बिलकुल स्त्रैण हो जाते हैं, दब्बू हो जाते हैं, भागने लगते हैं, भयभीत हो जाते

हैं और हर छोटी चीज से कांपने लगते हैं।

क्या इसका अर्थ हुआ कि छोटे-छोटे 'हारमोन्स' इतने प्रभावी हैं और आपकी चेतना इतनी दीन है कि एक 'इन्जेक्शन' आपको स्त्री और पुरुष बना सकता है ! और एक 'इन्जेक्शन' आपको बहादुर और कायर बना सकता है। तो फिर जिसको आप कहते हैं कि भयभीत है, कायर है; जिसको आप कहते हैं कि बहादुर है, हिम्मतवर है; जिसको आप कहते हैं कि साहसी है, दुस्साहसी है तो इसका अर्थ हुआ कि इनके बीच जो फर्क है, वह छोटे से 'हारमोन' का है।

आमतौर से यही बात है। आपकी कुछ ग्रन्थियां निकाल ली जाएँ, तो आप क्रोध नही कर पाएँगे। कुछ ग्रन्थियां निकाल ली जाएँ, तो आपकी कामवासना तिरोहित हो जाएगी। तो क्या यह शरीर आप पर इतना हावी है और आप की आत्मा को कोई स्वतन्त्रता नही है ?

इसलिए महावीर क्रोध, मान, माया और लोभ को चार शत्रु कहते हैं। क्योंकि जब तक कोई इन चार के ऊपर न उठ जाए, तब तक उसको आत्मा का कोई अनुभव नही होता।

क्रोध के 'हारमोन्स' आपके भीतर मौजूद हैं और फिर भी आप क्रोध नही करते, काम-वासना के हारमोन्स आपके भीतर मौजूद हैं और फिर भी आप ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो जाते हैं, लोभ की सारी की सारी रासायनिक प्रक्रिया भीतर है और फिर भी आप अलोभ को उपलब्ध हो जाते हैं, तभी आपको आत्मा का अनुभव होगा।

आत्मा का अर्थ है शरीर के पार सत्ता का अनुभव।

लेकिन हम तो शरीर के पार होते ही नहीं, शरीर ही हमें चलाता है। कई बार ऐसा भी होता है, आप सोचते हैं कि आप पार हो गए। जैसे सुबह आप उठते हैं, पत्नी कुछ बोल रही है, बच्चे कुछ गड़बड़ कर रहे हैं, नौकर कुछ उपद्रव कर रहा है और आप हँसते रहते हैं। तो आप सोचते हैं कि मैंने तो क्रोध पर विजय पा ली। यही घटना साँझ को घटती है, तो आप विक्षिप्त हो जाते हैं। सुबह 'हारमोन्स' ताजे हैं, शरीर थका हुआ नहीं है, इसलिए आप ज्यादा आश्वस्त हैं। साँझ थक गए हैं, 'हारमोन्स' टूट गये हैं, शक्ति क्षीण हो गई है—साँझ आप 'वनरेबल' हैं, ज्यादा खुले हैं, इसलिए जरा सी बात भी आप को पीड़ा और चोट पहुँचा जाएगी। तो सुबह जिसको आपने सह लिया, साँझ उसे नहीं सह पाते। लेकिन सुबह भी आप आत्मा को नहीं पा गए थे; सुबह भी शरीर ही कारण था, साँझ भी शरीर ही कारण है।

आत्मा को पाने का अर्थ तो यह है कि शरीर कारण न रह जाए। आप के जीवन में ऐसे अनुभव शुरू हो जाएँ, जिनमे शरीर की रासायनिक प्रक्रियाओ का हाथ नहीं है।

इसलिए इन चार को महावीर ने शत्रु कहा है। इन चारों से ही हम पुनर्जन्म रूपी ससार के वृक्ष की जडो को सीचते रहते हैं। इन चारो से ही हम फिर से अपने जन्म को निर्मित करने का उपाय करते रहते हैं। जो इन चार में फँसा है, उसका अगला जन्म उसने बना ही लिया है।

लोग मेरे पास आते हैं और कहते हैं कि कैसे आवागमन से छुटकारा हो ? छुटकारा भी माँगते हैं और जडों को अच्छी तरह पानी भी सीचते चले जाते है—तब इस वृक्ष से कैसे छुटकारा हो ? साँझ को छुटकारे की बात करते है और सुबह जडो मे पानी सीचते पाये जाते है। उनको पता ही नही कि वृक्ष की जडों मे पानी सीचना और वृक्ष के पत्तों का आना एक ही क्रिया के अग हैं, यह एक ही बात है। इसलिए यह कभी मत पूछें कि आवागमन से कैसे छुटकारा हो। पूछें ही मत। यही पूछे कि क्रोध, माया, मोह और लोभ से कैसे छुटकारा हो। आवागमन से छुटकारा पूछने की बात ही गलत है। यही पूछें कि कैसे वृक्ष को पानी देने से मैं अपने को रोकूं! वृक्ष कैसे न हो—यह मत पूछें; क्योकि ध्यान आपने अगर वृक्ष के पत्तो पर रखा और हाथो से पानी देते रहे वृक्ष को, तो वृक्ष बढता ही चला जायेगा। पर वृक्ष के साथ हम ऐसा नही करते, क्योकि हमे पता है कि पानी देना और वृक्ष पर पत्तो तथा फूलो का जाना, एक ही क्रिया का अग है।

आपको अपने जीवन-वृक्ष का कुछ भी पता नही कि उसके साथ आप क्या कर रहे हैं। इधर कहे चले जाते है, दुख मुझे न हो और सब तरह से दुख को सीचते हैं; हर उपाय करते हैं दुख का और हर वक्त चिल्लाते रहते हैं कि दुख मुझे न हो। आपके जीवन-वृक्ष आप खुद हैं, इसलिए अपनी जडों और पत्तो को जोड नही पाते, समझ नहीं पाते कि मामला क्या है! जब दुख हो, तो दुख के पत्ते को पकड कर पीछे उतरना चाहिए जड़ तक, कि कहाँ से दुख हुआ, और जड़ को काटने की चिन्ता करनी चाहिए।

इसलिए महावीर कहते हैं कि ये चार हैं जडें—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों इतनी अलग-अलग नहीं हैं, ये एक ही बीज के चार पहलू हैं, चार चेहरे हैं—एक ही चीज के, एक ही घटना के। बुद्ध ने इस घटना को नाम दिया है—जीवेषणा, 'लस्ट फॉर लाइफ'।

अब यह बड़ी कठिन बात है—लोग कहते हैं कि आवागमन हमारा कैसे रुके ! उनसे पूछें—क्यों, किसलिए, आवागमन से दिक्कत क्या हो रही है आपको ? चलते जाओ मजे से, जन्म लेते जाओ बार-बार, हर्ज क्या है ?

नही, पैदा होने से उन्हे भी तकलीफ नहीं है, जीवन से उन्हें कोई कठिनाई नही है, जीवन में जो दुख मिलता है, उससे उन्हे कठिनाई है। दुख न हो और जीवन हो, दुख कट जाए और जीवन हो, हम ऐसी दुनिया चाहते हैं—जिसमें राते न हो और दिन ही दिन हो। हम ऐसी दुनिया चाहते हैं, जहाँ जवानी ही जवानी हो, बुढापा न हो, स्वास्थ्य ही स्वास्थ्य हो, बीमारी न हो; मित्र ही मित्र हो, शत्रु न हों, प्रेम ही प्रेम हो, घृणा न हो।

हम दुनिया में एक हिस्से को काट देना चाहते हैं और एक को बचा लेना चाहते हैं। और मजा यह है कि दूसरा हिस्सा इसीलिए बचा हुआ है कि हम इस एक को बचाना चाहते हैं। हम चाहते है कि दुनिया में मित्र ही मित्र हों, इसीलिए शत्रु ही शत्रु हो जाते हैं। हम चाहते हैं दुनिया में सुख ही सुख हो, इसीलिए दुख ही दुख हो जाता है। हम सुख को बचाना चाहते हैं और दुख को हटाना चाहते है; लेकिन सुख जड है और दुख पत्ता है। जिसे हम बचाना चाहते हैं, उसी को बचाने मे हम उसे बचा लेते हैं जिसे हम बचाना नहीं चाहते, जिससे हम छूटना चाहते हैं।

एक आदमी जब यह कहता है कि आवागमन से मुक्ति हो जाये, तो वह यह नहीं कहता कि मैं समाप्त हो जाऊँ, वह कहता है—मैं मोक्ष मे रहूँ, मैं स्वर्ग मे रहूँ—दुख न हो वहाँ, दुख से छुटकारा हो जाये ! बुद्ध ने इसे ही कहा है—'जीवेषणा', होने की वासना; 'मैं रहूँ' यही समस्त दुखो का मूल है।

महावीर कहते हैं कि ये जो चार शत्रु हैं, ये भी जीवेषणा से पैदा होते हैं।

क्रोध क्यो आता है ?—जब कोई आपके जीवन में बाधा बनता है—तब। जब कोई आपको मिटाना चाहता है या आपको लगता है कि कोई मिटाना चाहता है—तब। जब आपको कोई बचाना चाहता है, तब आपको क्रोध नही आता।

अगर मैं एक छूरा लेकर आपके पास आऊँ, तो आप डरेंगे। लेकिन छुरे से नही डर रहे हैं आप, क्योंकि सर्जन उससे भी बडा छुरा लेकर आपके पास आता है। तब आप निश्चिन्त 'टेबल' पर लेटे रहते हैं, मुस्कराते रहते हैं—क्या मामला है, दोनों ही छुरा लेकर आते हैं ? लेकिन अगर आपको लगता

है कि मार डाला जाऊँगा, तो आप डरते है, पर सर्जन बचाने आ रहा है। मर रहे हो, तो बचा रहा है, इसलिए उसके छुरे से कोई डर नही लगता—हाथ पैर कोई काट डाले, इससे डर नही है। एक ही गहरे में भय है कि कही मैं मिट न जाऊँ।

तो जहाँ लगता है कि मुझे कोई मिटाने आ रहा है, वहाँ क्रोध खडा हो जाता है। जहाँ लगता है कि कोई मुझे बचाने आ रहा है, वहाँ मोह खडा हो जाता है। जहाँ लगता है कि मैं बच न सकूँगा, तो बचाने की जो हम चेष्टा करते हैं, वह सब हमारा लोभ है। जब मुझे लगता है कि मैं अच्छी तरह बच गया हूँ और अब मुझे कोई मिटा नहीं सकता तो वह जो अहंकार पैदा होता है, वह हमारा मान है। लेकिन यह चारों के चारों जीवेषणा के हिस्से हैं। यह चतुर्मूर्ति, इसके भीतर जो छिपी है, वह है जीवेषणा। ये चारो चेहरे उसी के हैं। अलग-अलग परिस्थितियो मे अलग-अलग चेहरे दिखाई पड़ते हैं, लेकिन भाव एक है कि मैं बचूं।

तो जब तक जो आदमी स्वय को बचाना चाहता है, वह आदमी तब तक आत्मा को न पा सकेगा—इसे थोडा और हम समझ लें।

जो आदमी स्वयं को बचाना चाहता है, वह दूसरे को मिटाना चाहेगा; क्योंकि स्वय को बचाने का, दूसरे को मिटाये बिना कोई उपाय नही है। महावीर का अहिंसा पर इतना जोर इसीलिए है। वे कहते हैं कि दूसरे को मिटाने की बात ही छोड दो; और ध्यान रखना दूसरे को मिटाने की बात वही छोड सकता है, जो स्वय को बचाने की बात छोड दे।

जब आप दूसरे को, किसी को भी नही मिटाना चाहते, तब एक बात पक्की हो गयी कि आपको अपने को बचाने का कोई मोह नही है। अगर अपने को बचाने का कोई भाव नही बचा है, तो फिर कोई क्रोध नही है, फिर कोई मोह नही, कोई माया नही, कोई मान नहीं। इसका मतलब यह नही कि जो अपने को बचाने के भाव को छोड़ देता है, वह नही बचता। मामला उल्टा है, जो नही बचाता अपने को, वही बचता है और जो बचाता है, वह बार-बार मरता है।

जीसस ने कहा है—'जो अपने को बचाएगा, वह मिटेगा, और जो अपने को खोने को तैयार है, उसको कोई भी मिटा नहीं सकता। लेकिन ऐसा मत सोचना कि अगर ऐसा है, तो खोने की तैयारी से हम सदा के लिए बच जाएँगे, इसलिए हम खोने को तैयार हैं। तब आप न बचेंगे। आपका मनोभाव बचने के लिए ही है। वही वासना जन्मो का कारण है।

कोई आपको जन्म देता नही, आप ही अपने को जन्म देते हैं। आप ही अपने पिता हैं, आप ही अपनी माता हैं। आप ही अपने को जन्म दिये चले जाते हैं। यह जन्म का जो उपद्रव है, इसके कारण आप ही हैं। इसीलिए तो मौत से इतनी घबड़ाहट होती है, इतनी बेचैनी होती है और मरते वक्त आदमी कहता है कि जन्म-मरण से छुटकारा हो जाए। लेकिन मतलब उसका इतना ही होता है कि मरण से छुटकारा हो जाए। जन्म तो वह भाषा की भूल से कह रहा है। फिर से सोचेगा तो नहीं कहेगा।

सोचें, जन्म से छुटकारा चाहते हैं? जीवन से छुटकारा चाहते हैं? जिस दिन आप जन्म से छुटकारा चाहते हैं, उस दिन मरण से छुटकारा हो जाएगा। हम सब मरण से छुटकारा चाहते हैं, इसलिए नये जन्म का सूत्र-पात हो जाता है। हम छोर से बचना चाहते हैं, जड़ से नहीं। मरण है पत्ता आखिरी, जन्म है जड। जड़ ही काटनी होगी।

सन्यास का अर्थ है, जड़ को काटना। ससार का अर्थ है पत्तों को काटना। काटते दोनों हैं। सन्यासी बुद्धिमान है, वह वहाँ से काटता है, जहाँ से काटना चाहिए। ससारी मूढ़ है, वह वहाँ से काटता है, जहाँ से काटने का कोई अर्थ नही है, बल्कि खतरा है। पत्ते समझते हैं कि कलम की जा रही है। इसलिए एक पत्ता काटो, तो चार निकल आते हैं।

महावीर कहते हैं कि इन जड़ों को सींचने से होगा बार-बार जन्म, बार-बार मृत्यु और घूमोगे चक्र में—नीचे-ऊपर, नीचे-ऊपर—सुख मे, दुख में, हार मे, जीत में—और यह चक्र है अनन्त। और ऐसा मत सोचना कि दुख इसलिए है कि मुझे अभी अभाव है, सब मिल जायेगा तो दुख न रहेगा।

महावीर कहते हैं कि तुम्हें अगर सभी मिल जाये स्वर्ण पृथ्वी का, सभी मिल जाये धन-धान्य, हो जाये समस्त पृथ्वी तुम्हारी दास, तो भी वे तुम्हे तृप्त करने में असमर्थ हैं।

तृप्ति का सम्बन्ध क्या तुम्हारे पास है, इससे नही है—क्या तुम हो, इससे है। और जो अतृप्त है, उसके पास कुछ भी हो, तो अतृप्त होगा। और जो तृप्त है उसके पास कुछ भी हो या कुछ भी न हो, तो भी तृप्त होगा।

तृप्ति या अतृप्ति अन्तर्दशाएँ हैं। बाहर की वस्तुओं से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए महावीर कहते हैं कि सब तुम्हारे पास हो जाये, तो भी तुम तृप्त नहीं होओगे। क्योंकि न हमने सिकन्दर को तृप्त देखा, न हमने नैपोलियन को तृप्त देखा; न राकफेलर तृप्त थे, न मार्गन तृप्त थे और न कार्नेगी तृप्त थे। सब उनके पास है, जो हो सकता है। शायद नैपोलियन के

पास भी नहीं था, जो राकफेलर के पास था—लेकिन तृप्ति ? तृप्ति का कोई पता नहीं।

महावीर जो कहते हैं, वह अनुभव से कहते हैं। उनके पास भी सब था। इसलिए यह कोई सडक पर खडे किसी भिखारी की बात नहीं है। सड़क पर खड़े भिखारी की बात में तो धोखा भी हो सकता है, सान्त्वना भी हो सकती है। अक्सर होती है। सडक का भिखारी कहता है, क्या मिलेगा यदि सारी पृथ्वी भी मिल जाये ? उसका यह मतलब नही कि वह सारी पृथ्वी नहीं पाना चाहता। वह यह कह रहा है कि हम पाने योग्य नही मानते। इसलिए नहीं कि पाने योग्य नही है। इसलिए कि वह जानता है कि पाने योग्य मानो, तो भी कोई अर्थ नही है। छाती पीटनी पडेगी, रोना पडेगा, होनेवाला नही है कुछ। अगूर खट्टे हैं, क्योकि दूर हैं।

भिखारी भी कहता है, अपने मन को समझाने के लिए कहता है। इसलिए अध्यात्म के इतिहास मे एक बहुत बडी विचित्र घटना घटती है। सम्राट भी कहते हैं, भिखारी भी कहते हैं। वचन एक ही हो सकता है, अर्थ एक ही नही होता। जब सम्राट कहते हैं कि नही है कोई सार सारी पृथ्वी मे, तो यह एक अनुभव का वचन है। और जब भिखारी कहता है, तब अक्सर—हमेशा नही, अक्सर—अनुभव का वचन नही, सान्त्वना की चेष्टा है। समझाना अपने को बेकार है। कुछ होगा नही। तृप्ति होनेवाली नहीं है पूरी पृथ्वी मिल जाए, तो भी। यह अपने को संतुष्ट करने की चेष्टा है।

महावीर जो कह रहे हैं, वह संतुष्ट करने की चेष्टा नहीं है। वह असन्तोष के गहन अनुभव का परिणाम है।

महावीर कहते हैं कि सब भी तुम्हें मिल जाए, तो भी कुछ न होगा। क्योकि सबके मिलने से तुम, तुमको नहीं मिलोगे। सब भी मिल जाए, पूरी पृथ्वी भी मिल जाए, तो भी अपने से मिलन नहीं होगा।

तृप्ति है, अपने से मिलन का नाम। दूसरे से मिलने मे सिवाय अतृप्ति के कुछ भी पैदा नही होता—चाहे वह धन हो, कि व्यक्ति हो, कि कुछ भी हो। दूसरे से मिलन ही, अतृप्ति का जन्मदाता है। और अतृप्ति होगी ही और मिलने की आकांक्षा होगी ही और भ्रम पैदा होगा कि और मिल जाये, तो शायद सब ठीक हो जाए।

अपने से ही मिलने पर तृप्ति होती है। क्योंकि फिर खोजने को कुछ भी नहीं रह जाता। लेकिन अपने से मिलन उसी का होता है, जो जीवेषणा छोड

देता है। अपने से वह मिलता है, जो काम, क्रोध, लोभ और मोह के पागलपन को छोड देता है। क्योंकि यह पागलपन दूसरे में ही उलझाए रखते हैं, अपने पास आने ही नहीं देते।

क्रोध का मतलब है, दौड गये आग मे दूसरे की तरफ। अक्रोध का अर्थ है, लौट आये आग से अपनी तरफ। मोह का अर्थ है, जुड गये दूसरे से पागल की तरह। अमोह का अर्थ है, लौट आये बुद्धिमान की तरह, अपनी तरफ। अपनी ही आँख में अपने को देखने की चेष्टा आत्मदर्शन है। अहंकार का अर्थ है, दूसरे की आँखों में देखने की चेष्टा। यह पागलपन है, क्योंकि दूसरे भी इसी कोशिश मे लगे हैं। निरहकार का अर्थ है, अपना ही दर्शन, अपनी ही आँखों में अपने को देखने की चेष्टा—अपने को मैं देख लूं, अपने को मैं पा लूँ, अपने साथ मे मैं हो जाऊँ, अपने मे मैं जी लूँ, तो है परम-तृप्ति; दूसरे की ओर मैं दौड़ता रहूँ, दौडता रहूँ, दौडता रहूँ, तो दौड़ है बहुत, लेकिन पहुँचना बिलकुल नही है, यात्रा बहुत होती है, मतलब कुछ भी नही निकलता।

इसलिए महावीर कहते हैं कि इन चारों को ठीक से पहचान लेना। और जब ये चार तुम्हें पकडें, तो एक बात को ध्यान रखना, स्मरण रखना कि समस्त पृथ्वी को पा लेने पर भी कुछ होता नही।

'यह जानकर संयम का आचरण करना।'

मयम का क्या अर्थ है ? सयम का अर्थ है जो चार पागलपन हैं, हमें बाहर ले जाने वाले, इनसे बचना। संयम का अर्थ है सतुलन। क्रोध में संतुलन खो जाता है। क्रोध मे आप वह करते हैं, जो नहीं करना चाहते थे। जो नहीं कर सकते थे, वह भी क्रोध में कर लेते हैं। लोभ में भी सतुलन छूट जाता है। मोह में भी सतुलन छूट जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक स्त्री के प्रेम में था और उसने कहा कि अगर तुमने मुझसे विवाह न किया, तो पक्का जान रखो कि आत्महत्या कर लूँगा। वह स्त्री डर गई। उसने पूछा—'सच आत्महत्या कर लोगे ?' मुल्ला ने कहा—'धिस हैज बीन माई यूजयल प्रोसीजर' (यह मैं सदा से ही करता रहा हूँ)। जब भी कभी किसी स्त्री के प्रेम में पडता हूँ, तो सदा यही करता हूँ—आत्महत्या !

जब आप भी किसी के प्रेम में होते हैं, तो ऐसी ही बातें कहते हैं; जो न आप करते हैं, न कर सकते हैं। वह पागलपन है—एक 'हारमोनल डिसीज'। आप के भीतर कुछ रासायनिक तत्व दौड रहे हैं। आप होश में नहीं हैं। जो

आप कह रहे हैं, उसका कोई मतलब नही है ज्यादा।

मुल्ला नसरुद्दीन अपनी प्रेयसी से कहता है कि कल तो मैं आऊँगा—न पहाड़ मुझे रोक सकते हैं, न आग की वर्षा; भगवान् भी बीच मे आ जाए, तो भी मुझे रोक नहीं सकता।

फिर जाते वक्त कहता है कि कल अगर पानी न गिरा, तो पक्का आऊँगा।

अपनी एक प्रेयसी से मुल्ला विदा ले रहा है। विदा लेते वक्त उससे कहता है—'तेरे बिना मैं जी नही सकूंगा। तुझसे ज्यादा सुन्दर स्त्री इस पृथ्वी पर कोई भी नहीं है। शरीर ही मेरा जा रहा है, आत्मा तो मैं यही छोडे जा रहा हूँ।' फिर सीढ़ियाँ उतरते कहता है—'लेकिन कुछ ज्यादा इसका ख्याल मत करना—ऐसा मैं बहुत स्त्रियो से पहले भी कह चुका हूँ, आगे भी कहूँगा।'

जब आप मोह मे हैं (जिसको आप प्रेम कहते हैं और प्रेम शब्द को खराब करता है) तब आप जो बोल रहे हैं, वह बेहोशी में हो रहा है। जब आप क्रोध मे हैं, तब आप जो कह रहे हैं, वह भी बेहोशी में हो रहा है।

सयम का अर्थ है—होश। सयम का अर्थ है कि बेहोशियाँ न पकड़े, आदमी सतुलित हो जाए, सयमी हो जाए, अपने में खडा हो जाए—ऐसी बातें न करे, ऐसा व्यवहार न करे, ऐसा जीवन का, समय का उपयोग न करे, जिसके लिए वह खुद भी होश मे आने पर कहे कि पागलपन था।

सभी बूढ़े जवानो पर नाराज दिखाई पडते हैं। इसका और कोई कारण नही है, सिवाय अपनी जवानी के दुख के। सभी बूढे जवानो को शिक्षा देते दिखाई पडते हैं। असल मे उनको मौका नही मिलता अपनी जवानी को शिक्षा देने का (जो कि किसी को मिलता नही), इसलिए उसे दूसरों पर निकाल रहे हैं। लेकिन वे भूल कर रहे हैं। उनके माँ बाप ने भी उनको ऐसी शिक्षा दी थी। लेकिन कोई कभी सुनता नही। जवानों को बडा गुस्सा आता है कि यह क्या बकवास लगा रखी है। लेकिन बूढ़े बेचारे अनुभव से कह रहे हैं। उन्होने ये दुख उठा लिये हैं, ये पागलपन कर लिये हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन बैठा है एक बगीचे की बेन्च पर अपनी पत्नी के साथ। साँझ हो गई है। वृक्षों की छाया में कोई नया युगल—एक युवक और एक युवती प्रेम की बातें कर रहे हैं। पत्नी बेचैन हो गई। आखिर पत्नी ने मुल्ला से कहा कि ऐसा मालूम पड़ता है कि यह लड़का और लड़की शादी करने की

तैयारी कर रहे हैं। तुम जाकर रोकने की कुछ कोशिश करो। जरा खाँसो-खखारो।

मुल्ला ने कहा—'मुझको किसने रोका था? सब अपने अनुभव से सीखते हैं। बीच मे पड़ने की कोई भी जरूरत नहीं है।'

जब काम पकड़े, क्रोध पकड़े, मोह पकड़े, मान पकड़े, तब ख्याल करना कि कितने अनुभव से सीखिएगा! काफी अनुभव नहीं हो चुका है? कितना अनुभव हो चुका है? पुनरुक्ति कर रहे हैं। हां, अनुभव जरूरी है, लेकिन पुनरुक्ति मूढता है। एक भूल सहज है, लेकिन उसी को दुबारा दुहराना मूढ़ता है।

मूढ़ वे नहीं हैं, जो भूलें करते हैं और बुद्धिमान वे नहीं हैं, जो भूलें नहीं करते। बुद्धिमान वे हैं, जो एक ही भूल दोबारा नहीं करते और मूढ वे हैं, जो एक ही भूल को बार-बार करते हैं।

तो ये चार कषाय जब पकड़ें, तो थोड़ी बुद्धिमानी बरतना और जरा होश रखना कि बहुत बार यह हो चुका है। क्या है परिणाम? क्या है निष्पत्ति? और अगर कोई परिणाम, कोई निष्पत्ति न दिखाई पड़े तो संयम रखना। ठहराना अपने को। खड़े हो जाना। मत दौड़ पड़ना पागल की तरह। जो इन विक्षिप्ताओ से अपने को रोक लेता है, वह धीरे-धीरे उसको जान लेता है, जो विक्षिप्ताओं के पार है। उसका नाम ही आत्मा है। आज इतना ही। पाँच मिनट रुकें, कीर्तन करें और फिर जायें।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१८ सितम्बर, १९७२

पन्द्रहवाँ प्रवचन

अशरण-सूत्र

•

जमिणं जगई पूढो जगा,
कम्मेहि लुप्पन्ति पाणिणो।
समयेव कडेहि गाहई,
नो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठयं ॥

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न भित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोई दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्म ॥

संसार में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने कृतकर्मों के कारण ही दुखी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता।

पापी जीव के दुख को न जातिवाले बँटा सकते हैं, न मित्र वर्ग, न पुत्र, और न भाई-बन्धु। जब दुख आ पड़ता है, तब वह अकेला ही उसे भोगता है। क्योंकि कर्म अपने कर्ता के ही पीछे लगते हैं, अन्य किसी के नहीं।

•

पहले कुछ प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है—कल आपने समझाया कि मनुष्य की जीवेषणा ही उसके पुनर्जन्म को और ससार के दुख-चक्र को चलाए रखने का कारण है। लेकिन आप हमेशा कहते हैं कि 'जीवन ही परमात्मा है' और आपकी पूरी देशना जीवन-स्वीकार पर केन्द्रित है। 'जीवेषणा' दुख का मूल कारण है, ऐसा कहना जीवन-निषेधक लगता है।

जीवेषणा है कल, भविष्य में, और जीवन है अभी और यही। जो जीवेषणा से घिरा है, वह जीवन से वंचित रह जाएगा, और जिसे जीवन को जानना हो, उसे जीवेषणा छोड देनी पडती है। इसे थोड़ा ठीक से समझ लें।

वासना कभी भी वर्तमान मे नही होती, हमेशा भविष्य में होती है। और अस्तित्व हमेशा वर्तमान में होता है। आपका होना तो सदा होता है 'अभी और यही'। लेकिन आपकी वासना सदा होती है 'कही'। आप हैं अभी और यही, और आपका मन है कही और। आपकी आकांक्षा, अभीप्सा, वासना सदा भविष्य में है। भविष्य का कोई अस्तित्व तो है नही, सिवाय आपकी वासना को छोड़कर। भविष्य है आपकी वासना का विस्तार और अतीत है आपकी स्मृतियों का संग्रह। समय तो सदा वर्तमान है।

हम आमतौर से समय का विभाजन करते हैं—वर्तमान, अतीत और भविष्य। तीन टुकड़ों में तोड़ देते हैं समय को। वह भ्रान्त है। अतीत और भविष्य समय के खड नही हैं। अतीत है हमारी स्मृति और भविष्य है हमारी वासना। समय तो सदा वर्तमान है। समय तो सदा अभी है। समय के तीन टुकड़े नहीं हैं। समय तो एक अखड धारा है, जो अभी है।

साधारणतः हम कहते हैं कि समय बीत जाता है। ज्यादा अच्छा हो यह कहना कि 'हम बीत जाते हैं।' समय को कभी आपने बीतते देखा है? कभी अतीत से आपका मिलना हुआ है? कभी भविष्य से आपकी मुलाकात हुई है?

जब भी मिलन होता है, वर्तमान से ही होता है। लेकिन कभी आप बच्चे थे, अब आप जवान हैं, तो आप बीत गये। अभी आप जवान हैं, कल आप बूढ़े हो जायेंगे, तो और भी बीत जाएँगे। कभी आप पैदा हुए थे, कभी मर जाएँगे। कभी मरे थे, कभी चुक जाएँगे।

आदमी बीतता है, समय नही बीतता। समय चल रहा है। घड़ी चल कर यह बताती है कि आप चुक रहे है, आप समाप्त हो रहे हैं। समय आपके सम्बन्ध मे कुछ बताता है, समय के सम्बन्ध मे कुछ भी नही। अगर इसे ठीक से समझ ले, तो ख्याल मे आ जाएगा कि जीवेषणा और जीवन मे क्या फर्क है?

जीवेषणा का मतलब है—कल जीऊँगा, मुझे कल चाहिए जीने के लिए, आज नही जी सकता हूँ। आज जो भी है, व्यर्थ है, जो भी सार्थक है, वह कल होगा, जो भी सुन्दर है, जो भी सुखद है, वह कल मे छिपा है; जो भी दुखद है, अप्रीतिकर है, वह आज में प्रकट हुआ है। लेकिन कल तो कभी आता ही नही। जब भी आता है, आज ही आता है। कल भी आज ही आएगा। आज सदा व्यर्थ मालूम पड़ता है और कल सदा सपनो से भरा मालूम पडता है।

तो ऐसे हम जीवन को स्थगित करते हैं। हम कहते हैं—कल जी लेंगे। आज तो जीने में असमर्थ पाते हैं अपने को, आज तो जीवन से जुड़ने की कला नही जानते, आज तो जीवन मे डूबने और सरोबोर होने का रास्ता नही जानते, आज तो जीवन ऐसे ही बीत जाता है,—'कल जी लेंगे,' इस आशा मे, इस भरोसे में आज को हम बिता देते हैं। लेकिन कल कभी आता नही। कल फिर आज होकर आता है। इस आज के साथ भी हम वही करेंगे, जो हमने आज किया आज के साथ। कल भी हम वही करेंगे; और इस भाँति हम आज को कल पर टाल देंगे।

ऐसे आदमी टालता चला जाता है। मौत जब आती है, तो हमें जो दुख और पीड़ा होती है, वह मृत्यु की नही है। जो असली पीड़ा है, वह कल के समाप्त हो जाने की है। मौत जब द्वार पर खडी हो जाती है, तो आज ही बचता है, कल नही बचता। मौत आपको नही मारती, भविष्य को मार देती है। मौत आपका अन्त नहीं है, भविष्य की समाप्ति है। अब आप अपनी वासना को आगे नहीं फैला सकते। अब कोई कल नहीं है। कल कभी भी नही था। लेकिन जो आपको जिन्दगी न बता सकी, वह आपको मौत बताती है; कि अब कल नहीं है। अब यही क्षण बचा है। अब क्या करें? जीवन भर की आदत है। आज तो जी नहीं सकते! कल ही जी सकते हैं। अब क्या करेंगे?

इसलिए मौत की दीवार से टकराते लोग स्वर्ग की, मोक्ष की, पुनर्जन्म की भाषा में सोचने लगते हैं। उसका मतलब हुआ कि अब वे कल को फिर फैला रहे हैं। अब वे यह कह रहे हैं कि मरने के बाद शरीर ही मरेगा, आत्मा तो रहेगी। हम फिर जीयेंगे। भविष्य में जीयेंगे। उसका यह मतलब नहीं है कि आत्मा मर जाती है। लेकिन जितने लोग यह सोचते हैं कि आत्मा रहेगी, उसमें से शायद ही किसी को पता हो आत्मा के होने का। उनके लिए फिर एक 'ट्रिक,' एक तरकीब है मन की। वे फिर भविष्य को निर्मित कर रहे हैं।

एक बात तय है कि हम आज जीना नही जानते। वही अधर्म है। पर हम कैसे आज जीना जानेंगे? एक ही उपाय है कि हम कल की आशा में न जीएँ और आज चेष्टा करें जीने की—अभी। यह जो समय हमारे साथ अभी जुड़ा है, इसमे ही हम प्रवेश कर जाएँ। क्षण में ही हम उतर जाएँ।

जो आदमी बुद्धिमान है, वह ऐसा मानकर चलता है कि दूसरे क्षण मौत है। है भी। एक क्षण मेरे हाथ मे है, दूसरे क्षण का कोई भरोसा नही। इस क्षण का मैं क्या उपयोग करूँ? इस क्षण को मैं कैसे उसकी परिपूर्णता में निचोड़ूं? कैसे इस क्षण को पूरा जी लूं? कैसे यह क्षण व्यर्थ न चला जाए? ऐसी चिन्ता है बुद्धिमान की।

बुद्धिहीन की चिन्ता यह है कि इस क्षण को अगले विचार में खो दूं। अगले क्षण को और अगले क्षण के विचार मे खो दूं। ऐसे पूरा जीवन भ्रम होगा कि जिया हूँ, और जीऊँगा बिलकुल ही नहीं। हम सिर्फ 'पोस्टपोन' करते हैं, स्थगित करते हैं—कल···कल···कल···और एक दिन पाते हैं कि मौत आ गई। अब आगे कोई कल नही है। तब छाती पर धक्का लगता है कि पूरा अवसर व्यर्थ खो गया।

जीवेषणा का अर्थ है, जीवन को चूकने की तरकीब। इसलिए जीवन तो प्रभु है, जीवेषणा ससार है; जीवन तो धर्म है, जीवेषणा पाप है। क्या यह नही हो सकता कि हम इस क्षण से ही जुड़ जाएँ—डूब जाएँ इसमें ही, लीन और एक हो जाएँ। अगला क्षण भी आएगा, लेकिन जो व्यक्ति इस क्षण में डुबकी लगाने में समर्थ है, वह अगले क्षण में भी डुबकी लगा लेगा।

जीसस ने अपने शिष्यों को कहा है—देखो! खेतों में खिले हुए लिली के फूलों को, वे कल की चिन्ता नहीं करते। वे अभी और यहीं खिल गये हैं। ऐसे ही तुम भी हो जाओ। 'डू नॉट थिंक ऑफ टुमारो', कल की मत सोचो। लिली

का फूल भी अगर कल की सोच सके, अगर किसी तरकीब से हम उसमें भी जीवेषणा पैदा कर दें, तो वह अभी कुम्हला जाएगा।

आदमी का कुम्हलाना कल की चिन्ता का परिणाम है। बच्चे फूल की तरह खिले मालूम पड़ते हैं—क्या है कारण? क्या है राज? बच्चों के लिए अभी जीवेषणा नही है। उनके लिए अभी जीवन ही है। अभी वे खेल रहे हैं, तो जैसे यही सब समाप्त हो गया। इसी खेल मे सब पूरा है। इस खेल मे वे अपनी समग्र आत्मा से उतर गये हैं। कल उनके लिए नहीं रहा। जिस दिन बच्चा कल की सोचने लगता है, समझना कि वह उस दिन बूढ़ा होना शुरू हो गया।

जब तक बच्चा आज में जीता है, अभी मे जीता है, तब तक समझना कि अभी उसमे बचपन का सौन्दर्य है। जिस दिन वह कल की सोचने लगे, समझो कि बुढ़ापे ने उसे पकड़ लिया, अब उसे दोबारा बचपन बहुत मुश्किल हो जायेगा।

जीसस ने कहा है—'वही मेरे स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करेंगे, जो बच्चों की भाँति हैं।' बच्चो की भाँति होने का एक ही अर्थ है—जो अभी और यही जीने मे समर्थ हैं, वे स्वर्ग मे प्रवेश कर जाएँगे। स्वर्ग कही और नही है, इसी क्षण में है; नरक कही और नही है, स्थगित जीवन मे है, कल में है।

स्वामी राम एक कहानी कहा करते थे, वे कहते थे कि एक प्रेमी अपनी प्रेमिका से दूर चला गया। लौटने का जो समय दिया था उसने, उस समय पर वह नही लौट सका। पत्र उसके आते रहे कि आऊँगा, आऊँगा'''जल्दी आता हूँ, जल्दी आता हूँ, पर वह टालता रहा लौटने का समय। फिर प्रेयसी थक गई प्रतीक्षा करते-करते और एक दिन वह उसके द्वार पर पहुँच गई। साँझ हो गई थी और अंधेरा उतर रहा था। छोटा सा दिया जला कर वह अपने कमरे में बैठा कुछ लिख रहा था। प्रेयसी ने बाधा डालनी उचित न समझी और वह वही सामने ही बैठ गई। वह प्रेमी अपनी इसी प्रेयसी को ही पत्र लिख रहा था।

प्रेमियो के पत्र? उनका अन्त नहीं आता। वह पत्र लम्बा होता चला गया। रात आगे बढ़ती चली गई। पत्र पर से उसने आँख भी न उठाई, आँख से उसकी आँसू बह रहे हैं और वह पत्र लिखे जा रहा है। और फिर समझा रहा है कि आऊँगा, जल्दी आऊँगा। अब ज्यादा देर नहीं है; और जिसको वह पत्र लिख रहा है, वह उसके सामने ही बैठी है।

आँसुओं से धुमिल उसकी आँखें, पत्र में लीन उसका मन, भविष्य में डूबी हुई उसकी वासना, पर जो मौजूद है, उसे वह नहीं देख पा रहा है।

फिर आधी रात गये उसका पत्र पूरा हुआ। आँखें उसने ऊपर उठाई तो उसे भरोसा न आया। (जिस दिन आप भी आँखें उठायेंगे, उस दिन आपको भी भरोसा नहीं आयेगा कि जीवन सामने ही बैठा है।) प्रेयसी को सामने बैठा देख कर वह घबड़ा गया। अभी भी वह यही सोच रहा था कि कब देखूंगा अपनी प्रेयसी को, कब होंगे उसके दर्शन! और अब जब की दर्शन सामने हो रहे हैं, तो वह घबडा गया है। वह समझा शायद कोई भूत-प्रेत है; घबड़ाकर जोर से उसने पूछा कि कौन है तू!

उसकी प्रेयसी ने कहा—क्या तुम मुझे भूल ही गये? मैं बड़ी देर से आकर बैठी हूँ। तुम पत्र लिखने में लीन थे। मैंने सोचा, बाधा न डालूँ।

उस प्रेमी ने अपना सिर ठोक लिया। उसने कहा—'मैं तुझे ही पत्र लिख रहा था।'

हम सब भी जिसे पत्र लिख रहे हैं, जिस जीवन को, वह अभी और यहीं मौजूद है। जिसकी हम कामना कर रहे हैं, वह यही बिलकुल हाथ के पास निकट ही खडा है, लेकिन आँखें हमारी दूर भटक गई हैं। कल्पना हमारी दूर चली गई। इसलिए जो पास है, उसे वे नहीं देख पाती।

हम पास के लिए सभी अंधे हो गये हैं। दूर का हमें दिखाई पड़ता है, लेकिन पास का हमें बिलकुल दिखाई नहीं पड़ता। पास देखने की हमारी क्षमता ही खो गई है। अभ्यास ही हमारा सिर्फ दूर का देखने का रह गया है। जितना दूर हो, उतना ही साफ दिखाई पडता है। जितना पास हो, उतना धुंधला हो जाता है।

जीवन है अभी और जीवेषणा है कल। जो अपने प्राणों को कल पर लगाये हुए हैं, उस विक्षिप्त चेतना का नाम जीवेषणा है। जो जिवेषणा को छोड़ देता है और अभी और यहीं जीता है—कल जैसे मिट गया, समय जैसे समाप्त ही हो गया, यही क्षण ही जैसे सारा जीवन हो गया—वह व्यक्ति उस द्वार को खोज लेता है, जो जीवन का द्वार है।

जीवेषणा का विरोध जीवन का विरोध नहीं है। जीवेषणा का विरोध जीवन का स्वीकार है।

यह प्रश्न महत्वपूर्ण है; क्योंकि पश्चिम के विचारकों को भी ऐसा लगा

कि महावीर और बुद्ध, ये सब जीवन विरोधी हैं, इन सबकी चिन्तना 'लाइफ-निगेटिव' है। अलबर्ट श्वाइतजर ने बहुत गहरी आलोचना की है भारतीय चिन्तना की, समस्त भारतीय विचारधारा की। उसने कहा है कि कितनी ही सुन्दर बातें महावीर और बुद्ध ने कही हो, लेकिन वे जीवन निषेधक, 'लाइफ-निगेटिव' हैं।

श्वाइतजर विचारशील मनुष्यो मे से एक है, उसके कहने मे अर्थ है। वह भी यही समझा कि सब छोड दो। जीवन की कामना ही छोड दो। तब तो जीवन से शत्रुता हो गई। तो धर्म फिर जीवन का साथी न रहा। फिर तो ऐसा लगता है कि अधर्म ही जीवन का साथी है।

श्वाइतजर ने कहा है कि बुद्ध और महावीर और इस तरह के सारे चिन्तक मृत्युवादी हैं, और कही न कही शत्रु हैं वे जीवन के; और वे जीवन को उजाड डालना चाहते हैं, नष्ट कर देना चाहते हैं।

फ्रायड ने एक बहुत महत्वपूर्ण खोज की है इस सदी की। इस सदी मे मनुष्य के मन के सम्बन्ध मे जो महत्वपूर्ण जानकारियाँ मिली हैं, उनमे बडी से बडी जानकारी फ्रायड की यह खोज है। फ्रायड ने पूरे जीवन, 'जीवन की कामना' पर श्रम किया है। 'लिबिडो' वह नाम देता था वासना को—कामना को, यौन को, 'सेक्स' को। लेकिन 'लिबिडो' से भी बेहतर शब्द है। उसे हम जीवेषणा कहते हैं।

सब आदमी जीवेषणा से चल रहे हैं। और जिस दिन जीवेषणा बुझ जायेगी, उसी दिन आदमी भी बुझ जायेगा। लेकिन जीवन के अन्त मे फ्रायड को लगा कि यह बात आधी है। आदमी मे जीवन की प्रबल कामना तो है ही, लेकिन इसका दूसरा छोर भी होना चाहिये, क्योंकि इस जगत् मे कोई भी सत्य बिना द्वन्द्व के नही होता, 'डायलेक्टिकल' होता है। जब जन्म होता है, तो मृत्यु भी होती है। तो अगर जीवन की वासना गहरे मे है, तो कही न कही मृत्यु की वासना भी होनी चाहिये, अन्यथा आदमी मरेगा कैसे? अगर जीवन की वासना से जन्म होता है, तो फिर मृत्यु की भी कोई गहरी छिपी कामना होनी चाहिये।

जीवन की वासना को फ्रायड ने कहा 'लिबिडो' और मृत्यु की वासना को एक नया नाम दिया 'थानाटोस'—मृत्यु की आकांक्षा। क्योंकि एक आदमी आत्महत्या भी कर लेता है। एक आदमी बूढ़ा हो, तो सोचने लगता है, 'जीवन

व्यर्थ है, नही जीना है।' ऐसा नही कि वह सिकोड लेता है अपने को—एक घडी आ जाती है, जब उसे लगता है, कि नही जीना है। ऐसा नहीं कि वह घडी किसी विषाद से आ जाती है—किसी 'फस्ट्रेशन' से नहीं, बल्कि सारे जीवन को देख कर ऊब हो जाती है और आदमी सोच मे लगता है—'बस ठीक है, देख लिया, जान लिया, पुनरुक्ति है, वही-वही है, बार-बार वही है—उठो सुबह, सांझ सो जाओ, खाओ-पिओ, लेकिन अर्थ क्या है ?'

एक दिन आदमी को लगता है कि वह सब बचपना था, जिसमें मैंने अर्थ समझा, अभिप्राय देखा। कुछ भी न था वहाँ। एक दिन सब राख हो जाता है। ऐसा नहीं कि आदमी असफल हो जाता है, हार जाता है, इसलिए मरने की सोचने लगता है। कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो इसलिए मरने की सोचते हैं कि उनकी जीने की कामना बहुत प्रबल होती है।

आप एक स्त्री को चाहते थे वह नहीं मिल सकी, तो आप कहते हैं—'हम नही जीयेंगे।' इसका मतलब यह नही कि आप जीवन से उदास हो गये। आपका जीवन सशर्त जीवन था। एक 'कन्डीशन' थी कि यह स्त्री मिलेगी तो ही जीयेंगे, ये मकान बनेगा तो ही जीयेंगे, यह धन मिलेगा तो ही जीयेंगे, नहीं तो नहीं जीयेंगे।

आप जीवन के प्रति बडे मोह-ग्रस्त थे। आपने शर्त बना रखी थी। शर्त पूरी नही हुई, इसलिए मर रहे हैं। आप जीवन के विरोधी नही थे, आप जीवन के बड़े मोही थे। और मोह ऐसा भारी था कि ऐसा होगा, तो ही जीयेंगे। यह लगाव इतना गहरा हो गया, यह विक्षिप्तता इतनी तीव्र हो गई कि आप मरने की तैयारी करने लगे।

यह नही है थानाटोस। यह मृत्यु-एषणा नही है। मृत्यु-एषणा तो तब है, जब कि जीवन मे न कोई असफलता है, न जीवन में कोई विषाद है। जब सब चीजें पूरी हो गईं। जब शरीर भी डूब रहा है और मन भी डूब रहा है, जब जीने की बात से ही ऊब हो जाती है, तो ऐसा आदमी आत्महत्या नहीं करता।

ध्यान रखना, आत्महत्या तो वही करता है, जो अभी जीवन की आकांक्षा से भरा है। यह उल्टा मालूम पड़ेगा। लेकिन जितने भी आत्महत्यारे होते हैं, वे बड़ी जिवेषणा से भरे हुए लोग होते हैं।

ऐसा आदमी आत्महत्या नहीं करता। उसे आत्महत्या भी व्यर्थ मालूम पड़ती है। जिसे जीवन ही व्यर्थ मालूम पड रहा है, उसे आत्महत्या सार्थक

मालूम नही पडती। वह कहता है—न जीवन मे कुछ रखा है, न जीवन के मिटाने मे कुछ रखा है। ऐसा आदमी चुपचाप डूबता है, जैसे सूरज डूबता है। झटके से छलांग नही लगाता, बस डूबता चला जाता है; लेकिन डूबने का कोई विरोध नही करता।

अगर ऐसा आदमी पानी मे डूब रहा हो, तो हाथ-पैर भी नही चलायेगा। क्योंकि न उसे बचने मे कोई अर्थ है, और न ही वह अपने से डुबकी लगाकर मरना ही चाहेगा। वह पानी के साथ हो जायेगा। पानी डुबाये तो डुबाये, न डुबाये तो न डुबाये। जो हो जाए सब बेकार है। उसे कुछ करने का भाव नही रह जाता।

इसको फ्रायड ने थानाटोस कहा है। ज्यादा उम्र के लोगो को अक्सर यह आकांक्षा पकड लेती है। यह आकाक्षा ज्यादा उम्र के लोगों को ही पकडती है और फ्रायड का कहना है कि यह आकाक्षा बूढ़ी सम्यता को भी पकड़ती है। जब कोई सभ्यता बूढ़ी हो जाती है—जैसे 'भारत' बूढ़ी से बूढी सभ्यता है इस जमीन पर। हम इसमें गौरव भी मानते है।

सिरिया अब कहां है ? मिस्र की पुरानी सम्यता अब कहाँ है ? यूनान कहाँ रहा ? सब खो गये। बैबीलोन कहाँ है अब ? खडहरो मे है। सब खो गये। पुरानी सम्यताओ में अब एक ही सभ्यता बाकी है—भारत। बाकी सब सभ्यताएँ जवान हैं। कुछ तो बिलकुल अभी दूधमुहो, दूध पीती हुई बच्चियाँ हैं। जैसे अमेरिका है। अभी उसकी कुल उम्र है तीन सो साल। तीन सौ साल की कुल सभ्यता है उसकी। तीन सौ साल हमारे लिए कोई हिसाब नही होता। दस हजार साल से हम अपना स्मरण और अपना इतिहास भी सम्हालते रहे हैं। लेकिन तिलक ने कहा है कि कम से कम भारत की सभ्यता नब्बे हजार वर्ष पुरानी है, और बडे प्रामाणिक आधारो पर कहा है। सम्भावना है कि इतनी पुरानी है।

तो फ्रायड कहता है, जैसे आदमी बूढ़ा होता है, वैसे सभ्यताएँ भी बूढ़ी होती हैं। जब सम्यताएँ अपने बचपन मे होती हैं, तब खेल कूद मे उनकी उत्सुकता होती है। जैसे अमेरिका है। अमेरिका की सारी उत्सुकता मनोरजन है, खेल-कूद है, नाच-गान है। हमें बहुत हैरानी होती है—उनका जॉन, उनके बीटल, उनके हिप्पी—उन्हें देख कर हमे बड़ी हैरानी होती है। लेकिन हमें समझ मे नही आता कि जैसे छोटे-छोटे बच्चे होते हैं, वैसे सभ्यताएँ भी होती हैं।

आज हिप्पी लड़के और लड़कियों को देखें ! उनके रंगीन कपड़े, उनके घुंघरू, उनके गले में लटती हुई मालाएँ—यह सब छोटे बच्चों का खेल है। सभ्यता अभी ताजी है। बूढ़ी सभ्यताएँ बहुत हिकारत से देखती हैं। जैसे बूढ़े बच्चों को देखते हैं—'नासमझ' !

फिर जवान सभ्याएँ होती हैं। सभ्यताएँ जब जवान होती हैं, तब ये युद्ध-खोर होती हैं—क्योंकि जवान लडना चाहता है, जीतना चाहता है। जैसे अभी चीन जवान हो रहा है। वह लडेगा, वह जीतेगा। अभी उसका भाव विजय-यात्रा का है। फिर सभ्यताएँ बूढी होती हैं।

तो फ्रायड ने कहा है, जैसे व्यक्ति के जीवन में बचपन, जवानी और बुढ़ापा होता है, वैसे सभ्यताओ के जीवन मे भी होता है। अगर हम श्वाइतजर और फ्रायड दोनो के ख्यालो को ध्यान मे ले लें, तो ऐसा लगेगा कि महावीर और बुद्ध की बातें एक बूढ़ी सभ्यता की बातें हैं, जो अब मरने के लिए उत्सुक हो गयी हैं। जो कहती है—कुछ सार नही है जीवन मे, कुछ अर्थ नहीं है जीवन मे—जीवन असार है, छोडो आशा, छोडो सपने, मरने के लिए तैयार हो जाओ।

और निर्वाण शब्द ने और भी सहारा दे दिया। बुद्ध का निर्वाण शब्द मृत्यु-सूचक है। निर्वाण का अर्थ होता है—बुझ जाना, मिट जाना, समाप्त हो जाना। निर्वाण का अर्थ होता है—दिये का बुझना। जब दिया बुझता है, तो हम कहते हैं, दिया निर्वाण को उपलब्ध हो गया। ऐसे ही जब आदमी के भीतर जीवेषणा की ललक, जीवेषणा की आकाक्षा, जीवेषणा की ज्योति बुझ जाती है, खो जाती है, तो उसको बुद्ध ने कहा है, 'निर्वाण।'

तो स्वभावतः श्वाइतजर और फ्रायड को लगा कि यह कौम बूढी हो गई है। इतनी बूढी हो गई है कि उसमें जीने की कोई आकांक्षा ही नहीं रह गई है। फिर महावीर की संन्यास की धारणा ने और भी ख्याल दे दिया।

अकेले महावीर ऐसे व्यक्ति हैं पूरी पृथ्वी पर, जिन्होने संन्यासी को मरने की सुविधा दी है। उन्होने कहा है कि अगर कोई संन्यासी मरना चाहे, तो वह हकदार है मरने का। इतनी हिम्मत की बात किसी और ने नही कही।

महावीर कहते हैं कि अगर कोई मरना चाहे, तो यह उसका अधिकार है। इसका तो मतलब हुआ कि महावीर ने 'स्युसाइड' की, आत्महत्या की आज्ञा दे दी—'कोई सन्यासी मरना चाहे, तो मर सकता है!'

इससे और भी साफ हो गया कि यह धारणा मृत्युवादी है, 'डेथ ओरिएन्टेड' है। जीवन से उसका सम्बन्ध कम और मृत्यु से ज्यादा है। तो यह 'लिबिडो'

के खिलाफ है। ब्रह्मचर्य के पक्ष मे है और काम के खिलाफ है। सिकोड़ने के पक्ष मे है और फैलाने के खिलाफ है। प्रेम के खिलाफ है और विरक्ति के पक्ष में है। और अन्ततः मृत्यु के पक्ष मे है और जीवन के खिलाफ है।

लेकिन भूल हो गई यह। महावीर और बुद्ध जैसे व्यक्तियो को समझना सिर्फ ऊपर से आसान नही है। बहुत भीतर उनके उतरना जरूरी है। महावीर ने आत्महत्या की आज्ञा नही दी है, क्योकि महावीर की शर्तें हैं। महावीर कहते हैं—वह आदमी मरने का हकदार है, जिसको जीवन की कोई भी आकांक्षा शेष नही रह गई—कोई भी।

इसलिए महावीर ने यह नही कहा कि जहर लेकर मर जाना। क्योकि धोखा हो सकता है एक क्षण में। कभी ऐसा लग सकता है कि सब आकाक्षा खत्म हो गई और आदमी मर सकता है। इसलिए महावीर ने कहा है कि जहर लेकर मत मर जाना, क्योकि एक क्षण मे धोखा हो सकता है। महावीर ने कहा, उपवास कर लेना। उपवास करके कोई मरेगा, तो नब्बे दिन तक लग सकते हैं। और नब्बे दिन सोच-विचार के लिए लम्बा अवसर है।

दुनिया मे कोई आदमी नब्बे दिन तक आत्महत्या के विचार पर थिर नही रह सकता। और अगर रह जाये, तो अपूर्व ध्यान को उपलब्ध हो जायेगा। नब्बे दिन की बात तो अलग, वैज्ञानिक कहते हैं कि एक सेकण्ड भी आत्महत्या मे चूके कि चूक गये। उसी वक्त कर लो तो कर लो। क्योकि वह भावावेश मे होती है—तीव्र भावावेश मे। कोई दुख लगा और आदमी छलांग लगा कर छत से कूद जाता है। फिर बीच मे सोचने-समझने का कोई उपाय भी नहीं होता। अब कूद ही गये, तो अब मरना ही पड़ेगा।

जितने लोग आत्महत्या करके मरते हैं, उन्हे अगर हम जिला सकें, तो वे सभी कहेगे कि हमसे गलती हो गई। क्योंकि आवेश मे आदमी कुछ भी कर लेता है। इसलिए महावीर ने कहा आवेश नही चलेगा, नब्बे दिन का वक्त चाहिये। कहा—'भोजन का त्याग कर दो, पानी का त्याग कर दो।'

जिस आदमी को जीवन का सब रस चला गया है, उसको प्यास की पीड़ा भी अखरेगी नही। अगर अखरती है, तो अभी जीवन को जीने का रस बाकी है। जिस आदमी को जीवन का अर्थ ही चला गया, वह अब यह नही कहेगा कि मुझे भूख लगी है और पेट मे बड़ी तकलीफ होती है, क्योंकि पेट की तकलीफ जीवन का अग है। यह तकलीफ, यह पीड़ा जीवेषणा को ही हो रही

है। अगर जीवेषणा नही रही तो ठीक है—भूख भी ठीक है, भोजन भी ठीक है। प्यास भी ठीक है, पानी भी ठीक है। न मिला तो भी ठीक है, मिला तो भी ठीक है—ऐसी विरक्ति आ जायेगी।

तो महावीर ने कहा नब्बे दिन तक जो शान्तिपूर्वक मृत्यु की प्रतीक्षा कर सके, अशांत न हो जाये, इसमे भी जल्दबाजी न करे, उसे आज्ञा है कि वह मर सकता है।

यह आत्महत्या नहीं है। यह जीवन से मुक्त होना है, जीवन की मृत्यु नही है। 'जीवन से मुक्त होना' कहना भी ठीक नहीं, यह जीवेषणा से मुक्त होना है। लेकिन महावीर को समझना कठिन है। और उन्होंने जो-जो बातें कही हैं, जो हमें लगती हैं कि वे निषेधक हैं, पर वे निषेधक नही हैं। महावीर तो कहते ही यह हैं कि जब कोई व्यक्ति अपने ही मन से मृत्यु को अंगीकार करता है, तभी वह परिपूर्ण जीवन को समझ पाता है।

इसे हम थोडा समझ लें। है भी यही बात। जब हमे सफेद लकीर खीचनी होती है, तो काले 'ब्लैकबोर्ड' पर लकीर खीचते हैं, सफेद दीवार पर नही। सफेद दीवार पर खीची गई सफेद लकीर दिखाई भी नही पडेगी। जितना होगा काला तख्ता उतनी ही लकीर उभर कर दिखाई पडेगी। जब बिजली चमकती है पूर्णिमा की रात मे, तो पता नही चलती। जब अमावस की रात में चमकती है, तभी पता चलती है।

महावीर की समझ यह है कि जब कोई व्यक्ति मृत्यु को अपने हाथ से वरण कर लेता है, मृत्यु को स्वीकार कर लेता है तो मृत्यु का जो दंश है, दुख है, पीडा है, वह खो जाती है। जब मृत्यु एक काली रात्रि की तरह चारो तरफ घिर जाती है, और जब कोई व्यक्ति उसका कोई निषेध नही करता, कोई इन्कार नही करता, तो मृत्यु पृष्ठभूमि, 'बैक ग्राउण्ड' बन जाती है। और पहली दफा जीवन की जो आभा है, जीवन की जो चमक, जो बिजली है, जीवन की जो ज्योति है चारो तरफ से घिरी हुई मृत्यु के बीच में, वह दिखाई पडती है।

जो जीवेषणा से घिरा है, वह जीवन को कभी नही देख पाता। क्योंकि वह सफेद दीवार पर लकीरे खीच रहा है। जो मृत्यु से घिर कर जीवन को देखने मे समर्थ हो जाता है, वही जान पाता है कि मैं अमृत हूँ, मेरी कोई मृत्यु नही है। यह जरा उल्टा मालूम पडता है, लेकिन जीवन के नियम के अनुकूल है।

मृत्यु की सघनता में घिर कर जीवन भी सघन हो जाता है। मृत्यु जब चारों तरफ से घेर लेती है, तो जीवन भी अखण्ड होकर बीच मे खड़ा हो जाता है। और जब हम मृत्यु में भी जानते हैं कि 'मैं हूँ', जब हम मृत्यु मे डूबते हुए भी जानते हैं कि 'मैं हूँ', जब मृत्यु सब तरफ से हमे घेर लेती है, तब भी हम जानते हैं कि 'मैं हूँ', जब मृत्यु हमे शरीर से बाहर ले जाती है, तब भी हम जानते हैं कि 'मैं हूँ', तभी कोई जानता है कि 'मैं' के होने का क्या अर्थ है।

'क्या है जीवन ?' यह हम मृत्यु मे ही जानते है।

मरते हम सब हैं, लेकिन हमारी मृत्यु बेहोश होती है। मरते हम सब हैं, लेकिन न मरने की आकाक्षा इतनी प्रबल होती है कि मृत्यु को हम दुश्मन की तरह लेते हैं। और जब उसे दुश्मन की तरह लेते है, तो हम मृत्यु से लडते हुए मरते हैं। हम शान्त, मौन, ध्यानपूर्वक देखते हुए नही मरते। बल्कि इतना लडते हैं, इतना उपद्रव मचाते हैं, इतना बचना चाहते हैं कि उस चेष्टा मे बेहोश हो जाते हैं।

मृत्यु भी एक व्यवस्थित प्रक्रिया है। जैसे कि एक 'सर्जन' आपकी कोई हड्डी काट रहा हो, तो 'अनस्थेसिया', बेहोशी की दवा दे देता है। क्योकि यह डर होता है कि जब वह हड्डी काटेगा, तो आप लड़ेंगे कि न काटी जाये, घबराएँगे, पीडित होगे, परेशान होगे, 'रेजिस्टेन्स' खडा होगा। आपके शरीर में दो तरह की धाराएँ हो जाएँगी—एक तरफ काटने की बात होगी और दूसरी तरफ आप बचाने की चेष्टा करेंगे। अगर आपको सुई भी चुभाई जाये, तो आप बचाने की चेष्टा करेगे अपने को। इसलिए बेहोश करना जरूरी है, ताकि आप उपद्रव खड़ा न करे।

मृत्यु सबसे बडी 'सर्जरी' है। जिसमे एक हड्डी ही नही कटती, बल्कि सारी हड्डियो से सम्बन्ध कटता है। एक मास-पेशी ही नही कटती, सारे मांस से सम्बन्ध टूट जाता है। जिस शरीर के साथ आप सत्तर वर्ष तक एक होकर जीये थे, और जिसके खून मे, रोएँ-रोएँ में आपकी चेतना समाविष्ट हो गई थी, और जिसमे समाविष्ट ही नही हो गई थी; बल्कि जिसके साथ आपने इतना एकात्म बना लिया था कि 'मैं शरीर हूँ', उससे अलग होना बडी से बडी 'सर्जरी' है।

आप होश मे तभी रह सकते हैं, जब आपका मृत्यु से विरोध न हो। अगर विरोध न हो, और आप मौन, शान्ति से, स्वीकारपूर्वक मृत्यु मे डूबे (इसी को महावीर ने सन्थारा कहा है, आत्म-मरण कहा है।) तो आप बेहोश

नही होगे, तो मृत्यु को 'अनस्थेसिया' की जरूरत नही पडेगी।

लेकिन हम इतने घबरा जाते हैं, इतने तनाव से भर जाते हैं और इतना बचना चाहते हैं, और अपनी खाट को इतनी जोर से पकड लेते हैं कि कही मृत्यु छीन कर न ले जाये। इतने तनाव से भर जाते हैं कि वह तनाव एक सीमा पर आ जाता है और उस सीमा के आगे जाना असम्भव हो जाता है। तत्काल शरीर 'अनस्थेसिया' को छोड देता है और हम बेहोश हो जाते हैं।

क्योकि अधिकतम लोग बेहोशी मे मरते हैं, इसलिए हमे मृत्यु की नये जन्म मे फिर कोई याद नही रह जाती। जो लोग होश मे मरते हैं, उनको दूसरे जन्म मे उसकी याद रह जाती है। क्योकि याद हमे सिर्फ होश की रह सकती है, बेहोशी की नही।

यह जो बेहोशी की घटना घटती है मृत्यु मे, यह हमारी ही जीवेषणा का परिणाम है। तो महावीर कहते हैं, जीवेषणा छोड दो! जीयो अभी और यही। और जो जीवन को जीता है 'अभी' और कल की फिक्र नही करता, वह मृत्यु को भी जी लेगा। मृत्यु आयेगी और वह कल की फिक्र नही करेगा। मृत्यु भी उसे जीवन की परिपूर्णता बन जायेगी। वह मृत्यु को भी देख लेगा, पहचान लेगा। और जिसने होश से मृत्यु को देख लिया, उसने जीवन को भी देख लिया। क्योकि वह होश, जो मृत्यु के मुकाबले भी टिक गया, वही है जीवन। वह जागृति, जो मृत्यु भी न बुझा सकी, वह समझ, जो मृत्यु भी न मिटा सकी; वह बोध, जिसे मृत्यु भी धुंधला न कर सकी; वही बोध है जीवन।

महावीर जीवन-विरोधी नही हैं, जीवेषणा-विरोधी हैं। और जीवेषणा मिटे तो ही जीवन का अनुभव सभव है।

● अब हम उनके सूत्र को ल।

'ससार में जितने भी प्राणी है, सब अपने कृत-कर्मों के कारण ही दुखी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता।'

'पापी जीव के दुख को, न जाति वाले बँटा सकते हैं, न मित्र वर्ग, न पुत्र और न भाई-बन्धु। जब दुख आ पडता है, तब वह अकेला ही उसे भोगता है। क्योकि कर्म अपने कर्ता के ही पीछे लगते हैं, अन्य किसी के नही।'

क्रमिक रूप से इसे हम समझें।

'ससार में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने कृतकर्मों के कारण ही दुखी होते हैं'—पहली बात। यह आधारभूत बात है कि अगर आप दुखी होते हैं, तो

अपने ही कारण। लेकिन हम सभी सोचते हैं कि दूसरे के कारण हम दुखी होते हैं। कभी आपने ऐसा समझा है कि दुखी आप हो रहे हैं अपने ही कारण ? कभी भी नहीं। क्योंकि जिस दिन आप ऐसा समझ लेंगे, उस दिन आपके जीवन में क्रान्ति घटनी शुरू हो जायेगी। उस दिन आपने धर्म के मन्दिर मे प्रवेश करना शुरू कर दिया।

हम सदा सोचते हैं कि हम दुखी हो रहे हैं दूसरे के कारण। कभी हमे ऐसा नही लगता कि अपने ही कारण हम दुखी हो रहे हैं। 'न वह गाली देता, न हम दुखी होते, न उस आदमी ने हमारी चोरी की होती, न हम दुखी होते, न वह आदमी पत्थर मारता, न हम दुखी होते'—साफ ही है बात कि दूसरे हमे दुख दे रहे हैं, इसलिए हम दुखी हो रहे हैं।

'अगर कोई हमे दुख न दे, तो हम दुखी न होगे'—यह बात इतनी तर्कपूर्ण लगती है हमारे मन को कि दूसरी बात का हमे ख्याल ही नही आता, कि हम अपने ही कारण दुखी हो रहे हैं। 'पति' पत्नी के कारण, 'बेटा' माँ के कारण, 'भाई' भाई के कारण, 'हिन्दुस्तान' पाकिस्तान के कारण, 'पाकिस्तान' हिन्दुस्तान के कारण, 'हिन्दू' मुसलमान के कारण, 'मुसलमान' हिन्दू के कारण,—सब किसी और की वजह से दुखी हो रहे हैं।

राजनीति का आधार सूत्र ही यह है कि दुख दूसरे के कारण है। और धर्म का मौलिक सूत्र यह है कि दुख अपने कारण है। सारी राजनीति इसी पर खडी है कि दुख दूसरे के कारण है। इसलिए दूसरे को मिटा दो, तो दुख का कारण मिट जाएगा, या दूसरे को बदल डालो तो दुख का कारण मिट जाएगा या परिस्थिति को दूसरा कर लो, तो दुख मिट जाएगा।

दुनिया मे दो तरह की बुद्धियाँ हैं—राजनैतिक और धार्मिक। और ये दो सूत्र है उनके आधार मे। अगर आप सोचते हैं कि दूसरे के कारण आप दुखी है, तो आप राजनैतिक-चित्त वाले व्यक्ति हैं।

आपको कभी ख्याल भी न आया होगा कि पत्नी सोच रही है कि वह पति के कारण दुखी है। इसमें कोई राजनीति है। पूरी राजनीति है। इसलिए राजनीति मे जो होगा, वह यहाँ भी होगा। कलह खडी होगी, सघर्ष होगा, एक दूसरे को बदलने की चेष्टा होगी, एक दूसरे को अपने ढग पर लाने का प्रयास होगा, एक दूसरे को मिटाने की चेष्टा होगी।

हम इस भाषा में कभी सोचते नही। क्योंकि भाषा अगर सख्त हो, तो हमारे भ्रम तोड सकती है। इसलिए हम ऐसा कभी नहीं कहते कि हम एक

दूसरे को मिटाने की चेष्टा मे लगे हैं। हम कहते हैं कि हम एक दूसरे को बदल रहे हैं।

बदलने का मतलब क्या है ?

तुम जैसे हो, वैसे मेरे दुख के कारण हो, इसलिए तुमको मैं बदलूंगा। जब तुम अनुकूल हो जाओगे मेरे, तो मेरे सुख के कारण हो जाओगे।

दूसरी बात ध्यान मे ले लें; क्योकि हम सोचते हैं कि दूसरा दुख का कारण है, इसलिए हम यह भी सोचते हैं कि दूसरा सुख का कारण है। पर न तो दूसरा दुख का कारण है और न दूसरा सुख का कारण है। सदा कारण हम हैं। जिस दिन आदमी इस सत्य को समझना शुरू कर देता है, उस दिन वह धार्मिक होना शुरू हो जाता है।

क्यो ? यह जोर इतना क्यो है महावीर का कि दुख या सुख के कारण हम हैं ? और यह बात कोई महावीर के अकेले का कहना नही है। इस पृथ्वी पर जिन लोगो ने भी मनुष्य के सुख-दुख के सम्बन्ध मे गहरी खोज की है, निर्अपवाद रूप से वे इस सूत्र से राजी हैं। इसलिए मैं नही कहता कि ईश्वर का मानना धर्म का मूल सूत्र है। क्योकि बहुत से धर्म ईश्वर को नही मानते। खुद महावीर नही मानते, बुद्ध नही मानते।

ईश्वर मूल आधार नही है धर्म का। कोई सोचता हो कि वेद मूल आधार है, तो वह गलती मे है। कोई सोचता है कि बाईबल मूल आधार है, तो वह गलती है। कोई सोचता हो कि यह मूल आधार है धर्म का कि दुख और सुख का कारण मैं हूँ, तो मैं गलती मे नही हूँ। तो धर्म की भौतिक पकड़ उसकी समझ मे आ गई; यह निर्अपवाद सत्य है।

कोई वेद माने, कुरान माने, बाइबल माने—महावीर, बुद्ध, जीसस, मोहम्मद किसी को भी माने, अगर इस सूत्र की उसे समझ आ गई, तो कही से भी उसे रास्ता मिल जायेगा। अगर यह सूत्र उसके ख्याल में नही आया तो वह किसी को भी मानता रहे, कोई रास्ता उसे मिल नही सकता।

क्यो, मैं ही क्यो जिम्मेदार हूँ अपने सुख और दुख का ? जब मुझे कोई गाली देता है, तो स्वभावतः यही दिखाई पड़ता है कि वह मुझे गाली दे रहा है और मैं दुखी हो रहा हूँ; लेकिन यह पूरी शृंखला नहीं है। आप आधी शृंखला देख रहे हैं।

कोई मेरा अपमान करता है, मुझे गाली देता है, इसलिए मुझे दुख

होता है—लेकिन यह शृंखला अधूरी है। यह दुख असल में मुझे इसलिए होता है कि मैं सम्मान चाहता हूँ। और कोई गाली देता है, अपमान करता है, जो मैं चाहता था वह नही देता, तो मैं दुखी होता हूँ।

मेरे दुख का कारण मेरा अपमान नही है, मेरी मान की आकांक्षा है। मान की आकांक्षा जितनी ज्यादा होगी, उतना ही अपमान से दुख बढ़ता जायेगा। मान की आकाक्षा अगर नहीं होगी, तो अपमान का दुख कम होता जायेगा। मान की आकांक्षा जितनी शून्य होती जायेगी, उतना ही अपमान में कोई दुख नहीं रह जायेगा।

तो दुख अपमान में नही है, मान की आकाक्षा मे है। और ध्यान रहे, अपमान तो कोई बाद मे करता है, पहले मान की आकाक्षा मेरे पास होनी चाहिये। मेरे पास मान की आकाक्षा हो, तो ही कोई अपमान कर सकता है। जो मैंने चाहा ही नहीं, उसके न मिलने पर कैसा दुख ?

अगर चोर आपको दुख देता है, आपकी चीज छीन लेता है, तो ऊपर से साफ दिखता है कि चोर की वजह से दुख हो रहा है। लेकिन मूल मे चोर नही है। मूल मे आप ही हैं। मूल मे यह होता है कि यह चीज मेरी है, इसे कोई न छीने, और फिर कोई छीन लेता है, तो दुख होता है। अपना ही लोभ, अपना ही परिग्रह दुख का अवसर बनता है।

इसे हम खोजें ठीक से कि जहाँ भी हम दुख पाते हैं, वहाँ शृखला की एक कड़ी हम देखते ही नही। उसे हम छोड जाते हैं। हम अपने को बचाकर सोचते हैं सदा। दूसरे से शुरू करते हैं, जहाँ से कडी की शुरुआत नहीं है। वहाँ से शुरू नहीं करते, जहाँ से कडी की असली शुरुआत है।

कौन सी चीज आप की है ? रूसो ने कहा है—सब सम्पत्ति चोरी है। इस अर्थ में कहा है कि जब आप नहीं थे, तब भी वह सम्पत्ति थी। आप नही होंगे, तो भी वह होगी। कोई सम्पत्ति आपकी नहीं है। आपने नहीं चुराई होगी, तो आपके पिता ने चुराई होगी। पिता ने नहीं चुराई होगी, तो उनके पिता ने चुराई होगी। लेकिन सब सम्पत्ति चोरी है, छीना-झपटी है। फिर कोई दूसरा चोर आपसे छीन लेगा। आप व्यर्थ ही दुखी हो रहे हैं। चोरों का समाज है। उसमें एक चोर दूसरे को सुखी कर रहा है, दुखी कर रहा है।

इसे अगर कोई ठीक से देखेगा कि जहाँ भी मैं कहता हूँ 'मेरा', वहीं मैंने दुख की शुरुआत कर दी। क्योकि मेरा कुछ भी नही है। मैं आता हूँ खाली हाथ, बिना कुछ लिये और जाता हूँ खाली हाथ, बिना कुछ लिये। इन

दो के बीच बहुत कुछ मेरे हाथ में होता है। लेकिन इसमें कुछ भी मेरा नहीं है।

'मेरा कुछ भी नहीं है—' ऐसा जिसको दिखाई पड़ जाए, तो चोर उसे दुखी नहीं कर सकता।

रिंझाई के बाबत सुना है मैंने कि एक रात चोर उसके घर में घुस गया। कुछ भी न था घर मे। रिंझाई बहुत दुखी होने लगा। अकेला एक कम्बल था, जिसे ओढ़ कर वह सो रहा था। वह बड़ा चिन्तित हुआ कि यह चोर आया, लेकिन खाली हाथ लौटेगा। रात ठडी है, इतनी दूर आया है, गाँव से पाँच मील का फासला है, और फकीर के घर में कहाँ चोर आते हैं! जो चोर फकीर के घर मे आया, उसकी हालत कैसे बुरी न होगी! वह बड़ा चिन्तित होने लगा कि अब कैसे इसकी सहायता करूँ! एक कम्बल है और उसे मैं ओढ़े हूँ। तो जिसे मैं ओढ़े हूँ, उसे तो ले जा न सकेगा। तो रिंझाई कम्बल को दूर रख कर, सरक कर सो गया। चोर बडा हैरान हुआ कि यह आदमी कैसा है! घर मे कुछ है भी नही, सिर्फ एक कम्बल ही दिखाई पडता है। उसे भी वह अलग रख कर, अलग क्यो सो गया मुझे देख कर? वह खाली हाथ लौटने लगा, तो रिंझाई ने कहा—'ऐसे खाली हाथ मत जाओ! मन मे पीड़ा रह जायेगी। कभी तो कोई चोरी करने आया। ऐसा अपना सौभाग्य कहाँ कि कोई चोरी करने आये! है ही नही कुछ, यह कम्बल लेते जाओ। और जब दुबारा आओ, तो जरा पहले से खबर करना। क्योकि गरीब आदमी हूँ, ताकि कुछ इन्तजाम कर लूँ।'

चोर तो घबडाहट मे कम्बल लेकर भागा कि किस आदमी के चक्कर मे पड़ गया हूँ। लेकिन रास्ते मे उसे जाकर ख्याल आया कि भागने की कोई जरूरत नही थी। पुरानी आदत के कारण भाग आया हूँ, वरना इस आदमी से भागने की क्या जरूरत थी? वापस लौटा। वापस लौटा तो देखा कि रिंझाई लँगोटी लगाए नग्न खिड़की के पास बैठा था, चाँद को देख रहा है और गीत लिख रहा है। उसने एक गीत लिखा था। चोर वापस आया तो वह गीत गुनगुना रहा था। बाद में उसका वह गीत बहुत प्रसिद्ध हुआ। उस गीत मे वह चाँद से कह रहा था कि मेरा बस चले, तो चाँद को आकाश से तोड़ कर उस चोर को भेंट कर दूँ।

चोर ने वह गीत सुना और चरणो में गिर पड़ा। उसने कहा कि 'यह तुम

क्या कह रहे हो ! मुझ चोर को तुम चाँद भेंट करना चाहते हो ? मैं गलती से भाग गया था, यह कम्बल वापस ले लो। उसने कहा—'कब ऐसा दिन आयेगा कि मैं भी तुम जैसा हो जाऊँगा ! अब तक जिनके घर भी मैं गया चोरी करने, वे सब चोर थे, मालिक तो मुझे पहली बार मिला है।'

कोई बड़ा चोर है, कोई छोटा चोर है। कोई कुशल चोर है, कोई अकुशल चोर है। कुछ न्याय-सगत चोरी करते हैं, कुछ न्याय के विपरीत चोरी करते है।

पर चोर सब हैं। और उस चोर ने कहा कि जिसके घर भी मैं गया, वे सब चोर थे। पहली दफा वह आदमी मिला है, जो चोर नही है। और वे सब भी मुझे शिक्षा दे रहे हैं कि चोरी मत करो ! लेकिन उनकी बात मुझे जँची नही। क्योंकि वह चोरो की ही बात थी। तुमने कुछ भी न कहा, लेकिन मेरी चोरी छूट गई। मुझे भी अपने जैसा बना लो, ताकि मैं भी चोर न रह जाऊँ।

क्या हम अनुभव करते हैं ? वह हम पर निर्भर है। यह रिझाई की करुणा चोर के प्रति, रिझाई जैसे व्यक्ति की ही बात है। चोर के प्रति आप मे दुख पैदा होता, क्रोध पैदा होता, घृणा पैदा होती, लेकिन करुणा पैदा नही हो सकती। जो हम मे पैदा होता है, वह हमारे भीतर है, दूसरा तो सिर्फ बहाना है। जो निकलता है, वह हमारा है। लेकिन हमे अपना कोई पता नही है ! जब बाहर आता है, तब हम समझते हैं कि दूसरे का दिया हुआ है।

अगर आपके बाहर दुख आता है, तो दूसरा तो केवल बहाना है, दुख आपके भीतर है। दूसरा तो सिर्फ सहारा बन जाता है बाहर लाने का। इसलिए जो आपके दुख को बाहर ले आता है, उसका अनुग्रह मानना चाहिये। क्योंकि अगर वह बाहर न ला सके, तो शायद आपको अपने भीतर छिपे हुए दुख के कुएँ का पता ही न चले। सुख भी दूसरा बाहर लाता है, दुख भी दूसरा बाहर लाता है। दूसरा सिर्फ निमित्त है।

निमित्त शब्द का महावीर ने बहुत उपयोग किया है। यह शब्द बड़ा अद्भुत है। ऐसा शब्द दुनिया की किसी भाषा में खोजना मुश्किल है। निमित्त का मतलब है—जो कारण नही है, पर कारण जैसा मालूम पड़ता है।

आपने मुझे गाली दी, और मैं दुखी हो गया। महावीर नहीं कहते कि गाली देने से दुख हुआ। वे कहते हैं—गाली निमित्त बनी। दुख तैयार था,

वह प्रगट हो गया। गाली कारण नहीं है, कारण तो सम्मान की आकांक्षा है। गाली निमित्त है। निमित्त का मतलब—'सूडो कॉज़', मिथ्या कारण। दिखाई पडता है वह कारण, पर वह कारण है नही। निमित्त का मतलब—कारण को छिपाने की तरकीब; असली कारण छिप जाए भीतर और झूठा कारण बना देने का उपाय।

इसलिए महावीर कहते हैं—ससार मे जितने भी प्राणी हैं, सब अपने ही कारण दुखी होते हैं। और यह कारण क्यो उनके भीतर इकट्ठा हुआ है? कृत-कर्मों के कारण। जो-जो उन्होने पीछे किया है, उससे उनकी आदते निर्मित हो गई हैं। जो-जो उन्होने पीछे किया है, उससे उनके ससार निर्मित हो गये हैं, उनकी 'कण्डीशनिंग' हो गई है। जो उन्होंने किया है, वही उनका चित्त है। जो-जो वे करते हैं, वही उनका चित्त है। उस चित्त के कारण वे दुखी होते हैं। चित्त है हमारे अनन्त-अनन्त कर्मों का सस्कार।

ऐसा समझें—कल भी आपने कुछ किया, परसों भी आपने कुछ किया—इस जन्म मे भी, पिछले जन्म मे भी—वह जो सब आपने किया है, उसने आपको एक ढाँचा, एक 'पैटर्न' दे दिया है, सोचने-समझने की, व्याख्या करने की एक व्यवस्था आपके मन को दे दी है। आप उसी व्याख्या से चलते हैं और सोचते हैं। उसी व्याख्या के कारण आप सुखी और दुखी होते रहते हैं। पर उस व्याख्या को आप कभी नही बदलते। सुख-दुख बदलने की आप बाहर कोशिश करते रहते हैं और भीतर की व्याख्या को आप पकडकर रखते हैं। और आपकी हर कोशिश उस व्याख्या को मजबूत करती है। आपके चित्त को मजबूत करती है। आपके 'माइण्ड' को और ताकत देती चली जाती है। जिसके कारण दुख होता है, उसको आप मजबूत करते चले जाते हैं और निमित्त को बदलने की चेष्टा में लगे रहते हैं। कारण छिपा रहता है और निमित्त हम बदलते चले जाते हैं। फिर बड़े मजे की घटनाएँ घटती हैं—कितना ही निमित्त बदलो, कारण नहीं बदलता।

एक मित्र परसों मेरे पास आए। अमेरिका में उन्होंने शादी की है। काफी पैसा कमाया शादी के बाद उन्होंने और सारा का सारा पैसा अमेरिका के बैंको में अपनी पत्नी के नाम जमा किया। खुद के नाम से जमा नहीं कर सकते थे, इसलिए पत्नी के नाम से वह सारा पैसा जमा किया। अचानक पत्नी अमेरिका वापस चली गई और उसने वहाँ से जाकर खबर दी कि मुझे तलाक करना है। अब बड़ी मुश्किल में पड़ गये हैं वे मित्र। पत्नी भी हाथ से जाती है और वह

जो चार लाख रुपया जमा किया है, वह भी हाथ से जाता है।

मेरे पास वे आये। वे कहने लगे कि मैं पत्नी को इतना प्रेम करता हूँ कि उसके बिना मैं बिलकुल जी नहीं सकता'''तो योग में कोई ऐसा चमत्कार नहीं है कि मेरी पत्नी का मन बदल जाये ? (लोग योग वगैरह मे तभी उत्सुक होते हैं, जब उनमें कोई चमत्कार होते हैं।) खिंची चली आये, ऐसा कुछ कर दें।' मैंने कहा कि तुम पहले मुझे सच बताओ कि पत्नी से मतलब है कि चार लाख से। (क्योंकि योग में अगर पत्नी खींचने का चमत्कार है, तो चार लाख को भी खींचने का चमत्कार हो सकता है।) तुम सच-सच बताओ।

उन्होंने कहा—क्या कह रहे हैं! क्या रुपया अकेला आ सकता है ? तो पत्नी से मुझे कोई लेना-देना नहीं है, वह भाड में जाये, मेरा तो रुपया निकल आये।

कहने लगे—मैं तो उससे बहुत प्रेम करता था, क्यो मुझे छोड़ कर चली गई, समझ मे नही आता !

मैंने कहा—'बिलकुल साफ समझ में आ रहा है, पत्नी को कभी भूलकर भी प्रेम न किया होगा तुमने। पत्नी को रुपये जमा करने के लिए ही चुना होगा; और पत्नी भी इन रुपयो के कारण ही तुम्हारे पास आई होगी—मामला बिलकुल साफ है। वे कहने लगे कि 'एक अवसर मुझे मिल जाये। किसी भाँति पत्नी वापस आ जाये, तो जो-जो भूलें आप बताते हैं, उन्हें अब दुबारा नहीं करूँगा। आप मुझे समझा दें कि कैसे व्यवहार करूँ ? कैसे प्रेम करूँ ? लेकिन मुझे एक अवसर तो मिल जाये सुधरने का !'

यह जो आदमी कह रहा है कि एक अवसर मुझे मिल जाये सुधरने का, अगर इसे अवसर मिले, तो यह सुधरेगा ? यह हो सकता है कि यह आदमी पत्नी की हत्या कर दे। इसके सुधरने का आसार नहीं है कोई। सुधरना यह चाहता भी नही है। यह मान भी नही रहा कि वह गलत है।

वह जो हमारे भीतर मन है, उसको तो हम मजबूत किये चले जाते हैं। मैंने उनसे कहा कि दूसरी शादी कर लो—छोड़ो भी ! दूसरी शादी कर लो—इस बात को छोड़ो ! पैसा फिर कमा लोगे, लेकिन अब दुबारा जमा मत करना अमेरिका मे। तुम भी चोर थे और पत्नी भी चोर साबित हुई। चोर चोरों को खोज लेते हैं, लेकिन यह मत सोचो की इसमे दुख का कारण पत्नी है।

वह बड़े दुखी हैं। आँसू उनके निकल-निकल आते हैं। ये आँसू चार लाख से निकल रहे हैं, पत्नी से कोई लेना-देना नही है। बड़े दुखी हैं, लेकिन दुख का कारण वे सोच रहे हैं, पत्नी का दगा है। और यह आदमी दगा पत्नी को पहले से दे रहा है। इसका कोई लेना-देना नही है पत्नी से। वह रुपया ही सारा का सारा हिसाब-किताब है। यह मन से तो भीतर वहीं का वहीं है। अगर वह कल फिर शादी कर ले, तो फिर यही करेगा।

पश्चिम में जो मनसविद् लोगों के तलाकों का अध्ययन करते हैं, वे कहते हैं—बडी हैरानी की बात है कि आदमी एक स्त्री से शादी करता है, फिर तलाक देकर दूसरी स्त्री से शादी करता है, लेकिन दूसरी बार भी वैसी ही स्त्री चुन लेता है, जैसी पहली बार चुनी थी। एक आदमी ने आठ बार तलाक किया, (साल्टर ने उसकी पूरी जिन्दगी का विवरण दिया है।) और हर बार उसने सोचा कि अब दुबारा वैसी पत्नी नही चुनूंगा; पर हर बार उसने वैसी ही पत्नी चुनी। छ: महीने बाद पता चला कि वह फिर वैसी ही पत्नी चुन लाया।

भारतीय इसमे कुशल थे कि नाहक परेशान क्यो होना! एक ही पत्नी चुननी है बार-बार, तो एक से निपट लेने में हर्जा क्या है? और इसमें भारतीय बडे अद्भुत थे कि वे पत्नी के चुनाव का काम खुद नहीं करते थे, माँ बाप से से करवा लेते थे, जो ज्यादा अनुभवी थे, जो जिन्दगी देख चुके थे और जिन्दगी की नासमझियों को समझ चुके थे। इसलिए हमने व्यक्तियों के ऊपर नहीं छोड़ा था चुनाव।

अमेरिका में साल्टर ने कहा है कि इस आदमी ने आठ दफा शादी की और हर बार वैसी ही पत्नी फिर चुन लाया। कारण क्या है? चुनाव जिस मन से होता है, वह तो वही रहता है, इसलिए मैं दूसरा चुन भी कैसे सकता हूँ? मुझे एक स्त्री की आवाज अच्छी लगती है, आँख अच्छी लगती है, चलने का ढंग अच्छा लगता है, शरीर की बनावट अच्छी लगती है, अनुपात पसन्द पड़ता है, उठना-बैठना पसन्द पड़ता है, व्यवहार पसन्द पड़ता है, इसलिए उसे मैं चुनता हूँ।

जब मैं एक स्त्री को चुनता हूँ, तब मैं अपने मन को ही चुनता हूँ; उसको नही चुनता, अपनी पसन्दगी को चुनता हूँ। फिर यह स्त्री उपद्रवी मालूम पड़ती है, झगड़ैल मालूम पड़ती है, फिर इसमें दूसरे गुण दिखाई पडने शुरू हो जाते हैं, तब मैं इसे तलाक देता हूँ। फिर दुबारा मैं एक स्त्री को चुनता हूँ, तो मैं फिर वही गुण खोजूंगा, जो मैंने पहली स्त्री में खोजे थे। और हर गुण के साथ

जुड़ा हुआ दुर्गुण भी होगा। जो स्त्री एक खास ढग से चलती है, उसमे एक खास तरह का दुर्गुण होता है। और जो स्त्री खास ढंग से मुझे पसन्द पड़ती है, उसका दूसरा पहलू भी खास ढग का होगा, जो मुझे दिक्कत देगा। पहली स्त्री में मैंने उसका चेहरा चुन लिया, मैंने पूर्णिमा चुन ली, लेकिन अमावस भी है। और वह अमावस भी आयेगी। और जब अमावस आयेगी, तब मुझे तकलीफ होगी। तब मैं कहूँगा कि फिर मैंने भूल कर ली। फिर मैं तीसरी बार चुनूंगा। लेकिन फिर मैं पूर्णिमा ही चुनूंगा, तो फिर अमावस होगी।

हर व्यक्ति के 'कैरेक्टर' हैं। जो मुझे पसन्द पडता है, उसके साथ जुड़ी हुई बात भी है। और वह बात मुझे दिखाई नही पड रही है। जब दिखाई पडेगी, तब समझ मे आयेगा।

ऐसे समझें, एक आदमी को ऐसी स्त्री पसन्द है, जो बिलकुल दब्बू हो, जो हर बात मे उसकी मानकर चले।

लेकिन दब्बूपन भी एक तरकीब है दूसरे को दबाने की। दब्बू भी बिलकुल दब्बू नही होते। वे अपने दब्बूपन से भी दबाते हैं।

तो एक स्त्री आपने चुन ली कि यह दब्बू है। मेरी मानकर चलेगी, सब ठीक है। लेकिन यह पहला चेहरा है। यह सिर्फ शुरुआत है। यह खेल का प्रारम्भ है। और खेल का नियम होता है। ठीक है, आपको दब्बू स्त्री पसन्द पड गई। लेकिन कोई आदमी दब्बू नही है भीतर से। कोई हो ही नही सकता दब्बू। तो जैसे ही काम पूरा हो गया, शादी हो गई, 'रजिस्ट्री' हो गई, तो अब वह दब्बूपन खिसकना शुरू हो जायेगा। वह तो सिर्फ तरकीब थी। वह उस व्यक्ति की तरकीब थी आपको पकडने की। वह तो जैसे मछली को फासने के लिए काँटे पर जो आटा लगा होता है, वह वही था। लेकिन कोई मछलियों को आटा खिलाने के लिए जाकर नही बैठा रहता। वह काँटा खिलाने के लिए बैठा रहता है। जरूरी नही कि काँटे को भी पता हो, वह भी सोचता है कि आटा खिला रहे हैं मछलियों को। लेकिन आटा जब मुँह में जायेगा, तो काँटा अटक जायेगा।

वह स्त्री जो दब्बू मालूम पड़ रही थी, धीरे-धीरे शेर होने लगेगी। हालांकि उसके शेर होने के ढग में भी दब्बूपन होगा। जैसे अगर दब्बू स्त्री आपको सताना चाहे, तो रोयेगी—चिल्लायेगी नहीं, क्रोध नहीं करेगी, लेकिन उसका रोना भी जान-खाऊ हो जाता है। और कभी-कभी तो क्रोधी स्त्री कम जान-

खाऊ मालूम पडती है, निपट जाती है, पर रोने वाली स्त्री ज्यादा कुशलता से सताती है। आप यह भी नही कह सकते कि वह गलत है, क्योकि नैतिक रूप से आपको भी लगता है कि आप गलती कर रहे हैं। वह आपको अपराधी सिद्ध कर देती है। तब आपको लगता है कि फिर वही चुन लाये।

दुबारा फिर चुनने जाएँगे, तो फिर आपका जो मन है, वह भीतर बैठा है, वह फिर दब्बू स्त्री को चुनता है। अब की दफा वह और भी ज्यादा दब्बू स्त्री खोजेगा, क्योकि पहली दफा भूल हो गई थी, वह स्त्री उतनी दब्बू साबित नही हुई थी। ध्यान रखना, अगर ज्यादा दब्बू स्त्री खोजोगे, तो और ज्यादा उपद्रवी स्त्री मिल जायेगी। मगर यह चलेगा; क्योकि जो मूल कारण है, उसे हम नही देखते। हम बाहर का निमित्त देखते हैं और बाहर का निमित्त काम नही पडता।

महावीर कहते हैं, अपने ही कृतकर्मों के कारण हम दुखी होते हैं। अब अगर मैं दब्बू स्त्री पसन्द करता हूं, तो यह मेरे लम्बे कर्मों, विचारो और भावो का जोड है। लेकिन मैं पसन्द क्यो करता हूँ दब्बू स्त्री ? क्योंकि मैं किसी को दबाना पसन्द करता हूँ। इसलिए जब कोई मुझसे नही दबेगा, तो मैं दुखी हो जाऊँगा। असल मे दबाना पसन्द करना ही पाप है। किसी को दबाना पसन्द करना ही हिंसा है। यह मैं गलती करता हूँ कि मैं किसी को दबा हुआ पसन्द करूँ।

स्वभावत जब मैं भी दबाना चाहता हूँ, और दूसरे भी दबाना चाहते हैं, तो फिर कलह होगी, फिर दुख होगा, और दुख को मैं दूसरे पर थोपने चला जाऊँगा।

'अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता।'

कैसा भी कर्म हो, कर्म का फल भोगना ही पडता है। क्योकि कर्म और फल दो चीजें नही हैं, नही तो बचना हो सकता है। कर्म और फल दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मैं एक रुपऐ को उठाकर मुट्ठी मे रखूं और कहूँ कि मैं तो सिर्फ सीधे पहलू को ही मुट्ठी में रखूंगा और वह जो उल्टा हिस्सा है, वह मुट्ठी मे नहीं रखूंगा, तो यह पागलपन है। क्योकि सिक्के मे दो पहलू हैं। और कितना ही बारीक सिक्का बनाया जाए, कितना ही पतला सिक्का बनाया जाये, दूसरा पहलू तो रहेगा ही। कोई उपाय नही है एक पहलू के सिक्के को

बनाने का, कोई उपाय नही है कर्म से फल को अलग करने का। कर्म और फल दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कर्म एक बाजू, और फल दूसरी बाजू छिपा है, पीछे ही खडा है। हम सब इसी कोशिश मे लगे हैं कि फल से बच जायें। और कभी कभी जिन्दगी की व्यवस्था मे हम बचते हुए मालूम पडते हैं।

एक आदमी चोरी करता है, और अदालत से बच जाता है, तो वह सोचता है कि वह फल से बच गया। लेकिन वह फल से नही बचा, क्योंकि फल तो आत्मिक घटना है। अदालतों से उसका कोई लेना देना नही है। कानून से उसका कोई सम्बन्ध नही है। फल से कोई नही बच सकता, सामाजिक व्यवस्था से बच सकता है, छूट सकता है। लेकिन बचने और छूटने का जो कर्म कर रहा है, उसके फल से भी नही बच सकता। भीतर तो बचाव का कोई उपाय ही नही है। मैंने किया क्रोध और मैंने भोगा फल। मैंने किया मोह, मैंने भोगा फल। मैंने किया ध्यान और मैंने भोगा फल। उससे बचने का कोई उपाय ही नही है। नही है उपाय इसलिए कि कर्म और फल दो चीजे नही हैं। नही तो हम एक को दूसरे से अलग कर सकते। ये पहलू हैं।

इस सम्बन्ध मे एक बात और ख्याल मे ले लेनी जरूरी है। कुछ लोग सोचते हैं कि मैंने एक बुरा कर्म किया और फिर अच्छा कर्म कर दिया, तो वह बुरे को काट देगा।

वे गलत सोचते हैं। कोई अच्छा कर्म बुरे कर्म को नहीं काट सकता। इसलिए महावीर कहते हैं, अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म हो, उसका फल भोगना पडेगा। ऐसी काट-पीट नही चलती। यह कोई लेन-देन नही है कि आपने मुझे पाँच रुपये उधार दिये और मैंने आपको पाँच रुपये लौटा दिये, तो हिसाब किताब साफ हो गया, कि इधर मैंने चोरी की और उधर मैंने दान कर दिया, तो मामला खतम हो गया, कि इधर मैंने किसी की हत्या की और उधर एक बेटे को जन्म दे दिया, तो मामला खतम हो गया।

आपके अच्छे या बुरे कर्म एक दूसरे को काट नही सकते, क्योंकि अच्छा कर्म अपने में पूरा है, और बुरा कर्म अपने मे पूरा है। बुरे कर्म का दुखद फल और अच्छे कर्म का सुखद फल आपको मिलता रहेगा। आप यह नही कह सकते कि हमने पहले एक नीम का बीज बोया है और फिर हमने एक आम का वृक्ष बो दिया, तो अब आम का मीठा वृक्ष लग गया, इसलिए अब नीम का फल कड़वा नही होगा।

दोनों अलग-अलग हैं। नीम का फल अब भी कड़वा होगा और आम का फल अब भी मीठा होगा। आम की मिठास नीम की कड़वाहट को नहीं काटेगी, और नीम की कड़वाहट आम की मिठास को नही काटेगी। बल्कि होगा यह कि जिसने आम को भी चखा, उसे नीम ज्यादा कडवी मालूम पडेगी। अकेले नीम को चखता, तो शायद नीम उतनी कड़वी न भी मालूम पड़ती। जिसने आम को भी चखा, उसे नीम ज्यादा कडवी मालूम पड़ेगी। जिसने नीम को चखा, उसे आम ज्यादा मीठा मालूम पड़ेगा। 'कन्ट्रास्ट' होगा, लेकिन कटाव नही होगा। दोनो साथ-साथ होंगे।

इसलिए महावीर कहते हैं अच्छे का फल अच्छा है, और बुरे का फल बुरा है। अच्छा बुरे को नही काटता, बुरा अच्छे को नष्ट नही करता। इसलिए हमें मिश्रित व्यक्ति मिलते हैं, जिन्हें देखकर मुसीबत होती है। एक आदमी हम देखते हैं, कि वह चोर भी है, बेईमान भी है, फिर भी सफल हो रहा है, तो हमें बड़ी अड़चन होती है। क्या मामला है कि भगवान चोरो और बेईमानो को सफल करता है! और एक आदमी को हम देखते हैं—ईमानदार है, चोर भी नही है और असफल हो रहा है! और जहां जाता है, तो कहते हैं कि ऐसा आदमी सोना भी छुए, तो वह मिट्टी हो जाता है; कहीं भी हाथ लगाओ असफलता ही हाथ लगती है—क्या मामला है ?

मामला इस वजह से है कि प्रत्येक आदमी अच्छे और बुरे का जोड़ है। जो आदमी चोर है, बेईमान है, वह इसलिए सफल हो रहा है, कि सफलता के लिए जिन अच्छे कर्मों का होना आवश्यक है, जैसे साहस है, दांव-पेच है, असुरक्षा में उतरना है, जोखिम है, वह सब उसमे है। जिसको हम कहते हैं कि ईमानदार और अच्छा आदमी है और जो असफल हो रहा है, न उसमे जोखिम है, न दाव, न साहस—वह घर बैठ कर, सिर्फ अच्छे रह कर सफल होने की कोशिश कर रहा है। वह बुरा आदमी दौड़ रहा है, और यह अच्छा आदमी बैठा है। वह बुरा आदमी पहुंच जायेगा, क्योंकि दौड़ रहा है, कुछ कर रहा है।

हर आदमी एक मिश्रण है, इसलिए जगत् मे इतने विरोधाभास दिखाई पडते हैं। अगर कोई बुरा आदमी भी सफल हो रहा है और किसी तरह का सुख पा रहा है, तो उसका अर्थ है कि उसके पास कुछ अच्छे कर्मों की सम्पदा है। और अगर कोई अच्छा आदमी भी दुख पा रहा है, तो जान लेना कि उसके पास बुरे कर्मों की सम्पदा है। और एक दूसरे का कटाव नहीं होता।

इसलिए महावीर कहते हैं, अच्छे कर्म करके कोई मुक्त नही हो सकता, क्योकि अच्छे कर्मों के फल, बुरे कर्मों के फल को नही काटते। अच्छा और बुरा जब दोनो छूट जाते हैं, तब कोई मुक्त होता है। महावीर कहते हैं; पुण्य से मुक्ति नही होती, पुण्य से सुख मिलता है। पाप के छोडने से मुक्ति नही होती, केवल दुख नही मिलता। लेकिन पाप और पुण्य जब दोनों छूट जाते हैं, तब आदमी मुक्त होता है।

'मुक्ति' अच्छे और बुरे से मुक्ति है। 'मुक्ति' द्वन्द्व से मुक्ति है, 'मुक्ति' विरोध से मुक्ति है। 'मोक्ष' अच्छे कर्मों का फल नहीं है। 'मोक्ष' फल ही नही है।

महावीर की भाषा मे स्वर्ग फल है, अच्छे कर्मों का, और नरक फल है, बुरे कर्मो का। और हर आदमी स्वर्ग और नरक मे एक एक पैर किये खडा है। क्योकि हर आदमी मिश्रण है अच्छे और बुरे कर्मों का। आपकी एक टाँग नरक तक पहुँचती है और एक टाँग स्वर्ग तक पहुँचती है। और निश्चत ही स्वर्ग और नरक के फासले पर जो खडा है, उसको बड़ी बेचैनी पैदा होगी। आज नरक, कल स्वर्ग; सुबह नरक, साँझ स्वर्ग—इसमे तनाव और चिन्तन पैदा होगी।

महावीर कहते है: जब दोनो पैर हट जाते हैं स्वर्ग और नरक से, जब आदमी के सारे कर्म शून्य हो जाते हैं, तो वह कर्म की शून्यता 'मोक्ष' है। कर्मों का फल नही, कर्मों की शून्यता—जब सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।

इसलिए महावीर कहते है—'पापी जीव के दुख को न जाति वाले बँटा सकते हैं, और न भाई-बन्धु। जब दुख आ पड़ता है, तब वह अकेले ही उसे भोगता है। क्योकि कर्म अपने कर्ता के ही पीछे लगते है, अन्य किसी के नहीं।'

कर्म का फल आपको ही भोगना पडेगा, क्योंकि कर्म आपका है। कर्म दूसरे का नहीं है। मेरी पत्नी का कर्म नही है, मेरा कर्म है। इसलिए मुझे ही भोगना पड़ेगा।

इस अर्थ मे महावीर मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति परम स्वतत्र है, दूसरे से बँधा नही है। इसलिए लेन-देन का कोई उपाय नही है कि मैं दुख आपको दे दूँ। हालाकि हम किसी को प्रेम करते हैं, तो हम कहते हैं कि सब दुख मुझे दे दो। पर कोई उपाय नही है। और शायद इसीलिए इतनी आसानी से कहते

हैं, क्योंकि कोई उपाय नहीं है। अगर ऐसा हो सके, तो मैं नहीं मानता कि कोई किसी से कहेगा कि सब दुख मुझे दे दो। तब प्रेमी ऐसा सोचेंगे कि कब दूसरा माँग ले सब दुख। अभी हम बडे मजे से कहते हैं कि तुम्हारी पीड़ा मुझे लग जाये, मेरी उम्र तुम्हे लग जाये, लेकिन लगती वगती नहीं है। अगर लगने लगे, तो फिर कोई कहने वाला नहीं मिलेगा। असल में प्रत्येक व्यक्ति अकेला है, भीड मे भी अकेला है। कितना ही संग-साथ हो, फिर भी अकेला है। यह जो चैतन्य की धारा भीतर है, उसकी अपनी निजता है, 'इन्डि-विजुअॅलिटी' है। और जो भी उस चेतना की धारा ने किया है, वह उसी धारा को भोगना पडेगा।

गगा बहती है एक रास्ते से, और नर्मदा बहती है दूसरे रास्ते से। तो गगा जिन पत्थरों से बहती है, जिस मिट्टी से बहती है, उसका रग गगा को मिलेगा। और नर्मदा जिस मिट्टी से बहती है, जिन पत्थरो से बहती है, उनका रग नर्मदा को मिलेगा और कोई उपाय नही है। हम सब धाराएँ हैं। और हम सबके जीवन पथ अलग-अलग हैं। कितने ही पास-पास और कितने ही हम एक दूसरे को काटते मालूम पडें, कितने ही चौरस्तो पर मुलाकात हो जाये, लेकिन हमारा अकेलापन नहीं कटता।

हम अकेले है और दूसरे पर बाँधने का कोई उपाय नही है। इस पर बहुत जोर है महावीर का क्योकि यह बहुत महत्वपूर्ण है। अगर यह ख्याल में आ जाये, तो व्यक्ति अपनी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है, और जिस व्यक्ति ने समझा कि सारी जिम्मेदारी मेरी है, वह पहली दफा 'मैच्योर', प्रौढ़ होता है, नही तो हम बच्चे बने रहते हैं।

प्रौढ़ता का एक ही अर्थ है कि प्रौढ़ व्यक्ति सोचता है कि वह अपने पैरो पर खडा हो जाये। बच्चा सोचता है कि माँ की जिम्मेदारी, बाप की जिम्मे-दारी, पढाओ-लिखाओ, बडा करो।

एक आध्यात्मिक प्रौढता भी है। उस प्रौढ़ता का अर्थ है कि कोई मेरे लिए जिम्मेदार नहीं है, मैं बिलकुल अकेला हूँ। और जो भी मैं हूँ, उसे मुझे स्वीकार कर लेना है। और जो भी मैं हूँ, उसे ही मुझे रूपांतरित करना है। और जो

भी परिणाम आये, किसी को शिकायत करने का कोई कारण नहीं है। जो भी फल आये, उसका बोझ मुझे ही ढो लेना है।

यह जोर इसलिए है कि अगर दूसरे हमारे लिए जिम्मेदार हैं, तो फिर हम कभी मुक्त न हो सकेंगे। तब तो जब तक सारा जगत् मुक्त न हो जाये, तब तक मेरी मुक्ति का कोई उपाय नही है।

अगर मैं ही जिम्मेदार हूँ, तो मैं मुक्त हो सकता हूँ। अगर आप मुझे दुख दे सकते है, सुख दे सकते हैं, अगर आप मुझे आनन्दित कर सकते है, तो फिर मेरी मुक्ति का कोई उपाय नही है। फिर आपके ऊपर मैं निर्भर हूँ। आपकी मर्जी पर निर्भर हूँ। आप मेरी मर्जी पर निर्भर हैं और मैं आपकी मर्जी पर निर्भर हूँ। तब तो सारा ससार एक जाल है और उस जाल मे से कोई नही छूट सकता।

महावीर कहते है : प्रत्येक व्यक्ति कितने ही ससार के बीच मे खड़ा हो, अकेला है—'टोटली एलोन' पूर्ण-रूपेण अकेला है। इस अकेलेपन को समझ लें, तो सन्यास फलित हो जाता है। वह जहाँ भी है, अगर इस अकेलेपन के भाव को समझ ले, तो सन्यास फलित हो जाता है। चाहे वह कही भी हो, अपने को अकेला जानना संन्यास है। अपने को साथियो मे जानना संसार है। मित्रों मे, परिवार मे, समाज मे, देश में, स्वय को बँधे हुए अश की तरह जानना ससार है। मुक्त, अलग, टूटा हुआ, अकेला, आणविक, 'एटॉमिक', अकेला अपने को जानना सन्यास है।

आज इतना ही, पाँच मिनट रुकें, कीर्तन करें और जाएँ।

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
१९ सितम्बर, १९७२

सोलहवाँ प्रवचन

पण्डित-सूत्र

•

जे य कते पिए भोए,
लद्धे विपिट्ठीकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए,
से हु चाइ त्ति वुच्चई॥

वत्थगधमलंकारं,
इत्थियो सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुजति,
न से चाइ त्ति वुच्चई॥

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगन्तनिसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य॥

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगों का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।

जो मनुष्य किसी परतंत्रता के कारण वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री और शयन आदि का उपभोग नहीं कर पाता, वह सच्चा त्यागी नहीं कहलाता।

सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त में धृतिरूप अटल शांति प्राप्त करना, यह निः-श्रेयस का मार्ग है।

●

पहले एक दो प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है, कल आपने कहा था कि महावीर की चिन्तना मे प्रत्येक कृत्य और कर्म के लिए मनुष्य अकेला पूरा का पूरा खुद ही जिम्मेदार है । जब कि दूसरी चिन्तनाएँ कहती है कि इतने बडे सचालित विराट् में मनुष्य की बिसात क्या है कि परमात्मा की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता—इस चिन्तना मे कर्म को कहाँ रखियेगा ? एक तरफ स्वतत्रता की घोषणा और दूसरी ओर परतत्रता की बात है । या यो कहे कि 'डूइग एण्ड हैपनिंग' मे तालतेल कैसे बैठेगा ?

ताल-मेल बैठाने की बात से ही परेशानी शुरू हो जाती है । इसलिए ताल-मेल बैठाना ही मत । दो मार्गों मे ताल-मेल कभी भी नही बैठता । दोनों की मंजिल एक हो सकती है, लेकिन दो मार्गों मे ताल-मेल नही बैठता । और जो ताल-मेल बिठाने की कोशिश करता है, वह मजिल तक कभी भी नही पहुँच पाता ।

यह हो सकता है कि पहाड पर ले जाने वाले बहुत से रास्ते एक ही शिखर पर पहुँच जाते हो, लेकिन दो रास्ते, दो रास्ते ही हैं और उनके एक करने की कोशिश व्यर्थ है । और जो व्यक्ति दो रास्तो मे ताल-मेल बिठा कर चलने की कोशिश करेगा, वह चल ही नही पायेगा ।

मजिल में समन्वय है, पर मार्गों मे कोई समन्वय नहीं है । लेकिन हम सब मार्गों में समन्वय बिठाने की कोशिश करते है, और उससे बड़ी कठिनाई होती है ।

महावीर का मार्ग है संकल्प का मार्ग और मीरा का मार्ग है समर्पण का मार्ग । ये बिलकुल विपरीत मार्ग है, लेकिन इनकी मंजिल एक है । मीरा कहती है कि 'तू' ही सब कुछ है, 'मैं' कुछ भी नहीं, मेरा कोई होना ही नहीं—इस मार्ग मे 'मैं' को पूरी तरह मिटा देना है । इतना मिटा देना है कि कुछ शेष न

जाये, सब शून्य हो जाये, 'तू' ही एकमात्र सत्ता बचे, 'मैं' बिलकुल खो जाये।

जिस दिन 'तू' की ही सत्ता बचेगी, उस दिन 'तू' का भी कोई अर्थ न रह जायेगा। क्योंकि 'तू' मे भी जो अर्थ है, वह 'मैं' के कारण है। अगर मैं अपने 'मैं' को मिटा दूं, तो 'तू' में क्या अर्थ होगा? तब यह कहना भी व्यर्थ होगा कि 'तू ही है।' यह कौन कहेगा? यह कौन अनुभव करेगा? अगर मैं अपने 'मैं' को पूरी तरह मिटा दूं, तो 'तू' में 'तू' का अर्थ ही न रह जायेगा। एक मिट जाये, तो दूसरा भी मिट जायेगा।

मीरा कहती है, 'मैं' को हम मिटा दें; चैतन्य कहते हैं, 'मैं' को हम मिटा दें; कबीर कहते हैं, 'मैं' को हम मिटा दें—ये समर्पण के मार्ग हैं।

महावीर कहते हैं, 'तू' को हम मिटा दें, 'मैं' ही बच जाये—यह बिलकुल उल्टा है, लेकिन गहरे में उल्टा नहीं भी है, क्योंकि मंजिलें एक हैं। महावीर कहते हैं, 'तू' को बिलकुल भूल ही जाओ। उससे कुछ लेना-देना नहीं है। उससे कोई सम्बंध ही नहीं है। जैसे 'तू' है ही नहीं, आपके लिए बस 'मैं' ही है। इस 'मैं' को ही अकेला बचा लेना है। जिस दिन 'मैं' अकेला बचता है, उस दिन 'तू' बिलकुल नहीं होता, उस दिन 'मैं' का अर्थ भी खो जाता है; क्योंकि 'मैं' मे सारा अर्थ 'तू' के द्वारा डाला गया है।

'मैं' और 'तू' साथ-साथ ही हो सकते हैं, अलग-अलग नहीं हो सकते। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कोई कहता है, सिक्के का सीधा पहलू फेंक दो, तो उल्टा भी उसके साथ ही फिक जायेगा। कोई कहता है, सिक्के का उल्टा पहलू फेंक दो, तो सीधा भी उसके साथ ही फिक जायेगा।

महावीर कहते हैं, 'मैं' ही है अकेला अस्तित्व। जिस दिन 'तू' बिलकुल मिट जायेगा, उस दिन कोई परमात्मा नहीं बचेगा। महावीर परमात्मा को कोई जगह नही देते, क्योंकि परमात्मा का मतलब है, 'तू' को जगह देना। कोई 'तू' नहीं है, 'मैं' ही हूँ। सारा जिम्मा मेरा है, सारा फल मेरा है, सारे परिणाम मेरे हैं। जो भी भोग रहा हूँ, वह मैं हूँ, जो भी हो सकूंगा, वह भी मैं हूँ। इस भाँति अकेला 'मैं' ही बचे एक दिन और 'तू' विलीन हो जाये, तो उस दिन 'मैं' में कोई अर्थ नहीं रह जायेगा, उस दिन 'मैं' भी गिर जायेगा।

चाहे 'तू' को बचायें, चाहे 'मैं' को बचायें, दो में से एक को बचाना मार्ग है। और अन्त मे जब एक बचता है, तो एक भी गिर जाता है, क्योंकि वह दूसरे के सहारे के बिना बच नही सकता। कहाँ से आप शुरू करते हैं, यह अपनी

वृत्ति, अपने व्यक्तित्व, अपनी रुझान की बात है, अपने 'टाइप' की बात है। लेकिन दोनो में मेल मत करना, दोनो में कोई मेल नहीं हो सकता, अन्यथा उनका जो नियोजित प्रयोजन है, वही समाप्त हो जाता है। इन दोनों में कोई मेल नही है।

महावीर और मीरा को कभी भूल कर मत मिलना। वे बिलकुल एक दूसरे की तरफ पीठ करके खडे हैं। जहाँ से वे चलते हैं, वहाँ उनकी पीठ है; जहाँ वे मिलते हैं, वहाँ वे दोनों ही खो जाते हैं।

मीरा नही बचती, क्योकि 'मैं' को खो कर चलती है; और जब 'मैं' खो जाता है, तो 'तू' भी खो जाता है। महावीर भी नहीं बचते, क्योकि 'तू' को खोकर चलते हैं और जब 'तू' बिलकुल खो जाता है, तो 'मैं' का कोई अर्थ नही रह जाता, वह गिर जाता है। दोनों पहुँच जाते हैं परम शून्य पर, परम मुक्ति पर, लेकिन दोनों के मार्ग बड़े विपरीत हैं।

हमारी सबकी तकलीफ यह है कि हम सोचते हैं सदा द्वन्द की भाषा मे कि या तो महावीर ठीक होंगे या मीरा ठीक होगी; दोनों में से कोई एक ठीक होगा—ऐसा हमारी समझ में पड़ता है। हम सोचते हैं, दोनों कैसे ठीक हो सकते हैं? यही गलती शुरू हो जाती है। पर दोनों ठीक हैं।

अगर हम यह भी समझ लेते हैं कि दोनों ठीक हैं, तो फिर हम ताल-मेल बिठाते हैं। हम सोचते हैं—दोनों ठीक हैं, तो दोनों का मार्ग एक होगा। फिर भूल हो जाती है। दोनों ठीक हैं और दोनो का मार्ग एक नहीं है।

इस दुनिया मे समन्वयवादियों ने जितना नुकसान किया है, उतना और किन्हीं ने भी नही किया। जो हर चीज को मिलाने की कोशिश में लगे रहते हैं, वे खिचड़ियाँ बना देते हैं। सारा अर्थ खो जाता है। भले ही मन से करते हैं वे कि कोई कलह न हो, कोई झगड़ा न हो, कोई विरोध न हो, लेकिन विरोध है ही नही। जिसको वे मिटाने चलते हैं, वह है ही नही।

महावीर और मीरा में विरोध नहीं है, मंजिल की दृष्टि से। मार्ग की दृष्टि से भिन्नता है। अलग-अलग छोर से उनकी यात्रा शुरू होती है। और यात्रा हमेशा वहाँ से शुरू होती है, जहाँ आप हैं।

ध्यान रखें; मंजिल से उसका कम सम्बन्ध है, आप से ज्यादा है; कि कहाँ आप हैं। मैं पूरब मे खड़ा हूँ, आप पश्चिम में खड़े हैं, तो हम दोनों के मार्ग एक से कैसे हो सकते हैं! मैं जहाँ खड़ा हूँ, वहीं से मेरी यात्रा शुरू होगी; आप

जहाँ खड़े हैं, वहीं से आपकी यात्रा शुरू होगी। मीरा जहाँ खड़ी है, वहीं से चलेगी; महावीर जहाँ खड़े हैं, वही से चलेंगे।

मीरा है स्त्रैण चित्त की प्रतीक और महावीर हैं पुरुष चित्त के प्रतीक। स्त्रैण चित्त का मतलब स्त्रियो से नही है और पुरुष चित्त से मतलब पुरुषों से नहीं है। अनेक स्त्रियो के पास पुरुष चित्त होता है और अनेक पुरुषों के पास स्त्री चित्त होता है। चित्त बड़ी और बात है।

स्त्रैण चित्त का अर्थ है 'समर्पण का भाव'—अपने को किसी की शरण मे खो देने की क्षमता, अपने को मिटा देने की। इतनी ग्राहकता कि मैं न रहूँ और दूसरा ही रह जाये। स्त्री जब प्रेम करती है, तो उसका प्रेम बनता है 'समर्पण'। प्रेम का अर्थ है 'मिट जाना'। वह जिससे प्रेम करती है, वही रह जाये। इतनी एक हो जाये प्रेम करने वाले के साथ कि कोई भिन्नता न रह जाये। स्त्रैण चित्त है एक 'रिसेप्टिविटी', ग्राहकता, समर्पण, 'सरेन्डर।'

पुरुष जब प्रेम करता है, तो उसका प्रेम समर्पण नही बनता। पुरुष के प्रेम का अर्थ ही यह होता है कि वह समर्पण को पूरी तरह स्वीकार कर लेता है। जब प्रेमिका उसे समर्पित होती है, तो वह पूरी तरह उसे स्वीकार कर लेता है। वह इतना आत्मसात कर लेता है अपने मे अपनी प्रेयसी को कि प्रेयसी नही बचती, वही बचता है। और प्रेयसी इतनी आत्मसात् हो जाती है प्रेमी मे कि खुद नही बचती, प्रेमी ही बचता है। लेकिन पुरुष समर्पण नही करता। इस-लिए यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को प्रेम करे और समर्पण कर दे उसके चरणो मे, तो वह स्त्री उससे प्रेम ही नही कर पायेगी। क्योंकि समर्पण करने वाला पुरुष स्त्री जैसा मालूम पड़ेगा।

पुरुष है शिखर जैसा और स्त्री है खाई जैसी। दोनों की भाव दशाएँ भिन्न हैं।

तो मीरा मिट जाती है और कृष्ण मे अपने को विलीन कर लेती है, समर्पण उसका रास्ता है। वह कहती है—'मैं' नही हूँ, 'तू' ही है, और तेरी इच्छा के बिना कुछ भी नही होता—बुरा हो मुझसे तो 'तेरा', भला हो मुझसे तो 'तेरा'; पाप हो मुझसे तो 'तेरा', पुण्य हो मुझसे तो 'तेरा।' मेरा कुछ भी नही है।

यह मत सोचना कि मीरा यह कह रही है कि भला हो, तो 'मेरा' और बुरा हो तो 'तेरा'—भला करूँ, तो 'मैं' और पाप और बुरा हो जाये, तो 'तू'। न, मीरा कह रही है कि 'तू' ही है 'मैं' हूँ ही नहीं, इसलिए कुछ भी हो, अब मेरी कोई भी जिम्मेदारी नहीं है। क्योकि जब 'मैं' नही हूँ, तो मेरी जिम्मेदारी

का कोई सवाल ही नही है। तू डुबाये, तू बचाये, तू मोक्ष मे ले जाये, तू नर्क मे डाल दे, अब तेरी मर्जी में मेरी खुशी है। अब यह भी नही है कि तू मुझे मोक्ष मे ले जायेगा, तो ही मेरी खुशी होगी—तू ले जायेगा, यही मेरी खुशी है। कहाँ ले जायेगा, यह तू ही जान।

इतने समग्र भाव से अपने को छोड सके कोई, तो फिर कोई कर्म का बन्धन नही है; क्योकि कर्त्ता ही न रहा।

इसे ठीक से समझ लें।

जब तक करने वाले का भाव है, तभी तक कर्म का बन्धन है। जब मैं करने वाला ही नही हूँ, वही करने वाला है, यह विराट जो अस्तित्व है, वही कर रहा है, तो फिर कोई कर्म का बन्धन नही है।

कर्म बनता है कर्त्ता के भाव से, अहंकार से। इसलिए मीरा स्त्रैण चित्त की परिपूर्ण अभिव्यक्ति मे अपने को खो देती है। मीरा ही ऐसा करती है, ऐसा नही, चैतन्य भी यही करते हैं। इसलिए पुरुष स्त्री का सवाल नही है, प्रतीक हैं।

महावीर बिलकुल भिन्न हैं। महावीर कहते हैं, समर्पण कैसा ? किसके प्रति समर्पण ? और महावीर कहते हैं कि समर्पण भी मैं ही करूँगा, वह भी मेरा ही कृत्य है। महावीर सोच ही नहीं सकते समर्पण की भाषा, क्योकि वे पुरुष चित्त के शिखर हैं। इसलिए ईश्वर को उन्होने इन्कार ही कर दिया, क्योकि ईश्वर अगर होगा, तो उसे समर्पण करना ही पड़ेगा।

कोई और नही है, मैं ही हूँ, इसलिए सारी जिम्मेदारी का बोझ मेरे ही ऊपर है। वह मुझे ही खीचना है, मुझे ही तय करना है कि क्या करूँ और क्या न करूँ। और जो भी परिणाम हो, मुझे जानना है कि वह मेरे ही द्वारा हुआ है। इसलिए 'मैं' को छोड़ने का कोई उपाय ही नहीं है। मुझे अपने को बदलना है और इतना शुद्ध हो जाना है, इतना 'ट्रान्सपेरेन्ट', इतना पारदर्शी हो जाना है कि कुछ भी बुरा मुझमें न रह जाये।

इस शुद्ध करने की प्रक्रिया में ही मैं विलीन होगा, लेकिन समर्पित नही होगा। इसका फर्क समझ लें।

मीरा समर्पण करेगी, 'मैं' खो जायेगा। महावीर शुद्ध करेंगे, शून्य करेंगे अपने को और 'मैं' खो जायेगा। लेकिन महावीर श्रम करेंगे और मीरा समर्पण करेगी।

इसलिए महावीर और बुद्ध की सस्कृति को हम कहते हैं, 'श्रमण संस्कृति ।' श्रम पर उनका जोर है, पुरुषार्थ पर उनका बल है—कुछ करो। इसलिए महावीर कहते हैं कि मैं श्रम करूँगा अपने साथ और जो भी परिणाम होगा, उसे स्वीकार करूँगा—नर्क होगा तो भी जानूँगा कि मेरे द्वारा और मोक्ष होगा तो भी जानूँगा कि मेरे द्वारा, लेकिन किसी और पर जिम्मेदारी नही रखूँगा। यह पुरुष चित्त का लक्षण है कि वह किसी और पर जिम्मेदारी नही रखेगा।

आप कहाँ हैं, इसे सोच लेना चाहिए—क्या आप पुरुष हैं, क्या आप स्त्री हैं—चित्त की दृष्टि से, शरीर की दृष्टि से नही।

आपका भाव भीतर समर्पण करने का है या सकल्प को संभाले रखने का है? मगर एक बात तय कर लें कि दोनो के बीच मत दौडना! क्योकि नपुसक के लिए कोई भी जगह नही है। वे जो समझौतेवाले हैं, वे अक्सर नपुसक पैदा कर देते हैं। वे जो समन्वयवादी हैं, जो कहते हैं दोनो मे थोडा ताल-मेल कर लो—थोड़ा मीरा का भी लो, थोडा महावीर का भी लो, थोडा कुरान का भी लो, थोडा गीता का भी—'अल्लाह ईश्वर तेरे नाम', दोनो को जोड़ो, फिर इनको मिला कर चलो। इस तरह के लोग सारे मार्गों को भ्रष्ट कर देते हैं।

हर मार्ग की अपनी शुद्धता है, 'प्योरिटी' है। और बड़े से बडा अन्याय जो हम कर सकते हैं, वह किसी मार्ग की शुद्धता को नष्ट करना है। हर मार्ग पूरा है। पूरे का अर्थ यह है कि उससे मजिल तक पहुँचा जा सकता है, दूसरे मार्ग की कोई जरूरत नही है। इसका यह मतलब नही कि दूसरे मार्ग से नही पहुँचा जा सकता; दूसरा मार्ग भी उतना ही पूरा है, उससे भी पहुँचा जा सकता है। आप मार्गों को मिलाने के बजाए, यही सोचना कि आप कहाँ खडे हैं, कहाँ से आपके लिए निकटतम मार्ग मिल सकता है? फिर दूसरे की भूल कर भी मत सुनना।

लेकिन हम बड़े अजीब लोग हैं! हम इसकी फिकर ही नही करते कि कौन कहाँ खड़ा है।

एक मित्र हैं, उनकी पत्नी का भाव है—भक्ति का, समर्पित होने का, छोड़ देने का अपने को परमात्मा के चरणो मे—मित्र का भाव नहीं है। उनका भाव है—अपने को शुद्ध करने का, रूपान्तरित करने का, बदलने का। ठीक है, लेकिन वे मित्र अपनी पत्नी को भी भक्ति में नहीं जाने देते, क्योंकि वे मानते हैं, कि वे जो कहते हैं, वही ठीक है। (उनके लिए ठीक है वह, उनकी पत्नी

के लिए ठीक नही है ।) लेकिन जो पति के लिए ठीक है, वह पत्नी के लिए भी ठीक होना चाहिये, ऐसी उनकी धारणा है। अगर कल उनकी पत्नी भी उन पर जोर देने लगे कि तुम भी चलो मन्दिर में और नाचो, कीर्तन करो और गाओ, तो मैं कहूँगा कि वह भी गलती कर रही है। क्योंकि जो उसके लिए ठीक है, वही उसके पति के लिए भी ठीक है—ऐसा मानने का कोई भी कारण नही है।

दूसरे पर कभी भी मत थोपना अपना ठीक होना क्योंकि आपको पता ही नही है कि दूसरा कहाँ खड़ा है। आप जहाँ खडे हैं, अपना रास्ता आप चुन लेना। दूसरा जहाँ चल रहा है, उसे चलने देना।

अक्सर लोग दूसरो के रास्तों पर बड़ी बाधाएँ उपस्थित करते हैं। उसका कारण है कि वे समझ ही नही पाते कि कोई दूसरा रास्ता भी हो सकता है। हम सबको ऐसा ख्याल है कि सत्य एक है—यह बिलकुल ठीक है, लेकिन इसके कारण हमको एक ख्याल और भी पैदा हो गया है कि सत्य का मार्ग भी एक है—यह बिलकुल गलत है।

सत्य एक है—सौ प्रतिशत ठीक, सत्य का मार्ग एक है—सौ प्रतिशत गलत।

सत्य के मार्ग अनन्त है, अनेक हैं। असल मे जितने पहुँचने और चलने वाले लोग हैं, उतने ही मार्ग हैं। हर आदमी अपनी ही पगडडी से चलता है। अस्तित्व की यात्रा मे हम अलग-अलग जगह मे खड़े हैं, और अस्तित्व की यात्रा मे हमने अलग-अलग चित्त निर्मित कर लिये हैं; जन्मो-जन्मों की यात्रा में हम सबके पास अलग-अलग भाव दशा निर्मित हो गई है, हम उससे ही चल सकते हैं, दूसरे के मार्ग पर चलने का कोई उपाय नहीं है। जैसे दूसरों के पैरो से चलने का कोई उपाय नही है, वैसे दूसरों के मार्ग पर भी चलने का कोई उपाय नही है। और जब एक दूसरे को लोग अपने मार्ग पर घसीटते हैं, तो वे उन्हें पंगु कर देते हैं, उनके पैर काट डालते हैं। बहुत हिंसा होती है ऐसे, लेकिन हमारे ख्याल में नहीं आती।

तालमेल बिठाना ही मत। अगर यह बात ठीक लगती हो कि 'परमात्मा की मरजी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता', तो फिर पूरे के पूरे इसमें डूब जाना, ताकि 'मैं' मिट जाये। लेकिन यह समग्र हो। फिर एक आदमी आकर पत्थर मार जाए सिर में, तो यह मत सोचना कि उस आदमी ने पत्थर मारा। फिर सोचना कि 'परमात्मा की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता।'

लेकिन हम जिनको बहुत विचारशील लोग कहते हैं, वे भी भ्रान्तियाँ करते हैं, और हम भी उन भ्रान्तियो को समझ नही पाते। अगर वे हमे रुचिकर लगती हैं, तो उन्हे समझने की हम फिकर ही नही करते।

महात्मा गान्धी की हत्या की बात चलती थी, हत्या के पहले। तो सरदार वल्लभभाई पटेल ने उनसे जाकर कहा कि मैं सुरक्षा का क्या इन्तजाम करूँ? तो गान्धीजी ने जो कहा, वह पूरे मुल्क को बड़ा प्रीतिकर लगा, लेकिन बिलकुल नासमझी से भरी हुई वह बात है।

गान्धीजी ने कहा कि 'उसकी मर्जी के बिना मुझे कोई हटा भी कैसे सकेगा!' (यह बात बिलकुल ठीक है।) 'अगर ईश्वर चाहता है, तो मुझे उठा लेगा, तुम मुझे कैसे बचाओगे? यह 'उसकी मर्जी के बिना पत्ता नही हिलता' इस विचार का आनुषांगिक हिस्सा है। अगर वह मुझे बचाना चाहता है, तो कोई मुझे उठा नही सकता। अगर वह मुझे उठाना चाहता है, तो मुझे कोई बचा नही सकता।

सरदार वल्लभभाई को भी ठीक लगा और तर्क करने का कोई उपाय न रहा। मैं उनकी जगह होता, तो गान्धीजी को कहता कि वह खुद तो हत्या करने आएगा नही, नाथूराम गोडसे का उपयोग करेगा; और अगर उसको बचाना ही है, तो भी खुद बचाने नही आयेगा, वल्लभभाई पटेल का उपयोग करेगा।

तो आधी बात कह रहे हैं आप। आप कहते हैं कि अगर 'वह' उठाना चाहेगा, तो कोई बचा नही सकेगा और जो उठाने वाले हैं, वे चारो तरफ घूम रहे हैं। और जिनके द्वारा 'वह' बचा सकता है, वे इसलिए रुक जायेंगे कि हम क्या बचा सकते हैं!

अगर मैं गान्धीजी की जगह होता, तो मैं कहता कि तुम अपनी कोशिश करो और नाथूराम गोडसे को अपनी कोशिश करने दो। आखिर 'उसकी' जो मर्जी होगी, वह तो होगी, लेकिन तुम दोनों अपनी कोशिश करो। क्योंकि 'उसकी मर्जी' भी तो किसी के द्वारा होगी।

गान्धीजी ने आधी बात कही। उसमें उन्होने एक पत्ते को तो हिलने दिया और दूसरे पत्ते को रोकने की कोशिश की। सब 'उसकी मर्जी' से हो रहा है, उन्होंने कहा जरूर, लेकिन उनको भी साफ नही है; नहीं तो वल्लभभाई को भी रोकने का कोई अर्थ नही था। अगर 'उसकी ही मर्जी' से यह सरदार भी

हिल रहे हैं, तो उनको भी हिलने दो; लेकिन गोडसे हिलता रहेगा 'उसकी मर्जी से' और सरदार गान्धीजी की मर्जी से रुक रहे हैं।

जीवन जटिल है। मैं मानता हूँ कि गान्धीजी का पूरा भरोसा नहीं है 'उसकी मर्जी पर'; नही तो वे कहते कि ठीक है, किसी को वह इशारा कर रहा होगा मुझे मारने का, तुम्हें इशारा करता है मुझे बचाने का—जो 'उसकी मर्जी' हो, वह हो, मैं बीच में नहीं आऊँगा। लेकिन गान्धी बीच में आए और उन्होने सरदार को रोका।

गान्धी का 'उसकी मर्जी पर' पूरा भरोसा नहीं है।

ऐसी आलोचना किसी ने भी नही की है। किसी ने भी यह नहीं कहा कि गान्धीजी को 'उसकी मर्जी पर पूरा भरोसा नहीं है' (पूरा भरोसा नहीं है।) वे बाएँ हाथ को तो मानते हैं 'उसका' हाथ, पर दाएँ हाथ को वे नही मानते 'उसका' हाथ।

हम भी ऊपर से देखेंगे, तो हमे भी ख्याल मे नही आएगा। लेकिन जिन्दगी ज्यादा गहरी है, जैसा हम ऊपर से देखते हैं, वैसी उथली नही है।

अगर सच मे ही इस बात का भरोसा है कि 'उसकी मर्जी', तो फिर ठीक है। फिर आपके लिए कुछ भी अपनी तरफ से जोडने का कोई सवाल नहीं है। फिर आप बहते हैं। फिर आप पूरे ही बहें और जो भी हो, माने कि ठीक है। अगर इसमें आपको अडचन मालूम पडती हो कि ऐसे हम अपने को कैसे छोड़ सकते हैं—नदी कही भी बहा ले जाए, पता नही कहाँ; तो फिर नदी के बाहर निकल कर खडे हो जाएँ, फिर यह बात ही छोड़ दें कि 'उसकी मर्जी के बिना पत्ता भी नही हिलता'। फिर तो एक ही बात स्मरण रखें कि पत्ता हिलेगा तो मेरी मर्जी से; नही हिलेगा तो मेरी मर्जी से।

हिलता है, तो मैंने चाहा होगा इसलिए हिलता है—चाहे मुझे पता न हो। और नही हिलता है, तो मैंने चाहा होगा कि न हिले—चाहे मुझे पता न हो। मैंने जो किया है, उसके कारण हिलता है और मैंने जो नही किया, उसके कारण रुकता है। फिर सारी जिम्मेदारी अपने पर ले लेना।

दोनों तरह से लोग पहुँच गये हैं। लेकिन दोनों को मिलाकर अब तक सुना नहीं कि कोई पहुँचा हो।

दोनो को मिलाने वाला आदमी वह है, जो चलना ही नहीं चाहता। असल में दोनो को मिलाना एक तरकीब है, 'डिसेप्शन' है, एक वचना है, खुद को धोखा है। उसका मतलब यह कि अब जैसा मतलब होगा, अब जैसा अपने

अनुकूल होगा, उसको कह लेगे। जब कोई बुरी बात घटेगी, तो कहेगे 'उसकी मर्जी' और जब कुछ ठीक हो जायेगा तो कहेगे 'अपना संकल्प'।

मिलाने का मतलब यह होता है कि हम दोनो नावो पर पैर रखेगे। इसमें होशियारी तो है, चालाकी तो है, लेकिन बहुत बुद्धिमानी नही है।

चालाक आदमी दोनो नाव पर पैर रखता है, पता नही कब किसकी जरूरत पड जाये। चालाकी उनकी ठीक है, लेकिन मूढतापूर्ण है। क्योकि दो नावों पर कोई सवार होकर चल नही सकता। दो नावो पर जो सवार होता है, वह डूबेगा। और अगर नही डूबना है, तो नावो को खडा रखना पडेगा, चलाना नही पडेगा। फिर चलाने वाला भी वही खडा रहेगा। और खडे रहना भी कही पहुँचना नही है, वह भी डूबना ही है।

महावीर को समझते वक्त मीरा को बीच मे मत लाएँ। महावीर के रास्ते पर, मीरा से कही मिलन न होगा और मीरा के रास्ते पर महावीर से कोई मुलाकात नही होगी। आखिर मे, जहाँ महावीर भी खो जाते हैं और जहाँ मीरा भी खो जाती है, वहाँ मिलन है।

जब तक महावीर हैं, तब तक सकल्प रहेगा और जब तक मीरा है, तब तक समर्पण रहेगा। और जहाँ समर्पण समाप्त हो जाता है, वही सकल्प भी समाप्त हो जाता है। मजिल जब आती है, तो रास्ते समाप्त हो जाते है।

मजिल का मतलब क्या है ? मजिल का मतलब है—रास्ते का समाप्त हो जाना, रास्ते से मुक्त हो जाना। मजिल का मतलब है कि रास्ता खत्म हुआ। मजिल रास्ते की पूर्णता है। और जो भी चीज पूर्ण हो जाती है, वह मृत हो जाती है। फल पक जाता है, तो गिर जाता है। रास्ता पक जाता है, तो खो जाता है। फिर मजिल रह जाती है।

मजिल पर मिलन है। सागर मे जाकर नदियाँ मिल जाती है। जो नदी पूरब की तरफ बही, वह भी जाकर गिर जाती है हिन्द महासागर मे। और जो नदी पश्चिम की तरफ बही, वह भी जाकर गिर जाती है हिन्द महासागर मे। अगर रास्ते में उन दोनो का कही मिलना हो, तो वे नही मान सकती कि वे दोनों सागर मे जा रही हैं। पूरब चलने वाली नदी कहेगी कि पागल हो गई हो, पश्चिम जा रही हो, सागर पूरब है। और पश्चिम जाने वाली नदी कहेगी —पागल तू है, सागर पश्चिम है। सदा से हम गिरते रहे हैं और जानते रहे हैं कि सागर पश्चिम है।

सागर सब ओर है। सागर का मतलब ही है, जो सब ओर है। कहीं से भी जाओ, पहुँचना हो सकता है। एक ही बात का ध्यान रखना कि चलना, रुक मत जाना। तालाब भर ही नहीं पहुँचते, नदियाँ तो सब पहुँच जाती हैं। समझौतावादी तालाब की तरह हो जाते हैं। वे ठहर जाते हैं। थोड़ा पूरब भी चलते हैं, थोडा पश्चिम भी चलते हैं। और चारों दिशाओं में चलने की वजह से चक्कर लगाने लगते हैं, अपनी जगह पर, एक ही जगह पर घूमते रहते हैं। वही सूखते हैं, सड़ते हैं।

समझौता नही है मार्ग धर्म मे—दर्शन मे भला हो, विचार में भला हो। जिनको चलना हो, उनके लिए समझौता मार्ग नहीं है। उनके लिए तो स्पष्ट चुनाव जरूरी है। और चुनाव करना अपनी आन्तरिक भाव-दशा के अवलोकन से, दूसरे की बातो से नहीं। अपने को सोचना कि मैं क्या कर सकता हूँ—समर्पण या सकल्प।

● एक मित्र ने पूछा है कि मैं तो हूँ बहुत पापी। आकाक्षा भी होती है प्रभु तक पहुँचने की। क्या मुझ जैसे पापी के लिए प्रभु का द्वार खुला होगा? मैं बहना ही चाहूँ, बहता ही रहूँ तो भी क्या परमात्मा के सागर को पा सकूँगा?

यह महत्वपूर्ण है भाव, क्योकि जो जान लेता है कि मैं पापी हूँ, उसके जीवन मे पुण्य का भाव प्रारम्भ हो जाता है। यह एक पण्डित का प्रश्न नही है, एक धार्मिक व्यक्ति का प्रश्न है। पण्डित ज्ञान की बातों मे से प्रश्न उठाता है, धार्मिक व्यक्ति अपनी अन्तरदशा से प्रश्न उठाता है। पण्डित के प्रश्न शास्त्रों से आते हैं, धार्मिक के प्रश्न अपनी स्थिति से आते हैं।

यह भाव कि मैं पापी हूँ, धार्मिक भाव है। यह जानना कि मेरा पहुँचना मुश्किल है, पहुँचने के लिए पहला कदम है। यह मानना कि क्या मेरे लिए भी प्रभु के द्वार खुले होंगे, द्वार पर पहली दस्तक है।

वे ही पहुँच पाते हैं, जो इतने विनम्र हैं। जो बहुत अकड़ कर चलते हैं, जो सोचते हैं कि दरवाजे का क्या सवाल, परमात्मा रास्ते में स्वागत के लिए खड़ा होगा। द्वार-बन्दन वार बना कर, वे कभी नही पहुँच पाते। क्योंकि उस परम-सत्ता में लीन होना है। लीनता यही से शुरू होगी, आपकी तरफ से शुरू होगी। परम-सत्ता के कोई द्वार नही हैं कि बन्द हों।

समझ लें इसको।

कोई दरवाजे नहीं हैं उसके महल के कि बन्द हो। परम-सत्ता खुलापन है। परम-सत्ता का अर्थ है, खुला हुआ होना, खुली ही हुई है 'परम-सत्ता।'

सवाल उसकी तरफ से नहीं है कि वह आपको रोके, बुलाएँ या खींचे। सवाल सब आपकी तरफ से है कि आप भी उस खुलेपन में उतरने को तैयार हैं या नहीं। आप कहीं बन्द तो नहीं हैं ? परमात्मा बन्द नहीं है।

सूरज निकला है और मैं अपने द्वार-दरवाजे बन्द करके घर मे आँख बन्द किये बैठा हूँ और सोच रहा हूँ कि 'अगर मैं द्वार के बाहर जाऊँ, तो सूरज से मेरा मिलन होगा ? मैं आँख खोलूँ, तो सूरज मुझ पर कृपा करेगा ?'

सूरज की कृपा बरस ही रही है, अकृपा कभी होती ही नहीं। वह सदा मौजूद ही है द्वार पर। आप द्वार खोलें, द्वार आपने बन्द किये हैं, उसने नहीं। आप आँखें खोलें। आँखें आपने बन्द कर रखी हैं।

परमात्मा है सदा खुला हुआ, हम बन्द हैं। हमारे बन्द होने मे सबसे बडा कारण क्या है ?

सबसे बडा कारण यह है कि हम यह मान कर चलते हैं कि हम तो खुले हुए हैं। अन्धे को अगर यह ख्याल हो कि मेरी आँखें तो खुली हुई हैं, तो बहुत अड़चन हो जाती है। हम सब मानते हैं कि हम सब तो खुले ही हुए हैं।

हम खुले हुए नहीं हैं, हम बिलकुल बन्द हैं। और अगर परमात्मा हमारे द्वार पर भी आ जाये, तो शायद ही सम्भावना है कि उसे हम भीतर आने दें, बहुत मुश्किल है कि हम उसके लिए दरवाजा खोलें। क्योंकि वह इतना अजनबी होगा और हमने कभी उसे देखा नहीं। उससे ज्यादा अजनबी कोई भी न होगा।

हम पहले पूछेंगे—कहाँ के रहने वाले हो ? हिन्दू हो कि मुसलमान कि जैन ? कोई 'कैरेक्टर सर्टिफिकेट' साथ लाये हो ?

परमात्मा तो इतना 'स्ट्रेन्जर', अजनबी होगा कि अगर हमारे द्वार पर आ जाये, तो हम भाग खड़े होंगे। अगर परमात्मा हमारे पास आ जाये, तो हम भाग खडे होंगे, क्योंकि उसे हम बिलकुल पहचान न पाएँगे। हम पहचानते उसे हैं, जिसे हम पहले से जानते है। जिसे हमने कभी जाना नहीं, हम उसे पहचानेंगे कैसे ? हम उससे सवाल पूछेंगे। हम उसकी 'इन्क्वायरी' करेंगे। हम पुलिस दफ्तर मे जाकर पूछ-ताछ करेंगे कि यह आदमी कैसा है; घर में ठहरना चाहता है! और हम द्वार बन्द कर लेंगे।

अजनबियों के लिए हमारे द्वार खुले हुए नहीं हैं। और परमात्मा से ज्यादा अजनबी कौन होगा ?

हमारी नीति, हमारे चरित्र के नियम सब छोटे पड जायेंगे। उनसे हम 'उसे' नाप न पाएँगे। बडी अड़चन होगी। हमने बहुत बार यह किया है।

हम, महावीर मौजूद हो, तो नाप नहीं पाते; बुद्ध मौजूद हों, तो नाप नहीं पाते, जीसस मौजूद हो, तो नाप नहीं पाते। हम कैसे बेहूदे सवाल पूछते हैं बुद्ध से, महावीर से, जीसस से ? वह असल में हम अजीबपन के कारण पूछते हैं।

जीसस एक वेश्या के घर मे ठहर गये।

आपने क्या पूछा होता सुबह ? जीसस को घेर कर आप क्या सवाल उठाते ?

हम वही सवाल उठा सकते है, जो हम वेश्या के घर ठहरे होते तो जो हमने किया होता, वही सवाल हम उठाएँगे। हम यह सोच ही नहीं सकते कि जीसस के होने का कोई और अर्थ भी हो सकता है।

जीसस को कोई बुद्ध जैसा व्यक्ति ही समझ सकता था।

बुद्ध का एक शिष्य एक वेश्या के घर में ठहर गया। सारे भिक्षु परेशान हो गये और उन्होने आकर बुद्ध को शिकायत की कि यह तो बहुत अशोभन बात है कि हमारा भिक्षु और एक वेश्या के घर ठहर जाये।

(ये जो भिक्षु थे, ये ठहरना चाहते होगे वेश्या के घर। यह ईर्ष्या से उठा हुआ सवाल था।)

बुद्ध ने कहा कि अगर तुम ठहर जाते, तो मुझे चिन्ता होती। जो ठहर गया है, उसे मैं जानता हूँ। लेकिन शिष्यों ने कहा कि आप यह अन्याय कर रहे है। इससे तो रास्ता खुल जायेगा। इससे तो और लोग भी ठहरने लगेंगे।

('और लोग'—मतलब वे अपने को सोच रहे हैं कि क्या गुजरेगी उन पर अगर वे वेश्या के घर ठहर जाएँ।)

हम हमेशा अपने से सोचते हैं। और तो कोई उपाय भी नहीं है, इसलिए हम अपने से ही सोचते हैं।

'और वेश्या बहुत सुन्दरी है'—उन भिक्षुओं ने कहा। 'और उसके आकर्षण से बचना बहुत मुश्किल है। रात भर भिक्षु वहीं ठहर गया है। और हमने तो

यह भी सुना है कि रात, आधी रात तक गीत भी चलता रहा, नाच भी चलता रहा—यह क्या हो रहा है ?

बुद्ध ने कहा—मैं उस भिक्षु को भली-भाँति जानता हूँ । और अगर मेरा भिक्षु वेश्या के घर ठहरता है, तो मेरा भिक्षु वेश्या को बदलेगा, न कि वेश्या मेरे भिक्षु को । और अगर मेरे भिक्षु को वेश्या बदल देती है, तो वह भिक्षु इस योग्य ही न रहा कि अपने को भिक्षु कहे । तो ठीक ही हुआ, इसमें बिगडा क्या ? जो बदला जा सकता है, वही बदला जायेगा ।

सुबह ऐसा हुआ कि भिक्षु वापस आया और पीछे उसके वेश्या आई, तो बुद्ध ने अपने भिक्षुओ से कहा कि इस वेश्या को देखो !

उस वेश्या ने कहा कि मैं भी आपके चरणो मे आना चाहती हूँ । पहली दफे मुझे एक पुरुष मिला, जिसको मैं डाँवा-डोल न कर सकी । अब मेरे मन में भी यह भाव उठा है कि कब ऐसा क्षण मुझे भी आयेगा कि कोई मुझे डाँवा-डोल न कर सके । जो इस भिक्षु के भीतर घटा है, वही मेरे भीतर भी घट जाये । अब इसके सिवाय मेरी और कोई आकाक्षा नहीं है ।

लेकिन कठिन है । हम जो हैं, वही हम सोच पाते है । इसलिए बुद्ध हो, महावीर हो हम अपनी तरफ से सोचते है । हम अपने ढंग से सोचते हैं । कोई उपाय भी नहीं है । हमारी भी मजबूरी है । हम वही ढग जानते है । हम वही दृष्टि जानते हैं । हम अपनी आँख से ही तो देखेंगे ? किसी और की आँख से कैसे देख सकते हैं ?

परमात्मा अगर आपके द्वार पर भी आ जाये, तो आप नही पहचानेंगे, यह पक्का है । और आप उसे ठहरने भी नहीं देंगे, यह भी पक्का है । नही, लेकिन परमात्मा आपके द्वार पर आता भी नही । वह सदा खुला हुआ आकाश है, चारो तरफ ।

परमात्मा कोई व्यक्ति नही है । परमात्मा है खुला हुआ आकाश । परमात्मा है 'स्पेस'—चारो तरफ । कूद जायें आप, तो आकाश आपको अपने में लीन करने को सदा तत्पर है । आप खडे रहें, तो आकाश आपको खीच कर जबरदस्ती अपने में लीन करना नही चाहता ।

क्योंकि उतनी हिंसा भी अस्तित्व को स्वीकार नही है । आप स्वतन्त्र हैं—रुकने को, कूद जाने को । सागर मौजूद है । नदियों को निमन्त्रण भी नही देता, बुलाता भी नही । नदियां स्वतन्त्र हैं—रुक जायें, तालाब बन जायें, छलांग

ले लें, सागर में खो जायें।

जिस व्यक्ति को यह ख्याल हो रहा है कि मैं पापी हूँ, वह निश्चिन्त रहे। यह ख्याल महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस ख्याल मे ही अहंकार गलता है। जिसको यह ख्याल हो रहा हो कि क्या मेरे लिए 'उसके द्वार' खुले होंगे, तो वह निश्चिन्त रहे। 'उसके द्वार' उसके लिए बिलकुल ही खुले हुए हैं। वह बहता रहे और धीरे-धीरे अपने को डुबाता रहे। एक न एक दिन वह घडी घटती है, जब भीतर, वह जो अहकार की छोटी सी टिमटिमाती ज्योति है, वह बुझ जाती है। और जिस दिन वह टिमटिमाती ज्योति बुझती है, उसी दिन हमें पता चलता है उस सूर्य का, जो हमेशा मौजूद है। लेकिन हम अपनी टिमटिमाती ज्योति में इतने लीन थे कि सूर्य की तरफ आँख भी नही गई थी।

जब तक 'मैं' न बुझ जाये, तब तक मुझे उसका पता नही चलता, जो चारो तरफ मौजूद है। क्योकि मैं अपने मे ही सलग्न हूँ, मैं अपने मे ही लगा हुआ हूँ—'टू मच अकुपाइड विथ माई सेल्फ'। सारी व्यस्तता अपने में लगी है।

जिस दिन जीसस को सूली हुई, उस दिन उस गाँव मे एक आदमी के दाँत में दर्द था। सारा गाँव जीसस को सूली देने जा रहा है। जीसस कन्धे पर अपना क्रॉस लेकर उस मकान के सामने से निकल रहे हैं। वह आदमी बैठा है और जो भी उस रास्ते से निकलता है, वह उनसे अपने दाँत के दर्द की चर्चा करता है। वह कहता है कि आज बड़ी तकलीफ है दाँत में। लोग कहते हैं—'छोडो भी ! पता है कुछ, आज मरियम के बेटे जीसस को सूली दी जा रही है।' वह आदमी सुनता है, लेकिन अनसुना कर देता है। वह कहता है—'दी जा रही होगी, लेकिन दाँत मे बहुत दर्द है।'

जिस दिन जीसस को सूली हुई, उस दिन वह आदमी अपने दाँत में ही उलझा था। उस दिन इस पृथ्वी का बडे से बडा चमत्कार घट रहा था, लेकिन वह आदमी अपने दाँत के दर्द मे उलझा था।

हम सब ऐसे ही लोग हैं, जिनकी दाढ में दर्द है। सब अपनी-अपनी दाढ का दर्द लिये बैठे हैं। चारों तरफ विराट घटना घट रही है। हर पल 'वह' मौजूद है सब तरफ। लेकिन हमारी दाढ़ दुख रही है और हम उसी मे लीन है।

और अहंकार बडी पीड़ा का घाव है। दाढ़ भी वैसा दर्द नही देती, जैसा कि अहकार देता है।

ख्याल है आपको ! दाढ़ के दर्द मे थोडी मिठास भी होती है—दर्द भी होता है, मिठास भी होती है। अहकार के दर्द मे भी बड़ी मिठास होती है। दर्द भी होता है, तो हम सोचते हैं कि छोड़ दे, लेकिन मिठास इतनी होती है कि हम छोड भी नही पाते। उस मिठास के कारण ही हम दर्द को भी झेलते हैं।

जब कोई गाली देता है, तो चोट लगती है, दर्द होता है। लेकिन जब कोई फूल माला गले मे डालता है, तब मिठास भर जाती है सारे शरीर में, रोआँ-रोआँ पुलकित हो जाता है।

यह दोनो बातें एक साथ छोडनी पड़ेंगी। अगर गाली का दुख छोड़ना है, तो फिर फूल-माला का सुख भी छोड देना पडेगा। वह सुख इतना मीठा है कि हम कितने ही दुख उसके लिए झेल लेते हैं। हजार कांटे हम झेलते हैं एक फूल के लिए, हजार निन्दा झेल लेते हैं, एक प्रशसा के लिए—मिठास है बहुत।

इस मिठास को और पीडा को एक साथ देखना होगा। और धीरे-धीरे इस 'मैं' के भाव को छोडते जाना होगा। एक दिन, जिस दिन 'मैं' नही रहता, उस दिन मिलन हो जाता है।

इस 'मैं' के न रहने के दो रास्ते हैं। एक रास्ता है महावीर का और एक रास्ता है मीरा का। एक रास्ता है कि इस 'मैं' को इतना शुद्ध करो, इतना परिशुद्ध करो कि उसकी शुद्धता के कारण ही वह शून्य होकर तिरोहित हो जाये। दूसरा रास्ता है कि यह जैसा है, वैसा ही परमात्मा के चरणों में रख दो। उसके चरण मे रख देना, आग मे रख देना है। वह आग जला लेगी, निखार लेगी।

दोनो कठिन हैं, ध्यान रखना ! आमतौर से लोग सोचते हैं कि दूसरी बात सरल मालूम पडती है,—समर्पण कर दिया, खतम हुआ मामला। लेकिन समर्पण आसान नही है। न तो संकल्प आसान है, न समर्पण आसान है। दोनो एक से कठिन हैं या एक से आसान हैं। कभी भूल कर यह मत सोचना कि ये सरल हैं। सरल का मतलब यह है कि जिसमे आपको धोखा देने की सुविधा हो, उसको आप सरल समझते हैं। कहा कि कर दिया समर्पण, लेकिन समर्पण आसान नही है।

कई लोग आकर मेरे पास कहते हैं कि 'मैं सब समर्पण करता हूँ, आप जो चाहें करें।' यदि उनसे मैं कहूँ कि कूद जाओ 'वुडलैण्ड'* के ऊपर से, तो वे

* बंबई मे भगवान् श्री का निवास स्थान (छब्बीस मन्जला बिल्डिंग का नाम)

कूदने वाले नही हैं—कह रहे थे कि समर्पण कर दिया ! मैं भी कुदाने वाला नही हूँ, लेकिन क्या भरोसा ! यदि कभी कह भी दूं, तो कूदने वाले वे नही हैं। जैसे ही मैं यह कहूँगा, वैसे ही वे कहेंगे कि क्या कह रहे हैं आप···! वे भूल गये समर्पण।'

समर्पण का अर्थ क्या होता है ?

बोधिधर्म भारत से चीन गया, तो नौ साल तक दीवार की तरफ मुह रखता था और पीठ लोगो की तरफ रखता था। जब वह बोलता था, तो मेरे जैसे नही बैठता था। आप की तरफ पीठ और मुह दीवार की तरफ। (हालाकि बहुत फर्क नही पड़ता, क्योकि जब मैं बोल रहा हूँ, तो आप पीठ मेरी तरफ किये हुए हैं। कोई फर्क नही पडता, क्योकि मुह आपका दिवार की तरफ है।)

बोधिधर्म से लोगो ने पूछा कि यह क्या करते हो, तो बोधिधर्म ने कहा कि जब ठीक आदमी आ जाएगा, जो समर्पण करने को तैयार होगा, तो मैं मुह इस तरफ कर लूंगा, अभी व्यर्थ के लोगो की शक्ल देखने से फायदा भी क्या है ? 'क्या तुम हो वह आदमी जो समर्पण करेगा ?' वे कहते हैं कि अभी लड़की की शादी करनी है। अभी लडके बच्चे बडे हो रहे हैं, जरा व्यवस्था कर लें। पिता बूढे हैं, उनकी सेवा करनी है। फिर कभी आएँगे।

फिर आया हुइ-नेग नाम का आदमी। उसने आकर कुछ कहा नही। उसने आकर अपना एक हाथ काटा और बोधिधर्म के सामने कर दिया और कहा—'तत्काल मुह इस तरफ करें, नही तो मैं अपनी गर्दन भी काट कर रख दूंगा। बोधिधर्म तत्काल लौटा और बोधिधर्म ने कहा कि तुम्हारी ही प्रतिक्षा थी हुई-नेंग, तुम आ गए वक्त पर, जो मुझे कहना है, तुमसे कह दूं और अब मैं मर जाऊँ। मर तो मुझे जाना चाहिये था बहुत पहले ही। वक्त मेरा बहुत पहले पूरा हो चुका है। सिर्फ उस आदमी प्रतीक्षा में था, जिसे, मैं जो जान गया हूँ, वह दे दूं। क्योंकि हजारों-हजारो वर्षों मे कभी कोई आदमी यह जान पाता है। अगर मैं इसे बिना बताए मर जाऊँ, तो हजारों वर्ष तक अन्तराल पड़ जाएगा, इसलिए उस आदमी की प्रतीक्षा मे था; और यह मैं उससे ही कह सकता हूँ, जो मरने को तैयार हो। क्योंकि यह एक बहुत गहरी भीतरी मौत है।

हुई-नेंग को शिष्य की तरह स्वीकार किया बोधिधर्म ने और हुई-नेग को सारी बात कह दी, जो उसे कहनी थी।

अपने को मिटाने की तैयारी का एक मार्ग है 'समर्पण'। लोग सोचते हैं

कि समर्पण सरल है, लेकिन बहुत कठिन है ।

दूसरा मार्ग भी सरल नहीं है । कोई सोचता है कि ठीक है अपने को शुद्ध कर लेंगे—चोरी नही करेंगे, बेईमानी नही करेंगे, यह न करेंगे, वह न करेंगे—शुद्ध कर लेंगे । वह भी इतना आसान नही है । क्योकि चोरी बहुत गहरी है । चोरी आपका कृत्य नही है । आप चोर हो । हजारों-हजारों जन्मो में आपने चोरी की है । वह चोरी का जो जहर है, वह धीरे-धीरे, धीरे-धीरे प्राणों की तलहटी तक पहुँच गया है ।

झूठ छोड देंगे—झूठ अगर कोई वचन होता, तो छूट जाता । वह आप की आत्मा हो गई है । यह कोई कपड़े उतार देने जैसा मामला नहीं है । चमडी खीच कर रख देने जैसा मामला है । इतना सब जुड़ गया है ।

एक आदमी कहता है—झूठ छोड देंगे । झूठ अगर कोई वक्तव्य होते, तो हम छोड़ देते । हम झूठ हो गये हैं—बोलते-बोलते, करते-करते हम झूठ हो गए हैं ।

हमें पता ही नही है कि हम कब झूठ बोल रहे हैं । और कब सच बोल रहे हैं । छोड़ेंगे कैसे ? हमे यह पता भी नही चलता कि कब झूठ बोल रहे हैं । होश ही नही रहता और झूठ निकल जाता है । झूठ हमारी आत्मा हो गई है ।

कहते हैं—हिंसा छोड देंगे—इसको नही मारेंगे, उसको नहीं मारेंगे, लेकिन हिंसा भीतर है । छोडना बहुत कठिन नहीं मालूम पडता, लेकिन हिंसा भीतर बहुत गहरे में दबी है ।

कई बार बहुत मजेदार घटनाएँ घटती हैं । अभी मैं एक हिन्दी के लेखक प्रभाकर माचवे का एक लेख पढ़ता था, तो बहुत मजा आया । क्षमा पर लेख लिखा है उन्होंने । उदाहरण जो दिया है, वह दिया है कि चर्चिल ने महात्मा गान्धी के लिए कुछ अपशब्द कहे । अपशब्द थे कि गान्धी भी क्या है, एक नंगा फकीर। तो माचवे ने अपने लेख में लिखा है कि गान्धीजी ने चर्चिल को उत्तर दिया (क्षमा का उदाहरण दे रहे हैं माचवे) कि आपने आधी बात तो ठीक ही कही कि मैं एक फकीर हूँ, एक गरीब मुल्क का आदमी हूँ। पूरा मुल्क मेरा फकीर है और उसका मैं प्रतिनिधि हूँ, इसलिए मैं फकीर हूँ । लेकिन दूसरी बात आपने जरा ज्यादा कह दी, नगा होना जरा मुश्किल है । और बाइबिल का एक वचन उधृत किया गान्धी ने अपने पत्र में कि जीसस ने कहा है कि परमात्मा के सामने जो पूर्णतया नग्न है, वही नग्न है । गान्धी ने लिखा कि

परमात्मा के सामने पूर्णतया नग्न होने की हिम्मत मेरी अभी भी नहीं है, लेकिन यह आकांक्षा है कि कभी उसके सामने परिपूर्ण नग्न हो सकूँ, ताकि आपका वचन पूरा हो जाये।

प्रभाकर माचवे ने लिखा है कि गान्धीजी ने ऐसा जबाब देकर चर्चिल को खूब नीचा दिखाया। क्षमा का उदाहरण दे रहे हैं, क्षमा की चर्चा कर रहे हैं, लेकिन नीचा दिखाना? नीचा दिखाने का मजा ले रहे हैं।

पता नही कि गान्धीजी ने नीचा दिखाने के लिए जबाब दिया या नहीं दिया, लेकिन माचवे को ख्याल मे भी नही आ रहा है कि नीचा दिखाने मे क्षमा हो कैसे सकती है! नीचा दिखाना ही तो क्रोध है। कोई आदमी गाली देकर नीचा दिखा देता है। और कोई आदमी क्षमा करके नीचा दिखा देता है।

नीचा दिखाना ही तो हिंसा है। अब यह तरकीब की बात है कि आप किस तरह नीचा दिखाते हैं। अगर आप किसी को क्षमा करके नीचा दिखा रहे हैं, तो ख्याल रखना कि यह क्षमा नही है। आप ज्यादा चालाक हैं, उस आदमी से ज्यादा बेईमान हैं, जो गाली देकर नीचा दिखाते हैं। वे जरा अकुशल हैं। उनके ढग नीचा दिखाने के सीधे और साफ हैं। आपके ढग चाल-बाजी के हैं।

मुझे पता नही कि गान्धीजी ने नीचा दिखाने के लिए जवाब दिया होगा, लेकिन जैसा कि माचवे कहते हैं—अगर नीचा दिखाया है, तो फिर यह क्षमा नही है। तब चर्चिल ज्यादा इमानदार हैं और गान्धी ज्यादा बेईमान हो जाते हैं। क्योंकि चर्चिल को लगता है नगा फकीर, तो वह कहता है 'नगा फकीर'। इसमें ज्यादा 'आनेस्टी' है, ज्यादा सच्चाई मालूम पड़ती है। अगर नीचा दिखाने के लिए जवाब दिया गया है, तो ज्यादा बेईमानी दिखाई पड़ती है।

हमें ख्याल में नही आता कि हिंसा बहुत गहरी है। और अहिंसक होने की चेष्टा मे भी प्रगट हो सकती है। क्रोध बहुत गहरा है और अक्रोध मे भी उसकी झलक आ जाती है। अपने को संकल्प से बदलना भी इतना आसान नही है।

मार्ग तो दोनो कठिन हैं, फिर भी अगर आप वह मार्ग चुन लें, जो आप के व्यक्तित्व से मेल नही खाता, तो वह असम्भव हो जाएगा। कठिन नहीं, असम्भव। अगर मीरा महावीर का मार्ग चुन ले, तो असम्भव है। अपने ही मार्ग पर चले, तो कठिन है, सरल नही। अगर महावीर मीरा का मार्ग चुन लें, तो असम्भव है। अपने ही मार्ग पर चले, तो कठिन है, सरल नहीं।

सरल तो कुछ भी नही हो सकता। इसलिए नहीं कि सत्य कठिन है, बल्कि इसलिए कि लाखो-लाखो जन्मो की हमारी आदतें हैं, उनको तोडना कठिन है। सत्य तो सरल है। सागर मे गिरते समय नदी को क्या कठिनाई है? लेकिन नदी को आना पडता है हिमालय की कन्दराओ को, पहाडो को पार करके। पत्थरो को काट कर। वह जो मार्ग है, वह कठिन है।

हम कठिन हैं। हमे अपने से ही गुजर के तो सत्य तक पहुँचना है। सत्य है सरल, हम हैं कठिन और अगर हम अपने से विपरीत मार्ग चुन लें, तो यात्रा है असम्भव।

अब हम सूत्र को ले।

● 'जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगो को पाकर भी पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगो का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी है।'

भोग मौजूद न हो, भोग का उपाय न हो, भोग को भोगने की क्षमता न हो, असहाय हो आदमी, तब भी त्याग कर सकता है। लेकिन महावीर कहते हैं, तब त्याग का कोई भी अर्थ नही है। जो भोग ही नही सकता, उसके त्याग का क्या अर्थ है? जिसके पास भोगने की सुविधा नही, उसके त्याग का क्या अर्थ? उसका त्याग कोई भी अर्थ नही रखता।

त्याग का सभी अर्थ भोग के संदर्भ मे है। इसलिए बूढा जब ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेता है, तो उसका कोई भी अर्थ नही है; बूढ़ा अपने को धोखा दे रहा है। जवान जब ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेता है, तो उसकी कोई सार्थकता है। जब मरता हुआ आदमी अन्न जल का त्याग कर देता है, जब डाक्टर बता देते हैं, कि घड़ी दो घड़ी से ज्यादा नही, जब बिलकुल पक्का हो जाता है कि मर जायेंगे, अब नहीं रहेंगे, तब अन्न-जल के त्याग करने का कोई भी मूल्य नही है। लेकिन जो पूरी तरह से स्वस्थ रहते हुए अन्न-जल का त्याग कर देता है और मृत्यु की प्रतीक्षा करता है आनन्द पूर्वक, तो उसके त्याग का कोई अर्थ है।

आप अपनी बेबसी में जब त्याग करते हैं, तो अपने को धोखा दे रहे हैं। आप अपने को धोखा दे सकते हैं, लेकिन जगत् की व्यवस्था को आप धोखा नही दे सकेंगे। इसे ठीक से समझ लें।

बेबसी का नाम त्याग नही है, सामर्थ्य का नाम त्याग है। त्याग के पहले समर्थ हो जाना अत्यन्त जरूरी है और त्याग के क्षण में सामर्थ्य हो, तो ही त्याग मे त्वरा, तेजी, चमक और ओज उत्पन्न होता है। इसलिए महावीर ने

हिन्दू व्यवस्था मे जो वर्ण की कल्पना थी, आश्रम की कल्पना थी, वह बिलकुल तोड़ दी। और उन्होंने कहा कि जब प्रखर हो ऊर्जा जीवन को भोगने की, तभी रूपान्तरण है। जब सारा जीवन बहता हो काम-वासना की तरफ, तभी लौट पड़ना।

जब बन्दूक रिक्त हो जाती हो, जब गोली चल चुकती हो, तब बन्दूक अहिंसक हो जाये—चली चलाई बन्दूक कहे कि अब मैंने अहिंसा का व्रत ले लिया है, तो उसमे कोई भी सार्थकता नही है। लेकिन हम यही करते हैं। या तो सुविधा हमारे पास नही होती, तो हम त्याग कर देते हैं। या हम असमर्थ हो जाते हैं सुविधा भोगने मे, तो हम त्याग करते हैं।

त्याग का बिन्दु वही है, जो भोग का बिन्दु है। त्याग और भोग एक ही क्षण की घटनाएँ हैं—रुख अलग है, दिशा अलग है, लेकिन क्षण एक है, क्षण दो नही हैं। त्याग अलग दिशा मे जाता है, भोग अलग दिशा में, लेकिन जहाँ से यात्रा होती है, वह बिन्दु एक है।

इसलिए महावीर कहते हैं कि सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी जो पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन—किसी परतन्त्रता में नहीं, किसी परवशता मे नही, स्वतन्त्र रूप से परित्याग कर देता है—परित्याग करना नहीं पड़ता, कर देता है। यह उसका सकल्प है। संकल्प से त्याग फलित होना चाहिए, तो ही सामर्थ्य बढ़ती है, शक्ति बढ़ती है। असमर्थता से त्याग होता है, तो दीनता बढ़ जाती है।

'जो मनुष्य किसी परतन्त्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, अहंकार, स्त्री और शयन आदि का उपयोग नही कर पाता, वह सच्चा त्यागी नही कहलाता।'

'सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत्-शास्त्रो का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त मे धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निःश्रेयस का मार्ग है।'

इस सूत्र के दो हिस्से हैं। एक, त्याग क्या है और दूसरा, त्याग के बाद क्या करने योग्य है।

त्याग सिर्फ एक निषेध नहीं है कि छोड़ दिया और बात खत्म हो गई। छोड़ने से कुछ मिलता नहीं, छोडने से सिर्फ बाधाएँ कटती हैं। छोड़ने से कुछ उपलब्ध नही होता, छोड़ने से भटकाव बचता है। छोड़ने से गलत यात्रा रुकती

है, सही यात्रा शुरू नहीं होती। बहुत लोग इस भ्रान्ति मे रहते हैं। वे यह सोचते हैं कि अब मैंने पत्नी छोड़ दी, घर छोड दिया, धन छोड़ दिया—अब और क्या करना है ? हमारे अनेक साधु इसी निषेध मे जीते हैं। और हम इस निषेध को बडा मूल्य देते हैं कि बेचारे ने पत्नी छोड दी, घर छोड़ दिया, बच्चे छोड दिये—महात्यागी है।

फिर पाया क्या ? यह तो छोड दिया, बहुत अच्छा किया। फिर पाया क्या ? फिर कुछ मिला भी ?

अगर पत्नी छोड दी और पत्नी से श्रेष्ठतर कुछ मिला नही, तो क्या अर्थ हुआ छोडने का ? जिसने पत्नी छोड दी और कुछ मिला भी नही उसे, तो उसके मन मे पत्नी की तरफ दौड जारी रहेगी, क्योंकि इस अस्तित्व मे खाली जगह को बर्दाश्त करने का उपाय नही है। प्रकृति खाली जगह को बर्दाश्त नही करती। अन्तस् जीवन मे भी खाली जगह बर्दाश्त नही होती। अगर पत्नी की जगह परमात्मा न आ जाये, तो मन मे पत्नी झाकती ही रहेगी। उस खाली जगह मे झांकने की तरकीबे बहुत हो सकती हैं।

अगर धन छोड़ दिया और धर्म भीतर न उठा, तो इस छोड़े हुए आदमी की स्थिति त्रिशकु की हो जायेगी। हमारे साधु छोड तो देते हैं, कुछ पा नही पाते। फिर परेशान होते हैं। और वे इसी आशा मे छोड़ देते हैं कि छोडने से ही पाना हो जायेगा।

छोड़ना आवश्यक है, लेकिन पर्याप्त नही।

मैंने कुछ छोड़ दिया, तो जो-जो भूलें अगर मैं पकड़े रहता, तो होती, वे अब नही होगी—यह निषेधक है। लेकिन अब मुझे कुछ करना होगा। क्या करना होगा ?

महावीर कहते हैं कि सद्गुरु अनुभवी वृद्धों की सेवा करना।

महावीर बहुत ही सतर्क बोलते हैं। क्योकि उन्हें पक्का पता है कि जो सुनने वाले लोग हैं, उन्हें जरा सा भी छिद्र मिल जाये, तो इस छिद्र मे से वे अपना बचाव खोज लेते हैं।

महावीर वृद्ध की सेवा नही बोलते; क्योकि वृद्ध होने से कोई ज्ञानी नहीं होता, सिर्फ बूढ़ा होने से कोई ज्ञानी नहीं होता। बूढ़े होते जाना, तो प्राकृतिक घटना है, उसमें आपका काम ही क्या है ? लेकिन बूढ़े ! बूढ़े होकर समझते हैं कि कुछ पा लिया।

सिर्फ खोया है, कुछ पाया नही, जिन्दगी खोई है। मगर वे समझते हैं कि बूढे हो गये, तो कुछ पा लिया। इस बूढे होने में उनका हाथ ही क्या है ? उन्होंने तो पूरा चाहा था कि न हो, फिर भी हो गये। अपनी सब कोशिश की थी, फिर भी हो गये। अब इसको ही वे गुण मान रहे हैं—यह भी कोई योग्यता है !

तो महावीर कहते हैं, अनुभवी वृद्धों की सेवा करना।

बडा मुश्किल है ! वृद्ध और अनुभवी ! बडी कठिन बात है। बूढ़े तो सभी हो जाते हैं, अनुभवी सभी नही हो पाते। अनुभव का मतलब है—वह जो-जो जीवन मे हुआ, वह सिर्फ हुआ नही, उससे कुछ सीखा भी गया।

अब एक बूढ़ा आदमी भी अगर क्रोध करता है, तो अनुभवी नहीं है। क्योकि जिन्दगी भर क्रोध करके अगर इतना भी सीख नही पाया कि क्रोध व्यर्थ है, तो यह जिन्दगी बेकार गई। एक बूढा आदमी भी उन्ही क्षुद्र बातों में उलझा हो, जिनमे बच्चे उलझे होते हैं, तो समझना कि यह आदमी बूढ़ा तो हो गया, पर वृद्ध अनुभवी नही हुआ। सिर्फ बुढ़ा हो गया, सिर्फ उमर पक गई, बाल पक गये, लेकिन धूप मे पक गये—अनुभव में नही।

आप हैरान होगे कि बूढे भी वही करते रहते हैं, जो बच्चे करते हैं। हालांकि बूढे करते हैं, तो निश्चित ही ज्यादा 'सोफिस्टिकेटेड', कुशल ढग से करते हैं, बच्चे उतने कुशल ढग से नही करते। बच्चे गुड्डे-गुड्डी का विवाह कर रहे हैं और बूढे राम-सीता का जुलूस निकाल रहे हैं। बच्चे गुड्डा-गुड्डी के शृंगार मे लगे हैं और बूढ़े महावीर स्वामी का शृगार कर रहे हैं।

गुड्डियाँ बड़ी हो गईं, लेकिन बदली नही। विवाह में बच्चे भी मजा ले रहे थे, गुड्डों का विवाह कर रहे थे, और बूढ़े राम-सीता की बारात निकाल रहे हैं—यह बूढ़ों का बचपन है।

बच्चे इतने गम्भीर भी नही होते, ये भारी गम्भीर भी हैं; बस इतना ही फर्क पड़ा है। बच्चो के गुड्डा-गुड्डी के मामले मे कभी हिन्दु-मुस्लिम दंगा नही होता, बुढो के मामले में हो जाता है। बूढ़े ज्यादा उपद्रवी होते हैं। वे जो भी करते हैं, उसे खेल नहीं मान सकते, क्योंकि उन्हें उमर का अनुभव है ! लेकिन सीखा उन्होंने कुछ भी नही। वहीं के वहीं खड़े हैं। कहीं कोई अन्तर नहीं पडा। उनकी चेतना वही खड़ी है, शरीर सिर्फ बूढ़ा हो गया है।

इसलिए महावीर ने कहा—'अनुभवी, वृद्ध, सद्गुरु।'

सिर्फ गुरु नहीं कहा, साथ में जोडा—'सद्गुरु ।'

क्या फर्क है गुरु और सद्गुरु मे ?

गुरु से मतलब सिर्फ इतना ही है कि जो आपको खबर दे दे, सूचना दे दे, शास्त्र समझा दे । उसके स्वयं के अस्तित्व से इसका कोई जरूरी सम्बन्ध नही है । सद्गुरु से मतलब है, जो स्वय शास्त्र है । वह जो कह रहा है, किसी से सुन कर नही कह रहा है । यह उसका अपना अनुभव, अपनी प्रतीति है । वेद ने ऐसा कहा है—ऐसा नही, गीता मे ऐसा कहा है, इसलिए ठीक होना चाहिये—ऐसा नही, महावीर ने कहा है, इसलिए ठीक होगा ही—ऐसा नही, ऐसा जो कहता है, वह शिक्षक है—साधारण । लेकिन जो अपने अनुभव में परखता है, और जो अपने अनुभव में देखता है—अगर कभी कहता है कि वेद मे ठीक कहा है, तो इसलिए कहता है कि उसका अनुभव भी कहता है । वेद कहता है, इसलिए ठीक नहीं, मेरा अनुभव कहता है, इसलिए वेद ठीक है ।

इस फर्क को आप समझ लें ।

वेद कहता है, इसलिए मेरा अनुभव ठीक है—यह उधार है आदमी । मेरा अनुभव कहता है, इसलिए वेद ठीक या वेद गलत है—यह आदमी वही खडा है, ज्ञान के स्रोत पर, जहाँ से खुद की आँख से दिखाई पड़ता है । जहाँ किताब नम्बर दो हो जाती है, शास्त्र नम्बर दो हो जाता है । गुरु के लिए शास्त्र होता है नम्बर एक, सद्गुरु के लिए शास्त्र होता है नम्बर दो । शास्त्र भी प्रमाणिक होता है, इसलिए कि मेरा अनुभव शास्त्र की गवाही देता है—मैं हूँ गवाह ।

जीसस से कोई पूछता है कि पुराने शास्त्रों के सम्बन्ध मे तुम्हारा क्या कहना है ? जीसस कहते हैं, 'आई एम द विटनेस ।' बड़ी मजे की बात कहते हैं—मैं हूँ गवाह । जो मैं कहता हूँ, उससे मिलान कर लेना ।

मेरे अनुभव से जो बात मेल खा जाए, तो समझना कि वह ठीक है, नहीं तो गलत है ।

सद्गुरु का मतलब है—जो सत् हो गया । जो अब शिक्षाएँ नहीं दे रहा है । जो स्वय अब शिक्षा है । गुरु एक शृंखला है, एक परम्परा है । गुरु एक काम कर रहा है । सद्गुरु एक जीवन है ।

इसलिए महावीर ने कहा, 'सद्गुरु अनुभवी वृद्धों की सेवा ।'

महावीर कहते हैं, सेवा के अतिरिक्त सत्संग नही । क्योंकि सेवा से ही निकट आना होगा । सेवा से ही विनम्रता होगी । सेवा से ही चरणों में झुकना होगा । सेवा से आन्तरिकता होगी । सेवा से धीरे-धीरे अहंकार गलेगा । सद्गुरु

की उपस्थिति और शिष्य में अगर सेवा की वृत्ति हो, तो वह घटना घट जायेगी, जिसे हम आन्तरिक मिलन कहते हैं। सिर्फ बैठ कर सुनने से नही हो पाएगा।

महावीर कहते हैं, जिससे सीखना हो, जिसे अपने जीवन के भीतर ले लेना हो, उसकी सेवा में डूब जाना होगा।

महावीर ने सेवा को बडा मूल्य दिया है। लेकिन यह सेवा जिसको हम आज 'सर्विस' कहते हैं, उससे बहुत भिन्न है। हम भी सेवा की बात करते हैं। रोटरी क्लब अपने 'सिम्बल' मे लिखता है, 'सर्विस' सेवा। क्रिश्चियन मिशनरी सेवा कर रहे हैं। सर्वोदयवादी सेवा कर रहे हैं। 'गरीब की सेवा करो, दुखी की सेवा करो'—ऐसी सेवा सामाजिक घटना है। महावीर की सेवा साधना का एक अग है।

महावीर दुखी की सेवा के लिए नही कह रहे हैं, गरीब की सेवा के लिए नही कह रहे हैं। महावीर कह रहे हैं—अनुभवी वृद्ध, ज्ञानी, सद्‌गुरु की सेवा। इस सेवा में और रोटरी क्लब वाली सेवा मे फर्क है। दूसरी सेवा एक सामाजिक बात है। अच्छी है—कोई करे, हर्जा नही है। लेकिन महावीर की सेवा का अर्थ बिलकुल दूसरा है। वह सेवा साधना का एक अंग है। वह उसकी सेवा है, जो तुमसे सत्य की दिशा मे आगे जा चुका है। क्योंकि जब तुम उसकी सेवा के लिए झुकोगे, (और सेवा मे झुकना पडता है।) तब उसकी ऊँचाइयो से जो वर्षा हो रही है, वह तुममे प्रवेश कर जाएगी। जब तुम उसके चरणों मे सिर रखोगे, तो जो उससे प्रवाहित हो रहा है 'ओज', वह तुम्हे भी छुएगा, तुम्हारे रोएँ-रोएँ को स्नान करा जायेगा।

यह बडा सोचने जैसा मामला है। इस पर तो बहुत चिन्तन करने जैसी बात है। क्योंकि जब भी आप किसी की सेवा कर रहे हैं, तो आपको झुकना पडता है। और जिसकी आप सेवा कर रहे हैं, वह आप में प्रवाहित हो सकता है।

यह खतरनाक भी है। क्योंकि अगर आप ऐसे आदमी की सेवा कर रहे हैं, जो आपसे चेतना की दृष्टि से नीचे है, तो आपको नुकसान होगा। अगर आपसे ऊँची चेतना के व्यक्ति से आपको लाभ होगा, तो आपसे नीची चेतना के व्यक्ति से आपको नुकसान होगा। इसलिए हमने यह नहीं कहा कि वृद्ध 'जवानों की की सेवा करें।' हमने नहीं कहा कि माँ-बाप बेटे के पैर छूएँ। इसके पीछे कुछ एक ही कारण है कि श्रेष्ठतर प्रवाहित हो, कहीं निकृष्ट श्रेष्ठ के साथ संयुक्त हो कर उसे विकृत और अशुद्ध न कर दे।

एक बहुत महत्वपूर्ण बात आपको इस संदर्भ मे कहूँ। यही कारण है कि भारत ने ईसाइयत जैसी सेवा की धारणा विकसित नही की। क्योकि भारत को सेवा के सम्बन्ध मे आन्तरिक गहरे अनुभव हैं। पश्चिम मे बहुत लोग हैरान होते हैं कि भारत के धर्म कैसे हैं—गरीब की सेवा की कोई बात ही नही है, रुग्ण की, कोढ़ी की सेवा की कोई बात नही है। इस सेवा के लिए, इस बाबत कुछ है ही नही इनके पास—ये धर्म कैसे है ?

गान्धीजी बहुत प्रभावित थे ईसाइयत से, इसलिए उन्होंने कहा कि सेवा धर्म है। हमने कभी नहीं कहा इस मुल्क मे—न महावीर ने, न बुद्ध ने। और ये सब सेवा को धर्म कहने वाले ऐसे लोग महावीर के ऐसे वचनो का गलत अर्थ निकालते हैं। महावीर जब सेवा शब्द का उपयोग कर रहे है, तो उनका प्रयोजन ही अलग है।

हमने जानकर सेवा की ऐसी बात नही कही है। क्षुद्र को हमने नीचे रखा है, ब्राह्मणो को ऊपर रखा है—इस आशा मे कि क्षुद्र ब्राह्मण की सेवा करे—ब्राह्मण क्षुद्र की नही। बहुत अजीब लगता है, आज के चिन्तन की हवा मे कि यह क्या बात हुई! अगर ब्राह्मण सच्चा ब्राह्मण है, तो शूद्र की सेवा करें; क्योकि सेवा से ही वह ब्राह्मण होगा। लेकिन हमारे लिए मूल्य क्षुद्र और ब्राह्मण का सामाजिक नही है—आत्मिक है। हम शूद्र उसको कहते हैं, जो शरीर मे ही जी रहा है, जिसका और कोई जीवन नही है। और ब्राह्मण हम उसे कहते हैं, जो ब्रह्म मे जी रहा है, जिसका और कोई जीवन नही है। जो ब्रह्म मे जी रहा है, उसकी कोई भी सेवा करे, तो उसे लाभ होगा।

सेवा का अर्थ है—झुक जाना। और जो झुकता है, वह गड्ढा बन जाता है। और जो गड्ढा बन जाता है, उसमें वर्षा संग्रहित हो जाती है। इसलिए महावीर कहते हैं—सद्गुरु, अनुभवी वृद्धो की सेवा।

'मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना।'

मगर मूर्खों का संसर्ग बडा प्रीतिकर होता है। फायदा यह होता है कि मूर्खों के बीच आप बुद्धिमान मालूम पडते हैं। इसलिए हर आदमी मूर्खों की तलाश करता है। जब तक आपको दो-चार मूर्ख न मिल जाएँ, तब तक आप बुद्धिमान नही—और तो कोई उपाय ही नही है बुद्धिमानी का। एक ही उपाय है कि दो-चार मूर्ख इकट्ठे कर लो।

इसलिए कोई पति अपने से बुद्धिमान पत्नी पसन्द नही करता, अपने से ज्यादा पढ़ी-लिखी हो, ज्यादा समझदार हो, तो पसन्द नही करता। क्योंकि

फिर पति को मजा नहीं आयेगा बुद्धिमान होने का। मूर्ख पत्नी पसन्द की जाती है। फिर मूर्ख जो कर सकती है, करती है। वह सहा जा सकता है, लेकिन अहंकार को रस आता है।

हम सब ऐसी कोशिश करते हैं कि अपने से छोटे तल के लोग हमारे आस-पास इकठ्ठे हो जायें। उसमें हमें रस आता है, मजा आता है। क्या मजा है उनके बीच ?

वह जो अकबर के सामने बीरबल ने किया था—एक बडी लकीर खींच दी थी छोटी लकीर के सामने। अकबर ने कहा था—इस लकीर को बिना छुए छोटा कर दो, तो बीरबल ने एक बडी लकीर नीचे खीच दी थी। दरबार मे कोई भी उसे छोटा न कर सका था। सभी ने कहा था कि बिना छुये कैसे छोटी करे ? जब छोटा करना है, तो छूना पडेगा। बीरबल ने कहा कि छूने की कोई जरूरत नही। उसने बडी लकीर खीच दी।

हम सब होशियार हैं उतने, जितना बीरबल था।

अपने को बुद्धिमान कैसे कर लूं ? सीधा रास्ता है। अपने से छोटी लकीरें अपने आस-पास इकट्ठी कर लो, तो आप बडी लकीर हो गये !

महावीर कहते हैं, मूर्खों के ससर्ग से दूर रहना। क्योंकि वह ससर्ग महँगा है। आपकी लकीर बडी भला दिखाई पडे, लेकिन वे जो छोटी लकीरें इकट्ठा हो गई हैं, वे धीरे-धीरे आपकी लकीर को छोटा करती जायेंगी। जिनके साथ आप रहते है, धीरे-धीरे आप उन जैसे होने लगते हैं। साथ सक्रामक है। जिनके साथ आप रहते हैं, धीरे-धीरे वे आपको बदलने लगते हैं। उनसे बचना मुश्किल है। इतना मुश्किल है बचना कि साथ जिनके रहते हैं, उनसे तो बचना मुश्किल है ही, जिनके आप दुश्मन हो जाते है, उन तक से बचना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि उनका भी संग-साथ हो जाता है।

मुहम्मद अली जिन्ना गवर्नर-जनरल हुये। उन्होंने, जैसा गवर्नर-जनरल को करना चाहिए, एक अंग्रेज ए०डी०सी० रखा। उस अंग्रेज ए०डी०सी० ने जिन्ना को बहुत समझाया कि आपकी सुरक्षा का ठीक इन्तजाम होना चाहिये और आपके बँगले के चारों तरफ बड़ी दीवार होनी चाहिये। जिन्ना ने कहा कि मैं

कोई तुम्हारे गवर्नर-जनरल जैसा गवर्नर-जनरल नही हूँ। मैं एक लोकप्रिय नेता हूँ। मुझे कौन मारने वाला है ? कोई जरूरत नही है बड़ी दीवार की और सुरक्षा की। मेरा कोई दुश्मन नहीं है। मैं पाकिस्तान का जन्मदाता हूँ। तुम्हारे गवर्नर-जनरल को दीवार की जरूरत थी, क्योंकि तुम हमारे दुश्मन थे—मुझे कोई जरूरत नहीं है।

ए०डी०सी० बहुत समझाता रहा, पर जिन्ना नही माना। जिस दिन गान्धी की हत्या हुई और खबर पहुँची, जिन्ना अपने बगीचे में बैठा था। जैसे ही खबर मिली, जिन्ना चिन्तित हो गये, परेशान हो गये। उठकर अपने ए०डी०सी० से कहा पूरी खबर का पता लगाओ कि क्या हुआ ? और सीढ़ियाँ चढते वक्त लौटकर अपने ए०डी०सी० से कहा कि वह जो दीवार के सम्बन्ध मे तुम कहते थे, उसका इन्तजाम कर लो।

जिन्ना जीवन भर गान्धी जो करें, उससे ही बँधे हुए चलते रहे। चाहे 'हाँ' करें, चाहे 'न'—जिन्ना तब तक कोई उत्तर न देगा, जब तक गान्धी क्या कहते हैं, यह पता न चल जाय। सारी 'पॉलिटिक्स' इतनी थी जिन्ना की। वह गान्धी की दुश्मनी से तय होती थी।

यह बडे मजे की बात है कि जिन्दगी भर जिन्ना गान्धी की दुश्मनी से तय हुआ और गान्धी की मौत से भी जिन्ना तय हुआ। उस दिन के बाद फिर कभी भी जिन्ना ने यह नही समझा कि मैं लोकप्रिय नेता हूँ। और मुझे सुरक्षा की कोई जरूरत नही है। दीवार खडी हो गई, सारा इन्तजाम कर दिया गया।

यह बड़ी हैरानी की बात है कि गान्धी और जिन्ना में इतनी दुश्मनी ! लेकिन यह दुश्मनी भी एक दूसरे को तय करती है। मित्रता तो एक दूसरे को बनाती ही है, दुश्मनी तक भी बनाती है। क्योंकि दुश्मनी भी एक तरह की मित्रता है। जिसके साथ हम हैं या जिनके विरोध में हम हैं, वे हमें निर्मित करते हैं।

महावीर कहते हैं, 'मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना।'

मूर्ख कौन है ? क्या वे, जो कुछ नहीं जानते ? वे मूर्ख नही हैं, अज्ञानी हैं।

उनको मूर्ख कहना उचित नहीं है। मूर्ख वे हैं, जो बहुत कुछ जानते हैं बिना कुछ जाने; उनसे बचना।

एक आदमी आपको बता रहा है कि ईश्वर है, और उसे खुद को कोई पता नहीं। उससे पहले पूछना कि तुम्हे पता है! उसे कुछ पता नहीं है। वह आपको बता रहा है। एक आदमी बता रहा है कि ईश्वर नहीं है। उससे पूछा कि तूने पूरी-पूरी खोज कर ली है?

एक ईसाई पादरी मुझसे मिलने आये थे। उन्होने कहा कि 'गॉड इज इनडिफाइनेबल', ईश्वर अपरिभाष्य है—अनन्त, असीम। उसकी कोई थाह नहीं ले सकता। मैंने उनसे पूछा कि तुम थाह लेकर कह रहे हो कि बिना थाह लिये कह रहे हो। वे जरा मुश्किल मे पड गये। मैंने कहा कि अगर तुमने पूरी थाह ले ली है और तब तुम कह रहे हो कि अथाह है, तो तुम्हारा वचन बिलकुल गलत है, क्योंकि थाह तो तुम ले चुके। अगर तुम कहते हो कि मैं पूरी थाह नही ले पाया, तो तुम इतना ही कहो कि मैं पूरी थाह नही ले पाया। पता नहीं एक कदम आगे थाह हो! तुम अथाह कैसे कह रहे हो? और तुम कहते हो कि 'ईश्वर की कोई परिभाषा नहीं हो सकती'—यह परिभाषा हो गई। तुमने परिभाषा कर दी। तुमने ईश्वर का एक गुण बता दिया कि उसकी कोई परिभाषा नहीं हो सकती। यह तुम क्या कह रहे हो? तो उन्होने फौरन कहा कि बाइबल में ऐसा लिखा है। मैंने कहा बाइबल में लिखा होगा, तुम्हें पता है?

यही सारी बात अटकती है। दुनिया ज्ञानी मूर्खों, 'लर्नेड इडियट्स' से भरी है। पढ़े-लिखे गँवारो का कोई अन्त ही नही है, उनसे दुनिया भरी है। और ध्यान रखना! गैर पढ़े-लिखे गंवार तो अपने-आप कम होते जा रहे हैं; क्योंकि सब शिक्षित होते जा रहे हैं। अब गैर पढ़े-लिखे गँवार खोजना जरा मुश्किल मामला है। अब तो पढ़े-लिखे गँवार ही मिलेंगे, और एक खोजो तो हजार मिलेंगे।

महावीर कहते हैं, 'मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना।'

जिनको कुछ पता नहीं है, और जिनको यह वहम है कि पता है, वह तुम्हें नुकसान पहुँचा सकते हैं।

'एकाग्र चित्त से सत्-शास्त्रों का अभ्यास करना।'

शास्त्र, वह भी सत् हो। सत् शास्त्र का अर्थ इतना है कि वह शास्त्र, जिसका रस पांडित्य में न हो, सत्य मे हो, जिसका रस विवाद मे न हो, साधना मे हो। वह शास्त्र, जो आपको कोई सिद्धान्त, कोई सम्प्रदाय देने मे उत्सुक न हो, बल्कि जीवन रूपान्तरित करने का विज्ञान देने में उत्सुक हो। ऐसे शास्त्र हैं, जिनसे आपको सिद्धान्त मिल सकते हैं, और ऐसे शास्त्र हैं, जिनसे आपको जीवन रूपान्तरण की विधि मिल सकती है। सत्-शास्त्र वही है, जिससे आपको विधि मिलती है। असत्-शास्त्र वह है, जिससे आपको बकवास मिलती है। लोग बकवास सीख कर बैठ जाते हैं और बकवास जब बिलकुल मजबूत हो जाती है, तो वे यह भूल ही जाते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। वह जो खोपडी में भर लिया है, उससे कोई आत्मा का रूपान्तरण नही होने वाला है।

महावीर का जोर है—सत्-शास्त्रो का अभ्यास करना एकाग्र चित्त से—क्यों ?

क्योंकि अगर कोई आदमी सत्-शास्त्रो को पढते वक्त पच्चीस सत्-शास्त्रो को सोचता रहे, तो उसका चित्त एकाग्र नही होगा। जब पतजलि को पढना, तो सारे जगत् को भूल जाना—पतजलि को ही पढना। जब महावीर को पढना, तो महावीर को ही पढना। फिर सारे जगत् को, पतजलि को बिलकुल भूल जाना। लेकिन हमारी तकलीफ यही है कि जो हमने जान लिया है, वह हमेशा बीच मे खडा हो जाता है। चित्त कभी एकाग्र नहीं हो पाता। और शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं जुडता अगर चित्त पूरी तरह एकाग्र न हो।

सारे जगत् को भूल जाना। फिर यही समझना कि पंतजलि तो पतजलि, बुद्ध तो बुद्ध और महावीर तो महावीर—फिर कुछ भी नहीं है और। और पूरे ही डूब जाना। इस डूबने से ही यह सम्भव होगा कि जीवन बदले।

'गम्भीर का अर्थ का चिन्तन करना।'

हम अर्थो का चिन्तन नहीं करते। हम केवल अर्थों के साथ विवाद करते हैं। अगर आप ने मुझे सुना है, तो आप इसकी फिक्र नहीं करते कि जो मैंने कहा है, उसके क्या गम्भीर से गम्भीर अर्थ हो सकते हैं। आप तो अभी समझ

गये। गम्भीर अर्थ का तो कोई सवाल ही नहीं है। अब यह अर्थ ठीक है या गलत, इसको आप विचार करते हैं ? शब्द के सम्बन्ध में ठीक और गलत का विचार करने से कोई हल होने वाला नही है। क्या कहा है, उसमे कितने और गम्भीर उतरा जा सकता है, कितने गहरे जाया जा सकता है—यह महत्वपूर्ण है।

महावीर जैसे व्यक्तियों की वाणी में एक पर्त नहीं होती, उसमें तो हजारों पर्त होती हैं। इसलिए हमने पाठ पर बहुत जोर दिया है। हम यह नही कहते कि पढ लेना और किताब रख देना। हम कहते हैं कि फिर-फिर पढ़ना। फिर-फिर पढ़ने का क्या मतलब है ? फिर-फिर पढ़ने का मतलब है—कल मैंने एक अर्थ देखा था, आज फिर से पढूंगा, फिर खोजूंगा कि क्या और भी कोई अर्थ हो सकता है, और भी कोई गहरा अर्थ हो सकता है ?

और महावीर जैसे लोगों की वाणी मे जीवन भर अर्थ निकलते आएँगे। आप जितने गहरे होते जाएँगे, उतने गहरे अर्थ आपको मिलते जाएँगे। जिस दिन आपको अपने भीतर आखिरी गहराई मिलेगी, उस दिन महावीर का आखिरी अर्थ आपको पता चलेगा। इसलिए भाषा मे अर्थ मत खोजना, अपने भीतर की गहराई में—एकाग्र ध्यान की गहराई में अर्थ को खोजना।

'चित्त मे धृतिरूप अटल शान्ति और धैर्य रखना।'

जल्दी मत करना, क्योंकि यात्रा है लम्बी। इसमे ऐसा मत करना कि आज पढ लिया और बात खतम हो गई, कि आज सुन लिया और सब हो गया। यह यात्रा लम्बी है, अनन्त है यात्रा। तो बहुत धैर्य-पूर्वक गति करना। प्रतीक्षा रखना, शान्ति रखना।

'यही नि:श्रेयस का मार्ग है।'

मोक्ष का मार्ग यही है। छोड़ना 'जो गलत है—' खोजना 'जो सही है।' और धैर्य रखना अनन्त—प्रतीक्षा रखना अनन्त। साधना करना, पर अत्यन्त धैर्य से, अत्यन्त शान्ति से।

यह मत सोचना कि अभी मिल जायेगा सब कुछ। अभी भी मिल सकता है, लेकिन अभी केवल उन्हें मिल सकता है, जो अनन्त तक प्रतीक्षा करने को तैयार हैं। उन्हें अभी, इसी क्षण मिल सकता है। क्योंकि उतने धैर्य की क्षमता

अगर हो कि अनन्त काल तक रुका रहूँगा, तो अभी भी मिल सकता है। वही धैर्य मिलने का कारण बन जायेगा। लेकिन हम जल्दी मे होते हैं।

मेरे पास लोग आते हैं और कहते हैं कि दो दिन हो गये ध्यान रखते, अभी कुछ दर्शन हुआ नही।

'इनक्योरेबल।' इनका कोई इलाज भी करना मुश्किल है—'दो दिन काफी समय हो गया!'

अगर बहुत उन्हे समझाओ-बुझाओ, तो वे चार दिन ध्यान कर लेंगे। लेकिन कितने जन्मों की बीमारी है ? कितना कचरा है इकट्ठा ?

अभी म्युनिसिपल कमेटी के कर्मचारी हड़ताल पर चले गये थे, तो दो-चार दिन में कितना कचरा इकट्ठा हो गया था ? और आप कितने दिन से हड़ताल पर हैं, आपको पता है ?

थोड़ा इसका ध्यान करें कि कितने दिन से आप हडताल पर हैं ! आत्मा कचरा ही कचरा हो गई है।

थोड़ा धैर्य ! थोड़ी-शान्ति ! जो भी गलत को छोडने को तैयार है और ठीक को पकड़ने के लिए साहस रखता है—धैर्य और श्रम है जिसके पास और प्रतीक्षा भी कर सकता है, उसकी प्रार्थना एक दिन निश्चित ही पूरी हो जाएगी।

आज इतना ही। पाँच मिनट रुकें, कीर्तन करें।

●

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
२० सितम्बर, १९७२

सत्रहवाँ प्रवचन

आत्म-सूत्र : १

●

अप्पा कत्ता विकत्ता य,
दुक्खाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च,
दुप्पट्ठि सुपट्ठिओ ॥
पंचिन्दियाणि कोह,
माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं,
सव्वमप्पे जिए जियं।

आत्मा ही अपने सुख और दुख का कर्ता है तथा आत्मा ही अपने सुख और दुख का नाशक है। अच्छे मार्ग पर चलने वाला आत्मा मित्र है और बुरे मार्ग पर चलने वाला आत्मा शत्रु।

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सबसे अधिक दुर्जेय अपनी आत्मा को जीतना चाहिए। एक आत्मा को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

पहले कुछ प्रश्न ।

● एक मित्र ने पूछा है कि संकल्प और समर्पण के मार्गों को न मिलाया जाए, ताल-मेल न बिठाया जाए—ऐसा आपने कहा। लेकिन महावीर वाणी की चर्चा जिससे शुरू हुई उस नामोकार मन्त्र के सर्व सूत्र मे समर्पण का स्थान है। और आप भी जिस भाँति ध्यान के प्रयोग करवाते हैं, उसमें संकल्प से शुरुआत होती है, और चौथे चरण मे समर्पण मे समाप्ति, तो इन दोनो मे कोई ताल-मेल है या नही ?

संकल्प और समर्पण मे तो कोई ताल-मेल नही है। साधना की पद्धतियो मे समर्पण की अपनी पूरी पद्धति है, और संकल्प की भी अपनी पूरी पद्धति है। लेकिन मनुष्य के भीतर ताल-मेल है। इसे थोड़ा समझना पड़े।

ऐसा मनुष्य खोजना मुश्किल है, जो पूरा संकल्पवान हो और ऐसा मनुष्य भी खोजना मुश्किल है, जो पूरे समर्पण की तैयारी में हो। मनुष्य तो दोनो का जोड़ है। 'एम्फैसिस' का फर्क हो सकता है। एक व्यक्ति मे संकल्प ज्यादा और समर्पण कम, तथा एक व्यक्ति मे समर्पण ज्यादा, और संकल्प कम हो सकता है। इसे हम ऐसा समझें।

जैसे मैंने कहा कि समर्पण स्त्रैण चित्त का लक्षण है—संकल्प पुरुष चित्त का। लेकिन मनसविद् कहते हैं कि कोई पुरुष पूरा पुरुष नही है और कोई स्त्री पूरी स्त्री नही है। आधुनिकतम खोजें कहती हैं कि हर मनुष्य के भीतर दोनो है। पुरुष के भीतर छिपी हुई स्त्री है, और स्त्री के भीतर छिपा हुआ पुरुष है। जो फर्क है, स्त्री और पुरुष मे, वह प्रबलता का फर्क है, 'एम्फैसिस' का फर्क है। इसलिए पुरुष स्त्री मे आकर्षित होता है, स्त्री पुरुष मे आकर्षित होती है।

काल गुस्ताव-जुंग का जो महत्वपूर्ण दान इस सदी के विचार को है, उनकी अन्यतम खोजों मे जो महत्वपूर्ण खोज है, वह यह है कि प्रत्येक पुरुष स्त्री को खोज रहा है, जो उसके भीतर ही छिपी है। और इसलिए यह खोज भी पूरी नही हो पाती।

जब आप किसी को पसन्द करते हैं, तो आपकी पसन्दगी का एक ही अर्थ होता है कि आपके भीतर जो स्त्री छिपी है, या जो पुरुष छिपा है, उससे कोई स्त्री या पुरुष मेल खा रहा है, इसलिए आप पसन्द करते हैं। लेकिन वह मेल पूरा कभी नहीं हो पाता, क्योंकि आपके भीतर जो प्रतिमा छिपी है, वैसी प्रतिमा बाहर खोजनी असम्भव है। इसलिए कभी थोडा मेल बैठता है, लेकिन फिर मेल टूट जाता है। या कभी थोडा मेल बैठता है, थोडा नहीं भी बैठता है। इसी के बीच बाहर का सब चुनाव है। लेकिन चुनाव की विधि क्या है? हमारे भीतर एक प्रतिमा है, एक चित्र है, उसे हम खोज रहे हैं कि वह कहीं बाहर मिल जाए।

तो एक तो उपाय यह है कि हम उसे बाहर खोजें, जो कि असफल ही होने वाला है। एक सुख है, जो मेरे पुरुष शरीर से बाहर की स्त्री का मेल हो जाए, तो मुझे मिलता है। वह क्षण भगुर है। फिर एक और मिलन भी है कि मेरे भीतर का पुरुष ही मेरे भीतर की स्त्री से मिल जाए, तो वह मिलन शाश्वत है।

सांसारिक आदमी बाहर खोज रहा है, योगी उस मिलन को भीतर खोजने लगता है। और जिस दिन भीतर की दोनों शक्तियाँ मिल जाती हैं, उस दिन पुरुष, पुरुष नहीं रह जाता, स्त्री स्त्री नहीं रह जाती। उस दिन दोनों के पार चेतना हो जाती है। उस दिन व्यक्ति खडित न होकर, अखण्ड आत्मा हो जाता है।

तो जब हम कहते हैं 'सकल्प का मार्ग,' तो इसका मतलब हुआ कि जो व्यक्ति बहुलता से पुरुष है, और गौण रूप से स्त्रैण है—उसका मार्ग। लेकिन उसके मार्ग पर भी सकल्प के पीछे थोड़ा सा समर्पण होगा। क्योंकि वह जो छाया की तरह उसकी स्त्री है, उसका भी अनुदान होगा। और जो व्यक्ति समर्पण के मार्ग पर चल रहा है, उसके भी भीतर छिपा हुआ पुरुष है और छाया की तरह सकल्प भी होगा। इसका अर्थ हुआ कि व्यक्ति के भीतर तो कुछ तालमेल हो भी सकता है, लेकिन साधनाओं में कोई तालमेल नहीं है। इसे ऐसा समझें।

जब कोई व्यक्ति समर्पण के लिए तय करता है, तब यह तय करना तो सकल्प है। जैसे अगर आप तय करते हैं कि किसी के लिए सब कुछ समर्पित कर दें, तो अभी समर्पण का यह निर्णय जो आप ले रहे हैं, यह तो संकल्प है। इतने सकल्प के बिना, तो समर्पण ही नहीं होगा। जो व्यक्ति तय करता है

कि मैं सकल्प से ही जीऊँगा, जो निर्णय करता है कि स्वयं ही श्रम से पूरा करूँगा—यह सकल्प से शुरूआत हो रही है। लेकिन जो निर्णय किया है, वह निर्णय कुछ भी हो सकता है। उस निर्णय के प्रति पूरा समर्पण करना पड़ेगा।

जो सकल्प से शुरुआत करता है, उसे समर्पण की जरूरत पडेगी। जो समर्पण से शुरुआत करता है, उसे सकल्प की जरूरत पड़ेगी। लेकिन वे गौण होगे, छाया की तरह होंगे।

व्यक्ति तो दोनो का जोड है, स्त्री-पुरुष का। इसलिए जो महत्वपूर्ण है आपके भीतर, वही असली साधना पद्धति होगी। लेकिन दोनो साधना पद्धतियाँ अलग होगी। दोनो के मार्ग, व्यवस्थाएँ, विधियाँ अलग होंगी।

मैं जिस साधना पद्धति का प्रयोग करवाता हूँ, वह सकल्प से शुरू होती है। लेकिन पद्धति वह समर्पण की है। और कोई भी समर्पण संकल्प से ही शुरू हो सकता है। लेकिन सकल्प सिर्फ शुरुआत का काम करता है और धीरे-धीरे समर्पण मे विलीन हो जाता है।

पूछा जा सकता है कि जो लोग सकल्प की ही पद्धति पर जाने वाले हैं, उनका इस पद्धति मे क्या होगा? सकल्प की पद्धति पर जानेवाले लोग कभी लाख मे एकाध होते हैं, करोड़ो में एकाध होते हैं। क्योकि संकल्प की पद्धति पर जाने का अर्थ होता है, अब किसी का कोई सहारा न लेना। संकल्प के मार्ग पर वस्तुत गुरु की भी आवश्यकता नही है। शास्त्र की भी कोई आवश्यकता नहीं है, विधि की भी कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए कभी करोड मे एक आदमी इस मार्ग पर चलता है। और यह आदमी भी सकल्प पर जा सकता है, क्योकि अनेक-अनेक जीवन मे उसने समर्पण के मार्ग पर इतना काम कर लिया है कि अब बिना गुरु के, बिना विधि के वह स्वय ही आगे बढ़ सकता है।

इस सदी मे कृष्णमूर्ति ने सकल्प के मार्ग की प्रबलता से बात की है। इसलिए वे गुरु को इन्कार करते हैं, शास्त्रो को इन्कार करते हैं, विधि को इन्कार करते हैं। कृष्णमूर्ति जो कहते हैं, बिलकुल ठीक कहते हैं। लेकिन जिन लोगों से कहते हैं, उनके बिलकुल काम का नहीं है। और इसलिए खतरनाक है।

कृष्णमूर्ति शायद ही किसी व्यक्ति को मार्ग दे सके हो। हाँ, बहुत लोग जो मार्ग पर थे, उन्हें वे विचलित जरूर कर सके हैं। यह होगा ही।

अगर करोड़ों में एक ही व्यक्ति सकल्प के मार्ग पर चल सकता है, तो

सकल्प की चर्चा खतरनाक है। क्योकि वे जो करोड़ हैं, जो नही चल सकते, वे भी सुन लेंगे। और सकल्प के मार्ग का बडा खतरा यह है कि वह अहकारियो को बडा प्रीतिकर लगता है कि ठीक है—न गुरु की जरूरत, न विधि की, न शास्त्र की—मैं काफी हूँ। यह अहकारी को बहुत प्रीतिकर लगता है।

तो करोड लोग सुनेंगे और उनमे एक चल सकता है। और सुनकर उन लोगों को भ्रम होगा कि हम अकेले ही चल सकते हैं। वे केवल भटकेंगे और परेशान होगे। क्योकि उन्हें अगर गुरु की जरूरत न होती, तो वे कृष्णमूर्ति के पास न आये होते। यह किसी की तलाश मे उनका आना ही बताता है कि वे अपनी यात्रा में अकेले नही जा सकते। लेकिन उनके अहकार को भी तृप्ति मिलेगी, क्योकि गुरु बनाने मे विनम्र होना जरूरी है। गुरु इन्कार करने मे कोई विनम्रता की आवश्यकता नही है।

विधि स्वीकार करने मे कुछ करना पडेगा। कोई विधि नही है, तो कुछ करने का सवाल ही समाप्त हो गया। काहिल, सुस्त, अहकारी कृष्णमूर्ति से प्रभावित हो जायेंगे और वे बिलकुल गलत लोग हैं। उनसे तो यह बात की ही नही जानी चाहिये।

और बडा मजा यह है कि कृष्णमूर्ति जहाँ भी पहुँचे हैं, बिना गुरु के नहीं पहुँचे हैं। इस सदी मे यदि किसी को अधिकतम गुरु मिले हैं तो वह हैं कृष्णमूर्ति। एनिबीसेन्ट जैसा गुरु, लेडबीटर जैसा गुरु खोजना बहुत मुश्किल है। लेकिन एक उपद्रव हुआ। वह उपद्रव यह था कि कृष्णमूर्ति ने इन गुरुओ को नहीं खोजा था, इन गुरुओ ने कृष्णमूर्ति को खोजा। यही उपद्रव हुआ। और यह गुरु बहुत तीव्रता मे, बहुत जल्दी में थे, किन्हीं कारणों से।

एक बहुत उपद्रवी सदी की शुरुआत हो रही थी और धर्म का कोई निशान भी न बचे इसका भी डर था। लेडबीटर, एनिबीसेन्ट और उनके साथी इस कोशिश मे थे कि धर्म की जो शुभ्रतम ज्योति है, वह कही से प्रगट हो सके। तो वे किसी की तलाश में थे कि कोई व्यक्ति पकड़ लिया जाये, तो इस क्रांति के लिए आधार बन जाये, 'मीडियम' बन जाये।

कृष्णमूर्ति को उन्होंने चुना। कृष्णमूर्ति पर उन्होने वर्षों मेहनत की। कृष्णमूर्ति को निर्मित किया। कृष्णमूर्ति को बनाया, खड़ा किया। कृष्णमूर्ति जो कुछ भी हैं, उसमें निन्यानबे प्रतिशत उन गुरुओ का दान है। लेकिन खतरा यह हुआ कि कृष्णमूर्ति ने स्वय उन गुरुओ को नही चुना था। वे उन गुरुओं द्वारा

चुने गये थे। और अगर हम अच्छा भी किसी को बनाने की चेष्टा करें और यह उसकी मर्जी न रही हो या स्वेच्छा से न चुना गया हो, तो वह आज नहीं कल अच्छे बनाने वालो के भी विपरीत हो जायेगा।

उन्होने इतनी चेष्टा की कृष्णमूर्ति को निर्मित करने मे, कि यही चेष्टा कृष्णमूर्ति के मन मे प्रतिक्रिया बन गई। गुरु उनको बोझ की तरह मालूम पड़े। बदलने की कोशिश प्रतिक्रिया बन गई। आज भी उसकी सूक्ष्म छाया उनके सस्कारो के ऊपर रह गयी है। वे आज भी उनके खिलाफ बोले जाते हैं।

जब कृष्णमूर्ति गुरु के खिलाफ बोलते हैं, तो आपको ख्याल मे भी नहीं आता होगा कि वे लेडबीटर के खिलाफ बोल रहे हैं, एनिबीसेन्ट के खिलाफ बोल रहे हैं। बहुत देर हो गई उस बात को हुए। लेकिन जो बात उनके गुरुओ ने उनके साथ की, उनको बदलने की जो सतत् चेष्टा, अनुशासन देने की चेष्टा की, वह उनको गुलामी जैसी लगी, क्योकि वह स्वेच्छा से नही चुनी गई। उसके खिलाफ उनका मन बना रहा। वे उसके खिलाफ कहते चले गये हैं।

कृष्णमूर्ति को सुनने वाला एक वर्ग है, और वह वर्ग चालीस साल से कही नही पहुँच रहा है। वह सिर्फ शब्दो में भटकता रहता है क्योंकि जो सुनने आता है, वह गुरु की तलाश में है और जो वह सुनता है, वह यह है कि गुरु की कोई जरूरत नही है। तो वह यह मान लेता है कि गुरु की कोई जरूरत नहीं है और फिर भी कृष्णमूर्ति को सुनने चला आता है वर्षों तक।

अगर गुरु की कोई जरूरत नही है, तो सुनने की भी जरूरत नहीं है। और यह बड़े मजे की बात है कि यह भी एक गुरु से सीखी हुई बात है कि 'गुरु की कोई जरूरत नही है।' यह भी खुद की बुद्धि से आई हुई बात नहीं है। यह भी एक गुरु की शिक्षा है कि गुरु की कोई भी जरूरत नहीं है। इसको भी जब कोई स्वीकार कर रहा है, तो उसने गुरु को स्वीकार कर लिया।

करोड़ों में कभी एकाध आदमी ऐसा जरूर होता है, जो बिना गुरु के चल सके। लेकिन वह भी अनन्त जन्मों की यात्रा के बाद होता है, चाहे उसे पता हो या न हो।

कल ही एक मित्र मलाया से मुझे मिलने आये। मलाया में एक महत्वपूर्ण घटना घटी है—'सुबुद' आन्दोलन। मोहम्मद सुबुद नाम के व्यक्ति पर अचानक, अनायास प्रभु की ऊर्जा का अवतरण हुआ है। लेकिन मुसलमान मानते हैं कि

एक ही जन्म है। इसलिए मोहम्मद सुबुद को भी लगा कि मुझ साधारण आदमी पर परमात्मा की अचानक कृपा कैसे हुई ! उनके मानने वाले भी यही मानते है कि यह सब एक संयोग की बात है कि मोहम्मद सुबुद चुना गया। मैंने उनसे कहा कि हम ऐसा नही मान सकते हैं। कोई घटना आकस्मिक नही होती। सिर्फ मुसलमान 'थिऑलॉजी' (धर्म-विचारणा) के कारण सुबुद को लगता है कि अचानक मुझ पर प्रभु की कृपा हुई। लेकिन यह जन्मो-जन्मो की साधना का परिणाम है। नही तो यह हो नही सकता।

तो जब कभी कोई व्यक्ति अचानक भी सकल्प की स्थिति मे आ जाता है, तब भी वह यह मत सोचे कि इसमे गुरुओं का हाथ नही है। इसमे हजारो-हजारों गुरुओ का हजारो-हजारो जन्मो से हाथ है।

पानी को कोई गरम करता जाता है, तो सौ डिग्री पर पानी भाप बनता है, निन्यानबे डिग्री तक तो भाप नही बनता। लेकिन जिस गरमी ने निन्यानबे तक उसे पहुँचाया है, उसके बिना सौवी डिग्री नही आती। सौवी डिग्री पर भाप बनकर उडता हुआ पानी सोच सकता है कि निन्यानबे डिग्री तक तो मैं कुछ भी नही था, सिर्फ पानी था। यह जो घटना घट रही है, अचानक घट रही है। लेकिन शून्य डिग्री से सौ डिग्री तक कि जो लम्बी यात्रा है, उस यात्रा मे न मालूम कितने ईंधन ने साथ दिया। आखिरी घटना आकस्मिक घटती मालूम होती है, लेकिन इस जगत् मे कुछ भी आकस्मिक नही है। नही तो विज्ञान का कोई भी उपाय न रह जायेगा।

हिन्दू चिन्तन इसलिए बहुत गहरा गया है और उसने कहा है कि इस जगत् मे कुछ भी आकस्मिक नही है। अगर कृष्णमूर्ति अचानक ज्ञान को उपलब्ध होते हैं, तो यह भी अचानक हमे लगता है। या पाक सुबुद पर अचानक प्रभु की अनुकम्पा होती है, तो यह भी हमे लगता है कि अचानक हुआ। लेकिन इसके पीछे जन्मो-जन्मो की तैयारी है।

निन्यानबे 'प्वाइन्ट' नौ तक भी पानी, पानी होता है। फिर एक 'प्वाइन्ट' और, फिर भाप हो जाता है। (तो पाक सुबुद को तो निन्यानबे 'प्वाइन्ट' नौ तक भी कुछ पता नही है, भाप बनने का क्षण भी करीब आ गया।) जब भाप बनेगी तभी पता चलेगा। तब आकस्मिक लगेगा कि क्षण भर पहले मैं एक साधारण दुकानदार था, साधारण कर्मचारी था—एक साधारण आदमी था बाल-बच्चे वाला, पत्नी वाला—कुछ पता नही था, अचानक यह क्या हो गया ?

यह भी अचानक नही है। पीछे कार्य-कारण की लम्बी शृंखला है।

तो हजारो जन्मों के बाद कभी कोई व्यक्ति इस हालत मे भी आ जाता है कि स्वय ही खोज ले। क्योकि अब एक ही बिन्दु की बात रह जाती है। सब तैयारी पूरी होती है। जरा सा संकल्प और यात्रा शुरू हो जाती है। लेकिन यहाँ तक पहुँचने में भी न मालूम कितने समर्पण का हाथ है। जो व्यक्ति कभी-कभी अचानक समर्पण को उपलब्ध हो जाता है, उसके पीछे भी न मालूम कितने सकल्पो का हाथ है। जीवन गहरे मे दोनों का जोड़ है। पद्धतियाँ अलग हैं, व्यक्ति अलग नही हैं।

आज एक व्यक्ति मेरे पास आता है, और कहता है कि सब समर्पण करता हूँ। लेकिन सब समर्पण करना कितना बडा सकल्प है, इसका आपको पता है? उससे बडा सकल्प क्या होगा? और जो इतना बड़ा सकल्प कर पाता है, तो इसका अर्थ हुआ कि उसने बहुत छोटे-छोटे सकल्प साधे हैं, तभी इस योग्य हुआ है कि इम परम सकल्प को भी करने की तैयारी कर पाया है।

पद्धतियो मे कोई मेल नही है, लेकिन व्यक्ति तो एक है। 'एम्फैसिस' का फर्क हो सकता है। तो आपको जो खोजना है, वह पद्धतियों मे नही खोजना है। आपको जो खोजना है, वह अपनी दशा खोजनी है कि मेरे लिए सकल्प ज्यादा उपयोगी है या समर्पण ज्यादा उपयोगी है। किसमें ज्यादा सहजता से लीन हो सकूँगा।

मगर यह भी थोडा कठिन है। क्योकि हम अपने को धोखा देने में कुशल हैं, इसलिए यह कठिन है। पर अगर कोई व्यक्ति आत्म-निरीक्षण में लगे, तो वह शीघ्र ही खोज लेगा कि क्या उसका मार्ग है। अब जो व्यक्ति चालीस साल से कृष्णमूर्ति को सुनने बार-बार जा रहा है और फिर भी कहता है कि मुझे गुरु की जरूरत नही है, वह खुद को धोखा दे रहा है। वह शब्दों का खेल कर रहा है। चुक्ता बाते कृष्णमूर्ति की दोहरा रहा है और कहता है कि गुरु की मुझे कोई जरूरत नही है। गुरु की कोई जरूरत नही है, तो यह सीखने कृष्णमूर्ति के पास जाने का कोई प्रयोजन नही है। अपने पर एक पल खडा नहीं हो सकता। साफ है कि समर्पण इसका मार्ग होगा; मगर आत्म-वचना कर रहा है।

एक आदमी कहता है कि मैं तो समर्पण मे उत्सुक हूँ। एक मित्र ने मुझे आकर कहा कि मैंने मेहर बाबा को समर्पण कर दिया था, मगर अभी तक कुछ

हुआ नही ! तो यह समर्पण नहीं है । क्योंकि आखिर मे तो यह सोच ही रहा है कि अभी तक कुछ हुआ नही । अगर समर्पण कर ही दिया था, तो हो ही गया होता । क्योंकि समर्पण से होता है, मेहर बाबा से नही होता । इसमें मेहर बाबा से कुछ लेना-देना नहीं है । मेहर बाबा तो सिर्फ प्रतीक है । और कोई भी प्रतीक काम दे देगा । महत्वपूर्ण प्रतीक नही है, महत्वपूर्ण समर्पण है ।

यह आदमी कहता है—मैंने सब उन पर छोड दिया, लेकिन अभी कुछ हुआ नहीं ! लेकिन की गुजाइस समर्पण मे नही है । छोड दिया, बात खतम हो गई । हो, न हो—अब आप बीच में आनेवाले नही हैं । तो यह धोखा दे रहा है अपने को । इसने समर्पण किया नही है, लेकिन सोचता है कि कर दिया है । और अभी हिसाब-किताब लगाने मे लगा हुआ है ! समर्पण मे कोई हिसाब-किताब नही है ।

अगर हिसाब-किताब करना है, तो सकल्प—अगर हिसाब-किताब नही करना है, तो समर्पण ।

और जब एक दिशा मे आप लीन हो जाये, तो वह जो दूसरा हिस्सा आपके भीतर रह जायेगा छाया की तरह, इसे भी उसी के उपयोग मे लगा दें । इसे उसके विपरीत खडा न रखें ।

इसे थोडा ठीक से समझ लें ।

आपके भीतर थोडा सा सकल्प भी है, पर अधिक समर्पण है । तो जब आप समर्पण मे जा रहे हैं, तो अपने सकल्प को समर्पण की सेवा मे लगा दें । उसको विपरीत न रखें । नही तो वह कष्ट देगा और आपकी सारी साधना को नष्ट कर देगा । अगर आप सकल्प की साधना मे जा रहे हैं और समर्पण की वृत्ति भी भीतर है । जो कि होगी ही । क्योंकि अभी आप अखण्ड नहीं हुए, एक नही हुए—बँटे हुए हैं, टूटे हुए हैं । दूसरी बात भी भीतर होगी ही । तो आपके भीतर जो समर्पण है, उसको भी सकल्प की सेवा में लगा दें ।

महावीर ने एक शब्द प्रयोग किया है—आत्मशरण । महावीर कहते हैं कि दूसरे की शरण मत जाओ ! अपनी ही शरण आ जाओ । सकल्प का अर्थ हुआ कि मेरे भीतर जो समर्पण का भाव है, वह भी अपने ही प्रति लगा दूं । अपने को ही समर्पित हो जाऊँ । वह भी बचना नही चाहिए । वह भी सक्रिय रूप से काम मे आ जाना चाहिये ।

ध्यान रहे ! हमारे भीतर जो बचा रहता है बिना उपयोग का, वह घातक हो जाता है, 'डिस्ट्रक्टिव' हो जाता है । हमारे भीतर अगर कोई ऐसी शक्ति

बच रहता है, जिसका हम कोई उपयोग नहीं कर पाते, तो वह विपरीत चली जाती है। इसके पहले कि हमारी कोई शक्ति विपरीत जाए, उसे नियोजित कर लेना जरूरी है। नियोजित शक्तियाँ सृजनात्मक हैं, 'क्रिएटिव' हैं। अनियोजित शक्तियाँ घातक हैं, 'डिस्ट्रक्टिव' हैं, विध्वंसक हैं।

वह जो सकल्प कर रहा है, उसे भी समर्पण के कार्य में लगा देना चाहिए। हजार मौके आएँगे, जब संकल्प का उपयोग समर्पण के साथ हो सकता है।

जैसे किसी ने संकल्प किया कि मैं चौबीस घंटे खडा रहूँगा, तो अब इस सकल्प के प्रति पूरा समर्पण हो जाना चाहिए। अब चौबीस घण्टे में एक बार भी सवाल नहीं उठना चाहिए कि मैंने यह क्या किया, करना था कि नहीं करना था। अब पूरे समर्पित हो जाना चाहिए। अपने ही सकल्प के प्रति अपना पूरा समर्पण कर देना चाहिए।

एक आदमी ने सकल्प किया कि किसी के चरण पकड लिये, यही आसरा है, तो फिर अब बीच-बीच में सवाल नही उठाने चाहिए कि मैंने ठीक किया कि ठीक नहीं किया, कि यह मैं क्या कर रहा हूँ। अब सारे सकल्प को इसी समर्पण मे डुबा देना चाहिए। ताकि मेरे भीतर कोई अनियोजित हिस्सा नहीं बचे। अगर अनियोजित हिस्सा बच जाये, तो मैं संदेह से घिरा रहूँगा और अपने को अपने ही हाथ से काटता रहूँगा। खुद की विपरीत जाती शक्ति व्यक्ति को दीन कर देती है। खुद की सारी शक्तियाँ सम्मिलित हो जाएँ, तो व्यक्ति को शक्तिशाली बना देती हैं।

तो जब मैंने कहा कि संकल्प और समर्पण के मार्गों का ताल-मेल मत करना, तो मेरा मतलब यह नही है कि आप अपने भीतर की शक्तियों का ताल-मेल मत करना। मेरा मतलब है कि जब संकल्प के मार्ग पर चलें, तो समर्पण के मार्ग की जो विधियाँ हैं, उनका उपयोग मत करना। पर आपके भीतर जो समर्पण की क्षमता है, उसका उपयोग जरूर करना। जब समर्पण के मार्ग पर चलें, तो संकल्प की जो विधियाँ हैं, वह फिर आपके लिए नहीं रही। लेकिन आपके भीतर संकल्प की जो क्षमता है, उसका पूरा उपयोग करना।

मैं सोचता हूँ मेरी बात आपको साफ हुई होगी।

जैसे कि एक आदमी एलोपैथिक दवाएँ लेता है और एक आदमी होम्यो-पैथिक दवाएँ लेता है, या एक आदमी नेचरोपैथिक का इलाज करता है। तो मेरे कहने का यह मतलब है कि 'पैथीज' को मिलाना मत। ऐसा मत करना

कि एलोपैथिक की भी दवाएँ ले रहे हैं, होम्योपैथिक की भी दवा ले रहे हैं और नेचरोपैथी भी चला रहे हैं। तो बीमारी से शायद ही मरें, पैथीज से मर जाएँगे। बीमारी से बचना आसान है, लेकिन अगर कई 'पैथीज' का उपयोग कर रहे हैं, तो मरना सुनिश्चित है।

जब एलोपैथिक दवा ले रहे हैं, तो शुद्ध एलोपैथिक लेना। फिर बीच मे दूसरी 'पैथी' से बाधा मत डालना। जब होम्योपैथिक दवा ले रहे हैं, तो फिर पूरी होम्योपैथी की ही लेना। फिर बीच में दूसरी चीज की बाधा मत डालना। लेकिन चाहे एलोपैथिक दवा लें, चाहे होम्योपैथिक ले, चाहे नेचरोपैथिक करें, भीतर वह जो क्षमता है ठीक होने की, उसका पूरा उपयोग करना। वह एलोपैथी के साथ जुडे कि होम्योपैथी के साथ कि नेचरोपैथी के साथ, यह अलग बात है। लेकिन भीतर वह जो ठीक होने की क्षमता है, उसका पूरा उपयोग करना।

आप कहेंगे—'वह तो हम करते ही हैं।' जरूरी नही है। कुछ लोग ऊपर से दवा लेते रहते हैं और भीतर बीमार रहना चाहते हैं। तब बड़ी मुश्किल हो जाती है। अगर बीमारी आपकी तरकीब है, तो दवा आपको ठीक न कर पाएगी।

आप कहेगे—'कौन आदमी बीमार रहना चाहता है?'

आप गलती मे हैं। फिर आपको मनुष्य के मन का कोई भी पता नही है। मनसविद् कहते हैं कि सौ में से पचास प्रतिशत बीमारियाँ आदतन हैं। बचपन से बीमारी का सिखावन हो जाता है। बच्चा अगर स्वस्थ है, तो घर में कोई ध्यान नही देता। बच्चा अगर बीमार है, तो सारे घर का केन्द्र हो जाता है। बच्चा समझ लेता है एक बात कि जब भी केन्द्र होना हो बीमार हो जाना जरूरी है।

आपको भी ख्याल होगा कि पत्नी पति को देखकर कहने लगती है। पहले नहीं कह रही थी। पति पत्नी को देख कर एकदम सिर पर हाथ रख कर लेट जाता है। अभी बिलकुल ठीक बैठा हुआ था।

क्यो? मामला क्या है?

अगर सिर में दर्द था, तो जब कमरे में कोई नही था, तब भी कहना चाहिये था। अगर कहना बीमारी से आ रहा है, तो किसी से क्या लेना-देना! लेकिन दूसरे को देख कर एकदम सबल क्यों हो गई? इसलिए कि रस है बीमारी में।

मनसविद् कहते हैं कि स्त्रियों की अधिक बीमारियाँ उस रस से पैदा होती है, क्योंकि उनको कोई और उपाय दिखाई नहीं पडता कि कैसे वह पति का आकर्षण कायम रखें। पहले तो उन्होंने सौन्दर्य से रख लिया, सजावट से रख लिया। थोडे दिन मे वह बासा हो जाता है, परिचित हो जाता है। तो अब पति का ध्यान किस तरह आकर्षित करना है ! तो स्त्रियाँ बीमार रहना शुरू कर देती हैं। उनको भी पता नही है कि वह क्यों बीमार है। तो वह दवा भी लेगी, लेकिन बीमारी मे रस भी जारी रहेगा। और दवा भी जारी रहेगी और भीतर से उनका दवा के लिए सहयोग भी नही है।

वह ठीक होना नही चाहती। क्योंकि ठीक होते ही वह जो ध्यान पति दे रहा था, वह विलीन हो जाता है। जब पत्नी बीमार थी, पति खाट के पास आकर बैठता था, सिर पर हाथ भी रखता है। जब वह ठीक है, तब कोई हाथ नही रखता कोई ध्यान भी नही देता।

अगर दुनियाँ मे बीमारी कम करनी है, तो बच्चो के साथ जब वे बीमार हो, बहुत ज्यादा प्रेम मत दिखाना। क्योंकि वह खतरनाक है। बीमारी और प्रेम का जुडना और भी खतरनाक है। बीमारी से ज्यादा और बड़ी बीमारी आप पैदा कर रहे हैं। बच्चे जब स्वस्थ हैं, तो उनके प्रति प्रेम प्रकट करना और ज्यादा ध्यान देना। जब बीमार हो, तब थोड़ी तटस्थता रखना। तब उतना प्रेम, उतना शोरगुल मत मचाना। लेकिन जब कोई बीमार होता है, तब हम एकदम वर्षा कर देते हैं। जब कोई ठीक होता है, तो हमें कोई मतलब नही।

हम भी सोचते हैं कि जब ठीक है, तो मतलब की बात क्या ? लेकिन आपको पता नही कि आपका यह ध्यान बीमारी का भोजन है। इसलिए बच्चा जब भी चाहेगा कि कोई ध्यान देता है, वह कितना ही बड़ा हो जाये, तब वह बीमारी को निमन्त्रण दे रहा है। यह निमन्त्रण भीतरी होगा। दवा ऊपर से लेगा और भीतर से ठीक भी होना नही चाहेगा। तब उपद्रव हो जाएगा। फिर चाहे एलोपैथी लें, चाहे कोई अन्य पैथी ले। एक काम सब में जरूरी होगा कि अपना पूरा भाव ठीक होने का जोड दें।

चाहे संकल्प के मार्ग पर चलें, चाहे समर्पण के मार्ग पर, जो भी आप की ऊर्जा है, वह सारी की सारी उस मार्ग पर जोड दे। दो मार्गों को नही जोड़ना है, साधक को अपने भीतर दो ऊर्जाओं को जोडना है। यह दोनों ऊर्जाएँ जुड-कर किसी भी मार्ग पर चली जाएँ, तो यात्रा अनन्त तक पहुँच जाएगी। भीतर की ऊर्जाएँ बँटी रहें और आदमी मार्गों को जोड़ने में लगा रहे, तो वह कभी

नही पहुँच पायेगा । 'पैथीज' जुड़कर जरूर हो जाती हैं और अलग-अलग अमृत । दो मार्ग जुड़कर भटकाने वाले हो जाते हैं, अलग-अलग पहुँचाने वाले।

● एक मित्र ने पूछा है कि 'परमात्मा शब्द में सत्य नही है'—ऐसा आपसे जाना। मैं भी इन शब्दो के जाल से छूटना चाहता हूँ, लेकिन डर लगता है। क्योंकि डूबते को तिनके का सहारा। गीता के पाठ से लगता है, सब ठीक चल रहा है। अगर छोड दूँ तो, आध्यात्मिक पतन हो जाए। कही पापी न हो जाऊँ।

यह भय स्वाभाविक है, लेकिन इसे समझ लें।

अगर मुझे सुनकर ही जाना है कि शब्द मे सत्य नही है, तो मुझसे तो शब्द ही सुने होगे। तब खतरा है। तब गीता छूट जायेगी और मेरे शब्द पकड लिये जाएँगे। और गीता छोड कर मुझे पकड़ने में कोई सार नही है। फिर तो पुराने को पकडे रहना बेहतर है। नाहक बदलने मे कोई सार नही है।

मुझे सुनकर ही जाना हो, मुझे सुनकर यह बोध जगा हो, मेरा सुनना केवल निमित्त रहा हो, और भीतर एक बोध का जन्म हुआ हो कि इस शब्द मे कोई सत्य नही है, तब मेरे शब्द मे भी सत्य नही है और गीता के शब्द में भी सत्य नहीं है। तब सत्य साधना मे है, स्वय के अनुभव में है। अगर ऐसा हुआ हो, तो गीता को छोडने मे भी कोई भय न लगेगा। तब क्या भय है? अगर भीतर ही यह बोध हो गया, तो छोडने मे जरा भी भय न लगेगा।

बोध के लिए कोई भय नही है। भय का कारण यह है कि मेरा शब्द लग रहा है प्रीतिकर। इसलिए गीता के शब्द को छोडना है। जगह खाली करनी है, तभी तो मेरे शब्द को भीतर रख पाएँगे। इससे भय लग रहा है कि इतना पुराना शब्द ! और इसको छोडना और नये शब्द को पकडना !

पुराने तिनके को छोडने मे और नये तिनके को पकड़ने में भय लगेगा। क्योकि पुराना तिनका, तिनका नही मालूम पडता, नाव मालूम पड़ता है। इतने दिन से पकडा हुआ है। जब उसको छोड़ेंगे और नये तिनके को पकडेंगे, तो नया तिनका अभी तिनका दिखाई पडेगा। धीरे-धीरे वह भी नाव बन जायेगा। जैसे-जैसे आँख बन्द होने लगेगी, वह भी नाव मालूम होने लगेगा। इसलिए पुराने को नये से बदलने मे भय लगता है। क्योकि पुराने के साथ तो सम्मोहन जुडा रहता है, पर नये के साथ सम्मोहित होना पड़ेगा, वक्त लगेगा।

नही, गीता के शब्द को मेरे शब्द से बदलने की जरूरत नहीं है, क्योंकि

सब शब्द एक जैसे हैं। अगर बदलना हो, तो सत्य से शब्द को बदलना। लेकिन सत्य है आपके भीतर। सत्य, न मेरे शब्द में है, न गीता के शब्द मे है, न महावीर के शब्द मे है। इनके शब्द भी आपकी तरफ इशारा हैं। वह जो मील का पत्थर कह रहा है कि मजिले आगे हैं—तीर बना हुआ है। उस मील के पत्थर मे कोई मजिल नही है। वह सिर्फ इशारा है। और सब इशारे छोड देने पडते हैं, तो ही यात्रा होती है। मील के पत्थर को कोई छाती से लगाकर बैठा हो, तो हम उसे पागल कहेगे। लेकिन गीता को कोई छाती से लगा कर बैठा हो, तो हम उसे धार्मिक आदमी कहते हैं।

गीता मील का पत्थर है, कृष्ण के द्वारा लगाया गया। और पत्थर इशारा है। मैं भी एक पत्थर लगा सकता हूँ, वह भी इशारा बनेगा। आप एक पत्थर छोड कर दूसरा पत्थर पकड़ ले, इससे कोई हल नही है। थोडी राहत तो मिल सकती है, जैसा कि अर्थी को मरघट पर लोग ले जाते हैं, तो रास्ते मे अर्थी को एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर रख लेते हैं। थोडी देर राहत मिलती है, क्योंकि एक कन्धा थक जाता है, तो दूसरे पर रख लेते हैं। अगर कृष्ण से आप थक गये हैं, तो मुझे रख सकते हैं। लेकिन थोडी देर मे मुझसे थक जाएँगे। जब कृष्ण से थक गये, तो मुझसे कितनी देर तक बचेंगे बिना थके। मुझसे भी थक जाएँगे, फिर कन्धा बदलना पड़ेगा। कन्धे बदलते-बदलते तो जन्मों बीत गये। कितने कन्धे आप बदल नही चुके!

कन्धे बदलने मे कोई सार नही है।

इशारे का अर्थ इतना ही है कि जो कहा जाता है, वह केवल प्रतीक है और जो अनुभव किया जाता है, वही सत्य है। आपने प्रेम का अनुभव किया और कहा कि मैंने प्रेम जाना है, लेकिन जो सुन रहा है आपके शब्द, वह आपके शब्द सुनकर प्रेम नही जान लेगा।

मैंने कहा—'पानी मैंने पिया और प्यास बुझ गई', पर मेरे वचन को पकड कर आपकी प्यास नहीं बुझ जायेगी। पानी पीएँगे तो ही प्यास बुझेगी। पानी शब्द मे पानी बिलकुल नहीं है। तो कितना ही पानी शब्द को पीते रहें, प्यास नही बुझेगी। हाँ, यह धोखा हो सकता है कि आदमी अपने को समझा ले कि इतना तो पानी पी रहे हैं—पानी, पानी, पानी—सुबह से साँझ तक दोहरा रहे हैं···कहाँ की प्यास? यह भी हो सकता है कि पानी शब्द में इतनी तल्लीनता बढ़ा लें कि प्यास का पता न चले। लेकिन प्यास बुझेगी नहीं।

और जैसे ही पानी शब्द का रटन छोडेंगे, वैसे ही भीतर की प्यास का पता चलेगा कि प्यास मौजूद है। पानी तो पीना ही पडेगा; क्योंकि पानी शब्द से कुछ हल नही है।

अगर शब्द से शब्द को बदलना है, तो भय लगेगा। लेकिन भय की कोई जरूरत नही है, अगर शब्द को सत्य मे बदलना है। लेकिन सत्य कही बाहर से मिलने वाला नही है—न कृष्ण से, न महावीर से। सत्य छिपा है आपके भीतर। यह सारे—महावीर, कृष्ण, बुद्ध—यह सब एक ही काम कर रहे हैं, जो भीतर छिपा है, उसकी तरफ इशारा कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि तुम हो सत्य।

रिंझाई से किसी ने आकर पूछा—'बुद्ध क्या है?' रिंझाई ने कहा—'तुम कौन हो?' कोई सगति नही मालूम पडती। बेचारा साधक पूछ रहा है कि बुद्ध कौन हैं, बुद्ध क्या है, बुद्धत्व का क्या अर्थ है। और रिंझाई जो उत्तर दे रहा है, वह हमे भी लगेगा कि क्या उत्तर दे रहा है।

वह उत्तर नही दे रहा है, वह दूसरा सवाल पूछ रहा है। वह कह रहा है—'तुम कौन हो?' लेकिन जवाब उसने दे दिया। वह यह कह रहा है कि बुद्ध कौन है, इसे तुम तब तक नही जान पाओगे, जब तक तुम यह न जान लो कि तुम कौन हो? वह यह कह रहा है कि तुम ही हो बुद्ध, और तुम्ही पूछ रहे हो!

रिंझाई ने कह रखा था—अगर कोई मुझसे पूछेगा बुद्ध के बाबत, तो ठीक नही होगा। क्योंकि बुद्ध ही बुद्ध के बाबत पूछे, यह उचित नही है।

रिंझाई ने तो बडी हिम्मत की बात कही। सारी दुनिया में उसके वचन का कोई मुकाबला नही है। कई धर्मशास्त्री और पण्डित तो उसका वचन सुन कर घबडा जाते थे। उन्हें ऐसा लगता था कि इससे ज्यादा अपवित्र बात और क्या होगी। खुद बुद्ध को मानने वाले लाखो लोग रिंझाई का वचन सुनने मे समर्थ नही थे।

रिंझाई अपने शिष्यो से कहता था—'इफ एनी वेअर यू मीट द बुद्धा, किल हिम इमीजिएटली।' अगर बुद्ध कही मिल भी जाएँ, तो फौरन सफाया कर देना, खत्म कर देना, उनको एक मिनट बचने मत देना।

किसी ने रिंझाई से पूछा कि क्या कह रहे हैं आप—खात्मा कर देना! तो रिंझाई ने कहा—जब तक तुम बाहर के बुद्ध का खात्मा न करोगे, तुम्हें अपने बुद्ध का पता नहीं चलेगा। और जब तक तुम्हे बाहर बुद्ध दिखाई पड

रहा है, तब तक तुम भ्रांति मे हो। जिस दिन तुम्हे भीतर दिखाई पडेगा, उस दिन।

तो कही मिल जाये बुद्ध, तो तुम खात्मा कर देना। और मैं तुमसे कहता हूँ, रिंझाई ने कहा—मेरे वचन को याद रखना और खत्म करते वक्त बुद्ध से भी कह देना कि रिंझाई ने ऐसा कहा है कि बुद्ध भी इसको पसन्द करेंगे।

रिंझाई बडे अधिकार से कह रहा है, क्योंकि रिंझाई ठीक वही खड़ा है, जहाँ बुद्ध खडे हैं। कोई फर्क नही है।

रिंझाई अपने शिष्यो से कहता था, कि अगर तुम्हारे मुँह मे बुद्ध का नाम आ जाए, तो कुल्ला कर लेना। सफा कर लेना मुँह। शिष्य घबड़ा जाते थे, वे कहते थे—आपसे ऐसी बाते सुन कर मन बडा बेचैन है, यह आप क्या कहते हैं? रिंझाई कहता—जब तक तुम्हे लगता है कि बुद्ध के 'नाम स्मरण' से कुछ हो जायेगा, तब तक भीतर के बुद्ध की तुम खोज कैसे करोगे? और जब बुद्ध ही बुद्ध का नाम ले रहा है, तो इससे ज्यादा बुद्धूपन और क्या है?

नही, बुद्ध हो, कृष्ण हो, महावीर हो, उनके इशारे पर हम पागल हैं, हम इशारे पकड लेते हैं। और जिस तरफ इशारा है, वह जो भीतर छिपा है, उसकी कोई फिक्र नही करते।

कोई भय नहीं है, और जब पता ही चल गया कि तिनके को ही पकड़े हुए हैं, तो छोडने मे डर क्या है? तिनके को पकडे भी रहो, तो भी डूबोगे। शायद अकेले बच भी जाओ, क्योंकि आदमी को कोई भी सहारा न हो, तो तैर भी सके। और अगर सोच रहा है कि तिनका सहारा है, तब तो पक्का डूबेगा। कोई तिनका तो बचा नही सकता। लेकिन तिनके की वजह से तैरेगा भी नही।

छोडो! जब पता चल गया कि तिनका है, तो अब पकड़ने में कोई सार नहीं है। जब तक नाव मालूम होती थी, तब तक पकड़ने मे कोई सार था। बेसहारा होना एक लिहाज से अच्छा है। झूठे सहारे किसी काम के नहीं हैं।

लेकिन बहुत मजे की बात है, कि जो आदमी परमरूप से बेसहारा हो जाता है, उसे परम सहारा मिल जाता है। वह तो भीतर ही छिपा है, आपको जिसके सहारे की जरूरत है। तिनके की कोई जरूरत नही है, जो भीतर छिपा है, वही सहारा है। शब्द को छोड़ो, शास्त्र को छोड़ो, इसलिए नहीं कि शास्त्र कोई बुरी बात है, बल्कि इसलिए कि उसको पकड़ कर कही ऐसा न हो कि

जो 'सब्स्टिट्यूट' था, परिपूरक था, उससे ही तृप्ति हो जाये। कही ऐसा न हो कि आप शब्द से ही राजी हो जायें।

खतरा है बड़ा शब्द के साथ, पर सत्य के साथ कोई खतरा नहीं है; लेकिन हमे सत्य के साथ खतरा मालूम होता है और शब्द के साथ कोई खतरा नही मालूम होता, क्या कारण है? एक ही कारण है कि शब्द के साथ चुप-चाप जीने मे सुविधा रहती है—कोई उपद्रव नही, कोई परिवर्तन नहीं, कोई क्रान्ति नही—पढ़ते रहो गीता रोज, और करते रहो जो करना है—और मजे से करो, क्योकि हम तो गीता पढने वाले हैं! दिल खोलकर पाप करो! क्योकि आखिर तीर्थ किसलिए हैं? नही तो तीर्थ क्या करेंगे, मन्दिर किसलिए हैं? अगर पाप न करोगे, तो पूजा का क्या सार है? और फिर परमात्मा किस लिए है! दया के लिए ही—रहमान, दयालु। और अगर आप पाप ही नही करेंगे, तो परमात्मा के 'रहमान' होने का क्या होगा, 'दयालु' होने का क्या होगा? वह दया किस पर करेगा? किस पर रहम खायेगा? उस पर कुछ दया करो और पाप करो, ताकि वह आप पर रहम खा सके!

इसलिए आदमी शब्दों मे जीता रहता है, और जिन्दगी? जिन्दगी वृत्तियों मे, वासनाओ मे विक्षिप्त दौड़ती रहती है। शब्द को छोड़ने का अर्थ केवल इतना ही है कि जिन्दगी को देखो, शब्दो मे मत उलझे रहो। और अगर चाहिये है किसी दिन स्वतन्त्रता, मुक्ति, आनन्द, तो जिन्दगी को बदलो। शब्दों को बदलने से कुछ भी होने वाला नहीं है।

अब सूत्र।

●'आत्मा ही अपने सुख और दुख का कर्त्ता है तथा आत्मा ही अपने सुख और दुख का नाशक भी। अच्छे मार्ग पर चलने वाली आत्मा मित्र है और बुरे मार्ग पर चलने वाली आत्मा शत्रु है।'

महत्वपूर्ण बात महावीर ने कही है कि आप ही अपने शत्रु हैं और आप ही अपने मित्र। कोई दूसरा शत्रु नहीं है और कोई दूसरा मित्र भी नहीं। दूसरे से छुटकारा हमारा हो जाये, इसकी चिन्ता ही महावीर को है। दूसरे पर जिम्मेदारियाँ रखना ही हम छोड़ दें। और सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लें, यही उनके सारे वचनों को सार है।

महावीर कहते हैं कि जब तुम ठीक मार्ग पर चलते हो, तो तुम अपने ही मित्र हो और जब तुम गलत मार्ग पर चलते हो, तो तुम अपने ही शत्रु हो।

इसे हम थोड़ा समझें।

अगर मैं किसी पर क्रोध करता हूँ, तो पता नही उसे दुख पहुँचता है या नही, लेकिन क्रोध करने से मुझे दुख मिलता है, यह पक्का है। अगर मैं महावीर को गाली दूं, तो महावीर को कोई दुख नहीं पहुँचता, लेकिन गाली देने में मैं तो पीड़ित होता ही हूँ, क्योंकि गाली शान्ति से नहीं दी जा सकती—उबलना और जलना जरूरी है, रातें खराब करना जरूरी है, बेचैन होना जरूरी है, क्योंकि तभी वह जलन और बेचैनी ही तो गाली बनेगी। जो मेरे भीतर पीड़ा होगी वह जब इतनी भारी हो जायेगी कि उसे सम्हालना मुश्किल हो जायेगा, तभी तो मैं किसी को चोट पहुँचाऊँगा।

ध्यान रहे, जब मैं किसी को चोट पहुँचाता हूँ, तो खुद को चोट पहुँचाये बिना नही पहुँचा सकता। असल मे मैं जब किसी को चोट पहुँचाता हूँ, उससे पहले ही अपने को चोट पहुंचा देता हूं। मेरा भीतर घाव न हो, तो मैं दूसरे को घाव करने जा नही सकता। घाव ही घाव करवाता है।

कभी सोचें कि आप बिलकुल शान्त, आनन्दित और अचानक किसी को गाली देने लगें, तो आपको खुद हँसी आ जायेगी कि 'यह क्या हो रहा है' और दूसरे को भी गाली मजाक मालूम पडेगी, गाली नहीं मालूम पडेगी।

गाली की तैयारी चाहिये, इसकी बड़ी साधना है। पहले साधना पडता है, पहले मन ही मन उसमे काफी पागलपन पैदा करना पडता है, पहले मन ही मन सारी योजना बनानी पड़ती है और जब आप इतने तैयार हो जाते हैं भीतर कि अब बिस्फोट हो सकता है, तभी। कोई बम ऐसे ही नहीं फूटता, भीतर बारूद चाहिये। असल में बम फूटता ही इसलिए है कि भीतर विक्षिप्त बारूद मौजूद है। और जब आप फूटते हैं, तो भीतर बारूद आपको निर्मित करनी पडती है।

जब एक आदमी किसी पर क्रोध करता है, तो वह अपने को दुख देता है, पीड़ा देता है; वह अपना शत्रु है। बुद्ध ने भी ठीक यही बात कही है कि बड़े पागल हैं लोग—'दूसरों की भूलो के लिए अपने को सजा देते हैं।' आपने गाली दी मुझे यह भूल आपकी रही और मैं अपने को सजा देता हूं क्रोधित होकर। क्रोधित होकर मैं आपको सजा दे सकता हूँ, यह कोई जरूरी नही है, पर इस भाँति मैं अपने को अवश्य सजा दे लेता हूँ। गलती थी आपकी और चोट मैं अपने को पहुँचाता हूं। तब मैं अपना ही शत्रु हूँ। अगर हम अपना ही जीवन खोजे, तो हमें पता लगेगा कि हम चौबीस घण्टे अपने से शत्रुता करते हैं।

दो तरह के शत्रु है जगत् मे। एक तो वे, जो भोग की दिशा मे भूल करते हैं—वे अपने को सजा दिये जा रहे हैं, अपने को सताये चले जा रहे हैं, अपने को काटे जा रहे हैं, मारे जा रहे हैं। फिर तो वे इतने आदी हो जाते हैं कि वे समझते भी हैं कि अब नही करना, पर, फिर भी वे रुक नही पाते।

अभी मेरे पास एक युवक को लाया गया। एल०एस०डी० और मेरीजुअना और सब तरह के 'ड्रग्ज' लेकर उसने ऐसी हालत कर ली है कि अब तो वह दिन मे दो दफा 'इन्जेक्शन' अपने हाथ से लगा ले, तभी जी पाता है, नही तो उसे अपनी जिन्दगी बेकार मालूम पडती है। सारे हाथो में छेद हो गये हैं, सारा खून खराब हो गया है, सारे शरीर पर फोड़े-फुन्सियाँ फैल गये हैं। अब वह कहता है कि मैं रुकना चाहता हूँ, लेकिन कोई उपाय नहीं है। जब सुबह होती है, तो जिन्दगी बेकार मालूम पडती है, जब तक एक 'इन्जेक्शन' और न लगा लूं।

आज यूरोप और अमेरिका के अनेक-अनेक अस्पताल भरे हुए हैं ऐसे युवक-युवतियो से, जो बिलकुल पागल हो गये हैं। अब वे यह भी जान रहे हैं कि हम काम जो कर रहे हैं, यह करने योग्य नही है। अब हम मरेंगे—यह भी जानते हैं, लेकिन रुक भी नही सकते। जब सुबह आती है, तो 'इन्जेक्शन' लगाये बिना जिन्दगी बेकार मालूम पडती है। और लगाओ तो ऐसा लगता है कि अपनी हत्या कर रहे हैं।

क्या हो गया इनको ?

लेकिन यह इनका जरा अतिशय रूप है। कर हम भी वही रहे हैं। पर हमारे 'डोज' जरा हल्के है। और उनके 'डोज' जरा मजबूत हैं। हम भी रोज-रोज जहर लेते हैं, लेकिन होम्योपैथिक 'डोज' हैं हमारे, इसलिए पता नही चलता। कभी एक महीना बिना क्रोध किये देखे, तब पता चलेगा कि चलता है क्रोध के बिना कि नही चलता। यह भी 'डोज' है। क्योकि क्रोध होने से ही शरीर मे विष-द्रव्य छूट जाते हैं और खून पागल हो जाता है। यह आदमी बाहर से 'इन्जेक्शन' लेकर भीतर जहर डाल रहा है और आप भीतर की ग्रन्थियो में से जहर को ले रहे हैं। लेकिन फर्क कुछ भी नहीं है। दस-पाँच दिन कामवासना से बच जाते हैं, तो बुखार मालूम होने लगता है। भारी हो जाती है वासना। किसी तरह शरीर की शक्ति को बाहर फेंका जाये, तो ही हल्कापन लगेगा, नही तो नही लगेगा। और बाहर फेंक कर अनुभव होता है

कि कुछ सार नहीं है। लेकिन दो चार दिन बाद फिर फेके बिना कोई रास्ता मालूम नहीं पड़ता।

क्या कर रहे हैं हम जिन्दगी के साथ ?

महावीर कहते हैं कि हम शत्रु हैं। भोग से भी हम शत्रुता कर रहे हैं, क्योंकि भोग से कभी आनन्द पाया नहीं है। एक बात को समझ लें कि जिस मार्ग से दुख ही मिलता है, उस मार्ग का अर्थ है कि हम अपने साथ शत्रुता कर रहे हैं। जहां से आनन्द कभी मिलता ही न हो, वहाँ से मित्रता का क्या अर्थ ? जिन्दगी मे आपने दुख ही पाया है। सारी जिन्दगी दुख से ही भरी हुई है। इस दुख से भरी जिन्दगी का अर्थ क्या है ? कि हम जिन रास्तों पर भी चल रहे है, जो भी कर रहे हैं जीवन में, वह सब अपने साथ शत्रुता है। लेकिन हम अपने को बचा लेते हैं। हम कहते हैं कि दूसरे शत्रु हैं, इसलिए तकलीफ पा रहे है। यह बचाव है, यह पलायन है, होशियारी है आदमी की, कि वह कहता है कि 'दूसरों की वजह से।' इस तरह वह टाल लेता है, असली कारण को छिपा लेता है और दुख भोगता चला जाता है।

अगर मैं यह जानता हूँ कि दूसरे मेरे शत्रु हैं, इसलिए मैं दुख पा रहा हूँ तो फिर मुझे दुख से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है—किसी जगत् में, किसी व्यवस्था मे मुझे रहना हो, मैं दुखी रहूँगा। क्योकि मैंने मौलिक कारण ही छोड दिया और एक झूठे कारण पर अपनी नजर बाँध ली। लेकिन एक और भी शत्रुता है। जो इस तरह के शत्रु कभी-कभी इससे ऊब जाते हैं, तो करते हैं।

'आदमी भोग में भी अपने को सताता है', यह सुनकर आपको हैरानी होगी। पहले भोग मे आदमी अपने को सताता है, फिर जब इससे ऊब जाता है, तो फिर त्याग में अपने को सताता है। पहले खूब खा-खा कर अपने को सताया, फिर उससे ऊब गया, परेशान हो गया, तो फिर उपवास कर-कर के अपने को सताना शुरू कर देता है। लेकिन सताना जारी रखता है। पहले क्रोध कर-कर के अपने को सताया—दूसरे पर क्रोध कर-कर के, फिर अपने पर क्रोध करना शुरू कर देता है। फिर अपने को सताता है।

तो, जिनको हम त्यागी कहते हैं, अक्सर वे शीर्षासन करते हैं। भोगी और उनमे कोई अन्तर नहीं होता। सिर्फ खोपड़ी वे नीचे कर लेते हैं। और पैर ऊपर कर लेते हैं। त्यागी भी आप ही जैसे लोग हैं, लेकिन खड़े होने का ढंग इन्होने उल्टा चुना है। पहले एक आदमी स्त्रियों के पीछे दौड़-दौड़ कर अपने

को सताता है; फिर स्त्रियों से दूर भाग-भाग कर अपने को सताना शुरू कर देता है; लेकिन अपने को सताना जारी रखता है और दोनों से दुख पाता है।

ऐसा कोई संन्यासी मुझे आज तक नही मिला, जो कहे कि मैं सन्यास लेकर आनन्दित हो गया हूँ। इसका क्या मतलब हुआ फिर? संसारी दुखी हैं, यह समझ मे आने वाली बात है, पर यह सन्यासी क्यो दुखी है? एक बडे जैन मुनि से मेरी बात हो रही थी, वे बडे आचार्य हैं, आनन्द की उन्हें कोई खबर नही है, दुख ही दुख का उन्हे पता है। ससारी दुखी हैं, तो वे क्षमा योग्य हैं, पर सब छोड कर जो त्यागी हो गया, वह भी दुखी है! ससारी की तरकीब है कि वह कहता है मैं दुखी हूँ दूसरे के कारण और त्यागी की तरकीब यह है कि वह कहता है कि मैं दुखी हूँ पिछले जन्मो के कारण; मगर दोनो कुशल हैं, किसी भी भाँति टाल देते हैं। ससारी टाल देता है दूसरे लोगों पर, सन्यासी टाल देता है दूसरे जन्मो पर। ससारी भी मानता है कि मैं जैसा हूँ बिलकुल ठीक हूँ, दूसरे गलत हैं। और यह त्यागी भी मानता है कि मैं तो बिलकुल ठीक हूँ, लेकिन पिछले जन्मो मे जो किया है, उसी के कारण दुख भोगना पड़ रहा है। दोनो का तर्क एक ही है, दोनो कही टाल रहे हैं।

यह बडे मजे की बात है कि अगर कोई आप से कहे कि आप अभी पापी हो, तो आपको दुख होता है और अगर वह कहे कि पिछले जन्मों का पाप है, तो दुख नही होता; क्या मामला है?

पिछले जन्म अपने मालूम ही कहाँ पडते हैं! इतना 'डिस्टेन्स' है, इतना फासला है कि जैसे पिछला जन्म किसी और का होगा। आदमी का मन कैसा है, इसे समझें।

अगर आप से मैं कहूँ, कि कल जो गीत आपने मुझे सुनाया, वह आज के गीत से कही बढिया था, तो आपको दुख होगा। क्योकि मेरे ऐसा कहने से कल से आपका सम्बन्ध मैंने जोड़ दिया। आज मैं आपका अपमान कर रहा हूँ; मैं कह रहा हूँ कि आज का गीत बढ़िया नही है, कल का गीत बढ़िया था। लेकिन अगर मैं आप से यह कहूँ कि आज का गीत कल से भी बढिया है, तो आप को खुशी होगी, क्यों? दोनो गीत आपके हैं! मैंने कहा—आज का गीत कल से बढ़िया है, तो खुशी हुई और मैं कहता हूँ कि कल का गीत आज से बढ़िया था, तो दुख होता है, क्यो? क्योंकि आप अभी के क्षण से अपने को जोड़ते हैं। कल के क्षण से आप अपने को तोड़ चुके हैं। वह तो जा चुका है।

तो, जब कल इतना दूर हो जाता है, तो पिछला जन्म तो बहुत दूर है; हुआ कि न हुआ बराबर है। बड़े मजे से कह सकते हैं कि पिछले जन्म में पापी थे, पाप किये इसलिए दुख भोग रहे हैं।

अभी-अभी बिलकुल ठीक हूँ, फिर भी दुख भोग रहा हूँ, वह दूसरों के कारण, दूसरे जन्मो के कारण—इस भाषा में जो व्यक्ति सोच रहा है, वह महावीर के सूत्र को नही समझा है अभी। महावीर कहते हैं, अगर दुख भोग रहे हो, तो तुम अभी अपने शत्रु हो। उसी शत्रुता के कारण तुम दुख भोग रहे हो।

कल एक मित्र आये थे। वे जैन सन्यासी-साधुओं की तरफ से खबर लाये थे—कुछ साधुओ की तरफ से कि वे वहाँ से छूटना चाहते हैं—उस जजाल से। मैंने कहा—जजाल से वे छूटना चाहते हैं, लेकिन उनके पास हिम्मत तो है नही छूटने की, क्योकि जब सन्यास लिया था, तो बडा स्वागत समारोह हुआ था। और जब छोड़ेंगे, तो बडा अपमान होगा, निन्दा होगी। लोग कहेंगे कि पतन हो गया।

तो उन्होंने कहा—लेकिन वे बडा दुख पा रहे हैं। उन्होंने आपके पास खबर भेजी है कि अगर आप कोई उनका इन्तजाम करवा दें, तो वे वहाँ से निकल आएँ।

मैंने पूछा— क्या इन्तजाम चाहते हैं? इन्तजाम के लिए ही वहाँ भी गये थे। अगर साधुता के लिए गये होते, तो वहाँ भी साधुता खिल जाती, इन्तजाम के लिए वहाँ भी गये थे और इन्तजाम साधुता बन गया।

सन्यासी का संसारी से ज्यादा अच्छा इन्तजाम है, बस कुछ शर्तें उसे पूरी करनी पड़ती हैं। शर्तें तो ससारी को पूरी करनी पडती है, लेकिन उसका इन्तजाम बढिया नही है। संसारी में तो हजारो तरह की योग्यताएँ होनी चाहियें, तब थोड़ा बहुत इन्तजाम वह कर पाता है, पर साधु के लिए एक ही योग्यता काफी है कि वह संसार छोड़ दे, बाकी सब तरह की अयोग्यता चलेगी।

मुझे साधु मिलते हैं, वे कहते हैं, कि 'आपकी बात ठीक लगती है और हम इस उपद्रव को छोडना चाहते हैं, लेकिन अभी जो हमारे पैर छूते हैं, कल वे हमें चपरासी की नौकरी देने को भी तैयार न होंगे।' और वे ठीक कहते हैं, ईमानदारी की बात है। देखिए अपने साधुओं की तरफ! अगर कल वे साधारण कपड़े पहन कर आपके द्वार पर आ जाएँ और कहें कि कोई काम

वगैरह दें, तो आप उनको काम देने वाले नही हैं। आप कहेंगे कि 'सर्टिफिकेट' लाओ! पूछेंगे, 'पहले किस जगह काम करते थे? वहाँ से कैसे छोड़ा?'

जो लोग ससार से भागते हैं बिना संसार को समझे, वे भोग के विपरीत त्याग में पड़ जाते हैं। और भोग के विपरीत जो त्याग है, वह त्याग नही है, वह भी शत्रुता है। भोग के ऊपर जो त्याग है, भोग के विपरीत नही, भोग के पार जो त्याग है। जहाँ भोग को छोडना नही पडता और त्याग को ग्रहण नही करना पडता। भोग समझपूर्वक गिरता जाता है। और त्याग खिलता जाता है। भोग के पार, 'बियॉन्ड'—भोग के विपरीत, 'अपोजिट' नही। इसी तल पर नही, इस तल के पार; भोग की समझ से जो त्याग निकलता है और भोग के दुख से जो त्याग निकलता है, इसमे फर्क है।

भोग के दुख से जो त्याग निकलता है, वह फिर दुख हो जाता है, क्योंकि दुख से दुख ही निकल सकता है।

भोग की समझ और भोग मे जो दुख पाया, वह भोग के कारण नहीं, दूसरे के कारण दुख पाया है—यह जब ख्याल आता है, तब आदमी दुख के पार हो जाता है।

महावीर कहते हैं—जो इस तरह का आदमी है, वह अपना मित्र है। साधु को महावीर अपना मित्र कहते हैं, असाधु को शत्रु। लेकिन परीक्षण क्या है कि आप अपने मित्र हैं? मित्र का क्या परीक्षण है?

जिससे सुख मिले, वह मित्र है और जिससे दुख मिले, वह शत्रु है। अगर आपको अपने से ही सुख नहीं मिल रहा है, तो आप अपने शत्रु हैं। और अपने से ही आपको सुख मिलने लगे, तो आप अपने मित्र हैं।

लेकिन आपको कोई ऐसी बात पता है जब आपको अपने से सुख मिला हो? एकाध ऐसा क्षण आपको ख्याल है, जब आप अचानक अपने से ही सुखी हो गए हो?

नही, कभी किसी मकान ने आपको सुख दिया, कभी किसी 'लॉटरी' ने, कभी किसी स्त्री ने, पुरुष ने, कभी किसी हीरे ने सुख दिया, कभी किसी आभूषण ने सुख दिया, कभी किसी कपड़े ने सुख दिया।

कभी आपको ऐसा ख्याल है कि आपने भी अपने को सुख दिया है? ऐसी कोई याद है? बडी हैरानी की बात है, कि हमने कभी अपने को आज तक सुख नहीं दिया! हमें पता ही नहीं है, कि खुद को सुख देने का क्या मतलब होता

है ! सुख का मतलब ही दूसरे से जुड़ा हुआ है। तब एक बड़ी मजेदार दुनिया बनती है। जिस दुनिया मे कोई आदमी अपने को सुख नही दे पा रहा है, उस दुनिया में सब एक दूसरे को सुख दे रहे है। 'पत्नी' पति को सुख दे रही है, 'पति' पत्नी को सुख दे रहा है। न पति अपने को सुख दे पा रहा है, न पत्नी अपने को सुख दे पा रही है। और जो आपके पास है ही नहीं, वह आप कैसे दूसरे को दे रहे हैं !

बड़ा मजा है। जो है ही नही, उसे आप दूसरे को दे रहे हैं ! आप सोचते हैं 'दे रहे हैं' और दूसरे तक पहुँचता ही नहीं। पत्नी कहे चली जाती है कि तुम मुझे सुख नही दे रहे हो, पति कहे चला जाता है कि तुम मुझे सुख नही दे रही हो—मैं तुझे सुख दे रहा हूं, तुम मुझे सुख नही दे रही हो। हम सब एक दूसरे से कह रहे है कि हम सुख दे रहे हैं और तुम सुख नही दे रहे हो। सारी शिकायत यही है जिन्दगी की। सारा शिकवा यही तो है कि कोई सुख नही दे रहा और हम इतना बाँट रहे हैं।

मजा यह है कि आप अपने तक को दे नही पाते और दूसरों को बाँट रहे है ! थोडा अपने को दें और ध्यान रहे, जो अपने को दे सकता है, उसे दूसरो को देना नही पडता। उसके आसपास की हवा मे दूसरे सुखी हो सकते हैं। हो सकते हैं, हो नही जाते। वह भी उनकी मर्जी है। महावीर के पास खडे होकर भी वह दुखी ही होगे। लोग इतने कुशल हैं दुख पाने मे कि कही से भी दुख खोज लेंगे। उनको मोक्ष में भी भेज दो, तो घडी दो घड़ी में वे सब पता लगा लेगे कि क्या-क्या दुख हैं। मोक्ष भी उनसे बच नही सकता। ये जो महावीर वगैरह कहते हैं कि मोक्ष मे आनन्द ही आनन्द है, इनको पता नही आदमियो का। असली आदमी पहुँच जाए, तब पता चलेगा कि वहाँ दुख ही दुख है। वे बता देगे कि इसमें क्या आनन्द है।

महावीर ने मोक्ष की बात कही है कि 'सिद्ध-शिला' पर शाश्वत आनन्द है। बर्ट्रेन्ड रसेल को यह सुन कर बहुत दुख हुआ। बर्ट्रेन्ड रसेल ने लिखा है कि 'शाश्वत ! सदा रहेगा ! फिर उससे कभी छुटकारा नही होगा ? फिर बस आनन्द ही आनन्द मे रहना पडेगा ? फिर बदलाहट नही होगी ?' इससे मन बहुत घबड़ाता है।

बर्ट्रेन्ड रसेल ने कहा है कि इससे तो नरक बेहतर है। कम से कम अदल-बदल तो कर सकते हैं। यह क्या सिद्ध-शिला पर बैठे है—न हिल सकते, न

डुल सकते और आनन्द ही आनन्द बरस रहा है ! कब तक, कितनी देर तक कोई बर्दाश्त कर सकता है ? थोडा सोचें आप भी, तो आपको भी लगेगा कि 'प्रॉस्पेक्ट्स' बहुत अच्छे नही है । इसमे से भी दुख दिखाई पडने लगेगा कि नहीं—कभी तो 'जस्ट फॉर ए चेन्ज', कभी तो कुछ और उपद्रव होना चाहिए —बस आनन्द ही आनन्द ! तो मिठास ज्यादा हो जायेगी, इतनी हम न झेल पाएँगे । हमे थोडा तिक्त, नमकीन भी चाहिए—थोडा कडवा, तो उससे थोड़ी जीभ सुधर जाती है और फिर स्वाद लेने के लिए तैयार हो जाती है ।

हमें दुख भी चाहिये, तो ही हम सुख का अनुभव कर पाएँगे । तो महावीर का जो परम आनन्द है, वह बर्ट्रेन्ड रसेल को भयदायी मालूम पडा । हमको भी पड़ेगा । वह तो बिना समझे हम कहते रहते हैं कि 'हे भगवान् ! कब मोक्ष होगा ।' अभी पता नही कि मोक्ष का मतलब क्या है । अगर हो जाये मोक्ष, तो एक ही प्रार्थना रह जायेगी कि 'हे भगवान् ! मोक्ष के बाहर कब जाना होगा ।'

आदमी अपना दुश्मन है । और जब तक उसकी यह दुश्मनी अपने से नही टूटती, उसके लिए कोई आनन्द नही है । आदमी अपना मित्र हो सकता है । बडी स्वार्थ की बात मालूम पडेगी यह कि महावीर कहते हैं 'अपने मित्र हो जाओ ।' लेकिन स्वार्थ की बात है नही क्योकि जो अपना ही मित्र नही है, वह किसी का भी मित्र नही हो सकता ।

महावीर कहते हैं कि खुद पहले आनन्द को उपलब्ध हो जाओ, यह काफी है । खुद ज्योतिर्मय हो जाओ, प्रकाशित हो जाओ, तभी सोचना कि किसी दूसरे के घर मे भी प्रकाश डाल दें । खुद का दिया बुझा हुआ है, और दूसरो के दिये जलाने चल पडते हैं । उस झगड़े मे अक्सर ऐसा होता है कि दूसरे का दिया जल भी रहा हो थोडा बहुत, तो बुझा आते है । क्योकि अपने बुझे दिये को जो जला हुआ मानता है, जब तक वह आपका दिया न बुझा दे, तब तक उसको भी वह जला हुआ नही मानेगा ।

हम सब एक दूसरे को बुझाने की कोशिश में लगे हैं, क्योकि हम खुद बुझे हुए हैं ।

'पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा सबसे अधिक दुर्जेय अपनी आत्मा को जीतना चाहिये । एक आत्मा को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है ।'

यह एक मित्र हो जाये, जो भीतर छिपा है मेरे। एक से ही तालमेल बन जाये, इस एक से ही प्रेम हो जाये, यह एक ही मैं जीत लूँ, तो महावीर कहते हैं 'सब जीत लिया।' इस एक को जीत लेने को महावीर कहते हैं सब जीत लिया। सारा ससार जीत लिया, मगर दुर्जेय है बहुत।

क्रोध, मान, मोह और लोभ—कठिन है इनको जीतना, लेकिन और भी कठिन है 'स्वय को जीतना।'

क्या कठिनाई होगी स्वय को जीतने की ?

स्वय को जीतने की कठिनाई सूक्ष्म है, क्रोध को जीतने की कठिनाई स्थूल है। हम भी समझते है कि क्रोध को जीतना चाहिये। जो क्रोधी है, वह भी मानता है कि क्रोध को जीतना चाहिये। जो लोभी है, वह भी मानता है कि लोभ को जीतना चाहिये। क्योकि लोभ से दुख मिलता है, इसलिए कोई भी जीतना चाहता है। क्रोध से दुख क्रोधी को भी मिलता है। वह भी मानता है कि गलती है मेरी, और महावीर ठीक कहते हैं।

महावीर ठीक कहते हैं, इसका कुल कारण इतना है कि वह क्रोध से दुख पाता है। क्रोध को जीतने मे जो उसका रस है, वह दुख को जीतने में है। लोभ से भी दुख पाता है, इसलिए कहता है कि ठीक कहते हैं महावीर। लोभ में दुख है, इसलिए दुख जीतना चाहिये, लेकिन रस उसका दुख जीतने में है।

यह स्वय को जीतना अति कठिन क्यों है ? महावीर कहते हैं 'दुर्जेय'। क्योकि आपको ख्याल ही नहीं है कि आपने स्वयं से कभी दुख पाया है। यही सूक्ष्मता है। जिस-जिस से दुख पाया, उस-उस को हम जीतना चाहते हैं। न जीत पाते हो, कमजोरी है। लेकिन आपको यह ख्याल में ही नहीं है, स्मरण ही नही है कि आपने अपने से दुख पाया है। हालांकि सब दुख आपने अपने से पाया है।

स्वय को जीतने का कोई सवाल ही नहीं होता, क्योंकि हम सोचते हैं स्वयं से तो हमने दुख पाया नहीं, दूसरों से दुख पाया है। दुश्मन को जीतना चाहिये, जो दुख देता हो उसका सफाया कर देना चाहिये।

अपने से हमने कभी दुख पाया नही, यद्यपि पाया सदा अपने से है। तो फिर तरकीब है हमारे मन की कि दुख पाते हैं अपने से, और आरोपित करते हैं दूसरों पर। दूसरे को शत्रु बना लेते हैं, ताकि खुद को शत्रु न बनना पड़े। दूसरे को मिटाने लग जाते हैं। यह सारी दृष्टि बदले, तो ही व्यक्ति धार्मिक

होता है। हटा लें दूसरो पर से अपने को, जहाँ-जहाँ आपने फैलाव किया है, जहाँ-जहाँ आपने अड्डे बना रखे हैं—दुखों को हटा ले वहाँ से।

दुख का घाव भीतर है। वह आप ही हैं दुख। वहाँ से लौट आएँ। और जब भी दुख मिले, तो जिसने दुख दिया है, उसे भूल जाएँ। जिसको दुख मिलता है, उसी को देखें। जिसको दुख मिलता है, वही दुख का कारण है। जो दुख देता है, वह दुख का कारण नही है। सदा भीतर लोट आएं। कोई गाली दे, तो हमारा ध्यान पता है कहाँ जाता है ? देनेवाले पर जाता है। सदा जब कोई गाली दे, तो हमारा ध्यान वहाँ जाये जिसको गाली दी गई है। जब कोई क्रोध मे आग बबूला हो, तो उस पर ध्यान न दे, उस क्रोध का जो परिणाम आप पर हो रहा है, भीतर जो क्रोध उबल रहा है, उस पर ध्यान दें।

जब भी कही कोई आपको लगे कि ध्यान का कारण बाहर है, तत्काल आँख बन्द कर लेना और ध्यान को भीतर ले जाना, तो आपको अपने परम शत्रु से मिलना हो जायेगा। वह आप ही हैं। और जिस दिन आपको अपने परम शत्रु से मिलना होगा, उसी दिन आप जीतने की यात्रा पर भी निकलेंगे।

और मजा यह है कि स्वय को न जानने से ही वह शत्रु है। और जसे-जैसे ध्यान भीतर बढ़ने लगेगा, वैसे-वैसे स्वय का जानना बढ़ने लगेगा। और जो शत्रु था, वह एक दिन मित्र हो जायेगा। जो जहर है वह अमृत हो जाता है। सिर्फ ध्यान को बदलने की बात है। सारी कीमिया, सारी 'अल्केमी' एक है—'ट्रासफर ऑफ द अटेन्शन', ध्यान का हटाना। गलत जगह ध्यान दे रहे हैं और जहाँ देना चाहिये, वहाँ नही दे रहे हैं।

इतना ही हो पाये कि मैं ध्यान 'ऑबजेक्ट' से हटा कर 'सबजेक्ट' पर बदल दूं, विषय से हटा लूं, विषयी पर चला जाऊँ। मेरा जगत् मैं हूँ और सारे कारण मेरे भीतर हैं। अपमान हो, सुख हो, दुख हो, प्रीति हो, सम्मान हो, जो कुछ भी हो तत्काल मौके को मत चूके, फौरन ध्यान को भीतर ले जाएँ और देख भीतर क्या हो रहा है। जल्दी ही भीतर का शत्रु मिल जायेगा। फिर ध्यान को बढ़ाते चले जाएँ। उसी शत्रु के भीतर छिपा परम मित्र भी मिल जायेगा। उस परम मित्र को महावीर ने आत्मा कहा है। वह परम मित्र सबके भीतर छिपा है, लेकिन हमने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया है।

आज इतना ही। कीर्तन करे और फिर जाएँ।

❀

द्वितीय पर्युषण व्याख्यानमाला, बम्बई
२१ सितम्बर, १९७२

अठारहवाँ प्रवचन

आत्म-सूत्र : २

●

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।
त तारिसं नो पइलेन्ति इन्दिया,
उवितिवाया व सुदंसणं गिरिं ।।

सरीरमाहु नाव त्ति,
जीवो वुच्चइ नाविओ ।
ससारो अण्णवो वुत्तो,
जं तरन्ति महेसिणो ।।

जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़-निश्चयी हो कि देह भले ही चली जाय, पर मैं अपना धर्म-शासन नहीं छोड़ सकता, उसे इन्द्रियाँ कभी भी विचलित नहीं कर सकतीं। जैसे भीषण बवंडर सुमेरु पर्वत को विचलित नहीं कर सकता।

शरीर को नाव कहा गया है और जीवन को नाविक तथा संसार को समुद्र। इसी संसार-समुद्र को महर्षिजन पार कर जाते हैं।

●

सूत्र के पहले थोडे से प्रश्न।

● एक मित्र ने पूछा है कि 'सद्‌गुरु की खोज हम अज्ञानी जन कर ही कैसे सकते हैं ?'

यह थोडा जटिल सवाल है और समझने योग्य भी। निश्चय ही शिष्य सद्‌गुरु की खोज नही कर सकता। कोई उपाय नही है आपके पास जानने का कि कौन सद्‌गुरु है। बल्कि सम्भावना यह है कि जिन बातो से प्रभावित होकर आप सद्‌गुरु को खोजें, वे बातें ही गलत हो। आप जिन बातों से आन्दोलित होते हैं, आकर्षित होते हैं, सम्मोहित होते हैं, वे बातें आपके सम्बन्ध मे बताती हैं—जिससे आप प्रभावित होते हैं, उसके सम्बन्ध में कुछ नही बताती। यह भी हो सकता है, अक्सर होता है कि जो दावा करता हो कि 'मै सद्‌गुरु हूँ' वह आपको प्रभावित कर लें; क्योकि हम दावों से प्रभावित होते हैं, इसलिए और बड़ी कठिनाई निर्मित हो जाती है। जो सद्‌गुरु हैं, वह शायद ही दावा करे कि मै सद्‌गुरु हूँ, और बिना दावे के हमारे पास कोई उपाय नहीं है पहचानने का।

हम चरित्र की सामान्य नैतिक धारणाओं से प्रभावित होते हैं, लेकिन सद्‌गुरु हमारी चरित्र की सामान्य धारणाओ के पार होता है। और अक्सर ऐसा होता है कि समाज की बँधी हुई धारणा जिसे नीति मानती है, सद्‌गुरु उसे तोड़ देता है। क्योकि समाज मानकर चलता है अतीत को और सद्‌गुरु का अतीत से कोई सम्बन्ध नहीं होता, समाज मानकर चलता है सुविधाओं को और सद्‌गुरु का सुविधाओ से कोई सम्बन्ध नही होता, समाज मानता है औपचारिकताओं को, 'फॉरमेलिटीफ़' को और सद्‌गुरु का औपचारिकताओं से कोई सम्बन्ध नही होता।

तो, यह भी हो जाता है कि जो आपकी नैतिक मान्यताओं में ठीक बैठ जाता है, उसे आप सद्‌गुरु मान लेते हैं। पर सम्भावना बहुत कम है कि सद्‌गुरु

आपकी मान्यताओ में ठीक बैठे। क्योकि महावीर नैतिक मान्यताओ में ठीक नही बठ सके उस जमाने की, बुद्ध नही ठीक बैठ सके, कृष्ण नही ठीक बैठ सके, क्राइस्ट नहीं ठीक बैठ सके। अब तक इस पृथ्वी पर जो भी श्रेष्ठजन पैदा हुए हैं, वे अपने समाज की मान्यताओं के अनुकूल नही बैठ सके। क्राइस्ट नही बैठ सके अनुकूल, लेकिन उस जमाने में बहुत से ऐसे महात्मा थे, जो उस जमाने की मान्यताओं के अनुकूल थे। लोगो ने उन महात्माओं को चुना, लेकिन क्राइस्ट को नही। क्योकि लोग जिन धारणाओ में पले हैं, उन्ही धारणाओ के अनुसार वे चुन सकते हैं।

सद्‌गुरु का सम्बन्ध होता है सनातन सत्य से; साधुओ, तथाकथित साधुओ का सम्बन्ध होता है सामयिक सत्य से। समय का जो सत्य है उससे सम्बन्धित होना एक बात है और जो शाश्वत सत्य है, उससे सम्बन्धित होना बिलकुल दूसरी बात है। समय के सत्य रोज बदल जाते हैं, रूढियाँ रोज बदल जाती हैं, व्यवस्थाएँ रोज बदल जाती हैं, दस मील पर नीति मे फर्क पड जाता है, लेकिन धर्म मे कभी भी कोई फर्क नही पडता।

इसलिए अति कठिन है पहचान लेना कि 'कौन है सद्‌गुरु ?' फिर हम सब की अपने मन मे बैठी व्याख्यायें हैं। जैसे अगर आप जैन घर मे पैदा हुये हैं, तो आप कृष्ण को सद्‌गुरु कभी भी न मान सकेंगे। इसका यह कारण नही है कि कृष्ण सद्‌गुरु नही हैं। इसका कारण यह है कि आप जिन मान्यताओ मे पैदा हुए हैं, उन मान्यताओ से कृष्ण का कोई ताल-मेल नही बैठता। अगर आप जैन घर मे पैदा हुए हैं, तो राम को सद्‌गुरु मानने मे कठिनाई होगी। अगर आप कृष्ण की मान्यता मे पैदा हुए हैं, तो महावीर को सद्‌गुरु मानने मे कठिनाई होगी। और जिसने महावीर को सद्‌गुरु माना है, वह मोहम्मद को सद्‌गुरु कभी न मान सकेगा।

धाराणाएँ हमारी हैं और कोई सद्‌गुरु धारणाओ में बँधता नहीं है, बँध नही सकता। फिर हम एक सद्‌गुरु के आधार पर निर्णय कर लेते है कि सद्‌गुरु कैसा होगा ! सभी सद्‌गुरु बेजोड होते हैं, अद्वितीय होते हैं; दूसरे से कुछ लेना-देना नही होता। मोहम्मद के हाथ मे तलवार है—महावीर के हाथ मे तलवार हम सोच भी नही सकते। महावीर नग्न खड़े हैं—कृष्ण आभूषणो से लदे बाँसुरी बजा रहे हैं। इनमे कही कोई मेल नहीं होता। 'राम' सीता के साथ पूजे जाते हैं एक दम्पति के रूप मे। कोई जैन तीर्थंकर पत्नी के साथ नहीं पूजा जा सकता। क्योकि जब तक पत्नी है, तब तक तीर्थंकर कैसे होगा ?

जब तक वह गृही है, तब तक तो वह संन्यासी भी नहीं है। हम तो राम का नाम भी लेते हैं, तो 'सीता-राम' कहते हैं; पहले सीता को रख लेते हैं। सीता के बिना राम बिलकुल अधूरे हैं, लेकिन महावीर या ऋषभ, या पार्श्वनाथ का पत्नियो से कोई लेना-देना नही है। उनकी पूर्णता पत्नियों से पूरी नही होती।

तो जिसने एक को सद्गुरु माना वह मुश्किल में पडेगा, क्योंकि उसकी धारणाएँ अब तय हो गई हैं। अब वह उन्ही धारणाओं से तौलता चलेगा। न दुबारा राम होते हैं, न दुबारा महावीर और न क्राइस्ट ही। इसलिए जब भी कोई सद्गुरु होगा, तो आपकी धारणाएँ उसको न पहचानने देंगी। आपकी धारणाएँ होंगी किसी पुराने सद्गुरु के आधार पर और दुबारा कोई सद्गुरु दोहराता नही है इस जगत् मे। हर बार जब भी कोई सद्गुरु होता है, नया होता है और आपकी धारणाओ की वजह से आप उसे नही देख पाते। यहूदियों को जीसस दिखाई नही पड़े। किसी यहूदी ग्रन्थ मे जीसस का उल्लेख तक नहीं है—जीसस जैसा व्यक्ति पैदा हुआ हो यहूदी घर में! आज सारी दुनिया में जीसस को मानने वाले सर्वाधिक लोग हैं। आधी दुनिया जीसस को मानती है, लेकिन यहूदी किताबों मे उनके नाम तक का भी उल्लेख नही है।

आप जानकर हैरान होंगे कि महावीर का हिन्दू-ग्रन्थों में कोई उल्लेख नही है! चकित करने वाली बात है, कारण साफ है कि जिन्होंने राम को, कृष्ण को गुरु माना है, वे महावीर को गुरु नही मान सकते। जिन्होंने मूसा को गुरु माना है, वे जीसस को गुरु नहीं मान सकते। कारण यह नही है कि जीसस और मूसा में कोई विरोध है। कारण सिर्फ इतना है कि धारणा जो बन जाती है, उसी धारणा से हम तौलने जाते हैं। वह धारणा ही बाधा बन जाती है।

कोई सद्गुरु की खोज नही कर सकता। घटना दूसरी ही घटती है, सद्गुरु आपकी खोज करता है।

मामला और जटिल है। फिर आपसे यह कहने का क्या अर्थ है कि सद्गुरु की खोज करें!

वैसा कहने का सिर्फ इतना ही अर्थ है कि सद्गुरु की जब आप खोज कर रहे हों, और अगर आपने धारणाएँ न बनाई हों, अगर आप निर्मल, शान्त, मौन-चित्त से खोज करते रहें, तो इस खोज में ही कोई सद्गुरु आपको चुन लेगा। आप तो नहीं खोज पायेंगे, लेकिन आपकी यह खोज आपको सद्गुरुओं के निकट ले आयेगी।

सद्गुरु आपको पहचान सकता है कि आप हो सकते हैं शिष्य या नहीं। लेकिन जटिलतायें बढ जाती हैं, इसलिए कि सद्गुरु जब आपको चुनता है, तब भी वह आपको यही भ्रम देता है कि आपने उसे चुना। यह भ्रम देना जरूरी है। कल ही मैं कह रहा था कि कृष्णमूर्ति के साथ अडचन यही हो गई है कि उन्हे यह लगा कि सद्गुरुओं ने उन्हे चुन लिया। जल्दी थी, कारण था, कृष्णमूर्ति की उम्र थी कम—नौ साल और एनिबीसेन्ट और लेडबीटर बूढे हो रहे थे। और कोई उपाय नही था कि वे प्रतीक्षा करें कि कृष्णमूर्ति उनको चुन सके। कोई दूसरा व्यक्ति मिल नही रहा था, जिसको वे सम्हाल सके, सौंप सके, जो उन्होंने जाना था। जल्दी मे उन्होने कृष्णमूर्ति को यह मौका नही दिया कि कृष्णमूर्ति को यह लगता कि उन्होंने चुना है। यह भूल हो गई और इस दुनिया मे गुरुओ के खिलाफ सर्वाधिक प्रबल रूप से खडा होने वाला व्यक्ति पैदा हो गया।

लेकिन हर गुरु सुविधा देता है आपको इस भ्रम मे पडने की कि आपने उसे चुना है। यह सुविधा देना जरूरी है, क्योंकि अभी आपका अहकार मौजूद है। अगर आपको ऐसा लगे कि आपने नही चुना है, तो आपके अहकार में बाधा पड जायेगी, जो आगे जाकर कष्ट देगी। इसलिए सद्गुरुओं ने हजारों साल से इस बात पर प्रयोग किया है कि वे ही आपको चुनते हैं, लेकिन कभी आपको यह भ्रम नही होने देते प्रारम्भ मे कि उन्होने आपको चुना है, या बुलाया है। आप ही उनके पास जाते हैं, आप ही उन्हें चुनते हैं, यह तो आपको आखिर में ही पता चलता है कि आप चुने गये, बुलाये गये—गुरु आपने नही चुना, गुरु की खोज आपसे नही हुई—यह बहुत बाद में आपको पता चलता है।

जुन्नून, एक सूफी फकीर ने कहा है कि तीस वर्ष गुरु के पास रहने के बाद मुझे पता चला कि यह मैं नहीं था, जिसने गुरु को चुना—यह गुरु ही था, जिसने मुझे चुना। तीस साल के बाद उसे पता चला।

बुद्ध एक गाँव में आये, सारा गाँव इकट्ठा हो गया। बुद्ध बोलने के लिए बैठ गये, लेकिन बोले नही। आखिर गाँव की पंचायत के प्रमुख ने कहा कि अब आप बोलें, सारा गाँव आ गया है! बुद्ध ने कहा—थोड़ा ठहरें! जिसके लिए बोलने मैं आया हूँ, वह अभी मौजूद नही है।

गाँव के जो-जो प्रमुख लोग थे, सभी मौजूद थे। छोटा सा गाँव था। बुद्ध किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। गाँव के लोग बड़े हैरान हुए कि 'बुद्ध किसकी

प्रतीक्षा कर रहे हैं ?' थोड़ी देर के बाद एक स्त्री आई और बुद्ध ने बोलना शुरू कर दिया। गाँव के लोगों ने बाद मे बुद्ध से पूछा कि हम कुछ समझ नहीं! इस स्त्री को हमने कभी धार्मिक जाना नहीं। इसके लिए आप रुके थे ? बुद्ध ने कहा—इसी के लिए मैं गाँव में आया हूँ। जब मैं इस गाँव में आ रहा था, तब ये मुझे रास्ते पर मिली थी। और इसने मुझे कहा था कि रुकना ! मैं पति को भोजन देने जा रही हूँ। कोशिश करूँगी जल्दी पहुँचने की।

गाँव के लोगो को ख्याल नही आ सकता कि बुद्ध किसी का चुनाव कर रहे हैं ! कोई चुना जा रहा है। किसी को कोई बात कही जा रही है। वे किसी खास व्यक्ति के लिए आये होगे गाँव मे—यह तो ख्याल में भी नहीं आता। यह बताना उचित भी नही है। इससे कोई बहुत हित भी नही होता।

गुरु ही चुनता है आपको। फिर आप क्या करें ? क्या आप बिलकुल असहाय हैं ?

नही आप कुछ कर सकते हैं। गुरु चुने, तो आप बाधा डाल सकते हैं। बिलकुल असहाय नही हैं आप। गुरु लाख उपाय करे, आप बाधा डाल सकते हैं। गुरु कुछ भी आपके बिना सहारे के नही कर सकेगा। आपका सहारा तो चाहिए ही। अगर आप ही पीठ फेर कर खड़े हो गये हों, तो कोई उपाय नही है। शिष्य की तरफ से इतना ही होना चाहिए कि वह खुला हो। कोई उसे चुनने आये, तो वह बाधा न डाले। ऐसे मे डर लगेगा कि कही कोई असद्‌गुरु हमे न चुन ले। यहाँ बात जरा और बारीक है। जिस तरह मैंने कहा कि शिष्य का अहंकार होता है, इसलिए उसे ऐसा भास होना चाहिए कि मैंने चुना। उसी तरह असद्‌गुरु का भी अहंकार होता है; उसे इसी मे मजा आता है कि शिष्य ने उसे चुना।

इसे थोड़ा समझ लें।

असद्‌गुरु को तभी मजा आता है, जब आपने उसे चुना हो। असद्‌गुरु आपको नहीं चुनता। उसका तो रस ही यह है कि आपने उसे माना, आपने उसे चुना। इसलिए आप चुनने की बहुत फिक्र न करें, खुलेपन की फिक्र करें। सम्पर्क मे आते रहें, लेकिन बाधा न डालें, खुले रहें।

इजिप्शियन साधक कहते हैं—'व्हेन द डिसाइपल इज रेडी, द मास्टर अपीयर्स।' आपकी तैयारी का एक ही मतलब है कि जब आप पूरे खुले हैं, तब आपके द्वार पर वह आदमी आयेगा, जिसकी आपको जरूरत है। क्योंकि आपको

पता नहीं है कि जीवन में एक बहुत बड़ा सयोजन है। आपको पता नही है कि जीवन के भीतर बहुत कुछ चल रहा है परदे की ओट में। आपके भीतर बहुत कुछ चल रहा है परदे की ओट मे।

जीसस को जिस व्यक्ति ने दीक्षा दी, वह था 'जॉन द बैप्टिस्ट', बप्तिस्मा वाला जॉन। बप्तिस्मा वाला जॉन एक बूढ़ा आदमी था, जो जॉर्डन नदी के किनारे चालीस साल से निरन्तर लोगों को दीक्षा दे रहा था। वह बहुत बूढा और जर्जर हो गया था। अनेक बार उसके शिष्यो ने उसे कहा कि अब आप श्रम न लें, अब आप विश्राम करे।

हजारो लोग इकट्ठे होते थे उसके पास; हजारो लोग उससे दीक्षा लेते थे। जीसस के पूर्व, वह बड़े से बड़े गुरुओ में एक था। लेकिन बप्तिस्मा वाला जॉन कहता कि अभी मैं उस आदमी के लिए रुका हूँ, जिसे दीक्षा देकर मैं अपने काम से मुक्त हो जाऊँगा। जिस दिन वह आदमी आ जायेगा, उस दिन मै विलीन हो जाऊँगा। जिस दिन वह आदमी आ जायेगा, उसके दूसरे दिन तुम मुझे नही पाओगे। और फिर एक दिन आकर जीसस ने दीक्षा ली और उस दिन के बाद बप्तिस्मा वाला जॉन फिर कभी नही देखा गया। शिष्यों ने उसकी बहुत खोज की, पर उसका कोई पता न चला कि वह कहाँ गया, क्या उसका हुआ ?

वह जीसस के लिए रुका हुआ था। जीसस का गाँव जॉर्डन से बहुत दूर न था। वह जाकर भी दीक्षा दे सकता था। लेकिन तब वह भूल हो जाती। तब शायद जीसस उस दीक्षा को न झेल पाते, जैसे कृष्णमूर्ति की कठिनाई हो गई।

पास ही था गाँव, लेकिन जॉन वहाँ नही गया। उसने प्रतीक्षा की, कि जीसस आ जाए। जीसस को इतना ख्याल तो हो कि जॉन को 'गुरु को' उसने चुना। इससे बुनियादी अन्तर पड़ जाते हैं। इतना ख्याल देने के लिए बूढ़ा आदमी श्रम करता रहा और प्रतीक्षा करता रहा। जीसस के आने पर जॉन तिरोहित हो गया।

एक आयोजन भीतर जो चल रहा हे, उसका आपको पता नही है। उसका आपको पता हो भी नही सकता, क्योंकि आप सतह पर जीते हैं, कभी अपने भीतर नही गये। जीवन के भीतरी तलों का आपको कोई अनुभव नही है। जब आप खिंचे चले जाते हैं किसी आदमी की तरफ, तो आप इतना ही मत सोचना कि आप ही जा रहे हैं, कोई आपको खींच भी रहा है। सच तो यह है कि

जब चुम्बक खींचता है लोहे के टुकड़े को, तो लोहे का टुकड़ा नहीं जानता है कि चुम्बक ने उसे खीचा। चुम्बक का उसे पता भी नही है। लोहे का टुकड़ा अपने मन में कहता होगा कि मैं जा रहा हूँ; चुम्बक खीचता है, यह लोहे के टुकडे को पता भी नही चलता।

सद्गुरु एक चुम्बक है। आप खिंचे चले जायेंगे। आप अपने को खुला रखना। फिर यह भी जरूरी नही है कि सब सद्गुरु आपके काम के हों। असद्गुरु तो काम के हैं ही नही, सभी सद्गुरु भी काम के नही है, जिससे आप का ताल-मेल बैठ जाए। जिससे आपकी भीतरी रुझान ताल-मेल खा जाए, वही आपके काम का है।

जापान में झेन गुरु अपने शिष्यो को एक दूसरे के पास भी भेजते थे। यहाँ तक भी हो जाता है कि कभी एक सद्गुरु, जो सैद्धान्तिक रूप से दूसरे सद्गुरु के बिलकुल विपरीत है, विरोध मे है, जो उसका खण्डन करता रहता है, वह भी अपने किसी शिष्य को उसके पास भेज देता है।

बोकोजू के गुरु ने बोकोजू को अपने विरोधी सद्गुरु के पास भेज दिया। बोकोजू ने कहा—'आप अपने शत्रु के पास मुझे भेज रहे हैं। अब तक तो मैं यही सोचता था कि वह आदमी गलत है।'

बोकोजू के गुरु ने कहा, 'हमारी पद्धतियाँ विपरीत हैं। कभी मैंने कहा नही कि वह गलत है। इतना ही कहा कि उसकी पद्धति गलत है। पद्धति उसकी भी गलत नही है। मेरी पद्धति समझने के लिए उसकी पद्धति को जब मैं गलत कहता हूँ, तो तुम्हे आसानी होती है। और मेरी पद्धति को जब वह गलत कहता है, तो उसके पास जो लोग बैठे हैं, उन्हें समझने मे आसानी होती है,—'कन्ट्रास्ट' से, विरोध से आसानी हो जाती है। जब हम कहते हैं कि फलां चीज सही है और फला चीज गलत है, तो काले और सफेद की तरह दोनो चीजें साफ हो जाती हैं। बोकोजू तू वहाँ जा, क्योंकि तेरे लिए वही गुरु है! मेरी पद्धति तेरे काम की नही। लेकिन किसी को बताना मत! जाहिर दुनिया मे हम दुश्मन हैं और भीतरी दुनिया में हमारा भी एक सहयोग है।'

बोकोजू दुश्मन गुरु के पास जाकर दीक्षित हुआ और ज्ञान को उपलब्ध हुआ। जिस दिन वह ज्ञान को उपलब्ध हुआ, उसके गुरु ने कहा कि 'जाकर अपने पहले गुरु को धन्यवाद दे आ! क्योंकि उसने ही तुझे मार्ग दिखाया। मैं तो निमित्त हूँ, उसने ही तुझे भेजा है। असली गुरु तेरा वही है। अगर वह

असद्गुरु होता, तो वह तुझे रोक देता। वह सद्गुरु था, इसलिए तुझे मेरे पास भेजा। लेकिन किसी को कहना मत ! जाहिर दुनिया में हम दुश्मन हैं, पर वह दुश्मनी भी हमारा षड़यन्त्र है। उसके भीतर एक गहरी मैत्री भी है। मैं भी वही पहुँचा रहा हूँ लोगों को, जहाँ वह पहुँचा रहा है, मगर यह किसी को बताने की बात नही है। हमारा जो खेल चल रहा है, उसको बिगाड़ने की कोई जरूरत नही है।'

एक अन्तर्जगत् है रहस्यो का, उसका आपको पता नही है। इतना ही आप कर सकते हैं कि आप खुले रहे। आपकी आँख बन्द न हो। और आप इतने ग्राहक रहे कि जब कोई आप को चुनना चाहे, कोई चुम्बक आपको खीचना चाहे, तो आपकी ओर से कोई प्रतिरोध न हो। एक दिन आप सद्गुरु के पास पहुँच जायेंगे। यह तैयारी अगर हुई तो आप अवश्य पहुँच जायेंगे। थोडी-बहुत भटकन बुरी नही है। और ऐसा मत सोचे कि भटकना बुरा ही है। भटकना भी एक अनुभव ही है। और भटकने से भी एक प्रौढ़ता, एक 'मेच्योरिटी' आती है। जिन गुरुओं को आप व्यर्थ समझकर छोडे चले जाते हैं, उनसे भी आप वहुत कुछ सीखते हैं। जिनसे आप कुछ भी नही सीखते, उनसे भी आप कुछ सीखते हैं। जिनको आप व्यर्थ पाते हैं, अपने काम नही पाते और हट जाते हैं, वे भी आपको निर्मित कर रहे हैं।

जिन्दगी बडी जटिल व्यवस्था है और उसके सृजन का जो काम है, उसके बहु आयाम हैं। भूल भी ठीक की तरफ ले जाने का मार्ग है। इसलिए भूल करने से डरना नहीं चाहिये। नही तो कोई आदमी ठीक तक कभी पहुँचता ही नही। भूल करने से जो डरता है, वह भूल मे ही रह जाता है। वह कभी सही तक नही पहुँच पाता। खूब दिल खोलकर भूल करनी चाहिए। एक ही बात ध्यान रखनी चाहिए कि एक ही भूल दुबारा न हो। हर भूल इतना अनुभव दे जाए कि उस भूल को हम दुबारा न करें। तो फिर हम धन्यवाद दे सकेंगे— उसको भी जिससे भूल हुई, जिसके द्वारा हुई, जिसके कारण हुई, जिसके साथ हुई, जहाँ हुई—उसको भी हम धन्यवाद दे सकते हैं। लेकिन कुछ लोग जीवन के सृजन की जो बड़ी प्रक्रिया है, उसको नही समझते। वे कहते हैं—आप तो सीधा-सीधा ऐसा बता दें कि कौन है सद्गुरु ? हम वहाँ चले जाएँ ! आपको जाना पड़ेगा।

भूलना, भटकना अनिवार्य हिस्सा है। थोड़ी सी भूलें कर लेने से आपकी गहराई बढ़ती है। और, भूलें करके आपको पता चलता है कि ठीक क्या होगा। इसलिए असद्गुरु का भी थोड़ा उपयोग है। वह भी बिलकुल व्यर्थ नही है।

एक बात ध्यान रखें कि परमात्मा के इस विराट आयोजन में कुछ भी व्यर्थ नही है। यहाँ जो आपको व्यर्थ दिखाई पड़ता है, वह भी सार्थक की ओर इशारा है। और यहाँ अगर असद्‌गुरु हैं, तो वे भी पृष्ठभूमि का काम करते हैं, जिनमें सद्‌गुरु चमक कर दिखाई पड जाता है; नही तो वह दिखाई नही पडेगा। जिन्दगी विरोध से निर्मित है। सत्य की खोज असत्य के मार्ग से भी होती है। सही की खोज भूल के द्वार से भी होती है। इसलिए भयभीत न हों, अभय रखें और खुले रहे। भय की वजह से आदमी बन्द हो जाता है। वह डरा ही रहता है कि कही ऐसा न हो कि किसी गलत आदमी से जोड़ हो जाये। इस भय से वे बन्द ही रह जाता है। बन्द आदमी का गलत आदमी से तो जोड़ होता नही, सही आदमी से भी जोड नहीं होता। खुले आदमी का गलत आदमी से भी जोड होता है; लेकिन जो खुला है, वह खुले होने के कारण और गलत के अनुभव से, जल्दी ही सही के निकट होने लगता है। इतना स्मरण रखें कि सद्‌गुरु आपको चुन ही लेता है, वह सदा ही मौजूद है; शायद ठीक आपके पडोस में हो।

एक दिन हसन ने परमात्मा से प्रार्थना की कि दुनिया मे सबसे बुरा आदमी कौन है—बडे से बड़ा पापी? रात उसे स्वप्न में सदेश आया कि तेरा पडोसी इस समय दुनिया मे सबसे बडा पापी है।

हसन बहुत हैरान हुआ क्योंकि पड़ोसी बहुत सीधा-सच्चा आदमी था, साधारण आदमी था। पापी होने की ऐसी कोई खबर भी नही थी, कोई अफवाह भी नही थी। हसन बड़ा चकित हुआ कि जगत् का सबसे बडा पापी पास में है। और मुझे अब तक उसका कोई पता नहीं है! उसने उस रात दूसरी प्रार्थना की कि 'एक प्रार्थना और मेरी पूरी करें—जगत् मे सबसे बड़ा पुण्यात्मा, सबसे बडा ज्ञानी, सबसे बड़ा सन्त-पुरुष कौन है? एक को तो बता दिया, अब दूसरा भी बता दें।'

रात संदेश आया कि 'तेरा दूसरा पड़ोसी।'

हसन तो हैरान हो गया, क्योंकि वह भी एक साधारण आदमी था। वह एक चमार था, जो जूते बेचता था। वह पहले वाले आदमी से भी अधिक साधारण था। हसन ने तीसरी रात प्रार्थना की कि हे परमात्मा! तू मुझे और उलझन मे डाल रहा है। हम ज्यादा सुलझे हुए थे, तेरे इन उत्तरों से हम और मुसीबत मे पड़ गए! कैसे पता लगे—कौन अच्छा है, कौन बुरा है?

तीसरे दिन सदेश आया कि जो बन्द हैं, उन्हे कुछ भी पता नही चलता। जो खुले हैं, उन्हें सब पता चल जाता है। तू एक बन्द आदमी है। इसलिए दोनों तरफ, पड़ोस में वे लोग मौजूद हैं—नरक और स्वर्ग तेरे पडोस मे मौजूद हैं और तुझे पता नही चला ! तू बन्द आदमी है। तू खुला हो, तो तुझे पता चल जाएगा।

अगर आपका मस्तिष्क एक खुला मस्तिष्क हो—जिसके दरवाजे बन्द नही हैं, जिसमे ताले नही डाल रखे हैं आपने। जहाँ से हवाएँ गुजरती हैं ताजी, रोज जहाँ सूरज की किरणें प्रवेश करती है, और जहाँ चाँद की चाँदनी भी आती है, जहाँ वर्षा हो तो उसकी बूँदे भी पडती हैं। जहाँ धूप निकले तो भीतर रोशनी पडती है। बाहर अधेरा हो तो अधेरा भी भीतर प्रवेश करता है—मन आपका एक खुला आकाश हो, तो सद्गुरू आपको चुन लेगा।

सद्गुरु ही चुनता है।

● एक दूसरे मित्र ने पूछा है—जागृति की, होश की साधना मे भय का जन्म हो जाता है। और हर समय डर लगा रहता है कि जीवन-चर्या अस्त-व्यस्त न हो जाए। फिर ऐसा भी लगता है कि क्रोध, काम आदि उठते हैं, तो उन्हे कर लेने से पाँच-सात मिनट मे निपट जाते हैं, उनसे मुक्ति हो गई ऐसा मालूम पडता है। न करो तो दिनों तक उनकी प्रतिध्वनि, उनकी तरंगे भीतर गूँजती रहती हैं। और तब ऐसा लगता है कि कर ही लिया होता, तो निपट गए होते।

तो क्या करे ? क्या ऐसी जागृति दमन नही है ?

दो बातें। एक तो जागृति से कोध जो पाँच मिनट में निपट जाता है, अगर दो दिन तक चल जाता है, तो समझना कि वह जागृति नही है, तब वह दमन ही है। क्योकि दमन से ही चीजें फैल जाती हैं। भोग से भी ज्यादा उपद्रव खड़ा हो जाता है। अगर कामवासना उठती है और क्षण भर में निपट जाती है और जागृति से दिनों सरकती है और सघन होने लगती है और मन पर बोझ बन जाती है, तो समझना कि वह जागृति नही है, दमन ही है।

हममें बहुत से लोग ठीक से समझ नहीं पाते कि 'जागृति और दमन में फर्क क्या है ?'

दमन का मतलब है—जो भीतर उठा है, उसे भीतर ही दबा देना; बाहर

न निकलने देना। भोग का अर्थ है, उसे बाहर निकलने देना—किसी पर। फर्क समझ लें।

दमन का अर्थ है, अपने में दबा देना और भोग का अर्थ है, दूसरे पर निकाल लेना; पर जागृति तीसरी बात है। जागृति शून्य में निकाल लेना—न अपने में दबाना, न दूसरे पर निकालना—शून्य में निकाल लेना।

एक प्रयोग करें। जब क्रोध उठे तो द्वार बन्द कर लें। एक तकिया अपने सामने रख लें और तकिए पर पूरी तरह क्रोध निकालें। जो-जो करने का मन हो रहा हो—घूंसा मारना हो, मारें, पीटना हो तकिए को, पीटें; चीरना-फाड़ना हो, चीरे-फाड़ें, काटना हो, काटें—जो भी करना हो, पूरी तरह कर लें। और यह करते वक्त पूरा होश रखें कि मैं क्या कर रहा हूँ, मुझसे क्या-क्या हो रहा है।

यह करते वक्त पूरा होश रखें कि मेरे दाँत काटना चाह रहे हैं और मैं काट रहा हूँ। मन कहेगा कि 'यह क्या बचकानी बात कर रहे हो, इसमें क्या सार है?' मन कहेगा कि असली आदमी को काटो तो सार है, असली आदमी को मारो तो सार है। लेकिन आपको पता है कि घूंसा चाहे आप तकिए को मारें और चाहे असली आदमी को, भीतर की जो प्रक्रिया है, वह बराबर एक सी ही रहती है। उसमें कोई फर्क नहीं है।

शरीर में क्रोध के जो अणु फैल जाते हैं खून मे, वे तकिए पर मारने से भी उसी तरह निकल जाते है, जिस तरह असली आदमी को मारने से निकलते हैं। हाँ, असली आदमी को मारने से शृंखला शुरू होती है, क्योंकि अब उसका भी क्रोध जगेगा। अब वह भी आप पर अपना क्रोध निकालना चाहेगा। पर तकिया बड़ा ही सन्त है। वह आप पर कभी भी अपना क्रोध नहीं निकालेगा, वह पी जायेगा। अगर आप महावीर को मारने पहुँच जाते तो जिस तरह वे पी जाते, उसी तरह तकिया भी पी जायेगा। आपको दबाना भी नहीं पड़ेगा, रोकना भी नही पड़ेगा और किसी पर निकालने भी नही जाना पड़ेगा।

इसको ठीक से समझ लें, तो 'कैथासिस' की रेचन की प्रक्रिया समझ में आ जायेगी। और रेचन मे ही जागरण आसान है। अगर आप सोचते हो कि 'हमसे नही निकलेगा' तो आप गलत सोचते हैं। मैं सैकड़ों लोगों पर प्रयोग करके कह रहा हूँ—आप ही जैसे लोगों पर। बहुत दिल खोल कर निकलता है। सच तो यह है कि दूसरे पर निकालने में थोड़ा दमन तो हो ही जाता है, पूरा नहीं निकल पाता। वह जो थोड़ा दमन हो जाता है, वह जहर की तरह

घूमता रहता है। दूसरे पर दिल खोल कर कभी निकाला नहीं जा सकता। दूसरे से सदा भय बना रहता है।

एक युवक पर मैं प्रयोग कर रहा था। पहले तो वह हँसा, उसने कहा कि आप भी कैसी मजाक करते हैं, तकिए पर! मैंने उससे कहा कि मजाक ही सही, तुम शुरू करो। उसने कहा कि यह तो 'एक्टिंग' हो जायेगी, अभिनय हो जायेगा। मैंने कहा कि होने दो।

दो दिन बाद गति आनी शुरू हो गई। पाँच दिन बाद वह पूरी तरह तल्लीन था। पाँच दिन के बाद तो वह बहुत आनन्दित था तकिए के साथ। और पाँच दिन के बाद उसने मुझे बताया कि यह चकित करने वाली बात है कि अब मेरा क्रोध मेरे पिता पर है—सारा क्रोध। और अब मैं तकिए मे तकिए को नही देख पाता। तकिए मेंअ ब मुझे पिता पूरी तरह अनुभव होने लगे हैं। सातवे दिन वह एक छुरा लेकर आ गया। मैंने कहा, यह छुरा किस लिए लाये हो। उसने कहा कि अब आप मुझे रोकें मत। जब कर ही रहा हूँ, तो अब पूरा ही कर लेने दें। जब इतना निकला है और मैं इतना हल्का हो गया हूँ, तो पिता की हत्या करने का मेरे मन में न मालूम कितनी दफे ख्याल आया है। अपने ख्याल को दबा लिया हूँ कि यह तो बडी गलत बात है, पिता की और हत्या!

वह लडका अमेरिका से हिन्दुस्तान आया था, सिर्फ इसलिए कि पिता से इतनी दूर चला जाये कि कही पिता की हत्या न कर दे। फिर उसने पिता की हत्या कर दी—छुरा लेकर उसने तकिए को चीर-फाड डाला, हत्या कर डाली। उस युवक का चेहरा देखने लायक था, जब वह पिता की हत्या कर रहा था और जब मैंने उसे आवाज दी कि तू होशपूर्वक कर, तो वह दूसरा ही आदमी हो गया था तत्काल। इधर हत्या चलती रही बाहर, उधर भीतर एक होश का दिया भी जलने लगा। वह अपने को देख पाया पूरी नग्नता में, अपनी पूरी पशुता मे। और सात दिन के इस प्रयोग के बाद, अब वह होश रख सकता है। क्रोध में अब तकिए को भी मारने की उसे जरूरत नही है। अब क्रोध आता है, तो वह आँख बन्द कर लेता है। अब वह क्रोध को देख सकता है सीधा, अब तकिए के माध्यम की कोई जरूरत नही रही। क्योंकि असली माध्यम से नकली माध्यम चुना। अब नकली माध्यम से गैर-माध्यम पर उतरा जा सकता है।

तो जिनको भी क्रोध का दमन करना हो, अगर वे जागृति का उपयोग कर रहे हों, तो उनको जागृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सिर्फ क्रोध को दबाना चाह रहे हैं। जिन्हें क्रोध का विसर्जन करना हो, उन्हें क्रोध पर प्रयोग करना चाहिऐ, क्रोध पर ध्यान करना चाहिये। सारे जगत् मे अकेले महावीर ने दो बुरे ध्यानो की बात की है, जिन्हे किसी और ने कभी ध्यान नही कहा। महावीर ने चार ध्यान कहे हैं। दो ध्यान जिनके ऊपर उठना है, और दो ध्यान जिनमे जाना है। दुनिया में ध्यान की बात करने वाले लाखों लोग हुए हैं, लेकिन महावीर ने जो बात कही, वह बिलकुल उनकी है। वह किसी ने भी नही कही।

महावीर ने कहा है कि दो ध्यान ऐसे जिनके ऊपर जाना है और दो ध्यान ऐसे हैं जिनमे जाना है। हम तो सोचते है कि ध्यान हमेशा अच्छा होता है, पर महावीर कहते हैं—दो बुरे ध्यान भी हैं। उनको महावीर कहते हैं 'आर्त्र-ध्यान' और 'रौद्र-ध्यान'। दो बुरे ध्यान और दो भले ध्यान हैं; भले ध्यान को महावीर कहते हैं—'धर्म-ध्यान' और 'शुक्ल-ध्यान'। चार ध्यान हैं। रौद्र-ध्यान का अर्थ है—क्रोध, आर्त्र-ध्यान का अर्थ है—दुख।

जब आप दुख मे होते हैं, तो चित्त एकाग्र हो जाता है। आपका कोई अगर मर जाये, आपका प्रेमी मर जाये, तो उस वक्त आपका चित्त बिलकुल एकाग्र हो जाता है। जब वह जिन्दा था, तब उस पर चित्त कभी एकाग्र नहीं हुआ था। अब वह मर गया है, तो उस पर चित्त एकाग्र हो गया है। जब वह जिन्दा था, तभी इतना चित्त एकाग्र कर लिया होता, तो शायद उसे मरना भी न पडता इतनी जल्दी ! लेकिन जिन्दे व्यक्ति मे कही कोई चित्त एकाग्र होता है ? मर जाये, तो इतना धक्का लगता है कि सारा चित्त एकाग्र हो जाता है।

दुख मे आदमी चित्त एकाग्र कर लेता है। क्रोध में भी आदमी का चित्त एकाग्र हो जाता है। क्रोधी आदमी को देखें, क्रोधी आदमी बडे ध्यानी होते हैं। क्रोधी को सारी दुनिया मिट जाती है, बस वही एक बिन्दु रह जाता है, जिस पर उसका क्रोध है; और सारी शक्ति उसी एक बिन्दु की तरफ दौड़ने लगती है, उसके क्रोध में एकाग्रता आ जाती है। महावीर ने कहा है, यह भी दोनों ध्यान हैं। बुरे ध्यान हैं, पर ध्यान हैं। अशुभ ध्यान हैं, पर ध्यान हैं। इनसे ऊपर उठना हो, तो इनको करके, इनमे जाकर ही ऊपर उठा जा सकता है।

जब दुख हो, तो द्वार बन्द कर लें। और दिल खोलकर रोएँ, छाती पीटें, जो

भी करना हो, करें—किसी दूसरे पर न निकालें। हम दुख भी दूसरे पर निकालते हैं। अगर लोगों की चर्चा सुनो; तो लोग अपने-अपने दुख एक दूसरे को सुनाते रहते हैं, यह निकालना है। लोगों की चर्चा का नब्बे प्रतिशत दुखों की कहानी है। लोग अपनी बीमारियाँ, अपने दुख, अपनी तकलीफें, दूसरों पर निकाल रहे हैं।

मन, लोग कहते हैं, कह देने से हल्का हो जाता है। आपका हो जाता होगा, दूसरे का क्या होता है, इसका भी तो सोचो। आप हलके होकर घर आ गये, और जिनको फँसा आये आप ? इसलिए लोग दूसरे की दुख की बातें सुन कर भी अनसुनी करते हैं, क्योंकि वे अपना बचाव करते हैं। आप सुना रहे हैं, वे सुन रहे रहे हैं, लेकिन आप उनकी सुनना नही चाहते।

जब आपको लगता है कि कोई आदमी 'बोर' कर रहा है, तो उसका कुल मतलब इतना ही होता है कि वह कुछ सुनाना चाह रहा है, निकालना चाह रहा है, हलका होना चाह रहा है और आप भारी होना नहीं चाह रहे हैं। आप कह रहे हैं—क्षमा करो। या यह हो सकता है कि आप खुद ही उसको 'बोर' करने का इतजाम किये बैठे थे, पर वह आपको कर रहा है।

दुख भी दूसरे पर मत निकालें। दुख को भी एकान्त में ध्यान बना लें। क्रोध भी दूसरे पर मत निकालें। उसे भी एकान्त मे ध्यान बना लें। शून्य में होने दें विसर्जन और जागरुक रहे। आप थोड़े दिन में ही पायेंगे कि एक नई जीवन-दिशा मिलनी शुरू हो गई, एक नया आयाम खुल गया। आप पायेंगे कि दो आयाम थे अब तक—'दबाओ या निकालो।' अब एक तीसरा आयाम मिला-'विसर्जन।' यह तीसरा आयाम मिल जाये, तो ही आपका होश सधेगा और होश से अस्त-व्यस्तता न आएगी, और जीवन ज्यादा शान्त, ज्यादा मौन, मधुर हो जायेगा।

अगर आपने दमन कर लिया होश के नाम पर, तो जीवन ज्यादा कडवा, ज्यादा विषाक्त हो जायेगा। अगर भोग और दमन में से ही किसी को चुनना हो, तो मैं कहूँगा भोग चुनना, दमन मत चुनना। क्योकि दमन ज्यादा खतरनाक है, उससे तो भोग बेहतर है। लेकिन यह नही कह रहा हूँ कि भोग चुनना। इन दोनों से भी बेहतर है—'विसर्जन।' अगर विसर्जन चुन सकें, तो ही भोग छोड़ना। अगर विसर्जन न चुन सकें, तो भोग ही कर लेना बेहतर है। तब वह मित्र ठीक कहते हैं कि पाँच मिनट में क्रोध निकल जाता है। लेकिन अगर दबा लें, तो वह चौबीस घण्टे चलता है।

ध्यान रखें, किसी भी दबाई हुई चीज की मात्रा उतनी ही नहीं रहती, जितनी आप दबाते हैं। वह बढ़ती है, भीतर बढ़ती चली जाती है। जैसे आप पत्नी पर नाराज हो गये, पर आपने क्रोध दबा लिया। अब आप दफ्तर गये, चपरासी जरा सी भी बात कहेगा, जो कि कल बिलकुल चोट नही करती, पर आज वह चोट दे देगी। उसको भी दबा गये, तो आपने मात्रा और बढ़ा ली। अब आपका मालिक बुलाता है, और कुछ कहता है। कल आपको बिलकुल नहीं अखरी थी उसकी बात, पर आज उसकी आँख अखरती है, उसका ढंग अखरता है। वह आपके भीतर जो इकट्ठा है, वह 'कलर' दे रहा है, आपकी आँख को रंग दे रहा है। अब उस रग मे से सब उपद्रव दिखाई पड़ता है। यह आदमी दुश्मन मालूम पडता है। वह जो भी कहता है, उससे क्रोध और बढ़ता है। वह भी आपने इकट्ठा कर लिया। वह जो सुबह आप पत्नी से लेकर चले गये थे दफ्तर, साँझ जब आप लौटते हैं, तो जो बीज था वह वृक्ष हो गया। सुबह ही निकाल दिया होता, तो मात्रा कम होती। साँझ जब वह निकलेगा, तो मात्रा काफी होगी और यह अन्याय-युक्त होगा। सुबह तो हो सकता था कि वह न्यायपूर्ण भी होता, इसमें दूसरो पर जो क्रोध होता है, वह भी सयुक्त हो गया।

दबाये मत, उससे तो भोग लेना बेहतर है। इसलिए जो लोग भोग लेते हैं, वे सरल लोग होते हैं। बच्चो को देखें, उनकी सरलता यही है। क्रोध आया, क्रोध कर लिया; खुशी आई, खुशी कर ली; लेकिन खीचते नही। इसलिए जो बच्चा अभी नाराज हो रहा था—'दुनिया को मिटा देगा' जब ऐसा लग रहा था, अब, थोडी देर बाद वह गीत गुनगुना रहा है। निकाल ही दिया जो था, अब गीत गुनगुनाना ही बचा। आप न दुनिया को मिटाने लायक उछल-कूद करते हैं, और न कभी तितलियाँ जैसा उड़ सकते हैं, और न पक्षियो जैसा गीत गा सकते हैं।

आप अटके रहते हैं बीच में। धीरे-धीरे आप 'मिक्श्चर', एक खिचड़ी हो जाते हैं सब चीजो की। जिसमें से न कभी क्रोध निकलता शुद्ध, न कभी प्रेम निकलता शुद्ध। क्योकि शुद्ध कुछ बचता ही नहीं, जब चीजें मिश्रित हो जाती हैं। और यह जो मिश्रित आदमी है, यह रुग्ण और बीमार आदमी है, 'पैथॉलॉजिकल' है। इसके प्रेम में भी क्रोध होता है। इसके क्रोध में भी प्रेम भर जाता है। यह अपने दुश्मन से भी प्रेम करने लगता है, अपने मित्र से भी घृणा करने लगता है। इसका सब एक दूसरे में घोल-मेल हो जाता है। इसमें कोई चीज साफ नहीं होती।

बच्चे साफ होते हैं। जो करते हैं, उसी वक्त कर लेते हैं। फिर दूसरी चीज में गति कर जाते हैं, फिर पीछे नही ले जाते। हम साफ नहीं होते, और जैसे-जैसे आदमी बूढा होने लगता है, वैसे-वैसे सब गड्-मड्ड हो जाता है। आत्मा नाम की कोई चीज उसके भीतर नही रहती। सब एक गड्ड-मड्ड, एक 'कनफ्यूजन' हो जाता है।

भोग चुन ले, अगर दमन करना हो तो। दमन तो कत्तई बेहतर नही है। लेकिन भोग दुख देगा, दमन भी दुख देगा। पर भोग कम दुख देगा शायद, लम्बे अरसे में देगा शायद, टुकडे-टुकडे मे, खड-खड मे, अलग-अलग मात्रा मे देगा शायद, पर दमन इकट्ठा दे देगा, भारी कर देगा, लेकिन दोनो दुखदायी हैं। मार्ग तो तीसरा है। 'विसर्जन'—न भोग, न दमन। यह जो विसर्जन है, यह है शून्य मे वृत्तियों का रेचन। और जब आप शून्य मे रेचन करते हैं, तो जागना आसान है। जब आप किसी पर करते है, तो जागना आसन नही है। जब आप किसी को घूंसा मारते हैं, तो आपको दूसरे पर ध्यान रखना पडता है, क्योंकि घूंसे का उत्तर आयेगा। जब आप तकिये को घूंसा मारते हैं, तो अपने पर पूरा ध्यान रख सकते हैं, क्योंकि तकिए से कोई घूंसा नही आ रहा।

अपने पर ध्यान रखे और रेचन हो जाने दे। धीरे-धीरे ध्यान बढता जायेगा और रेचन की कोई जरूरत न रह जायेगी। एक दिन आप पायेंगे कि भीतर क्रोध उठता है, होश भी साथ मे उठता है। होश के उठते ही क्रोध विसर्जित हो जाता है। अभी आप जिसे होश समझ रहे हैं, वह होश नही है। वह दमन की ही एक प्रक्रिया है। रेचन के माध्यम से होश को साधें।

एक छोटा सा प्रश्न और।

● एक बहन ने लिखा है कि जब भी मैं आँख बन्द करके शून्य मे खो जाना चाहती हूँ, तभी थोडी देर शान्ति महसूस होती है और फिर भीतर घना अँधेरा छा जाता है। प्रकाश का कब अनुभव होगा? क्या कभी कोई प्रकाश की किरण दिखाई न पड़ेगी?

थोड़ा समझ लें। पहली तो बात यह, अंधेरा बुरा नही है; और दूसरी बात ऐसी जिद् मत करें कि प्रकाश का ही अनुभव होना चाहिये। आपकी कोई भी जिद् कि यह अनुभव होना चाहिए, बाधा है गहराई में जाने में। गहराई मे जाना हो तो जो अनुभव हो, उसको पूरे आनन्द से स्वीकार कर लेना चाहिये। अँधेरे को स्वीकार कर लें। अँधेरा का अपना आनन्द है। किसने कहा है कि

अँधेरे में दुख है ? अँधेरे की अपनी शान्ति है, अँधेरे का अपना मौन है, अँधेरे का अपना सौन्दर्य है—किसने कहा ?

लेकिन हम जीते हैं धारणाओ मे। अँधेरे से हम डरते हैं, क्योंकि अँधेरे मे पता नही कोई छुरा मार दे, जेब काट ले! इसलिए बच्चे को हम अँधेरे से डराने लगते हैं। धीरे-धीरे बच्चे का मन निश्चित हो जाता है कि प्रकाश अच्छा है और अँधेरा बुरा है, क्योकि प्रकाश में कम से कम दिखाई तो पडता है।

मैं एक प्रोफेसर के घर रुकता था। उनका लडका नौ साल का हो गया। उन्होने कहा कि कुछ समझायें इसको। इसको रात मे भी पाखाना जाना हो (पुराने ढग का मकान, बीच मे आँगन, उस तरफ पाखाना), तो इसके साथ जाना पड़ता है। इतना बडा हो गया है, अब अकेला जाना चाहिये। रात में इसके पीछे कोई जाये और दरवाजे के बाहर खडा रहे, तो ही यह जा सकता है। तो मैंने उस लडके से कहा अगर तुझे अँधेरे का डर है, तो लालटेन लेकर क्यों नहीं चला जाता। उस लडके ने कहा—खूब कह रहे है आप! अँधेरे मे तो किसी तरह मैं भूत-प्रेत से बच जाता हूँ, लालटेन मे तो वे मुझे देख ही लेंगे। अँधेरे मे तो मैं ऐसा चकमा देकर इधर-उधर से निकल जाता हूँ।

धारणाएँ बचपन से निर्मित करते जाते हैं। कुछ भी—चाहे भूत-प्रेत की, चाहे प्रकाश की, चाहे अँधेरे की। फिर वे धारणाएँ हमारे मन मे गहरी हो जाती हैं। फिर जब हम अध्यात्म की खोज मे चलते हैं, तब भी उन्ही धारणाओं को लेकर चलते है, उससे भूल होती है। परमात्मा को न तो अँधेरे से कोई विरोध है, न प्रकाश से कोई लगाव है। परमात्मा दोनो में एक सा मौजूद है। जिद्द मत करें कि हमे प्रकाश ही चाहिये। यह जिद्द बचकानी है।

यह जानकर आपको हैरानी होगी कि प्रकाश से ज्यादा शान्ति मिल सकती है अँधेरे मे, क्योकि प्रकाश में थोडी उत्तेजना है, पर अँधेरा बिलकुल ही उत्तेजना-शून्य है; और प्रकाश मे तो थोडी चोट है, पर अँधेरा बिलकुल ही अहिंसक है, अँधेरा कोई चोट नही करता, और प्रकाश की तो सीमा है, पर अँधेरा असीम है, और प्रकाश को तो कमी करो, फिर बुझ जाता है, पर अँधेरा सदा है, शाश्वत है।

तो क्या घबड़ाहट अँधेरे से? प्रकाश को जलाओ-बुझाओ, लेकिन अँधेरा न जलता, न बुझता। वह सदा है। दिखाई नही पडता तो थोड़ी देर प्रकाश जला देते हैं, फिर बुझा देते हैं। अँधेरा अपनी जगह ही था। आप भ्रम में

पड गये थे। बडे-बड़े सूरज जलते हैं और बुझ जाते हैं, पर अँधेरे को मिटा नहीं पाते। वह है। फिर प्रकाश तो कही न कही सीमा बांधता है, पर अँधेरा असीम है, अनन्त है। क्या घबडाहट अँधेरे से ?

छोड दें अँधेरे मे अपने को। अगर ध्यान मे अंधेरा आ जाता है, तो लीन हो जायें अँधेरे मे। जो व्यक्ति अँधेरे मे लीन होने को राजी है, उसे प्रकाश तो दिखाई नही पडेगा, लेकिन स्वय का अनुभव होना शुरू हो जायेगा, वही प्रकाश है।

जो अँधेरे मे भी लीन होने को राजी है, उसने परम-समर्पण कर दिया। वह एक होने को राजी हो गया अनन्त के साथ। यह जो अनुभव है एक हो जाने का, उसको ही 'सिम्बालिक' रूप से प्रकाश कहा है, ज्योति कहा है। इन शब्दो मे मत पडे। इन शब्दो का कोई अर्थ नही है। ईसाई फकीर अकेले हुए हैं इस दुनिया में, जिन्होने अँधेरे को आदर दिया है, और उन्होने कहा है—'डार्क नाइट ऑफ दि सोल।' जब आदमी ध्यान मे आता है, तो आत्मा की अँधेरी रात से गुजरता है। वह परम सुहावनी है। है भी, इसलिए कोई भय न लें।

ध्यान मे जो भी अनुभव आयें, उस पर आप अपनी अपेक्षा न थोपे कि यह अनुभव होना चाहिये। जो अनुभव आये, उसे स्वीकार कर ले और आगे बढ़ते जायें। अँधेरे के साथ दुश्मनी छोड दे। जिसने अँधेरे के साथ दुश्मनी छोड़ दी, उसे प्रकाश मिल गया। और जिसने अँधेरे से दुश्मनी बाँधी, वह झूठा कल्पित प्रकाश बनाता रहेगा। लेकिन उसे असली प्रकाश कभी भी मिल नही सकता, क्यों ? क्योकि अँधेरा प्रकाश का ही एक रूप है। और प्रकाश भी अँधेरे का ही एक छोर है। ये दो चीजें नही है। इनको दो मानकर मत चलें। यह द्वैत छोड दें। परमात्मा अँधेरा दे रहा है, तो अँधेरा सही, और परमात्मा रोशनी दे रहा है, तो रोशनी सही। हमारा कोई आग्रह नही। वह जो दे, हम उसके लिए राजी हैं। ऐसे राजीपन का नाम ही समर्पण है।

अब सूत्र।

● 'जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़-निश्चयी हो कि देह भले ही चली जाये, पर मैं अपना धर्म-शासन नही छोड़ सकता, उसे इन्द्रियाँ कभी भी विचलित नहीं कर पाती, जैसे भीषण बवंडर सुमेरु पर्वत को विचलित नहीं कर सकता।'

इस सूत्र के कारण बड़ी भ्रान्तियाँ भी हुई हैं। ऐसे सूत्र कुरान में मौजूद हैं। ऐसे सूत्र गीता मे भी मौजूद हैं। और उन सबने दुनिया में बड़ा उपद्रव पैदा किया है। उनका अर्थ नहीं समझा जा सका। उनका अनर्थ किया गया है। इस तरह के सूत्रों की वजह से अनेक लोग सोचते हैं कि अगर धर्म पर कोई खतरा आ जाये (धर्म का मतलब—हिन्दू-धर्म पर, जैन-धर्म पर), तो अपनी जान दे दो। क्योंकि महावीर ने कहा है कि 'चाहे देह भले ही चली जाये, पर मैं अपना धर्म-शासन नही छोड़ सकता।'

तो अनेक शहीद हो गए नासमझी मे। वे यह सोचते है कि जैन-धर्म छोड़ नही सकता, चाहे देह चली जाये। और मजा यह है कि जैन-धर्म कभी पकड़ा है ही नही, छोडने से डर रहे है! सिर्फ जैन घर मे पैदा हुए; 'पकड़ा कब था, जो आपसे छूट जाएगा?' 'हिन्दू धर्म नही छोड सकते,' बस! जब छोडने का सवाल आता है, तभी पकडने का पता चलता है। और पकडने का कभी पता नही चला! मस्जिद मे नही जा सकते, क्योकि हम मन्दिर मे जानेवाले है; लेकिन मन्दिर मे गए कब? मन्दिर मे जाने की कोई जरूरत नही, जब मस्जिद से झंझट हो, तब ही मन्दिर का ख्याल आता है।

इसलिए बड़ा मजा है। जब हिन्दू-मुस्लिम दगे होते है, तब ही पता चलता है कि हिन्दू कितने हिन्दू, मुस्लिम कितने मुस्लिम। तभी पता चलता है कि 'सच्चे धार्मिक कौन हैं?' वैसे कोई पता नही चलता।

मामला क्या है? जिस धर्म को आपने कभी पकडा ही नही, उसको छोडने का कहाँ सवाल उठता है?

जन्म से कोई धर्म नही मिलता, क्योकि जन्म की प्रक्रिया से धर्म का कोई सम्बन्ध ही नही है। जन्म की प्रक्रिया है 'बायोलॉजिकल', जैविक। उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। आपके बच्चे को मुसलमान के घर में बड़ा किया जाये, मुसलमान हो जायेगा, हिन्दू के घर मे बडा किया जाये, हिन्दू हो जाएगा, ईसाई के घर मे बडा किया जाये, ईसाई हो जाएगा। तो यह जो धर्म मिलता है, यह तो संस्कार है, शिक्षा है घर की। इसका जन्म से, खून से कोई लेना-देना नहीं है। ऐसा नहीं कि आपके बच्चे को, पहले दिन ही, जब वह पैदा हो और ईसाई के घर में उसे रख दिया जाये, तो तभी वह पता लगा ले कि मेरा खून हिन्दू का है। इस भूल में मत पड़ना।

लोग बड़ी भूलों में रहते हैं। माताएँ कहती हैं लडके से कि 'मेरा खून'। और बच्चा पैदा हो, जैसे 'मैटरनिटी होम' में बच्चे पैदा होते हैं। बीस बच्चे

एक साथ रख दिए जाएँ, जो अभी-अभी पैदा हुए हैं और बीसों माताएँ छोड़ दी जाएँ, तो एक माता भी न खोज पाएगी कि कौन सा बच्चा उसका है। आँखें बन्द करके बच्चे पैदा करवा दिए जायें, बीसो बच्चे रख दिए जायें, बीसो माताओं को छोड दिया जाए, तो एक माता भी न खोज पाएगी कि कौन सा खून उसका है। कोई उपाय नही।

खून का आपको कोई पता नही चलता। सिर्फ आपको दी गई शिक्षाओं और सस्कारो का पता चलता है। खोपडी मे होता है धर्म, खून मे नही। तो जो धर्म आपकी खोपड़ी मे डाल दिया जाता है, वही धर्म आपका हो जाता है। यह सिर्फ अवसर की बात है, लेकिन इससे कोई पकड़ भी पैदा नही होती। क्योकि जो धर्म मुफ्त मिल जाता है, वह धर्म कभी गहरा नहीं होता। जो धर्म खोजा जाता है, और जिसमे जीवन रूपान्तिरित किया जाता है, और जिसमें इच-इच श्रम किया जाता है, वही धर्म होता है।

तो महावीर कहते हैं—दृढ निश्चयी की आत्मा ऐसी होती है कि 'देह भले ही चली जाए, पर धर्म-शासन नही छोड सकता।'

धर्म-शासन का अर्थ है कि वह जो अनुशासन मैंने स्वीकार किया है, वह जो विचार, वह जो साधना, वह जो जीवन पद्धति मैंने अंगीकार की है, उसे मैं नही छोड़ूंगा। शरीर तो आज है, कल गिर जाएगा, लेकिन वह जो मैंने जीवन को रूपान्तरित करने की कीमिया खोजी है, उसे मैं नही छोड़ूंगा।

बुद्ध को जिस दिन ध्यान हुआ, परम-ज्ञान हुआ, उस दिन सुबह वे बैठ गए थे एक वृक्ष के तले और उन्होंने कहा था अपने मन मे कि सब हो चुका, पर कुछ होता नहीं। अब तो सिर्फ इस बात को लेकर बैठता हूँ, इस वृक्ष के नीचे कि अगर कुछ भी न हुआ, तो अब उठूंगा भी नही यहाँ से। सब करना छोड कर वे वही लेट गए। उनका यह निश्चय कि 'अब उठूंगा नहीं—अब बात खतम हो गई, अब सब यात्रा ही व्यर्थ हो गई, अब इस शरीर को भी क्यो चलाए फिरना। कही, कुछ मिलता भी नहीं, तो अब जाना कहाँ है। कुछ करने से कुछ होता भी नहीं, तो अब करने का भी क्या सार है। अब कुछ न करूंगा मैं, जिन्दा ही मुर्दा हो गया। अब तो इस जगह से न हटूंगा चाहे यह शरीर यहीं सड जाये या मिट्टी में मिल जाये। उसी रात ज्ञान की किरण जग गई। उसी रात दिया जल उठा। उसी रात उस महासूर्य का उदय हो गया। क्या हुआ मामला ? पहली दफा आखिरी चीज दांव पर लगा दी। और

आखिरी दाँव लगाते ही घटना घट जाती है।

हम दाँव पर भी लगाते हैं, तो बडी छोटी-मोटी चीजें लगाते हैं। कोई कहता है कि आज उपवास करेंगे; 'क्या दाँव पर लगा रहे हैं? इससे आपको लाभ ही होगा, 'दाँव पर क्या लगा रहें?' क्योंकि गरीब आदमी तो उपवास वगैरह करते नहीं। जो ज्यादा खा जाते हैं—'ओव्हर फेड' वे उपवास करते हैं। तो आपको थोडा लाभ ही होगा, डॉक्टर कहेंगे—अच्छा ही हुआ, कर लिया। थोडा 'ब्लड प्रेशर' कम होगा, उम्र थोडी बढ़ जाएगी।

यह बडे मजे की बात है कि जिन समाजों मे ज्यादा भोजन उपलब्ध है, वे ही उपवास को धर्म मानते हैं। जैसे जैनी, वे उपवास को धर्म मानते हैं। इसका मतलब, वे 'ओव्हर फेड' लोग है। ज्यादा खाने को मिल गया है, इसलिए उपवास मे धर्म दिखलाई पड रहा है। गरीब आदमी का धर्म देखा? जिस दिन धर्म-दिन होता है, उस दिन वह मालपुवा बनाता है। गरीब आदमी का धर्म का दिन होता है, भोजन का उत्सव। अमीर आदमी के धर्म का दिन होता है, अनशन। यह दोनो ठीक हैं, बिलकुल लॉजिकल हैं। होना भी ऐसे ही चाहिए। होना भी यही चाहिए। क्योंकि साल भर तो मालपुवा गरीब आदमी खा नही सकता, धर्म के दिन ही खा सकता है। जो सालभर मालपुवा खाते हैं, वे धर्म के दिन क्या खाएँगे! कोई उपाय नही, उपवास कर सकते हैं, कुछ नया कर लेते हैं।

लोग कहीं उपवास करके दाँव पर लगाते हैं? तुच्छ सी चीजें छोड़ते रहते हैं। कोई कहता है नमक छोड़ दिया, कोई कहता है घी छोड़ दिया। इनसे कुछ भी न होगा। यह दाँव, दाँव नही है, धोखा है। यह ऐसा है, जैसे कि एक करोड़पति जुआ खेल रहा हो और एक कौड़ी दाँव पर लगा दे। ऐसे जुए का कोई मजा ही नही आएगा। जुए का मजा ही तब है, जब करोड़पति सब दाँव पर लगा दे और एक क्षण को ऐसी जगह आ जाए कि अगर हारा तो भिखारी होता हूँ। उस क्षण मे जुआ भी ध्यान बन जाता है। उस क्षण में सब विचार रुक जाते हैं।

आपको जानकर हैरानी होगी जुए का मजा ही यही है कि वह भी एक ध्यान है। जब पूरा दाँव पर कोई लगता है, तो छाती की धड़कन रुक जाती है एक सेकंड को कि अब क्या होगा—इस पार या उस पार, नर्क या स्वर्ग, दोनों सामने होते हैं और आदमी बीच में हो जाता है,। सस्पेन्स हो जाता है, सारा चिन्तन बन्द हो जाता है, प्रतीक्षा भर रह जाती है कि अब क्या होता है! सब कम्पन रुक जाता है, स्वांस रुक जाती है कि कहीं स्वांस के कारण

कोई गड़बड़ न हो जाए। उस क्षण मे जो थोड़ी सी शांति मिलती है, वही जुए का मजा है। इसलिए जुए का इतना आकर्षण है। और जब तक सारी दुनिया ध्यान को उपलब्ध नही होती, तब तक जुआ बन्द नहीं हो सकता। क्योंकि जिनको ध्यान का कोई अनुभव नही, वे अलग-अलग तरकीबों से ध्यान की झलक लेते रहते हैं। जुए से भी मिलती है झलक, पर वह झलक भी दांव पर लगाने से ही मिलती है। धर्म भी एक बड़ा दाँव है।

महावीर कहते हैं—शरीर चाहे चला जाये, लेकिन वह धर्म का अनुशासन मैंने स्वीकार किया है, उसे मैं नही छोड़ूँगा। ऐसा जो दृढ़-निश्चय कर लेता है, ऐसा जो संकल्प कर लेता है, उसे फिर इन्द्रियाँ कभी भी विचलित नही कर पाती। जैसे सुमेरु पर्वत को हवा के झोके विचलित नही कर पाते।

'शरीर को कहा है नाव, जीवन को कहा नाविक, संसार को कहा समुद्र। इस ससार समुद्र को महर्षि जन पार कर जाते हैं।'

'शरीर को कहा है नाव।'

इस वचन को समझ लेना ठीक से, क्योकि महावीर को मानने वाले भूल गए मालूम होता है इस वचन को। अगर शरीर है नाव, तो नाव मजबूत होनी चाहिए, नही तो सागर पार नही होगा। देखो जैन-साधुओ के शरीर! कोई उनकी नाव मे बैठने को तैयार भी न हो कि कहाँ डूबा दे, कुछ पता नही। ऐसी हालत ही है उनकी। और शरीर का वे एक ही उपयोग कर रहे हैं, जैसे कोई नाव का उपयोग भी कर रहा हो, और उसमे और छेद भी करता चला जाए। इसको वे तपश्चर्या कहते हैं, पर महावीर नही कह सकते। क्योकि महावीर कहते हैं—'शरीर है नाव।'

नाव तो स्वस्थ होनी चाहिए—अछिद्र, उसमे कोई छेद नहीं होना चाहिए। शरीर तो ऐसा स्वस्थ होना चाहिए कि उस पार तक ले जा सके! महावीर के पास वैसा ही शरीर था। लेकिन कही कोई भूल हो गई है। उनका मानने वाला शरीर का दुश्मन हो गया है। वह समझता है गलाओ शरीर को, मिटाओ शरीर को। जितना मिटाए, उतना बड़ा आदमी है। अगर भक्तों को पता चल जाये कि थोड़ा ठीक से खाना खा रहे हैं उनके गुरु, तो प्रतिष्ठा चली जाती है। अगर भक्तो को पता चल जाए कि थोड़ा ठीक से विश्राम कर लेते हैं लेट कर, तो सब गड़बड़ हो जाता है। तो अगर जैन-साधुओं को ठीक से लेटना भी हो, ठीक से भोजन भी करना हो, तो उसके लिए भी उन्हें चोरी

करनी पड़ती है। क्योंकि वे जो भक्तगण हैं चारों तरफ, वे दुश्मन की तरह लगे हैं। वे पता लगा रहे हैं कि क्या कर रहे हो, क्या नहीं कर रहे हो।

एक दिगम्बर जैन-मुनि एक गांव में ठहरे थे। दिगम्बर जैन-मुनि तो किसी चीज पर सो नही सकता। किसी वस्त्र पर, बिस्तर पर, किसी चीज पर सो नही सकता। सर्द रात थी, तो क्या किया जाय ? तो दरवाजा बन्द कर दिया जाता, ताकि थोड़ी-बहुत गर्मी हो जाये। और किस तरह के पागलपन चलते है ! घास-फूस डाल दिया जाता है कमरे मे। वह भी भक्तगण डालते हैं। क्योंकि अगर मुनि खुद कहे कि घास-फूस डाल दो, तो उसका मतलब हुआ कि तुम शरीर के पीछे पड़े हो, तुम्हें शरीर का मोह है। जब आदमी आत्मा ही है, तो फिर क्या सर्दी, क्या गर्मी ! तो पुआल डाल देते हैं। लेकिन वह पुआल भी भक्त ही डालें। वह मुनि कह नही सकता कि तुम डाल दो। डाली है, इसलिए मजबूरी मे उस पर सो जाता है।

मैं उस गाँव मे था। मुझे पता चला कि रात मे जिन भक्तो ने पुआल डाली थी, वे जाकर देख आते हैं कि पुआल ऊपर तो नही कर ली ! (ऐसे दुष्ट भक्त भी मिल जाते हैं) तो, पुआल कहीं ऊपर तो नही कर ली ? कर ली हो, तो सब भ्रष्ट हो जाता है।

ऐसा लगता है कि पर-दुख का रस है; और पर-दुख का जिनको रस है, वह वैसे आदमी को आदर दे सकते हैं, जिनको स्व-दुख का रस हो। अगर इसको मनोविज्ञान की भाषा में कहे, तो दो तरह के लोग हैं दुनिया मे— 'सैडिस्ट और मैसोकिस्ट।' 'सैडिस्ट' वे लोग हैं, जो दूसरो को दुख देने में मजा लेते हैं और 'मैसोकिस्ट' वे लोग हैं, जो खुद को दुख देने मे मजा लेते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि हिन्दुस्तान में इन दोनों के बड़े तालमेल हो गए है। 'मैसोकिस्ट' हो गए हैं 'गुरु' और सैडिस्ट हो गए हैं 'शिष्य।'

तो गुरु कितनी तकलीफ अपने हाथ से उठा रहा है, उसकी शिष्य चर्चा करते हैं कि 'क्या तुम्हारा गुरु है ? हमारा गुरु काटों पर सोया हुआ है ? जैसे कि यह कोई सर्कस है। यहाँ कौन कहाँ सोया हुआ है, इसका सब निर्णय होनेवाला है। कौन खा रहा है, कौन नहीं खा रहा है, जैसे इसका निर्णय होनेवाला है। कौन पानी पी रहा है, कौन नहीं पी रहा है, जैसे इसका निर्णय होनेवाला है। पर निर्णायक एक ही बात है कि शरीर की कौन कितनी बुरी तरह से हिंसा कर रहा है।

महावीर का यह मतलब नहीं हो सकता। महावीर कहते हैं—शरीर को कहता हूँ नाव। इससे ज्यादा आदर शरीर के लिए और क्या होगा? क्योंकि नाव के बिना नदी पार नहीं हो सकती। इसलिए शरीर मित्र है, शत्रु नहीं। शरीर साधन है, शत्रु नहीं। शरीर मार्ग है, शत्रु नहीं। शरीर उपकरण है, शत्रु नहीं। और उपकरण का जैसा उपयोग करना चाहिए, वैसा ही शरीर का उपयोग करना चाहिए। कोई कहे कि कार से पूरी करनी है यात्रा, और पेट्रोल हम देंगे न कार को; कोई कहे कि शरीर से करनी है यात्रा और भोजन डालेंगे न शरीर में, तो फिर वह शरीर के यंत्र को नहीं समझ पा रहा है।

महावीर ने यह कहा है कि किसी भी दिशा में असन्तुलित न हो जाओ। न तो इतना भोजन डाल दो कि नाव भोजन से डूब जाये, और न इतना अनशन कर दो कि नाव के प्राण बीच नदी में ही निकल जाएँ। सम्यक्—इतना, जितना पार होने में सहयोगी हो, बोझ न बने। इतना कम भी नहीं कि अशक्त हो जाये और बीच में डूब जाये। सम्यक् भाव शरीर के प्रति हो। शरीर का पूरा ध्यान रखना जरूरी है।

'जीवन को नाविक और संसार को समुद्र।'

वह जो भीतर बैठी हुई आत्मा है, वह जो चेतना है, वह है यात्री और सारा संसार है समुद्र। उससे पार होना है। वह बुरा है, ऐसा नहीं; उसके साथ कोई दुर्भाव पैदा करना है, ऐसा भी नहीं; लेकिन वहाँ कोई किनारा नहीं है। वहाँ कोई विश्राम की जगह नहीं है। वहाँ अशांति रहेगी, तूफान रहेंगे, आँधियाँ रहेंगी।

अगर आँधियों, अशांतियों, दुखों और पीड़ाओं से बचना हो, तो उस पार, सागर को पार करके तट पर पहुँचना चाहिए, जहाँ आँधियों और तूफानों का कोई प्रभाव नहीं है। और जब तक कोई सागर में है, तब तक डूबने का डर बना ही रहेगा, चाहे कितनी ही अच्छी नाव हो। नाव पर ही डूबना न डूबना निर्भर नहीं है, सागर की विशाल तरंगें भी हैं। उनके भयंकर आघात भी होते हैं, तूफान भी उठते हैं, आँधियाँ उठती हैं, वर्षा आती है।

अगर हम इस प्रतीक को ठीक से समझें और अपने चारों तरफ संसार को देखें, तो वहाँ क्रोध है, दुख है, पीड़ा है, संताप है, उपद्रव ही उपद्रव हैं और हम उसके बीच में खड़े हैं। और यह शरीर ही एक मात्र हमारे पास है, जिससे हम उसके पार उठ सके। अगर संसार को कोई समुद्र की तरह देख पाये, तो संसार

बराबर समुद्र की तरह दिखाई पडेगा। और महावीर के समय में तो छोटा-मोटा समुद्र था, अब तो बडा समुद्र दिखाई पड़ता है। महावीर के जमाने में भारत की आबादी भी दो करोड से ज्यादा नही थी। अब भारत दुनिया को मात किये दे रहा है आबादी मे। अब तो ऐसा समझें कि जमीन हमने बचने ही नही दी। सब समुद्र ही समुद्र हुआ जा रहा है। सारी दुनिया की आबादी साढे तीन अरब हो गई है। इस सदी के पूरे होते-होते भारत की आबादी एक अरब होगी। आदमियों का सागर है। और आदमियो के सागर में आदमियों की वृत्तियो, इन्द्रियों, क्रोध, रोष, मान, अपमान, उन सबका भयंकर झंझावत् है।

आदमी अकेला पैदा नही होता। वह अपने सारे पाप, अपने सारे रोष, अपनी सारी वृत्तियो के साथ पैदा होता है। और हर आदमी इस ससार सागर मे तरगे पैदा करता है। जैसे मैं एक सागर मे एक पत्थर फेंक दूं, तो वह एक जगह गिरता है, लेकिन उसकी लहरें पूरे सागर को छूती हैं। जब एक बच्चा इस जगत् में पैदा होता है, तो एक पत्थर और गिरा। उसकी लहरें सारे जगत् को छूती हैं। वह हिटलर बनेगा कि मुसोलिनी बनेगा कि क्या बनेगा, कुछ कहा नही जा सकता। उसकी लहरे सारे जगत् को कपायेंगी।

यह जो सागर है हमारा, इसको महर्षिजन पार कर जाते हैं। सांसारिक आदमी और धार्मिक आदमी मे एक ही है फर्क। सासारिक आदमी वह है, जो इस सागर मे गोल-गोल चक्कर काटता रहता है। कभी आपने नाव देखी है? उसमें दो डान्ड लगाने पडते हैं। एक डान्ड बन्द कर दे, एक ही डान्ड चलायें, तब आपको पता चलेगा कि सासारिक आदमी कैसा होता है। एक ही डान्ड चलायें, तो नाव गोल-गोल चक्कर खायेगी। जगह वही रहेगी, यात्रा बहुत होगी, पर पहुँचेंगे कही भी नहीं। लेकिन पसीना काफी झरेगा। लगेगा कि पहुँच रहे हैं और गोल-गोल चक्कर खायेंगे।

आपकी जिन्दगी गोल चक्कर तो नही है? एक 'व्हीशियस सर्कल' तो नहीं है? क्या कर रहे हैं आप? गोल-गोल घूम रहे हैं? कल जो किया था, वही आज भी कर रहे हैं, वही परसो भी किया था। वही पूरी जिन्दगी किया है, रोज-रोज। वही और जिन्दगियों में भी किया है। मालूम पडता है नाव की एक ही डान्ड चल रही है और आप गोल-गोल घूम रहे हैं।

धार्मिक आदमी गोल नहीं घूमता। वह एक सीधी रेखा में तट की तरफ यात्रा करता है। दोनों डान्ड हाथ में होनी चाहिए—दोनों तवारप। न

तो बायें झुके और न दायें। ठीक से समझ ले, यहीं संयम का अर्थ है। अगर नाव को बिलकुल ठीक चलाना हो, तो दोनों को साधना पड़ेगा। न बायें झुक जाये नाव, न दायें। जरा दायें झुके, तो बायें झुका लें; जरा बाये झुके, तो दायें झुका लें। और बीच सीधी रेखा में, 'लीनियर' एक रेखा में यात्रा करें। तो आप किसी दिन तट पर पहुँच पायेंगे।

सयम का इतना ही अर्थ है कि दोनो तरफ विषमताये हैं, भोग की और त्याग की—दोनो के बीच संयम. नर्क की, स्वर्ग की—दोनों के बीच संयम। सुख की, दुख की—दोनो के बीच संयम। शत्रु भी झुकाते हैं, मित्र भी झुकाते हैं—दोनो के बीच संयम। कोई न झुका पाये और आपकी नाव बीच मे चल पाए। ऐसा अगर आप बीच में नाव को चला सकें सीधी रेखा मे, तो किसी दिन आप तट पर पहुँच सकते हैं। लेकिन सीधी रेखा पर चलने वाले आदमी के अनुभव बदल जायेंगे। उसके जीवन में पुनरुक्ति नही होनी चाहिए। जिसके जीवन में पुनरुक्ति हो रही है, वह आदमी गोल-गोल घूम रहा है। लेकिन इसका मतलब यह मत समझना आप कि रोज नया भोजन होगा, तो पुनरुक्ति न होगी। कि रोज नये कपड़े पहन लेंगे तो पुनरुक्ति न होगी। कपड़े, भोजन का सवाल नही है, वृत्ति का सवाल है। आपकी वृत्तियाँ पुनरुक्ति मे तो नही घूम रही हैं, 'सरकुलर' तो नही हैं, इसका ध्यान रखना चाहिए।

कभी आपने ख्याल किया कि जब भी आप क्रोध करते है, फिर वैसे ही करते हैं जैसा आपने पहले किया था; कुछ भी न सीखा जीवन से। जब फिर प्रेम मे गिरते हैं, तो फिर वैसे ही गिरते हैं जैसे पहले गिरे थे। फिर वही बातें करने लगते हैं, जो पहले करके उपद्रव खडा कर चुके। फिर वही मूढ़ता, फिर पुनरुक्ति कर रहे हैं आप। जिन्दगी को थोड़ा जाचें पीछे लौटकर। एक नजर फेंके जिन्दगी पर, एक 'सर्च लाइट' फेंकना जरूरी है पीछे जिन्दगी पर। उसमें देखे कि आप जिन्दगी जी रहे हैं कि चक्कर में घूम रहे हैं। अगर आप चक्कर में घूम रहे हैं, तो समझें कि यही संसार है।

हम ससार का अर्थ ही चक्कर करते हैं। इस मुल्क में हमने संसार शब्द को चुना ही इसीलिए। ससार शब्द का मतलब होता है—'द व्हील', चक्का। वह गोल-गोल घूमता रहता है। भ्रम होता है यात्रा का, पर मजिल नहीं आती। जिसे भी मंजिल लानी है, उसे एक सीधी रेखा में चलने की कला सीखनी पड़ती है, वही धर्म है।

जो कल हो चुका, उससे सीखें और पार जायें, दुहरायें मत और जिन्दगी में जिन रास्तों से गुजर गये उन पर से बार-बार गुजरने का मोह छोड दें। कोई सार नही है। जहाँ से गुजर गये, वहाँ से गुजर ही जायें, उसको पकड़े मत रखें। कल किसी ने गाली दी थी, वह बात हो गई। उस रास्ते को छोड़ दे, आगे बढ़े। लेकिन वह गाली अटकी हुई है। जिसके मन में कल की गाली अटकी हुई है, वह वही रुक गया। उसने गाली को मील का पत्थर बना लिया। जमीन में गाड दिया खम्भा और उसने कहा—अब हम यहीं रहेंगे। अब हम आगे नही जाते।

अगर आपको कल अब भी सता रहा है, बीता हुआ कल, तो आप वही रुक गये। अगर इसको हम सोचें, तो हमे बडी हैरानी होगी कि हम कहाँ रुक गये। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि आमतौर से लोग बचपन में ही रुक जाते हैं। फिर शरीर ही बढता रहता है—न बुद्धि बढ़ती है, न आत्मा बढती है—कुछ नही बढता, वही रुक जाते हैं। इसलिए आपके बचपन को जरा मे निकाला जा सकता है। अभी एक आदमी आप पर हमला बोल दे, तो आप एकदम चीख मारकर नाचने-कूदने लगेंगे। आप भूल जायेंगे कि आप क्या कर रहे हैं। अगर आपका चित्र उतार लिया जाये, या आपको स्मरण दिलाया जाये, तो शायद आप जब पाँच साल के बच्चे थे, और जो करते थे, वही आपने अब भी किया। मतलब यह कि मनोवैज्ञानिक कहते हैं आपका 'रिग्रेशन' हो गया। आप पीछे लौट गये बचपन में, उस खूँटे पर पहुँच गये, जहाँ आप बँधे हैं।

इसलिए मनसविद् किसी भी व्यक्ति की मानसिक बीमारी दूर करना चाहते हैं, तो पहले उसके अतीत जीवन मे उतरते हैं, खासकर उसके बचपन मे उतरते हैं। वे कहते हैं—जब तक हम तुम्हारा बचपन न जान लें, तब तक हम यह नहीं जान सकते कि तुम कहाँ रुक गये हो। कहाँ रुक जाने से तुम्हारा सारा उपद्रव पैदा हो रहा है। हम सब रुके हुए लोग हैं। गति नही है जीवन में, यात्रा नही है।

महावीर कहते हैं, महर्षिजन पार कर जाते हैं इस सागर को। पार करने का मार्ग है—संयम। साधना का सूत्र है—संयम, सतुलन—अतियो से बच जाना। दो अतियों के बीच जो बच जाता है, वह तट पर पहुँच जाता है। लेकिन हम क्या करते हैं, हम घड़ी के पेंडुलम की तरह हैं।

घड़ी का पेंडुलम, (पुरानी घड़ियों का, नई घड़ियों में ख्याल नहीं आता कुछ। पुरानी घड़ी पर ध्यान करना चाहिए।) दीवाल घड़ी का पेंडुलम बाये,

दायें घूमता रहता है। जब वह दायें जाता है, तब ऐसा लगता है कि अब बायें कभी न आयेगा। वही भूल कर रहे है आप। जब वह दायें जा रहा है, तब वह बायें आने की ताकत जुटा रहा है. 'मोमेन्टम' इकट्ठा कर रहा है। वह बायें आ ही इसलिए रहा है कि दायें जाने की ताकत इकट्ठी हो जाये। फिर वह दायें जायेगा। अब वह दाये जाता है, तब फिर बायें जाने की ताकत इकट्ठा करता है। और इसी तरह वह घूमता है।

अतियो मे डोलना बहुत आसान है। इसलिए बहुत बडी घटना घटती है दुनिया मे। क्रोधी अगर चाहे तो एक क्षण मे क्षमावान हो जाते हैं। दुष्ट अगर चाहे, तो एक क्षण मे शान्ति को धारण कर लेते हैं। भोगी अगर चाहे, तो एक क्षण में त्यागी हो जाते हैं। देर नही लगती, क्योकि एक अति से दूसरी पर लौट जाने मे कोई अडचन नही है। बीच मे रुकना कठिन है।

भोगी संयम पर आ जाए यह कठिन है, त्याग पर जा सकता है। त्यागी भोग में आ जाये यह आसान है, सयम मे आना कठिन है। एक उपद्रव से दूसरा उपद्रव चुनना आसान है, क्योकि उपद्रव की हमारी आदत है। उपद्रव कोई भी हो, उसे हम चुन सकते हैं। बीच मे रुक जाना, निर्उपद्रवी हो जाना अति कठिन है।

महावीर सयम को सूत्र कहते हैं। यह शरीर है नाव, इसका उपकरण की तरह उपभोग करें। यह आत्मा है यात्री, इसे वर्तुलो मे न घुमाएँ। इसे एक रेखा मे चलाएँ। यह ससार है सागर, इसमे एक डान्ड की नाव मत बनें। इसके दोनो पतवार हाथ मे हो और दोनो पतवार बीच में सधने मे सहयोगी बनें, इस पर दृष्टि हो, तो एक दिन व्यक्ति जरूर ही ससार के पार हो जाता है।

संसार के पार होने का अर्थ है— दुख के पार हो जाना, संताप के पार हो जाना। ससार के पार होने का अर्थ है—आनन्द मे प्रवेश। जिसे हिन्दुओ ने 'सच्चिदानंद' कहा है, उसे महावीर ने 'मोक्ष' कहा है। उसे ही बुद्ध ने 'निर्वाण' कहा है। उसे जीसस ने 'किंगडम ऑफ गॉड' कहा है, 'ईश्वर का राज्य' कहा है। कोई भी हो नाव, जहाँ हम हैं—उपद्रव में, वहाँ वह नहीं है। इस उपद्रव के पार कोई तट है, जहाँ कोई आँधी नही छूती, जहाँ कोई तूफान नहीं उठता, जहाँ सब शून्य और शान्त है।

इतना ही। अब हम कीर्तन करें।

* समाप्त *

भगवान् श्री रजनीश हिन्दी साहित्य

१ महावीर वाणी–१ ३०.००
२ महावीर वाणी–२ ३०.००
३ जिन खोजा तिन पाइयाँ २०.००
४ ईशावास्योपनिषद् १५.००
५ प्रेम है द्वार प्रभु का ९.००
६ समुन्द समाना बुन्द में ७.००
७ घाट भुलाना बाट बिनु ७.००
८ सूली ऊपर सेज पिया की ७.००
९ सत्य की पहली किरण ६.००
१० शांति की खोज ३.५०
११ अन्तर्वीणा ६.००
१२ ढाई आखर प्रेम का ६.००
१३ नव सन्यास क्या ? ७.००
१४ सम्भोग से समाधि की ओर ६.००
१५ मिट्टी के दीये ५.००
१६ साधना-पथ ५.००
१७ अन्तर्यात्रा ५.००
१८ अस्वीकृति मे उठा हाथ ५.००
(भारत, गाँधी और मेरी चिन्ता)
१९ प्रेम का फूल ५.००
२० गीता-दर्शन (पुष्प-६) ३०.००
२१ गीता-दर्शन (पुष्प-७) १२.००
२२ ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया ५.००
२३ क्रान्ति-बीज ६.००
२४ पथ के प्रदीप ५.००
२५ प्रभु की पगडंडियाँ ६.००
२६ भ्रांत समाजवाद और एक खतरा ०.३०
२७ सत्य की खोज ५.००
२८ शून्य की नाव ४.००
२९ सिंहनाद (नया संशोधित संस्करण, नया नाम "पथ की खोज") २.००
३० संभावनाओ की आहट १.००
३१ विद्रोह क्या है ? १.५०
३२ ज्योतिष . अद्वैत का विज्ञान १.५०
३३ ज्योतिष अर्थात् अध्यात्म १.५०
३४ जन-संख्या विस्फोट : समस्या और समाधान (परिवार नियोजन का परिवर्धित संस्करण) १.५०
३५ मन के पार १.००
३६ युवक और यौन १.००
३७ अमृत-कण १.००
३८ अहिंसा-दर्शन १.००
३९ बिखरे फूल १.००
४० क्रान्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया १.५०
४१ धर्म और राजनीति १.००
४२ ध्यान : एक वैज्ञानिक दृष्टि १.००
४३ निर्वाण उपनिषद् १५.००
४४ ताओ उपनिषद् (प्रथम खण्ड) ४०.००
४५ मुल्ला नसरुद्दीन ५.००
४६ मैं मृत्यु सिखाता हूँ २०.००
४७ शून्य के पार ४.००
४८ मेडीसीन और मेडीटेशन १.२५
४९ युवक कौन ? ०.३०
५० संभावना की आहट ६.००
५१ गहरे पानी पैठ ५.००
५२ अवधिगत सन्यास ०.३०
५३ अज्ञात के नये आयाम १.००